जिनागम ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक—२

[परम श्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्य-स्मृति में आयोजित]

स्थविर (गणधर) प्रणीत: प्रथम अंग

आचारांग सूत्र

(द्वितीय श्रुतस्कंध : आचार चूला)

[मूल पाठ, हिन्दी अनुवाद-विवेचन-टिप्पण-परिशिष्ट युक्त]

सन्निधि ☐
उप-प्रवर्तक शासनसेवी स्वामी श्री व्रजलालजी महाराज

संयोजक तथा प्रधान सम्पादक ☐
युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर'

अनुवादक-विवेचक ☐
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक ☐
श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

Published at the Holy Remembrance occasion

of

Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

STHAVIRA (GANADHARA) COMPILED : FIRST ANGA

ACĀRĀṄGA SŪTRA

[PART II : Ā C Ā R A C Ū L Ā]

[Original Text with Variant Readings, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Proximity

Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Chief Editor

Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator

Srichand Surana 'Saras'

Publishers

Sri Agama Prakashan Samiti

Beawar (Raj.)

□ Jinagam Granthmala : Publication No. 2

□ Board of Editors
Anuyoga Pravartaka Munisri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt. Shobhachandraji Bharilla

□ Managing Editor
Srichand Surana 'Saras'

□ Promoter
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

□ Financial Assistance
Sri Sayarmalji Chauradiya & Sri Jethamalji Chauradiya

□ Publication Date
Vir Nirvana Samvat 2507, Vikram Samvat 2037
September, 1980

□ Publishers
Sri Agama Prakashan Samiti
Jain Sthanak, Pipalia Bazar, Beawar (Raj.) [India]
Pin 305901

□ Printers
Swastik Art Printers, Seth Gali, Agra-3
under the supervision of Srichand Surana 'Saras'

□ Price

जिनवाणी के परम उपासक, बहुभाषाविद
वयःस्थविर, पर्यायस्थविर, श्रुतस्थविर
श्री वर्धमान जैनश्वेताम्बर स्थानकवासी श्रमणसंघ
के
द्वितीय आचार्यवर्य
परम आदरणीय श्रद्धास्पद राष्ट्रसंत
आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज
को
सादर-समर्पित-सविनय

—मधुकर मुनि

□ Jinagam Granthmala : Publication No. 2

□ Board of Editors
Anuyoga Pravartaka Munisri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt. Shobhachandraji Bharilla

□ Managing Editor
Srichand Surana 'Saras'

□ Promoter
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

□ Financial Assistance
Sri Sayarmalji Chauradiya & Sri Jethamalji Chauradiya

□ Publication Date
Vir Nirvana Samvat 2507, Vikram Samvat 2037
September, 1980

□ Publishers
Sri Agama Prakashan Samiti
Jain Sthanak, Pipalia Bazar, Beawar (Raj.) [India]
Pin 305901

□ Printers
Swastik Art Printers, Seth Gali, Agra-3
under the supervision of Srichand Surana 'Saras'

□ Price
Rs. 30/- (Thirty) only.

प्रकाशकीय

भगवान श्रीमहावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के पावन प्रसंग पर साहित्य प्रकाशन की एक नयी उत्साहपूर्ण लहर उठी थी। उस समय जैनधर्म, जैनदर्शन और भगवान महावीर के लोकोत्तर जीवन एवं उनकी कल्याणकारिणी शिक्षाओं से सम्बन्धित विपुल साहित्य का सृजन हुआ। मुनि श्रीहजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर की ओर से भी 'तीर्थंकर महावीर' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया। इसी प्रसंग पर विद्वद्रत्न श्रद्धेय मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' के मन में एक उदात्त भावना जागृत हुई कि भगवान महावीर से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन हो रहा है, यह तो ठीक है, किन्तु जो उनकी मूल पवित्र वाणी जिन आगमों में सुरक्षित है, उन आगमों को सर्व साधारण के लिये क्यों न सुलभ कराया जाये? जो सम्पूर्ण बत्तीसी के रूप में आज सहज उपलब्ध नहीं है। भगवान महावीर की असली महिमा तो उस परम पावन, सुधामयी वाणी में ही निहित है। मुनिश्री की यह भावना वैसे तो चिरसंचित थी, परन्तु उस वातावरण ने उसे अधिक प्रबल बना दिया।

मुनिश्री ने कुछ वरिष्ठ आगमप्रेमी श्रावकों तथा विद्वानों के समक्ष अपनी भावना प्रस्तुत की। धीरे-धीरे आगम बत्तीसी के सम्पादन प्रकाशन की चर्चा बल पकड़ती गई। भला कौन ऐसा विवेकशील व्यक्ति होगा, जो इस पवित्रतम कार्य की सराहना और अनुमोदना न करता? श्रमण भगवान महावीर के साथ आज हमारा जो सम्पर्क है, वह उनकी जगत्-पावन वाणी के ही माध्यम से है। भगवान की देशना के सम्बन्ध में कहा गया है—'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।' अर्थात् जगत् के समस्त प्राणियों की रक्षा और दया के निमित्त ही भगवान की धर्मदेशना प्रस्फुटित हुई थी। अतएव भगवद्-वाणी का प्रचार और प्रसार करना प्राणीमात्र की रक्षा एवं दया का ही कार्य है। इससे अधिक श्रेष्ठ विश्वकल्याण का अन्य कोई कार्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार आगम प्रकाशन के विचार को सभी ओर से पर्याप्त समर्थन मिला। तब मुनिश्री के वि० सं० २०३५ के ब्यावर चातुर्मास में समाज के अग्रगण्य श्रावकों की एक बैठक आयोजित की गई और प्रकाशन की रूप-रेखा पर विचार किया गया। सुदीर्घचिन्तन-मनन के पश्चात् वैशाख शुक्ला १० को, जो भगवान महावीर के केवल ज्ञान-कल्याणक का शुभ दिन था, आगम बत्तीसी के प्रकाशन की घोषणा करदी गई और शीघ्र ही कार्य आरम्भ कर दिया गया।

हमें प्रसन्नता है कि श्रद्धेय मुनिश्री की भावना और आगम प्रकाशन समिति के निश्चयानुसार हमारे मुख्य सहयोगी श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराणा 'सरस' ने प्रबन्ध सम्पादक का दायित्व स्वीकार किया और आचारांग के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ किया। साथ ही अन्य विद्वानों ने भी विभिन्न आगमों के सम्पादन का दायित्व स्वीकार किया है। दो तीन आगम तैयार भी हो चुके हैं और कार्य चालू है।

अब तक प्रसिद्ध विद्वान एवं आगमों के गंभीर अध्येता पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल भी बम्बई से ब्यावर आ गये और उनका मार्गदर्शन एवं सहयोग भी हमें प्राप्त हो गया। आपके बहुमूल्य सहयोग से हमारा कार्य अति सुगम हो गया, काम में तेजी आई और भार भी हल्का हो गया।

हमें अत्यधिक प्रसन्नता और सात्त्विक गौरव का अनुभव हो रहा है कि एक ही वर्ष के अल्प समय में हम अपनी इस ऐतिहासिक अष्टवर्षीय योजना को मूर्त रूप देने में सफल हो सके। आचारांग एवं उपासक

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के आचार्य राष्ट्रसंत
महान् मनीषि आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज का

अभिमत

आगम आत्मविद्या के अक्षयकोष हैं। भगवान महावीर की वाणी के प्रतिबिम्बित से हुये
भी आत्मविद्या, तत्वज्ञान, जीव-विज्ञान आदि ज्ञान-विज्ञान के विविध पहलुओं का सम्यक् बोध करा
सक्षम हैं।

आगमो की भाषा अर्धमागधी है, उसका अध्ययन-अनुशीलन करने के लिये अर्धमागधी-प्राकृ
ज्ञान भी आवश्यक है। प्राकृतभाषा से अनभिज्ञ जन सहज सुबोध ढंग से आगम का हार्द समझ सके,
दृष्टिकोण से जैन मनीषियों ने समय-समय पर लोकभाषा में आगमों का अनुवाद विवेचन करने का
नीय प्रयत्न किया है। आगम महोदधि के गहन अभ्यासी स्व० पूज्यपाद श्री अमोलकऋषिजी म० सा
बत्तीस आगमो का हिन्दी मे सुबोध अनुवाद करके एक ऐतिहासिक कार्य किया था, आज वह आ
साहित्य भी दुर्लभ हो गया है।

श्रमणसंघ के युवाचार्य आगम-रहस्यवेत्ता श्री मधुकर मुनि जी म० सा० ने आगमों का हिन्दी
वाद, विवेचन कर जनसामान्य को सुलभ करने का एक प्रशंसनीय संकल्प किया है। जो श्रमण-सं
लिए तो गौरव का विषय है ही, भारतीय-विद्यारसिक समस्त जनो के लिए प्रमोद का कारण है।

आगमग्रन्थमाला का प्रथम मणि आचारांग-सूत्र (प्रथम श्रुतस्कंध) प्रकाशित हो चुका है। इ
मार्गदर्शन व प्रधान नियोजकत्व युवाचार्य श्री जी का ही है। अनुवाद-विवेचन श्री श्रीचन्दजी सु
"सरस" ने किया है।

आचारांग का अवलोकन करने पर लगा, अब-तक के प्रकाशित आचारांग के संस्करणों मे
संस्करण अपना अलग ही महत्त्व रखता है। भावानुलक्षी अनुवाद, संक्षिप्त विवेचन, तथ्ययुक्त पाद टि
प्राचीनतम निर्युक्ति व चूर्णि आदि के साक्ष्यनुसार विशेषार्थ, परिशिष्ट मे शब्दसूची, "जाव" शब्द के
पाठ सूत्रो की सूचना, सब मिलाकर सर्वसाधारण से लेकर विद्वानो तक के लिये यह संग्रहणीय, पठ
संस्करण है।

मैं हृदय से कामना करता हूँ कि आगमो के आगामी संस्करण इससे भी बढ़कर महत्त्वपू
उपयोगी होंगे।

—आचार्य आनन्दऋ

प्रकाशकीय

भगवान श्रीमहावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के पावन प्रसंग पर साहित्य प्रकाशन की एक नयी उत्साहपूर्ण लहर उठी थी। उस समय जैनधर्म, जैनदर्शन और भगवान महावीर के लोकोत्तर जीवन एवं उनकी कल्याणकारिणी शिक्षाओं से सम्बन्धित विपुल साहित्य का सृजन हुआ। मुनि श्रीहजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर की ओर से भी 'तीर्थंकर महावीर' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया। इसी प्रसंग पर विद्वद्रत्न श्रद्धेय मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' के मन में एक उदात्त भावना जागृत हुई कि भगवान महावीर से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन हो रहा है, यह तो ठीक है, किन्तु जो उनकी मूल पवित्र वाणी जिन आगमों में सुरक्षित है, उन आगमों को सर्व साधारण के लिये क्यों न सुलभ कराया जायें? जो सम्पूर्ण बत्तीसी के रूप में आज सहज उपलब्ध नहीं है। भगवान महावीर की असली महिमा तो उस परम पावन, सुधामयी वाणी में ही निहित है। मुनीश्री की यह भावना वैसे तो चिरसंचित थी, परन्तु उस वातावरण ने उसे अधिक प्रबल बना दिया।

मुनिश्री ने कुछ वरिष्ठ आगमप्रेमी श्रावकों तथा विद्वानों के समक्ष अपनी भावना प्रस्तुत की। धीरे-धीरे आगम बत्तीसी के सम्पादन-प्रकाशन की चर्चा बल पकड़ती गई। भला कौन ऐसा विवेकशील व्यक्ति होगा, जो इस पवित्रतम कार्य की सराहना और अनुमोदना न करता? श्रमण भगवान महावीर के साथ आज हमारा जो सम्पर्क है, वह उनकी जगत्-पावन वाणी के ही माध्यम से है। भगवान की देशना के सम्बन्ध में कहा गया है—'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।' अर्थात् जगत् के समस्त प्राणियों की रक्षा और दया के निमित्त ही भगवान की धर्मदेशना प्रस्फुटित हुई थी। अतएव भगवत्-वाणी का प्रचार और प्रसार करना प्राणीमात्र की रक्षा एवं दया का ही कार्य है। इससे अधिक श्रेष्ठ विश्वकल्याण का अन्य कोई कार्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार आगम प्रकाशन के विचार को सभी ओर से पर्याप्त समर्थन मिला। तब मुनिश्री के वि० सं० २०३५ के ब्यावर चातुर्मास में समाज के अग्रगण्य श्रावकों की एक बैठक आयोजित की गई और प्रकाशन की रूप-रेखा पर विचार किया गया। सुदीर्घचिन्तन-मनन के पश्चात् वैशाख शुक्ला १० को, जो भगवान महावीर के केवल ज्ञान-कल्याणक का शुभ दिन था, आगम बत्तीसी के प्रकाशन की घोषणा करदी गई और शीघ्र ही कार्य आरम्भ कर दिया गया।

हमें प्रसन्नता है कि श्रद्धेय मुनिश्री की भावना और आगम प्रकाशन समिति के निश्चयानुसार हमारे मुख्य सहयोगी श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराणा 'सरस' ने प्रबन्ध सम्पादक का दायित्व स्वीकार किया और आचारांग के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ किया। साथ ही अन्य विद्वानों ने भी विभिन्न आगमों के सम्पादन का दायित्व स्वीकार किया है। दो तीन आगम तैयार भी हो चुके हैं और कार्य चालू है।

अब तक प्रसिद्ध विद्वान एवं आगमों के गंभीर अध्येता पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल भी बम्बई से ब्यावर आ गये और उनका मार्गदर्शन एवं सहयोग भी हमें प्राप्त हो गया। आपके बहुमूल्य सहयोग से हमारा कार्य अति सुगम हो गया, काम में तेजी आई और भार भी हल्का हो गया।

हमें अत्यधिक प्रसन्नता और सात्त्विक गौरव का अनुभव हो रहा है कि एक ही वर्ष के अल्प समय में हम अपनी इस ऐतिहासिक अष्टवर्षीय योजना को मूर्त रूप देने में सफल हो सके। आचारांग एवं उपासक

दशा मुद्रित हो चुके है, तथा स्थानांग, ज्ञाताधर्मकथा आदि अनेक आगमो का संपादन कार्य भी संपूर्ण हो गया, वे प्रेस में मुद्रणाधीन हैं।

कुछ सज्जनो का सुझाव था कि सर्वप्रथम दशवैकालिक, नन्दीसूत्र आदि का प्रकाशन किया जाय किन्तु श्रद्धेय मुनि श्री मधुकरजी महाराज का विचार प्रथम अग आचारांग से ही प्रारम्भ करने का था। क्योंकि आचारांग समस्त अगो का सार है।

इस सम्बन्ध मे यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे आचारांग आदि क्रम से ही आगमो को प्रकाशित करने का विचार किया गया था, किन्तु अनुभव से इसमे एक बडी अडचन जान पडी। वह यह कि भगवती जैसे विशाल आगमों के सम्पादन-प्रकाशन मे बहुत समय लगेगा और तब तक अन्य आगमो के प्रकाशन को रोक रखने से सब आगमो के प्रकाशन मे अत्यधिक विलम्ब हो जाएगा। हम चाहते हैं कि यथासंभव शीघ्र यह शुभ कार्य सम्पन्न हो जाए तो अच्छा। अतः अब यह निर्णय रहा है कि आचारांग के पश्चात् जो-जो आगम तैयार होते जाएँ उन्हे ही प्रकाशित कर दिया जाए। अब शीघ्र ही जिज्ञासु पाठको की सेवा मे अन्य आगम भी पहुँचने की आशा है।

सर्वप्रथम हम श्रमणसघ के युवाचार्य, सर्वतोभद्र, श्री मधुकर मुनिजी महाराज के प्रति अतीव आभारी है, जिनकी शासन-प्रभावना की उत्कट भावना, आगमो के प्रति उद्दाम भक्ति, धर्मज्ञान के प्रचार-प्रसार के प्रति तीव्र उत्कंठा और साहित्य के प्रति अप्रतिम अनुराग की बदौलत हमे भी वीतरागवाणी की किंचित् सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हो सका।

सेवा के इस सात्त्विक अनुष्ठान मे अपने सहयोगियो के भी हम कृतज्ञ हैं। सागरवर-गंभीर श्रावक वर्य पद्मश्री सेठ मोहनमलजी सा. चोरडिया ने समिति की अध्यक्षता स्वीकार कर और एक बडी धनराशि प्रदान कर हमे उत्साहित किया। अर्थ-संग्रह मे हमारे साथ श्री कवरलालजी बेताला, श्री मूलचन्दजी सुराणा ने परिभ्रमण किया। जोधपुर श्रीसंघ ने अर्थसंग्रह मे पूरा योगदान दिया। इन सब उत्साही सहयोगियो के प्रति हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। श्रीरतनचन्दजी मोदी, कोषाध्यक्ष समिति तथा स्थानीय मन्त्री श्री चांदमलजी विनायकिया से समिति के कार्यों मे सदा सहयोग प्राप्त होता रहता है।

इस आगम का सम्पूर्ण प्रकाशन व्यय श्रीमान सायरमल जी चोरडिया एवं श्रीमान जेठमल जी चोरडिया ने उदारता पूर्वक प्रदान किया है, जो उनकी जिनवाणी एवं श्रद्धेय युवाचार्य श्री के प्रति प्रगाढ़-श्रद्धा का परिचायक है। समिति उनके सहयोग की सदा कृतज्ञ रहेगी। आप जैसे उदार सद्गृहस्थो के सहयोग से ही हम लागत से भी कम मूल्य पर आगम ग्रन्थो को प्रसारित करने का साहस कर पा रहे हैं। आचारांग सूत्र के दोनों खण्ड लागत से भी कम कीमत पर प्रस्तुत किये गये हैं। समिति कार्यालय की व्यवस्था श्री सुजानमल जी सेठिया आत्मीयता की भावना से कर रहे हैं, इन तथा अन्य सहयोगियों का भी हार्दिक आभार मानना हमारा कर्तव्य है।

पुखराज सीसोदिया
(कार्यवाहक अध्यक्ष)

जतनराज मेहता
(महामंत्री)

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

आमुख

जैन धर्म, दर्शन, व संस्कृति का मूल आधार वीतराग सर्वज्ञ की वाणी है। सर्वज्ञ अर्थात् आत्म-द्रष्टा। सम्पूर्ण रूप से आत्मदर्शन करने वाले ही विश्व का समग्र दर्शन कर सकते हैं। जो समग्र को जानते हैं, वे ही तत्वज्ञान का यथार्थ निरूपण कर सकते हैं। परमहितकर निःश्रेयस का यथार्थ उपदेश कर सकते हैं।

सर्वज्ञो द्वारा कथित तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध-'आगम' शास्त्र या सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

तीर्थंकरो की वाणी मुक्त सुमनो की वृष्टि के समान होती है, महान प्रज्ञावान गणधर उसे सूत्र रूप मे ग्रथित करके व्यवस्थित 'आगम' का रूप देते हैं।[1]

आज जिसे हम 'आगम' नाम से अभिहित करते हैं, प्राचीन समय मे वे 'गणिपिटक' कहलाते थे—'गणिपिटक' मे समग्र द्वादशागी का समावेश हो जाता है। पश्चाद्वर्ती काल मे इसके अग, उपाग, मूल, छेद आदि अनेक भेद किये गये।

जब लिखने की परम्परा नही थी, तब आगमों को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से सुरक्षित रखा जाता था। भगवान महावीर के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक 'आगम' स्मृति-परम्परा पर ही चले आये थे। स्मृति-दुर्बलता, गुरु-परम्परा का विच्छेद तथा अन्य अनेक कारणो से धीरे-धीरे आगमज्ञान भी लुप्त होता गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्रा ही रह गया। तब देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने श्रमणो का सम्मेलन बुलाकर, स्मृति-दोष से लुप्त होते आगमज्ञान को, जिनवाणी को सुरक्षित रखने के पवित्र-उद्देश्य से लिपिबद्ध करने का ऐतिहासिक प्रयास किया और जिनवाणी को पुस्तकारूढ करके आने वाली पीढी पर अवर्णनीय उपकार किया, यह जैन धर्म, दर्शन एव संस्कृति की धारा को प्रवहमान रखने का अद्भुत उपक्रम था। आगमो का यह प्रथम सम्पादन वीर-निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात सम्पन्न हुआ।

पुस्तकारूढ होने के बाद जैन आगमो का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु कालदोष, बाहरी आक्रमण, आन्तरिक मतभेद, विग्रह, स्मृति-दुर्बलता एव प्रमाद आदि कारणो से आगम-ज्ञान की शुद्धधारा, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा, धीरे-धीरे क्षीण होने से नही रुकी। आगमो के अनेक महत्व-पूर्ण सन्दर्भ, पद तथा गूढ अर्थ छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। जो आगम लिखे जाते थे, वे भी पूर्ण शुद्ध नही होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही रहे। अन्य भी अनेक कारणों से आगम-ज्ञान की धारा सकुचित होती गयी।

विक्रम की सोलहवी शताब्दी मे लोकाशाह ने एक क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और यथार्थ अर्थ-ज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुन चालू हुआ। किन्तु कुछ काल

---

१. अत्थ भासइ अरहा सुत्त गथति गणहरा निउणा।

बाद पुनः उसमें भी व्यवधान आ गए। साम्प्रदायिक द्वेष, सैद्धान्तिक विग्रह तथा लिपिकारों की भाषा विषयक अल्पज्ञता आगमों की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध में बहुत बड़ा विघ्न बन गए।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो पाठकों को कुछ सुविधा हुई। आगमों की प्राचीन टीकाएँ, चूर्णि व नियुक्ति जब प्रकाशित हुई तथा उनके आधार पर आगमों का सरल व स्पष्ट भावबोध मुद्रित होकर पाठकों को सुलभ हुआ तो आगम ज्ञान का पठन-पाठन स्वभावतः बढ़ा, सैकड़ों जिज्ञासुओं में आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति जगी व जैनेतर देशी-विदेशी विद्वान् भी आगमों का अनुशीलन करने लगे।

आगमों के प्रकाशन-सम्पादन-मुद्रण के कार्य में जिन विद्वानों तथा मनीषी श्रमणों ने ऐतिहासिक कार्य किया, पर्याप्त सामग्री के अभाव में आज उन सबका नामोल्लेख कर पाना कठिन है। फिर भी मैं स्थानकवासी परम्परा के कुछ महान मुनियों का नाम-ग्रहण अवश्य ही करूंगा।

पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज स्थानकवासी परम्परा के वे महान् साहसी व दृढ संकल्पबली मुनि थे, जिन्होंने अल्प साधनों के बल पर भी पूरे बत्तीस सूत्रों को हिन्दी में अनूदित करके जन-जन को सुलभ बना दिया। पूरी बत्तीसी का सम्पादन-प्रकाशन एक ऐतिहासिक कार्य था, जिससे सम्पूर्ण स्थानकवासी-तेरापंथी समाज उपकृत हुआ।

गुरुदेव पूज्य स्वामीजी श्री जोरावरमलजी महाराज का एक संकल्प—मैं जब गुरुदेव स्व० स्वामी श्री जोरावरमलजी महाराज के तत्वावधान में आगमों का अध्ययन कर रहा था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर गुरुदेव मुझे अध्ययन कराते थे। उनको देखकर गुरुदेव को लगता था कि यह संस्करण यद्यपि काफी श्रमसाध्य है, एवं अब तक के उपलब्ध संस्करणों में काफी शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूल पाठ में व उसकी वृत्ति में कहीं-कहीं अन्तर भी है कहीं वृत्ति बहुत संक्षिप्त है।

गुरुदेव स्वामी श्री जोरावरमलजी महाराज स्वयं जैनसूत्रों के प्रकांड पण्डित थे। उनकी मेधा बड़ी व्युत्पन्न व तर्कणाप्रधान थी। आगमसाहित्य की यह स्थिति देखकर उन्हें बहुत पीड़ा होती और कई बार उन्होंने व्यक्त भी किया कि आगमों का शुद्ध, सुन्दर व सर्वोपयोगी प्रकाशन हो तो बहुत लोगों का कल्याण होगा। कुछ परिस्थितियों के कारण उनका संकल्प, मात्र भावना तक सीमित रहा।

इसी बीच आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज, पूज्य श्री घासीलालजी महाराज आदि विद्वान् मुनियों ने आगमों की सुन्दर व्याख्याएँ व टीकाएँ लिखकर/अपने तत्वावधान में लिखवाकर इस कमी को पूरा किया है।

वर्तमान में तेरापंथ सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसी ने भी यह भगीरथ प्रयत्न प्रारम्भ किया है और अच्छे स्तर से उनका आगम-कार्य चल रहा है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगों में वर्गीकृत करने का मौलिक एवं महत्वपूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के विद्वान श्रमण स्व० मुनि श्रीपुण्यविजय जी ने आगम-सम्पादन की दिशा में बहुत ही व्यवस्थित व उत्तमकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। उनके स्वर्गवास के पश्चात मुनि श्रीजम्बूविजय जी के तत्वावधान में यह सुन्दर प्रयत्न चल रहा है।

उक्त सभी कार्यों पर विहंगम अवलोकन करने के बाद मेरे मन में एक संकल्प उठा। आज कहीं तो आगमों का मूल मात्र प्रकाशित हो रहा है और कहीं आगमों की विशाल व्याख्याएँ की जा रही हैं। एक, पाठक के लिए दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। मध्यम मार्ग का अनुसरण कर आगम वाणी का भावोद्घाटन करने वाला ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जो सुबोध भी हो, सरल भी हो, संक्षिप्त हो, पर सारपूर्ण व सुगम हो। गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। उसी भावना को लक्ष्य में रखकर मैंने ४-५ वर्ष पूर्व इस विषय

में चिन्तन प्रारम्भ किया। सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात वि० सं० २०३६ वैशाख शुक्ला १० महावीर कैवल्य दिवस को दृढ़ निर्णय करके आगम-बत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ कर दिया और अब पाठकों के हाथों में आगम ग्रन्थ, क्रमशः पहुँच रहे हैं, इसकी मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है।

आगम-सम्पादन का यह ऐतिहासिक कार्य पूज्य गुरुदेव की पुण्यस्मृति में आयोजित किया गया है। आज उनका पुण्य स्मरण मेरे मन को उल्लसित कर रहा है। साथ ही मेरे वन्दनीय गुरु-भ्राता पूज्य स्वामी श्री हजारीमल जी महाराज की प्रेरणाएँ- उनकी आगम-भक्ति तथा आगमसम्बन्धी तलस्पर्शी ज्ञान, प्राचीन धारणाएँ मेरा सम्बल बनी है। अत: मैं उन दोनो स्वर्गीय आत्माओं की पुण्य स्मृति मे विभोर हूँ।

शासनसेवी स्वामी जी श्री बृजलाल जी महाराज का मार्गदर्शन, उत्साह-संवर्द्धन, सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार व महेन्द्र मुनि का साहचर्य-बल; सेवा-सहयोग तथा महासती श्री कानकुँवर जी, महासती श्री झणकारकुँवर जी, परम विदुषी साध्वी श्री उमराव कुँवर जी 'अर्चना' की विनम्र प्रेरणाएँ मुझे सदा प्रोत्साहित तथा कार्यनिष्ठ बनाए रखने मे सहायक रही है।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि आगम-वाणी के सम्पादन का यह सुदीर्घ प्रयत्नसाध्य कार्य सम्पन्न करने में मुझे सभी सहयोगियों, श्रावकों व विद्वानों का पूर्ण सहकार मिलता रहेगा और मैं अपने लक्ष्य तक पहुँचने में गतिशील बना रहूँगा।

इसी आशा के साथ ···

—मुनि मिश्रीमल 'मधुकर'

स्थविर कौन ? इस प्रश्न के उत्तर में दो मत हैं—आचारागचूर्णि एव निशीथचूर्णिकार का मत है—थेरा गणधरा। स्थविर का अर्थ है गणधर[1] निशीथचूर्णिकार ने निशीथ सूत्र, जो कि आचारचूला का ही एक अश है, उमे गणधरो का 'अत्तागम' माना है, जिससे स्पष्ट है कि वह 'गणधर कृत' मानने के ही पक्षधर है।[1]

वृत्तिकार शीलाकाचार्य ने—स्थविर की परिभाषा-चतुर्दशपूर्वधर की है।[2]

आवश्यक चूर्णिकार तथा आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार आचाराग की तृतीय व चतुर्थ चूलिका यक्षा साध्वी महाविदेह क्षेत्र से लेकर आई।[3]

प्राचीन तथ्यो के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आचारचूला प्रथम श्रुत-स्कंध का परिशिष्ट रूप विस्तार है। भले ही वह गणधरकृत हो, या स्थविरकृत, किंतु उसकी प्रामाणिकता असदिग्ध है! प्रथम श्रुतस्कध के समान ही इसकी प्रामाणिकता सर्वत्र स्वीकार की गई है।

विषय वस्तु :

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, आचाराग का सपूर्ण विषय-आचारधर्म से सम्बन्धित है। आचार में भी सिर्फ श्रमणाचार।

प्रथम श्रुतस्कंध सूत्ररूप है, उसकी शैली अध्यात्मपरक है अतः मूलरूप में उसमें अहिंसा, समता, अनासक्ति, कषाय-विजय, धुत-श्रमण-आचार आदि विषयों का छोटे छोटे वचन सूत्रों में सुन्दर व सारपूर्ण प्रवचन हुआ है।

द्वितीय श्रुतस्कंध विवेचन/विस्तार शैली में है। इसमें श्रमण की आहार-शुद्धि, स्थान-गति-भाषा आदि के विवेक व आचारविधि की परिशुद्धि का विस्तार के साथ वर्णन है।

आचार्यों का मत है कि प्रथम श्रुतस्कध में सूत्ररूप निर्दिष्ट विषयों का विस्तार ही आचारचूला मे हुआ है। आचार्यशीलांक आदि ने विस्तारपूर्वक सूत्रों का निर्देश भी किया है।[4]

---

१. आचा० चूर्णि तथा निशीथचूर्णि भाग १. पृ० ४

२. वृत्ति पत्राक ३१६,—स्थविरैः श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिः निर्यूढानि।

३ विस्तार के लिए देखिए प्रथम श्रुतस्कंध की प्रस्तावना—देवेन्द्र मुनि।

४ (क) निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने सक्षेप में निर्यूहण स्थल के अध्ययन व उद्देशक का सकेत किया है। निर्युक्ति गाथा २८८ से २९१। किन्तु चूर्णिकार व वृत्तिकार ने (वृत्तिपत्राक ३१९-२०) सूत्रो का भी निर्देश किया है। जैसे

(ख) सव्वामगधपरिन्नाय' अदिस्समाणो कयविक्कएहिं— (अ० २ उ० ५ सूत्र ८८)
भिक्खू परक्कमेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा... (अ० ८ उ० २ सूत्र २०४)
आदि सूत्रों के विस्ताररूप में पिण्डैषणा के ११ उद्देशक तथा २, ५, ६, ७ वा अध्ययन निर्यूढ हुआ है।

आचारांग का यह द्वितीय श्रुतस्कंध पांच चूलिकाओं में विभक्त माना गया है।[1] इनमें से चार चूला आचारांग में है, किंतु पांचवी चूला आचारांग से पृथक कर दी गई है और यह 'निशीथसूत्र' के नाम से स्वतन्त्र आगम मान लिया गया है। यद्यपि निशीथसूत्र में आचारांग वर्णित आचार में दोष लगने पर उसकी विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त विधान ही है, जो कि मूलतः उसी का अंग है, किंतु किन्ही कारणों से वह आज स्वतन्त्र आगम है। अब आचार चूला में सिर्फ श्रमणाचार का विधि-निषेध पक्ष ही प्रतिपादित है, उसकी विशुद्धिरूप प्रायश्चित्त की चर्चा वहाँ नही है। इससे एक बात यह ध्वनित होती है कि आचारचूला व निशीथ मूलतः एक ही कुशल मस्तिष्क की संयोजना है। स्थानांग, समवायांग में इसे आचारकल्प या 'आचार प्रकल्प' कहा है, जो आचारांग का सम्बन्ध सूचक है।

आचारांग की चार चूलाओं में प्रथम चूला सबसे विस्तृत है। इसमें सात अध्ययन है—

नाम	उद्देशक	विषय
१. पिण्डैषणा	११.	—आहार शुद्धि का प्रतिपादन।
२. शय्यैषणा	३	संयम-साधना के अनुकूल स्थानशुद्धि
३ ईर्यैषणा —	३	गमनागमन का विवेक
४ भाषाजातैषणा	२.	भाषा-शुद्धि का विवेक
५. वस्त्रैषणा	२	वस्त्रग्रहण सम्बन्धी विविध मर्यादाएं।
६. पात्रैषणा	२.	पात्र-ग्रहण सम्बन्धी विविध मर्यादाएं
७. अवग्रहैषणा	२	स्थान आदि की अनुमति लेने की विधि।

इस प्रकार प्रथम चूला के ७ अध्ययन व २५ उद्देशक है।

द्वितीय चूला के सात अध्ययन है, ये उद्देशक रहित हैं।

८. स्थान सप्तिका—	आवास योग्य स्थान का विवेक।
९. निषीधिका सप्तिका—	स्वाध्याय एवं ध्यान योग्य स्थान-गवेषणा।
१०. उच्चार-प्रस्रवण सप्तिका—	शरीर की दीर्घ शंका एवं लघुशंका निवारण का विवेक।

(घ) गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जाय दुप्परिक्कंत····
इस आधार पर ईर्याध्ययन का विस्तार किया गया है। (अ० ५. उ० ४. सूत्र १६२)

(च) आइक्खइ विहेयइ किट्टेइ धम्मकामी···
इस सूत्र के आधार पर भाषाध्ययन नियूंढ हुआ है। (अ० ६. उ० ५ सू० १९६)

(छ) महापरिज्ञा अध्ययन के सात उद्देशक से सप्तसप्तिका नियूंढ है। (अ० ८ से १४)

(ज) षष्ठ धूताध्ययन के २, व ४ उद्देशक से विमुक्ति (१६ वाँ) अध्ययन नियूंढ है।

(झ) प्रथम शस्त्रपरिज्ञाध्ययन से भावना अध्ययन नियूंढ है।

१. इयाइ य सचंचूलो बहु-बहुतरओ पयग्गेणं—नियुंक्ति ...

११. शब्द सप्तिका—	शब्दादिविषयों में राग-द्वेष रहित रहने का उपदेश।
१२. रूप सप्तिका—	रूपादि विषय में राग-द्वेष रहित रहने का उपदेश।
१३. परक्रिया सप्तिका—	दूसरों द्वारा की जाने वाली सेवा आदि क्रियाओ का निषेध।
१४. अन्योन्यक्रिया सप्तिका—	परस्पर की जानेवाली क्रियाओ में विवेक।

तृतीय चूला का एक अध्ययन—भावना है।

१५. भावना—इसमें भगवान महावीर के उदात्त चरित्र का सक्षेप में वर्णन है। आचार्यों के अनुसार प्रथम श्रुतस्कध में वर्णित आचार का पालन किसने किया—इसी प्रश्न का उत्तर-रूप भगवद्चरित्र है। इसी अध्ययन में पाच महाव्रतों की २५ भावना का वर्णन भी है।

१६ विमुक्ति—चतुर्थ चूलिका में सिर्फ ग्यारह गाथाओं का एक अध्ययन है। इसमें विमुक्त वीतराग आत्मा का वर्णन है।

आन्तरिक परिचय

आचार चूला में वर्णित मुख्य विषयों की सूची यहाँ दी गई है। विस्तार से अध्ययन करने पर यह सिर्फ श्रमणाचार का एक आगम ही नही, किंतु तत्कालीन जन-जीवन की रीति-रिवाज, मर्यादाए, स्थितियाँ, कला, राजनीति आदि की विरल झाकी भी इससे मिलती है।

बौद्धग्रन्थ 'विनयपिटक' तथा वैदिकधर्मग्रन्थ—'याज्ञवल्क्यस्मृति' आदि में भी इसी प्रकार के आचार विधान हैं, जो तत्कालीन गृहत्यागी-श्रमण-भिक्षु वर्ग के आचारपक्ष को स्पष्ट करते है। भिक्षु के वस्त्र-पात्र की मर्यादाएं बौद्ध, वैदिक मर्यादाओ के साथ कितनी मिलती-जुलती हैं यह तीनो के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है, हमने यथास्थान प्रकरणों में तुलनात्मक टिप्पण देकर इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

'इन्द्रमह'—'भूतमह'—'यक्षमह' आदि लौकिक महोत्सवों का वर्णन, तत्कालीन जनता के धार्मिक व सास्कृतिक रीति-रिवाजो की अच्छी झलक देते है।

इसीप्रकार वस्त्रों के वर्णन में तत्कालीन वस्त्र-निर्माण कला का बहुत ही आश्चर्यकारी कलात्मक रूप सामने आता है।

संखडि, नौकारोहण, मार्ग में चोर-लुटेरों आदि के उपद्रव; वैराग्य-प्रकरण आदि के वर्णन से भी तत्कालीन श्रमण-जीवन की अनेक कठिन समस्याओं व राजनीतिक घटनाचक्रो का चित्र सामने आ जाता है।

प्रस्तुत वर्णन के साथ-साथ हमने निशीथचूर्णि-भाष्य एवं वृहत्कल्पभाष्यके वर्णन का सहारा लेकर विस्तार पूर्वक उन स्थितियों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, पाठक उन्हे यथास्थान देखें।

प्रस्तुत संपादन :

चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने भी प्रायः प्रत्येक पद की विस्तृत व्याख्या की है। चूर्णिकार एवं वृत्तिकार प्रायः समान मिलती-जुलती व्याख्या करते हैं, किन्तु आचारांग द्वितीय में यह स्थिति बदल गई है। चूर्णि भी संक्षिप्त है, वृत्ति भी संक्षिप्त है तथा उत्तरवर्ती अन्य विद्वानों ने भी इस पर बहुत ही कम श्रम किया है।

चूर्णि के अनुशीलन से पता चलता है—चूर्णिकार के समय में कोई प्राचीन पाठ-परम्परा उपलब्ध रही है, उसी के आधार पर चूर्णिकार व्याख्या करते हैं, किन्तु कालान्तर में वह पाठ-परम्परा लुप्त होती गई। वृत्तिकार के समक्ष कुछ भिन्न व कुछ अधूरे से पाठ आये हैं। इसप्रकार कहीं कहीं तो दोनों के विवेचन में बहुत अन्तर लक्षित होता है। जैसे चूर्णिकार के अनुसार द्वितीयचूला का चतुर्थ अध्ययन रूपसप्तैकक है पांचवाँ अध्ययन शब्दसप्तैकक। जबकि वर्तमान में उपलब्ध वृत्ति के अनुसार पहले 'शब्दसप्तैकक' है फिर 'रूपसप्तैकक'। भावना अध्ययन में भी पाठ परम्परा में काफी भिन्नता है। चूर्णिकार के पाठ विस्तृत हैं।

हमारे समक्ष आधारभूत पाठ-परम्परा के लिए मुनिश्री जम्बूविजय जी द्वारा संशोधित-संपादित 'आयारंग सुत्तं' रहा है। यद्यपि इसमें भी कुछ स्थानों पर मुद्रण-दोष रहा है, तथा कहीं-कहीं पाठ छूट गया लगता है, जिसका उल्लेख शुद्धिपत्र में भी नहीं है।[1] फिर भी अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों में यह अधिक उपादेय व प्रामाणिक प्रतीत होता है।

मुनिश्री नथमल जी संपादित 'आयारो तह आयार चूला' तथा 'अंगसुत्ताणि' भी हमारे समक्ष रहा है, किन्तु उसमें अतिप्रवृत्ति हुई है, 'जाव' शब्द के समग्र पाठ मूल में जोड़ देने से न केवल पाठ वृद्धि हुई है, किन्तु अनेक संदेहास्पद स्थल भी खड़े हो गये हैं। फिर आगम पाठ में अनुस्वार या मात्रा वृद्धि को भी दोष मानने की परम्परा जो चली आ रही है, तब इतने पाठ जोड़देना कैसे संगत होगा? अतः हमने उस पाठ को अधिक उपादेय नहीं माना।

मुनिश्री जम्बूविजयजी ने टिप्पणों में पाठान्तर चूर्णि आदि विविध ग्रन्थों के सदर्भ देकर प्राचीन पाठ परम्परा का जो अविकल, उपयोगी व ज्ञानवर्धक रूप प्रस्तुत किया है—वह उनकी विद्वत्ता में चारचांद लगाता है, अनुसंधाताओं के लिए अत्यधिक उपयोगी है। उनके श्रम का उपयोग हमने किया है—तदर्थ हम उनके बहुत आभारी हैं।

संपादन की मौलिकताएं :

आचारांग द्वितीय के अब तक प्रकाशित अनुवाद-विवेचन—मे प्रस्तुत संस्करण अपनी कुछ मौलिक विशेषताएँ रखता है जिनका सहजभाव से सूचन करना आवश्यक समझता हूं।

१. पाठ-शुद्धि का विशेष लक्ष्य।

२. ऐसे पाठान्तरों का उल्लेख, जिनका भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी महत्त्व है तथा कुछ भिन्न, नवीन व प्राचीन अर्थ का उद्घाटन भी होता है।

---

१. देखें सूत्र ७३४—"दाहिणु इयुर सणिवेसंसि।" होना चाहिए—"दाहिण माहणकु डपुर सणिवेसंसि।" सूत्र ७३५ में यह पाठ पूर्ण है।

३. चूर्णिगत प्राचीन पाठो का मूल रूप में उल्लेख तथा सर्वसाधारण पाठक उसका अर्थ समझ सके, तदर्थ प्रथम बार हिंदी भावार्थ के साथ टिप्पण में अंकित किया है।

४. पारिभाषिक तथा सास्कृतिक शब्दो का—शब्दकोष की दृष्टि से अर्थ, तथा अन्य आगमों के संदर्भो के साथ उनके अर्थ की संगति, विषय का विशदीकरण, एवं चूर्णि-भाष्य आदि के आलोक में उनकी प्रासंगिक विवेचना।

५. बौद्ध एवं वैदिक परम्परा के ग्रन्थों के साथ अनेक समान आचारादि विषयों की तुलना।

६. इन सबके साथ ही भावानुसारी अनुवाद, सारग्राही विवेचन, विषय-विशदीकरण, शंका-समाधान आदि।

७. कठिन व दुर्बोध शब्दो का विशेष भावलक्ष्यी अर्थ।

—यथासंभव, यथाशक्य प्रयत्न रहा है कि पाठ व अनुवाद में अशुद्धि, अर्थ-विपर्यय न रहे, फिर भी प्रमादवश होना संभव है, अतः सम्पूर्ण शुद्धता व समग्रता का दावा करना तो उचित नही लगता, पर विज्ञ पाठकों से नम्र निवेदन अवश्य करूंगा कि वे मित्र-बुद्धि से भूलों का संशोधन करें व मुझे भी सूचित करके अनुग्रहीत करें।

आगमों का अनुवाद-संपादन प्रारम्भ करते समय मेरे मन में कुछ भिन्न कल्पना थी, किन्तु कार्य प्रारम्भ करने के बाद कुछ भिन्न ही अनुभव हुए। ऐसा लगता है कि आगम—सिर्फ धर्म व आचार ग्रन्थ ही नही है, किन्तु नीति, व्यवहार, संस्कृति, इतिहास और लोक-कला के अमूल्य रहस्य भी इनमे छुपे है, जिनका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सर्वांगीण अध्ययन अनुशीलन करने के लिए बहुत समय, विशाल अध्ययन और विस्तृत साधनों की अपेक्षा है।

पूज्यपाद श्रुत-विशारद युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी महाराज की बलवती प्रेरणा, वात्सल्य भरा उत्साहवर्धन, मार्गदर्शन तथा पंडितवर्य श्रीयुत शोभाचन्द्र जी भारिल्ल का निर्देशन, पिता तुल्य स्नेह संशोधन-परिवर्धन की दृष्टि से बहुमूल्य परामर्श—इस संपादन के हर पृष्ठ पर अंकित हैं—इस अनुग्रह के प्रति आभार व्यक्त करना तो बहुत साधारण बात होगी। मैं हृदय से चाहता हूं कि यह सौभाग्य भविष्य में भी इसी प्रकार प्राप्त होता रहे।

मुझे विश्वास है कि सुज्ञ पाठक मेरे इस प्रथम प्रयास का जिज्ञासुबुद्धि से मूल्यांकन करेंगे व आगम स्वाध्याय-अनुशीलन की परम्परा को पुनर्जीवित करने में अग्रणी बनेंगे।

भाद्रपद
पर्युषण प्रथम दिन

—विनीत
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

ाचारांग-द्वितीय श्रुतस्कंध [आचार चूला] अध्ययन १० से २५

विषय-सूची

चूला : सात अध्ययन :

प्रथम पिंडैषणा अध्ययन : (११ उद्देशक) पृष्ठ १ से ११३

शय्यैषणा : द्वितीय अध्ययन (३ उद्देशक) पृष्ठ ११४ से १६८

अवग्रह प्रतिमा : सप्तम अध्ययन (२ उद्देशक) पृष्ठ २७७ से २९९

द्वितीय चूला : सप्त सप्तिका (७ अध्ययन)

स्थान-सप्तिका : अष्टम अध्ययन

निषीधिका-सप्तिका : नवम अध्ययन

उच्चार-प्रस्रवण सप्तिका : दशम अध्ययन

शब्द-सप्तिका : एकादश अध्ययन

रूप-सप्तिका : द्वादश अध्ययन

पर-क्रिया सप्तिका : त्रयोदश अध्ययन

अन्योन्यक्रिया सप्तिका : चतुर्दश अध्ययन

तृतीय चूला : (१ अध्ययन)

भावना : पन्द्रहवाँ अध्ययन

[गणहर (थेर) निवद्ध]

आयारंगसुत्तं

बीओ सुयक्खंधो

[आयार चूला]

गणधर (स्थविर) निबद्ध

आचरांग सूत्र

द्वितीय श्रुतस्कंध

[आचार

आचारांग सूत्र [आचार चूला]

(प्रथम चूला)

पिंडेषणा—प्रथम अध्ययन

प्राथमिक

✡ आचारांग सूत्र का यह द्वितीय श्रुतस्कन्ध है। इसका अपर नाम 'आचाराग्र' या आचार-चूला भी है।

✡ प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो ९ ब्रह्मचर्याध्ययन प्रतिपादित हैं, उनमें आचार सम्बन्धी समग्र बातें नही बताई गई हैं, जो कुछ बताई गई हैं, वे बहुत ही संक्षेप में। अतः नही कही हुई बातो का कथन और संक्षेप में कही हुई बातो का विस्तारपूर्वक कथन करने के लिए उसकी अग्रभूत चार चूलाएँ उक्त और अनुक्त अर्थ की संग्राहिका बताई गई हैं।[1]

✡ आचाराग्र में 'अग्र' शब्द के अनेक भेद-प्रभेद करके बताया है कि यहाँ 'अग्र' शब्द 'उपकाराग्र' के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव अध्ययनो में जो विषय संक्षिप्त में कहे हैं, यहाँ उनका अर्थ विस्तार से किया गया है, तथा जो विषय अनुक्त—नही कहे गए हैं, उनका यहाँ निरूपण भी है।[2]

✡ प्रथम चूला में पिंडैषणा से अवग्रहप्रतिमा तक के सात अध्ययन हैं। इसी प्रकार स्थान सप्तिका आदि (८ से १४) सात अध्ययन की द्वितीय चूला है। तृतीय चूला में भावना अध्ययन (१५ वाँ) एवं चतुर्थ चूला में विमुक्ति अध्ययन (१६ वाँ) परिगणित है।[3]

✡ चूला, चूडा या चोटी शीर्ष स्थान को कहते है। आचार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विषयों का निर्देश होने से इसे 'चूला' संज्ञा दी गयी है।

✡ आचारांग सूत्र-द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम 'पिण्डैषणा' है।

✡ पिण्ड का अर्थ है—अनेक पदार्थों का संघात करना, एकत्रित करना।[4] संयम आदि भावपिण्ड है तथा उसके उपकारक आहार आदि द्रव्यपिण्ड।

---

१. निर्युक्ति तथा चूर्णि के अनुसार आचाराग के साथ पाँच चूलाएँ सयुक्त थीं। प्रथम चार चूलाओं की स्थापना के रूप में द्वितीय श्रुतस्कन्ध है, तथा पाँचवी चूला 'निशीथ-अध्ययन' के रूप मे स्थापित की गई है। जैसे—
हवइ य स पच चूलो—(निर्युक्ति गाथा ११) तस्स पंच चूलाओ,… एकारस पिंडेषणाओ जावोग्गह पडिमा पढमा चूला…निसीह पंचमा चूला—चूर्णि

२. (क) निर्युक्ति गा० ४।
(ख) आचा० टीका पत्राक ३१८,

३. (क) निर्युक्ति गा० ११ से १६। (ख) आचा० टीका पत्रांक ३२०।

४. अभि० राजेन्द्र भाग ५ पृ० ९१६

- ✡ द्रव्यपिण्ड भी आहार (४ प्रकार का) शय्या और उपधि के भेद से तीन प्रकार का है, लेकिन यहाँ केवल आहारपिण्ड ही विवक्षित है।[1] पिण्ड का अर्थ भोजन भी है।[2]
- ✡ आहार रूप द्रव्य पिण्ड के सम्बन्ध में विविध एषणाओं की अपेक्षा से विचार करना 'पिण्डैषणा' अध्ययन का विषय है।
- ✡ आहार-शुद्धि के लिए की जाने वाली गवेषणैषणा (शुद्धाशुद्धि-विवेक), ग्रहणैषणा (ग्रहण विधि का विवेक) और ग्रासैषणा (परिभोगैषणा—भोजनविधि का विवेक) पिण्डैषणा कहलाती है।
- ✡ इसमें आहारशुद्धि (पिण्ड) से सम्बन्धित उद्गम, उत्पादना, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण; यों आठ प्रकार की पिण्डविशद्धि (एषणा) का वर्णन है।[3]
- ✡ पिण्डैषणा अध्ययन के ११ उद्देशक हैं जिनमें विभिन्न पहलुओं से विभिन्न प्रकार के आहारों (पिण्ड) की शुद्धि के लिए एषणा के विभिन्न अपेक्षाओं से बताये गए नियमों का वर्णन है। ये सभी नियम साधु के लिए बताई हुयी एषणा समिति के अन्तर्गत हैं।
- ✡ दशवैकालिक सूत्र (५) तथा पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में भी इसी प्रकार का वर्णन है।

□ □

---

१. पिण्डनिर्युक्ति गा० १, अनुवाद पृ० २।
२. (क) पिण्ड समयभासया भक्त—स्थान० स्था० ७ (अभि० रा० ५ पृ० ९३०)
(ख) नालन्दा विशाल शब्द सागर; पृष्ठ ८३८।
३. (क) पिण्डनिर्युक्ति अनुवाद पृष्ठ २, ३।
(ख) आचा० टीका पत्रांक ३२०।

पढमा चूला

'पिंडेषणा' पढमं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

प्रथम चूला: पिंडैषणा—प्रथम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

सचित्त-संसक्त आहारैषणा

३२४. से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पाणेहिं वा पणएहिं वा बीएहिं वा हरिएहिं वा संसत्तं उम्मिस्सं सीओदएण वा ओसित्तं रयसा वा परिघासियं, तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे वि संते णो पडिगाहेज्जा।

से य आहच्च[1] पडिगाहिए सिया, से त्तमादाय एगंतमवक्कमेज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे[2] अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिते अप्पोसे अप्पुदए अप्पुत्तिंग-पणग-दगमट्टिय-मक्कडासंताणए विगिंचिय विगिंचिय उम्मिस्सं विसोहिय विसोहिय ततो संजयामेव भुंजेज्ज वा पिएज्ज वा।

जं च णो संचाएज्जा भोत्तए वा पातए वा से त्तमादाय एगंतमवक्कमेज्जा[3], २ [त्ता] अहे झामथंडिल्लंसि वा अट्ठिरासिंसि वा किट्टरासिंसि वा तुसरासिंसि वा गोमयरासिंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय ततो संजयामेव परिट्ठवेज्जा।

३२४. कोई भिक्षु या भिक्षुणी भिक्षा में आहार-प्राप्ति के उद्देश्य से गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होकर (आहार योग्य पदार्थों का अवलोकन करते हुए) यह जाने कि यह अशन, पान, खाद्य तथा स्वाद्य (आहार) रसज आदि प्राणियों (कृमियों) से, काई-फफूंदी से, गेहूँ आदि के बीजों से, हरे अंकुर आदि से संसक्त है, मिश्रित है, सचित्त जल से गीला है तथा सचित्त मिट्टी से सना हुआ है; यदि इस प्रकार का (अशुद्ध) अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य पर—(दाता) के हाथ

---

१. चूर्णिकार ने 'आहच्च' और 'सिया' इन दो पदों को लेकर चतुर्भंगी सूचित की है—"आहच्च = सहसा, सिया = कदाति, अणाभोगदिन्नं, अणाभोगपडिच्छियं।"—भावार्थ यह है—(१) सहसा ग्रहण कर लेने पर; (२) कदाचित् ग्रहण करले तो, (३) बिना उपयोग के दिया गया हो, (४) बिना उपयोग के ग्रहण कर लिया हो।"

२. 'अप्पंडे' आदि शब्दों का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—"अंडगा पाणा जत्थ णत्थि, हरिता दग उस्सा वा जहिं णत्थि।" अर्थात्—जहाँ अंडे, प्राणी नहीं हों, जहाँ हरियाली, सचित्त पानी या ओस नहीं हो।

३. यहाँ '२' के अंक के बदले में क्त्वा—प्रत्ययान्त 'अवक्कमित्ता' पद समझना चाहिए।

में हो, पर—(दाता) के पात्र में हो तो उसे अप्रासुक (सचित्त) और अनेषणीय (दोषयु
मानकर, प्राप्त होने पर ग्रहण न करे।

कदाचित् (दाता या गृहीता की भूल से) वैसा (संसक्त या मिश्रित) आहार ग्रहण
लिया हो तो वह (भिक्षु या भिक्षुणी) उस आहार को लेकर एकान्त में चला जाए या उ
या उपाश्रय में ही (—एकान्त हो तो) जहाँ प्राणियों के अंडे न हों, जीव जन्तु न हों, बीज
हों, हरियाली न हो, ओस के कण न हों, सचित्त जल न हो तथा चींटियाँ, लीलन-फूल
(फफूंदी), गीली मिट्टी या दलदल, काई या मकड़ी के जाले एवं दीमकों के घर आदि न
वहाँ उस संसक्त आहार से उन आगन्तुक जीवों को पृथक् करके उस मिश्रित आहार को शो
शोधकर फिर यतनापूर्वक खा ले या पी ले।

यदि वह (किसी कारणवश) उस आहार को खाने-पीने में असमर्थ हो तो उसे ले
एकान्त स्थान में चला जाए। वहाँ जाकर दग्ध (जली हुयी) स्थंडिलभूमि पर, हड्डियों
ढेर पर, लोह के कूड़े के ढेर पर, तुष (भूसे) के ढेर पर, सूखे गोबर के ढेर पर या
प्रकार के अन्य निर्दोष एवं प्रासुक (जीव-रहित) स्थण्डिल (स्थान) का भलीभाँति निरी
करके, उसका रजोहरण से अच्छी तरह प्रमार्जन करके, तब यतनापूर्वक उस आहार को
परिष्ठापित कर दे (डाल दे)।

विवेचन—भिक्षाजीवी साधु और भिक्षा—जैन श्रमण-श्रमणियां हिंसा आदि आरंभ
त्यागी तथा अनगार होने के कारण 'भिक्षाचरी' के द्वारा उदर-निर्वाह करते हैं। इसी
उनकी भिक्षा 'सर्वसम्पत्करी भिक्षा' मानी गयी है।[1] परन्तु उनकी भिक्षा 'सर्वसम्पत्करी' तभी
सकती है, जबकि वह एषणीय, कल्पनीय, प्रासुक और निर्दोष हो, साथ ही आहार ग्रहण
के ६ कारणों से सम्मत हो।[2]

अपने लिए योग्य आहारादि लेने के सिवाय यों ही गृहस्थों के घरों में निष्प्रयोजन
श्रमण की साधुता या भिक्षाजीविता के लिए दोष का कारण है। इसीलिए यहाँ कहा गया
पिंडवाय पडियाए।' वृत्तिकार ने 'पिण्डपात-प्रत्ययार्थ' का भावार्थ दिया है—पिण्डपात—भिक्षा
उसकी प्रतिज्ञा (उद्देश्य) से कि "मैं यहाँ भिक्षा प्राप्त करूँगा।" गृहस्थ के घर में प्रवेश क

---

१. भिक्षा तीन प्रकार की बताई गयी है—
(१) अनाथ, अपंग व्यक्ति अपनी असमर्थता के कारण मांग कर खाता है—वह दीनवृत्ति भिक्षा
(२) श्रम करने में समर्थ व्यक्ति आलस्य व अकर्मण्यता के कारण मांग कर खाता है, वह पौरु
भिक्षा है। (३) त्यागी व आत्मध्यानी व्यक्ति अहिंसा व संयम की दृष्टि से सहज प्राप्त भिक्षा ले
वह 'सर्वसम्पत्करी भिक्षा' है।
—हारिभद्रीय अष्टक प्रकरण

२. आहार करने के ६ कारण निम्न हैं—

वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए। —उत्तरा० २६।३३—स्था

(१) क्षुधा-वेदना की शांति के लिए (२) सेवा-वैयावृत्य करने के लिए, (३) ईर्यासमिति का
सम्यक् प्रकार से हो, इसलिए, (४) संयम-पालन के लिए (५) प्राण-धारण किए रखने के लि
(६) धर्म-चिन्तना के लिए।

३. आचा० टीका पत्रांक ३२१ के आधार

अप्रासुक और (२) अनेषणीय हो।

अप्रासुक का अर्थ है—सचित्त—जीव सहित और अनेषणीय का अर्थ है—त्रिविध एषणा (गवेषणा, ग्रहणैषणा, ग्रासैषणा) के दोषों से युक्त।[३] वह आहार भी सचित्तवत् माना जाता

---

२ भिक्षाचरी के प्रकरण में प्राय 'अफासुय' 'अणेसणिज्ज' इन दो शब्दों का साथ-साथ व्यवहार हुआ है। अप्रासुक का अर्थ है—सचित्त या सचित्त-मिश्रित आहार।
अप्रासुक की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'न प्रगता असवोऽसुमन्तो यस्मात् तदप्रासुकम्'—जो जीव रहित न हुआ हो, वह अप्रासुक है। —(अभि० राजेन्द्र भाग १, पृष्ठ ६७५)
अनेषणीय आहार वह है जो उद्गम आदि दोषों से युक्त हो। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—
एष्यते गवेष्यते उद्गमादि दोषविकलतया साधुभिर्यद् तदेषणीयं, कल्प्यं, तन्निषेधादनेषणीयं
—(अभि० रा० भाग १, पृ० ४४३)
—उद्गमादि दोषों से रहित जिस आहार की साधु द्वारा गवेषणा की जाती है, वह एषणीय है, कल्पनीय है। इससे विपरीत अकल्पनीय आहार अनेषणीय है।

३ भिक्षाचरी के उद्गम आदि बयालीस दोष सूत्रों में बताये गये हैं। वे क्रमश इस प्रकार हैं।
गृहस्थ के द्वारा लगने वाले दोष उद्गम के दोष कहलाते हैं। ये सोलह हैं जो इस प्रकार हैं—
(१) आहाकम्म (आधाकर्म)—सामान्य रूप से साधु के उद्देश्य से तैयार किया हुआ आहार लेना।
(२) उद्देसिय (औद्देशिक)—किसी विशेष साधु के निमित्त बनाया हुआ आहार लेना।
(३) पूइकम्मे (पूतिकर्म)—विशुद्ध आहार में आधाकर्मी आहार का थोड़ा-सा भाग मिला हुआ हो तो पूतिकर्म दोष है।
(४) मीसजाए (मिश्रजात)—गृहस्थ के लिए और साधु के लिए सम्मिलित बनाया हुआ आहार लेना।
(५) ठवणे (स्थापना)—साधु के निमित्त रखा हुआ आहार लेना।
(६) पाहुडियाए (प्राभृतिका)—साधु को आहार देने के लिए मेहमानों की जीमनवार को आगे-पीछे किए जाने पर आहार लेना।
(७) पाओअर (प्रादुष्करण)—अंधेरे में प्रकाश करके दिया जाने वाला आहार लेना।
(८) कीए (क्रीत)—साधु के लिए खरीदा हुआ आहार लेना।
(९) पामिच्चे (प्रामित्य)—साधु के निमित्त किसी से उधार लिया हुआ आहार लेना।
(१०) परियट्टए (परिवर्त)—साधु के लिए सरस-नीरस वस्तु की अदला-बदली करके दिया जाने वाला आहार लेना।
(११) अभिहडे (अभिहृत)—सामने लाया हुआ आहार लेना।
(१२) उब्भिन्ने (उद्भिन्न)—भूगृह में रखे हुए, मिट्टी, चपड़ी आदि से छाये हुए पदार्थ को उघाड़ कर दिया जाने वाला आहार लेना।
(१३) मालाहडे (मालाहृत)—जहाँ पर चढ़ने में कठिनाई हो वहाँ से उतार कर दिया जाने वाला आहार लेना या इसी प्रकार की नीची जगह से उठाकर दिया जाने वाला आहार लेना।
(१४) अच्छिज्जे (आच्छेद्य)—निर्बल पुरुष से छीना हुआ—अन्याय पूर्वक लिया हुआ आहार लेना।
(१५) अणिसिट्ठे (अनिसृष्ट)—साझे की वस्तु साझेदार की सम्मति के बिना दिये जाने पर लेना।

(१६) अज्झोयरए (अध्यवपूरक)—गृहस्थ के लिए राँधते समय साधु के लिए अधिक राँधा हुआ आहार लेना।

☆ साधु के द्वारा लगने वाले आहार सम्बन्धी दोष उत्पादन दोष कहलाते हैं। वे भी सोलह हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं।

(१) धाई (धात्री)—गृहस्थ के बाल-बच्चों को धाय (आया) की तरह खेलाकर आहार लेना।

(२) दूई (दूती)—गृहस्थ का गुप्त या प्रकट सन्देश उसके स्वजन से कहकर दूत कर्म करके आहार लेना।

(३) निमित्ते (निमित्त)—निमित्त (ज्योतिष आदि) द्वारा गृहस्थ को लाभ-हानि बताकर आहार लेना।

(४) आजीवे (आजीव)—गृहस्थ को अपना कुल अथवा जाति बताकर आहार लेना।

(५) वणीमगे (वनीपक)—भिखारी की तरह दीनता पूर्ण वचन कहकर आहार लेना।

(६) तिगिच्छे (चिकित्सा)—चिकित्सा बताकर आहार लेना।

(७) कोहे (क्रोध)—गृहस्थ को डरा-धमका कर या शाप का भय दिखाकर आहार लेना।

(८) माणे (मान)—'मैं लब्धि वाला हूँ तुम्हें सरस आहार लाकर दूंगा' इस प्रकार साधुओं से अभिमान जताकर आहार लाना।

(९) माया (माया)—छल-कपट करके आहार लेना।

(१०) लोहे (लोभ)—लोभ से अधिक आहार लेना।

(११) पुव्वि-पच्छा-संथव (पूर्व-पश्चात-संस्तव)—आहार लेने से पूर्व या पश्चात् दाता की प्रशंसा करना।

(१२) विज्जा (विद्या)—विद्या बताकर आहार लेना।

(१३) मंते (मन्त्र)—मोहन मन्त्र आदि मन्त्र सिखाकर आहार लेना।

(१४) चुण्णं (चूर्ण)—अदृश्य हो जाने का या मोहित करने का अन्जन बनाकर आहार लेना।

(१५) जोगे (योग)—वशीकरण या जल-थल में समा जाने की सिद्धि बताकर आहार लेना।

(१६) मूलकम्मे (मूलकर्म)—गर्भपात आदि औषध बताकर या पुत्रादि जन्म के दूषण निवारण करने के लिए मघा, ज्येष्ठा आदि दुष्ट नक्षत्रों की शान्ति के लिए मूल स्नान बताकर आहार लेना।

☆ एषणा दोष श्रावक और साधु दोनों के निमित्त से लगते हैं। उनके दस भेद इस प्रकार हैं—

(१) संकिय (शंकित)—गृहस्थ को और साधु को आहार देते-लेते समय आहार की शुद्धि में शंका होने पर भी आहार देना लेना।

(२) मक्खिय (म्रक्षित)—हथेली की रेखा और बाल सचित्त जल से गीले होने पर भी आहार देना लेना।

(३) निक्खित्त (निक्षिप्त)—सचित्त वस्तु पर रखा हुआ आहार देना-लेना।

(४) पिहिय (पिहित)—सचित्त वस्तु से ढँके हुए आहार को देना-लेना।

(५) साहरिय (संहृत)—सचित्त में से अचित्त निकालकर आहार लेना-देना।

(६) दायग (दायक)—अंधे, लूले, लंगड़े के हाथ से आहार का देना-लेना।

(७) उम्मीसे (उन्मिश्र)—सचित्त और अचित्त का मिश्रण कर (अथवा मिश्रित) आहार का देना लेना।

(८) अपरिणय (अपरिणत)—जिस पदार्थ में शस्त्र-परिणत न हुआ हो, जो अचित्त न हुआ हो देना या लेना।

(९) लित्त (लिप्त)—तुरन्त लिपी हुई भूमि का अतिक्रमण करके आहार देना-लेना।

(१०) छड्डिय (छर्दित)—भूमि पर छींटे डालते हुए देना-लेना।

प्रस्तुत में गृहस्थके हाथ में या उसके पात्र में रखे हुए सचित्त वनस्पति, जल और पृथ्वी से संसक्त या मिश्रित आहार को अप्रासुक और अनेषणीय बताकर, मिलने पर भी लेने का निषेध किया है। किन्तु द्रव्य—(दुर्लभ द्रव्य), क्षेत्र (साधारण द्रव्य लाभ रहित क्षेत्र) काल (दुर्भिक्ष आदि काल) तथा भाव (रुग्णता, अशक्ति आदि) आदि आपवादिक कारण उपस्थित होने पर लाभालाभ की न्यूनाधिकता का सम्यक् विचार करके गीतार्थ भिक्षु संसक्त आहार को अलग करके तथा आगन्तुक प्राणियों को दूर करके वह आहार राग-द्वेष रहित होकर यतनापूर्वक ग्रहण कर भी सकता है।[1]

सदोषगृहीत आहार कैसे सेव्य, कैसे परिष्ठाप्य ?—कदाचित् असावधानी से सचित्त संसक्त या मिश्रित आहार ले लिया हो तो क्या किया जाये ? इसकी निर्दोषविधि के रूप में मुख्यतया यहाँ दो विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं—(१) एकान्त निर्दोष, जीवजन्तु रहित स्थान देखकर सचित्त भाग यदि अलग किया जा सकता हो तो उसे ढूँढकर अलग निकाल ले और अचित्त भाग का सेवन कर ले, (२) यदि वैसा शक्य न हो तो एकान्त निर्दोष, निरवद्य जीवजन्तु रहित परिष्ठापन योग्य स्थान देखभाल एवं प्रमार्जित करके यतनापूर्वक उसे परिष्ठापन कर दे।

☆ मण्डल दोष आहार करते समय सिर्फ साधु के द्वारा लगते हैं। वे पाँच हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) संजोयणा (संयोजना)—जिह्वा की लोलुपता के वशीभूत होकर आहार सरस बनाने के लिए पदार्थों को मिला-मिलाकर खाना, जैसे दूध के साथ शक्कर मिलाना आदि।

(२) अप्पमाणे (प्रमाणातिक्रांत)—प्रमाण से अधिक भोजन करना।

(३) इंगाले (अङ्गार)—सरस आहार करते समय वस्तु की या दाता की प्रशंसा करते हुए खाना।

(४) धूमे (धूम)—नीरस नि:स्वाद आहार करते समय वस्तु या दाता की निन्दा करते हुए नाक, भौं सिकोड़ते हुए अरुचिपूर्वक खाना।

(५) अकारण (कारणातिक्रांत)—क्षुधावेदनीय आदि पूर्वोक्त छह कारणों में से किसी भी कारण के बिना ही आहार करना।

ये सैंतालीस दोष आगम साहित्य में एक स्थान पर कहीं भी वर्णित नहीं हैं किन्तु प्रकीर्ण रूप से कई जगह मिलते हैं।

आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात अध्यवपूर, पूति-कर्म, क्रीत-कृत, प्रामित्य, आच्छेद्य अनिसृष्ट और अभ्याहृत ये १० स्थानाङ्ग (९।६२) में तथा आचारांग सूत्र ३३१ में बतलाए गये हैं। धात्री-पिण्ड, दूती-पिण्ड, निमित्त-पिण्ड, आजीव-पिण्ड, वनीपक-पिण्ड, चिकित्सा-पिण्ड, कोप-पिण्ड, मान पिण्ड, माया-पिण्ड, लोभ-पिण्ड-विद्या-पिण्ड, मन्त्र-पिण्ड, चूर्ण-पिण्ड, योग-पिण्ड और पूर्व पश्चात्-संस्तवपिण्ड इनका निशीथ अध्ययन (उद्दे०१२) में उल्लेख है। धूम, संयोजना, प्राभृतिका, प्रमाणातिक्रान्त; भगवती (७।१) में हैं। मूलकर्म का उल्लेख प्रश्नव्याकरण (संवर० १।१५) में है। उद्भिन्न, मालाहृत, अध्यवपूर, शङ्कित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र अपरिणत, लिप्त और छर्दित—ये दशवैकालिक के पिण्डैषणा अध्ययन में मिलते हैं। कारणातिक्रांत का उल्लेख उत्तराध्ययन (२६।३२) में है। इस प्रकार विभिन्न सूत्रों में इन दोषों का वर्णन बिखरा हुआ मिलता है।

१ आचा० टीका० पत्रांक ३२१ के आधार पर।

परिष्ठापन करने योग्य स्थण्डिलभूमि के कुछ संकेत शास्त्रकार ने दिए हैं, शेष बातें
क के विवेक पर छोड़ दी है। 'अप्पंडे' आदि में 'अप्प' शब्द अभाव का वाचक है। परि-
योग्य स्थान की भली-भाँति देखभाल और रजोहरण से यतनापूर्वक सफाई के लिए यहाँ
खन और प्रमार्जन इन दो शब्दों का दो-दो बार प्रयोग किया गया है। वृत्तिकार ने इन
पदों के सात भंग बताए है—

(१) प्रतिलेखन किया हो, प्रमार्जन नहीं।
(२) प्रमार्जन किया हो, प्रतिलेखन नहीं।
(३) प्रतिलेखन, प्रमार्जन दोनों न किये हों।
(४) दुष्प्रतिलेखित और दुष्प्रमार्जित हो।
(५) दुष्प्रतिलेखित और सुप्रमार्जित हो।
(६) सुप्रतिलेखित और दुष्प्रमार्जित हो।
(७) सुप्रतिलेखित और सुप्रमार्जित हो।

इनमें से सातवाँ भंग ग्राह्य है।[1]

ज अन्न-ग्रहण की एषणा

३२५. से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावती जाव[2] पविट्ठे समाणे से ज्जाओ पुण सहीओ[3] जाणेज्जा कसिणाओ सासियाओ अविदलकडाओ अतिरिच्छच्छिण्णाओ अव्वोच्छि-णाओ तरुणियं वा छिवाडिं अणभिक्कंताभज्जितं[4] पेहाए अफासुयं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे भे संते णो पडिगाहेज्जा।

से भिक्खू वा २ जाव[5] पविट्ठे समाणे से ज्जाओ पुण ओसहीओ जाणेज्जा अकसिणाओ सासियाओ विदलकडाओ तिरिच्छच्छिण्णाओ वोच्छिण्णाओ तरुणियं वा छिवाडिं अभिक्कंत-ज्जियं पेहाए फासुयं एसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते पडिगाहेज्जा।

३२६. से भिक्खू वा २ जाव[6] समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा पिहुयं[*] वा बहुरजं वा

---

1. आचा० टीका पत्रांक ३२१-३२२ के आधार पर।
2. यहाँ जाव शब्द के अन्तर्गत सू० ३२४ के अनुसार शेष पाठ 'गाहावइ कुलं पिंडवाय पडियाए अणु'''। तक समझना चाहिए।
3. चूर्णिकार ने 'ओसहीयो' की व्याख्या की है—'ओसहीओ सचित्ताओ पडिपुन्नाओ अखंडिताओ सस्सि-याओ परोहणसमत्थाओ''—अर्थात् औषधियाँ (बीज वाले अनाज) जो सचित्त, प्रतिपूर्ण व अखण्डित हों। शस्य हों यानी—प्ररोहण मे—उगने मे समर्थ हो।
4. अणभिक्कंता भंज्जिता— इन दो पदों का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—अणभिकता जीवेहिं=जीवो से च्युत न हो, अभज्जिता मीसजीवा चेव=भुंजी हुयी न हों अथवा अल्प भुंजी हुयी हों, वे मिश्रजीवी होती हैं। एत्तो विवरीता कप्पणिज्जा अव्वादेणं=इससे विपरीत अपवाद रूप से कल्पनीय है।
5. यहाँ भी जाव शब्द के अन्तर्गत शेष सारा पाठ सू० ३२४ के अनुसार समझ लें।
6. यहाँ जाव शब्द के अन्तर्गत सूत्र ३२४ के अनुसार शेष सारा पाठ समझें।

भुज्जियं वा मंथुं वा चाउलं वा चाउलपलंबं वा सइं भज्जियं[1] अफासुयं जाव[2] णो पडिगाहेज्जा।

से भिक्खू वा २ जाव[3] समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा असइं[4] भज्जियं दुक्खुत्तो वा भज्जियं तिक्खुत्तो वा भज्जियं फासुयं एसणिज्जं लाभे संते जाव[5] पडिगाहेज्जा।

३२५. गृहस्थ के घर में भिक्षा प्राप्त होने की आशा से प्रविष्ट हुआ भिक्षु या भिक्षुणी यदि इन औषधियों (बीज वाले अनाजों) को जाने कि ये अखण्डित (पूर्ण) हैं, अविनष्ट योनि हैं, जिनके दो या दो से अधिक टुकड़े नहीं हुए हैं, जिनका तिरछा छेदन नहीं हुआ है, जीव रहित (प्रासुक) नहीं हैं, अभी अधपकी फली है, जो अभी सचित्त व अभग्न है या अग्नि में भुंजी हुई नहीं हैं, तो उन्हें देखकर उनको अप्रासुक एवं अनेषणीय समझकर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में भिक्षा लेने के लिए प्रविष्ट भिक्षु या भिक्षुणी यदि ऐसी औषधियों को जाने कि ये अखण्डित नहीं हैं, विनष्टयोनि हैं, उनके दो या दो से अधिक टुकड़े हुए हैं, उनका तिरछा छेदन हुआ है, वे जीव रहित (प्रासुक) हैं, कच्ची फली अचित्त हो गयी हैं, भग्न हैं या अग्नि में भुंजी हुयी हैं, तो उन्हें देखकर उन्हें प्रासुक एवं एषणीय समझकर प्राप्त होती हो तो ग्रहण कर ले।

३२६. गृहस्थ के घर भिक्षा के निमित्त गया हुआ भिक्षु या भिक्षुणी यदि यह जान ले कि शाली, धान, जौ, गेहूँ आदि में सचित्त रज (तुष आदि) बहुत हैं, गेहूँ आदि अग्नि में भुंजे हुए—अर्धपक्व हैं (आग में पूरे पके नहीं हैं)। गेहूँ आदि के आटे में तथा धान-कूटे चूर्ण में भी अखण्ड दाने हैं, कणसहित चावल के लम्बे दाने सिर्फ एक बार भूने हुए हैं या कूटे हुए हैं, तो उन्हें अप्रासुक और अनेषणीय मानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

अगर⋯यह भिक्षु या भिक्षुणी यह जाने कि शाली, धान, जौ, गेहूँ आदि बहुत रज (तुषादि) वाले हैं, आग में भुंजे हुए गेहूँ आदि तथा गेहूँ आदि का आटा, कुटा हुआ धान

---

७. पिहुयं आदि शब्दों का अर्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार किया है—"पिहुगा सालिवीहीण, बहुरया जवाण भवति, भुज्जिया गोधूमाणा कुव्वति"—पृथुक (अग्नि में भूनकर जो मूढ़ी बनायी जाती है, वह) शालि व्रीहि धान्य की होती है, जौ के बहुत रज (तुषादि) होती है, गेहूँ की धानी भूंजी जाती है, वह अग्नि में अधपकी रह जाती है।

१. सइं भज्जियं का अर्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार किया है—'एक्कसि दुब्भज्जित—अर्थात् एक बार अच्छी तरह अग्नि आदि में सेका (भूना) न हो।

२. यहाँ जाव शब्द से शेष पाठ सूत्र ३२५ के अनुसार समझें।

३. यहाँ जाव शब्द सूत्र ३२४ के अनुसार समग्र पाठ का द्योतक है।

४. असइं भज्जियं की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार कहते हैं—बार-बार दो या तीन बार भूंजने पर (ये सब) कल्पनीय हैं। किसी-किसी प्रति में भज्जियं के स्थान पर मज्जिय शब्द हैं, उसका अर्थ वृत्तिकार ने किया है—'मर्दितम्'—कूटा-पीसा हुआ या मसला हुआ।

५. यहाँ जाव शब्द सूत्र ३२५ के अनुसार शेष समग्र पाठ का सूचक है।

आदि अखण्ड दानों से रहित है, कण सहित चावल के लम्बे दाने, वे सब एक बार, दो या तीन बार आग में भुने हैं या कुटे हुए हैं तो उन्हें प्रासुक और एषणीय जानकर प्राप्त होने पर ग्रहण कर ले।

विवेचन—ओषधियाँ क्या और उनका ग्रहण कब और कैसे?—'ओषधि' शब्द बीज वाली वनस्पति, खास तौर से गेहूँ, जौ, चावल, बाजरा, मक्का आदि अन्न के अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है। पक जाने पर भी गेहूँ आदि अनाज का अखण्ड दाना सचित्त माना जाता है।[1] क्योंकि उसमें पुनः उगने की शक्ति विद्यमान है। इससे यह फलित हुआ कि निम्न ग्यारह परिस्थितियों में वह अन्न अप्रासुक और अनेषणीय होने से साधु के लिए ग्राह्य नहीं होता—

(१) अनाज का दाना अखण्डित हो।

(२) उगने की शक्ति नष्ट न हुयी हो।

(३) दाल आदि की तरह द्विदल न किया हुआ हो।

(४) तिरछा छेदन न हुआ हो।

(५) अग्नि आदि शस्त्र से परिणत होकर जीवरहित न हुआ हो।

(६) मूंग आदि की तरह कच्ची फली हो।

(७) पूरी तरह कूटा, भूंजा, या पीसा न गया हो।

(८) गेहूँ, बाजरी, मक्की आदि के कच्चे दाने को आग में एक बार थोड़े से सेंके हों।

(९) वह अन्न यदि अचित्त होने पर भी उसमें घुण, ईली आदि जीव पड़े हों।

(१०) उस पके हुए आहार में रसज जीव जन्तु पड़ गए हों, या मक्खी आदि उड़ने वाला कोई जीव पड़ गया हो या चींटियाँ पड़ गयी हों।

(११) जो अन्न अपक्व हो या दुष्पक्व हो।

इसके विपरीतस्थिति में गेहूँ आदि अन्न या अन्न से निष्पन्न वस्तु प्रासुक, अचित्त, कल्पनीय और एषणीय हो तो वह प्रासुक एषणीय अन्नादि (ओषधि) साधु वर्ग के लिए ग्राह्य है।[2]

कसिणाओ—कृत्स्न का अर्थ है—सम्पूर्ण (अखण्डित) तथा अनुपहत।[3]

सासियाओ—शब्द का 'स्वाश्रया' रूपान्तर करके वृत्तिकार ने व्याख्या की है—जीव की स्व=अपनी उत्पत्ति के प्रति जिनमें आश्रय है वे स्वाश्रय हैं, अर्थात् जिनकी योनि नष्ट न हुई हो। चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है, जो प्ररोहण में उगने में समर्थ हों, वे स्वाश्रिता हैं। आगम में कई ओषधियों (बीज रूप अन्न) के अविनष्ट योनिकाल की चर्चा मिलती है। जैसे कि कहा है—'एतेसि णं भंते! सालीणं केवइअं कालं जोणी संचिट्ठइ?' अर्थात् भंते! इन शालि आदि धान्यों की योनि कितने काल तक रहती है?[4] कई अनाजों की उगने की शक्ति ३ वर्ष बाद कइयों की पाँच और सात वर्ष बाद समाप्त हो जाती है।

---

१. 'ओसहीओ हरिताओ पडिपुण्णाओ अखंडिताओ' —आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० १०१

२. आचा० टीका पत्रांक ३२२ पर से।

३. आचा० टीका पत्रांक ३२२ पर से।

४. आचा० टीका पत्रांक ३२२ पर से।

अतिरिच्छच्छिण्णाओ—केला आदि कई फलों की तरह कई बीज यानी लम्बी फलियाँ तिरछी कटी हुई न हों तो साधु साध्वी नहीं ले सकते। ये द्रव्य से पूर्ण होते हैं, भाव से पूर्ण होते हैं, नहीं भी।[1]

तरुणियं वा छिवाडि—वृत्तिकार व्याख्या करते हैं—तरुणी यानी अपरिपक्व कच्ची छिवाडी—मूंग आदि की फली।[2]

असज्जियं के तीन अर्थ फलित होते हैं—(१) अभग्न—बिना कूटा हुआ, (२) बिना पीसा हुआ अथवा बिना दला हुआ, (३) अग्नि में भूंजा हुआ या सेंका हुआ न हो।[3]

पिहुयं—नये-नये ताजे गेहूं, मक्का, धान आदि को अग्नि में सेंक कर पोंख, होले आदि बनाते हैं, उसे 'पृथुक' कहते हैं।[4]

अज्जियं का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—अग्नि में आधी पकी हुयी गेहूं आदि की बालियाँ।[5]

'मंथु' का अर्थ वृत्तिकार ने गेहूं आदि का चूर्ण किया है।[6] दशवैकालिक (५।२।८) में भी 'मंथु' शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ अगस्त्यसिंहस्थविरकृत चूर्णि एवं हारिभद्रीय टीका के अनुसार 'बेर' का चूर्ण तथा जिनदासचूर्णि के अनुसार बेर, जौ आदि का चूर्ण अर्थ किया गया है।[7] सुश्रुत आदि वैद्यक ग्रन्थों में भी 'मंथु' 'मंथ' शब्द का व्यवहार हुआ है।[8]

अन्यतीर्थिक-गृहस्थ-सहगमन-निषेध

३२७. से[9] भिक्खू वा २ गाहावतिकुलं जाव पविसितुकामे णो अण्णउत्थिएण वा गार-

---

१. आचा० टीका पत्रांक ३२२ पर से।
२. (क) आचा० टीका पत्रांक ३२२। (ख) दशवैकालिक अ० ५ उ० २ गा०—२०।
३. 'मज्झिमा भीम कोषा'—आचा० चूर्णि मू० पा० टिप्पणी पृ० १०५।
४. आचा० टीका पत्रांक ३२३। ५. आचा० टीका पत्रांक ३२४।
६. आचा० टीका पत्रांक ३२४। ७ दसवेआलियं पृ० २५०।
८. सुश्रुत अ० ४६/४२६।
९. निशीथ सूत्र के द्वितीय उद्देशक (पृ० ११८) के निम्नोक्त पाठों की तुलना सू० ३२७, ३२८, ३२९ के साथ कीजिए—"जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ अपरिहारिएण सद्धिं गाहावतिकुलं पिंडवातपडियाए णिक्खमति वा पविसति वा……जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सपरिहारिओ अपरिहारिएण सद्धिं बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा णिक्खमति वा पविसति वा……जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ अपरिहारिएहिं सद्धिं गामाणुगाम दूतिज्जति।"
चूर्णिकार के शब्दों में इसकी व्याख्या इसप्रकार है—"अन्यतीर्थिका—चरक-परिव्राजक शाक्या-ऽऽजीवक-वृद्धश्रावकप्रभृतयः, गृहस्था मरुगादि-भिक्खायरा। परिहारिओ मूलुत्तरदोसे परिहरति। अहवा मूलुत्तरगुणे धरेति आचरतीत्यर्थः। तत्प्रतिपक्षभूतो अपरिहारी, ते य अण्णतित्थिय-गिहत्था। णो कप्पति भिक्खुस्स गिहिणा अहवा वि अण्णतित्थीण। परिहारियस्स अपरिहारिएण सिद्धिं पविसिउं जे॥"
—अर्थात्—अन्यतीर्थिकों से यहाँ आशय है—चरक, परिव्राजक, शाक्य (बौद्ध) आजीवक (गोशा-

त्थिएण वा परिहारिओ अपरिहारिएण सद्धिं गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।

३२८. से भिक्खू वा २ बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा णो अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ अपरिहारिएण वा सद्धिं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा।

३२९. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ अपरिहारिएण वा सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

३३०. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे णो अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा परिहारिओ अपरिहारियस्स वा असणं वा ४[1] देज्जा वा अणुपदेज्जा वा।

३२७. गृहस्थ के घर में भिक्षा के निमित्त प्रवेश करने का इच्छुक भिक्षु या भिक्षुणी अन्यतीर्थिक या (भिक्षापिण्डोपजीवी) गृहस्थ के साथ, तथा पिण्डदोषों का परिहार करने वाला (पारिहारिक—उत्तम) साधु (पार्श्वस्थ आदि—) अपारिहारिक साधु के साथ भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में न तो प्रवेश करे, और न वहां से निकले।

३२८. वह भिक्षु या भिक्षुणी बाहर विचारभूमि (शौचादि हेतु स्थंडिलभूमि) या विहार (—स्वाध्याय) भूमि से लौटते या वहाँ प्रवेश करते हुए अन्यतीर्थिक या परपिण्डोपजीवी गृहस्थ (याचक) के साथ तथा पारिहारिक अपारिहारिक (आचरण शिथिल) साधु के साथ न तो विचार-भूमि या विहार-भूमि में लौटे, न प्रवेश करे।

३२९. एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हुए भिक्षु या भिक्षुणी अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ तथा उत्तम साधु पार्श्वस्थ आदि साधु के साथ ग्रामानुग्राम विहार न करे।

३३०. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट भिक्षु या भिक्षुणी अन्यतीर्थिक या परपिण्डोपजीवी याचक को तथैव उत्तम साधु पार्श्वस्थादि शिथिलाचारी साधु को अशन, पान, खाद, स्वाद न तो स्वयं दे और न किसी से दिलाए।

विवेचन—अन्यतीर्थिक, गृहस्थ एवं अपारिहारिक के साथ सहगमन-निषेध—सू० ३२७ से सू० ३३० तक में अन्यतीर्थिक आदि के साथ भिक्षा, स्थंडिलभूमि, विहार-भूमि, स्वाध्याय-भूमि, विहार में सहगमन का तथा आहार के देने-दिलाने का निषेध किया गया है। अन्यतीर्थिक का अर्थ है—अन्य धर्म-सम्प्रदाय या मत के साधु। परपिण्डोपजीवी गृहस्थ से आशय है—जो परपिण्ड पर जीता हो, ये घर-घर में आटा मागकर जीवननिर्वाह करने वाले मुहीपोसे (...

...ब्राह्मण), वृद्ध श्रावक आदि। गृहस्थों से तात्पर्य है—मरुक आदि भिक्षाचर। पारिहारिक का अर्थ है—जो मूल-उत्तर दोषों का परिहार करता है; अथवा जो मूलगुण-उत्तर गुणों को धारण करता है, आचरण करता है। उससे प्रतिपक्षी है—अपारिहारिक; वे भी अन्यतीर्थिक—गृहस्थ (परपिण्डोपजीवी) हैं। निष्कर्ष है—भिक्षु को गृहस्थ या अन्यतीर्थिकों के साथ, पारिहारिक का अपारिहारिक के साथ प्रवेश करना कल्पनीय नहीं है।

[1] यहाँ '४' का चिन्ह 'पाणं वा खाइमं वा साइमं वा'—इन शेष तीनों आहारों का सूचक है।

साधु या भिखारी या याचक होते हैं। और अपारिहारिक से मतलब है जो शिथिलाचारी हैं, साध्वाचार में लगे दोषों की विशुद्धि न करने वाले पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाच्छंद आदि साधु हैं। पारिहारिक का अर्थ है—आहार के दोषों का परिहार करने वाला शुद्ध आचार वाला साधु।[1]

भिक्षु और पारिहारिक साधु का सम्पर्क अन्यतीर्थिक, परपिण्डोपजीवी गृहस्थ एवं अपारिहारिक के साथ पाँच माध्यमों से होता है—

(१) भिक्षा के लिए साथ-साथ प्रवेश-निर्गमन से।

(२) स्थण्डिल-भूमि में साथ-साथ प्रवेश-निष्क्रमण से।

(३) स्वाध्याय-भूमि में साथ-साथ प्रवेश-निर्गमन से।

(४) ग्रामानुग्राम साथ-साथ विचरण करने से

(५) आहार के देने-दिलाने से।[2]

अन्यतीर्थिक या परपिण्डोपजीवी गृहस्थ के यहाँ प्रवेश-निर्गमन में दोष यह है कि वे आगे-पीछे चलेंगे, तो ईर्याशोधन नहीं करेंगे, उसका दोष, तथा प्रवचन लघुता या उनके द्वारा जाति आदि का अभिमान-प्रदर्शन। वे पीछे-पीछे पहुँचेंगे तो अभद्रवृत्ति के दाता को प्रद्वेष जागेगा, दाता आहार का विभाग करके देगा। उससे ऊनोदरी तप या दुर्भिक्ष आदि में थोड़े-से प्राप्त आहार में प्राण-धारण करना दुर्लभ होगा।

अपारिहारिक के साथ भिक्षा के लिए प्रवेश करने से अनेषणीय भिक्षा ग्रहण करनी होगी या उसका अनुमोदन हो जाएगा। वैसी भिक्षा ग्रहण न करने पर अन्यत्र आहार की दुर्लभता आदि परिस्थित आ सकती है।

शौचनिवृत्ति के लिए स्थण्डिलभूमि में साथ-साथ जाने पर प्रासुक जल आदि से गुह्यभाग स्वच्छ करने-न-करने आदि का विवाद खड़ा होगा। स्वाध्याय-भूमि में साथ-साथ जाने पर सैद्धान्तिक विवाद, निरर्थक स्व-प्रशंसा, असहिष्णुता के कारण कलह आदि दोषों की सम्भावना है। ग्रामानुग्राम सहगमन में भी लघुशंका-बड़ीशंका से निवृत्त होने में संकोच होगा। हाजत रोकने से आत्म-विराधना रोगादि की सम्भावना है। यदि मल-मूत्र का उत्सर्ग करना है तो प्रासुक-अप्रासुक जल ग्रहण करने से संयम-विराधना की सम्भावना रहती है। इसी प्रकार अन्य-तीर्थिक आदि को अपने आहार में से देने से दाता को अप्रतीति होगी कि ये तो आहार को ले जाकर बाँटते हैं। उनको दिलाने से गृहस्थ के मन में अश्रद्धा पैदा होगी, उन अन्यतीर्थिक आदि की असंयमप्रवृत्ति आदि दोषों का सहभागी भी हो सकता है।[3] ये सब सम्पर्कजनित दोष हैं, जो आगे चलकर सुविहित साधु के सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की नींव हिला सकते हैं।

---

१. आचा० टीका पत्रांक ३२३-३२४ के आधार पर।

२. आचा० टीका पत्रांक ३२३, ३२४, ३२५ के आधार पर।

३. आचा० टीका पत्रांक ३२३-३२५।

औद्देशिकादि दोष-रहित आहार की एषणा

३३१. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ अस्सं-पडियाए[1] एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समारम्भ समुद्दिस्स कीतं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेतेति, तं तहप्पगारं असणं वा ४ पुरिसंतरकडं वा अपुरिसंतरकडं वा बहिया णीहडं वा अणीहडं वा अत्तट्ठियं वा अणत्तट्ठियं वा परिभुत्तं वा अपरिभुत्तं वा आसेवितं वा अणासेवितं वा अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणि बहवे साहम्मिणीओ समुद्दिस्स चत्तारि आलावगा भाणितव्वा।

३३२. [१]. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए पगणिय पगणिय समुद्दिस्स पाणाइं जाव[2] समारम्भ आसेवियं वा अणासेवियं वा अफासुयं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा।

[२]. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा—असणं वा ४ बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए समुद्दिस्स पाणाइं ४ जाव आहट्टु चेतेति, तं तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं अबहिया णीहडं अणत्तट्ठियं अपरिभुत्तं अणासेवितं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव णो पडिगाहेज्जा।

अह पुण एवं जाणेज्जा पुरिसंतरकडं बहिया णीहडं अत्तट्ठियं परिभुत्तं आसेवितं फासुयं एसणिज्जं जाव पडिगाहेज्जा।

३३१. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट भिक्षु या भिक्षुणी जब यह जाने कि किसी भद्र गृहस्थ ने अकिंचन निर्ग्रन्थ के लिए एक साधर्मिक साधु के उद्देश्य से प्राण, भूत जीव और सत्त्वों का समारम्भ (उपमर्दन) करके आहार बनाया है, साधु के निमित्त से आहार मोल लिया, उधार लिया है, किसी से जबरन छीनकर लाया है, उसके स्वामी की अनुमति के बिना लिया हुआ है तथा सामने (साधु के स्थान पर) लाया हुआ आहार दे रहा है, तो उस प्रकार का (कई दोषों युक्त) अशन, पान, खाद्य, और स्वाद्य रूप आहार दाता से भिन्न पुरुष ने बनाया हो, अथवा दाता (—अपुरुषान्तर) ने बनवाया हो, घर से बाहर निकाला गया हो, या न निकाला गया हो, उस दाता ने स्वीकार किया हो या न किया हो, उसी दाता ने उस आहार में से बहुत-सा खाया हो या न खाया हो; अथवा थोड़ा-सा सेवन किया हो, या न किया हो; इस प्रकार के आहार को अप्रासुक और अनेषणिक समझकर प्राप्त होने पर भी वह ग्रहण न करे।

---

१. अस्सपडियाए के स्थान पर चूर्णि में अस्सिपडियाए पाठान्तर है।
२. यहाँ जाव शब्द के अन्तर्गत शेष समग्र पाठ सूत्र ३३१ के अनुसार समझें।

इसी प्रकार बहुत-से साधर्मिक साधुओं के उद्देश्य से, एक साधर्मिणी साध्वी के उद्देश्य से, तथा बहुत सी साधर्मिणी साध्वियों के उद्देश्य से बनाये हुए आहार को ग्रहण न करे; यों क्रमशः चार आलापक इसी भाँति कहने चाहिए।

३३२. (१) वह भिक्षु या भिक्षुणी यावत् गृहस्थ के घर प्रविष्ट होने पर जाने कि यह अशनादि आहार बहुत से श्रमणों, माहनों (ब्राह्मणों), अतिथियों, कृपणों (दरिद्रों), याचकों-(भिखारियों) को गिन-गिनकर उनके उद्देश्य से प्राणी आदि जीवों का समारम्भ करके बनाया हुआ है। वह आसेवन किया गया हो या न किया गया हो, उस आहार को अप्रासुक अनेषणीय समझ कर मिलने पर ग्रहण न करे।

(२) वह भिक्षु या भिक्षुणी यावत् गृहस्थ के घर प्रविष्ट होने पर जाने कि यह चतुर्विध आहार बहुत-से श्रमणों, माहनों (ब्राह्मण), अतिथियों, दरिद्रों और याचकों के उद्देश्य से प्राणादि जीवों का समारम्भ करके श्रमणादि के निमित्त से बनाया गया है, खरीदा गया है, उधार लिया गया है, बलात् छीना गया है, दूसरे के स्वामित्व का आहार उसकी अनुमति के बिना लिया हुआ है, घर से साधु के स्थान पर (सामने) लाकर दे रहा है, उस प्रकार के (दोषयुक्त) आहार को जो स्वयं दाता द्वारा कृत (अपुरिसांतरकृत) हो, बाहर निकाला हुआ न हो, दाता द्वारा अधिकृत न हो, दाता द्वारा उपभुक्त न हो, अनासेवित हो, उसे अप्रासुक और अनेषणीय समझकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

यदि वह इस प्रकार जाने कि वह आहार दूसरे पुरुष द्वारा कृत (पुरिसान्तरकृत) है, घर से बाहर निकाला गया है, अपने द्वारा अधिकृत है, दाता द्वारा उपभुक्त तथा आसेवित है तो ऐसे आहार को प्रासुक और एषणीय समझ कर मिलने पर वह ग्रहण कर ले।

विवेचन—औद्देशिक आदि दोषों से युक्त आहार की गवेषणा—साधु अहिंसा महाव्रत की तीन करण और तीन योग से प्रतिज्ञा लिए हुए है, इसलिए कोई उसके निमित्त से आहार बनाए या उसके तथा अन्य विभिन्न कोटि के भिक्षुओं या याचकों आदि के लिए बनाए या अन्य किसी प्रकार से उसको देने के लिए लाए तो वह आहार एकेन्द्रियादि प्राणियों के आरम्भ-समारम्भजनित हिंसा से निष्पन्न होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकता। अतः इस विषय में साधु को अपनी गवेषणात्मक दृष्टि से पहले ही छानबीन करनी चाहिए। इसी बात का प्रतिपादन सूत्र ३३१ में और सूत्र ३३२ में किया गया है। सूत्र ३३२ के अन्त में बताया गया है कि वही आहार प्रासुक और एषणीय होने के कारण साधु के लिए ग्राह्य है जो साधु द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से जाँच-पड़ताल करने पर सिद्ध हो जाए कि वह दूसरों के लिए बना हुआ है, घर से बाहर निकाला गया है, दाता द्वारा अधिकृत है, परिभुक्त है तथा आसेवित है।[1]

अस्सं पडियाए—का संस्कृत रूपान्तर 'अस्व-प्रतिज्ञया' मानकर उसका अर्थ वृत्तिकार इस प्रकार करते हैं—'न विद्यते स्वं द्रव्यमस्य सोऽयमस्वो निर्ग्रन्थः तत्प्रतिज्ञया'—अर्थात्—जिसके पास स्व—धन या कोई भी द्रव्य नहीं है, वह अकिंचन, या स्व—धन

१. आचा० टीका पत्रांक ३२१ के आधार पर।

'अ-स्व' है, उसकी प्रतिज्ञा से—यानी उसको लक्ष्य में रखकर या उसको मैं आहार दूं
प्रकार के अभिप्राय से…… ।

चूर्णिकार 'अस्सिपडियाए' पाठान्तर मानकर इसका संस्कृत रूपान्तर 'अस्मिन् प्र
स्वीकार करके अर्थ करते हैं—'अस्मिन् साधु' एवं प्रतिज्ञाय प्रतीत्य वा'—किसी एक
विषय में प्रतिज्ञा करके कि मैं इसी साधु को दूंगा, अथवा किसी एक साधु की अपे
हमें पहला अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है।[1]

तीन प्रकार का उद्देश्य—इन दोनों सूत्रों में तीन प्रकार के उद्देश्य से निष्पन्न आ
प्रतिपादन है—

(१) किसी एक या अनेक साधर्मिक साधु या साध्वी के उद्देश्य से बनाया हु
क्रीत आदि तथाप्रकार का आहार।

(२) अनेक श्रमणादि को गिन-गिनकर उनके उद्देश्य से बनाया हुआ।

(३) अनेक श्रमणादि के उद्देश्य से बनाया हुआ।

ये तीनों प्रकार के आहार औद्देशिक होने से[2] दोषयुक्त हैं, इसलिए अग्राह्य हैं।

'साहम्मिय'…… का अर्थ है साधर्मिक। अर्थात् जो आचार, विचार और
समान हो।[3]

'समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए'—का अर्थ है—श्रमण, माहन, अतिथि, द
याचक। श्रमण पाँच प्रकार के होते हैं—(१) निर्ग्रन्थ—(जैन), (२) शाक्य (बौद्ध), (३
(४) गैरिक और (५) आजीवक (गोशालकमतीय)।

वृत्तिकार ने माहन का अर्थ 'ब्राह्मण' किया है, जो भोजन के समय उपस्थित
है, अतिथि—अभ्यागत या मेहमान। कृपण का अर्थ किया है—दरिद्र, दीन-हीन। वनी
वनीपक का अर्थ किया है—वन्दीजन—भाट, चारण आदि; परन्तु दशवैकालिकसूत्र
में वनीपक का अर्थ कृपण किया है, जबकि स्थानांग में इसका अर्थ याचक—भिखारी
है, जो अपनी दीनता बताकर या दाता की प्रशंसा करके आहारादि प्राप्त करता है

---

१. (क) आचा० टीका पत्रांक ३२५। (ख) चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० १०७।
२. आचा० टीका पत्रांक ३२५ के आधार पर। ३. आचा० टीका पत्रांक ३२५।
४. स्थानांग वृत्ति के अनुसार वनीपक की व्याख्या इस प्रकार है—दूसरों के समक्ष अपनी दरिद्र
से, या उनकी प्रशंसा करने से जो द्रव्य मिलता है, वह 'वनी' है और जो उस 'वनी' को पि
करे, वह 'वनीपक' है। वनीपक के पाँच भेद हैं—
(१) अतिथि-वनीपक, (२) कृपण-वनीपक, (३) ब्राह्मण-वनीपक, (४) श्व-वनीपक, (
वनीपक।
अतिथि-भक्त के समक्ष दान की प्रशंसा करके दान लेने वाला 'अतिथि-वनीपक' है। वैसे
भक्त के समक्ष कृपण-दान की, ब्राह्मण, श्वान, श्रमण आदि के भक्त के समक्ष उनके दान
करके दान चाहने वाला। श्वान-प्रशंसा का एक उदाहरण टीकाकार ने उद्धृत किया
वनीपक' श्वान-भक्त के समक्ष कहता है—

(किविण) का अर्थ उत्तराध्ययन सूत्र में पिन्डोलक किया है, जो परदत्तोपजीवि पर-दत्त आहार से जीवन-निर्वाह करने वाला हो।[1]

'समारम्भ' का अर्थ है—समारम्भ करके। मध्य के ग्रहण से आदि और अन्त का ग्रहण हो जाता है, वृत्तिकार ने इस न्याय से आदि और अन्त के पद—संरम्भ और आरम्भ का भी ग्रहण करना सूचित किया है। ये तीनों ही हिंसा के क्रम है—संरम्भ में संकल्प होता है, समारम्भ में सामग्री एकत्र की जाती है, जीवों को परिताप दिया जाता है और आरम्भ में जीव का वध आदि किया जाता है।[2]

'समुद्दिस्स' कीयं आदि पदों के अर्थ—किसी एक या अनेक साधर्मिक साधु या साध्वी को उद्देश्य करके बनाया गया आहार समुद्दिष्ट है, **कीयं**=खरीदा हुआ, **पामिच्चं**=उधार लिया हुआ, **अच्छिज्जं**=बलात् छीना हुआ, **अणिसट्ठं**=उसके स्वामी की अनुमति लिए बिना, **अभिहडं**=घर से साधु-स्थान पर लाया हुआ, **अत्तट्ठियं**=अपने द्वारा अधिकृत।[3]

<u>नित्याग्र पिण्डादि ग्रहण-निषेध</u>

३३३. से भिक्खू वा २ गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तुकामे से ज्जाइं पुण कुलाइं जाणेज्जा—इमेसु खलु कुलेसु णितिए पिंडे दिज्जति, णितिए अग्गपिंडे[4] दिज्जति, णितिए भाए[5] दिज्जति, णितिए अवड्ढभाए दिज्जति, तहप्पगाराइं कुलाइं णितियाइं णितिउमाणाइं[6] णो भत्ताए वा पाणाए वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।

३३३. गृहस्थ के घर में आहार-प्राप्ति की अपेक्षा से प्रवेश करने के इच्छुक साधु या साध्वी ऐसे कुलों (घरों) को जान लें कि इन कुलों में नित्यपिण्ड (आहार) दिया जाता है, नित्य अग्रपिण्ड दिया जाता है, प्रतिदिन भात (आधा भाग) दिया जाता है, प्रतिदिन उपार्द्ध भाग (चौथा हिस्सा) दिया जाता है; इस प्रकार के कुल, जो नित्य दान देते हैं, जिनमें प्रतिदिन

केलासभवणा एए गुज्झगा आगया महिं।
चरंति जक्खरूवेण पूयाऽपूया हिताऽहिता॥

—ये कैलाश पर्वत पर रहने वाले यक्ष हैं। भूमि पर यक्ष के रूप में विचरण करते हैं।

—स्थानांग ५/सू० २०० वृत्ति।

१. (क) आचा० टीका पत्र ३२१। (ख) दशवै० हारि० वृत्ति अ० ५।१।५१, ५।२।१०।
(ग) स्थानांग स्था० ५ पत्र २०० (घ) पिंडोलए व दुस्सीले—उत्त० ५।२२

२. आचा० टीका पत्र ३२५। ३. आचा० टीका पत्र ३२५।

४. 'अग्गपिण्डे' के स्थान पर 'अग्गपिण्डो' शब्द मानकर चूर्णिकार अर्थ करते हैं—'अग्गपिण्डो अग्गभिक्खा' अर्थात् अग्रपिण्ड है—सर्वप्रथम अलग निकाल कर भिक्षाचरों के लिए रखी हुई भिक्षा।

५. 'भाए दिज्जति, णितिए अवड्ढभाए दिज्जति' शब्दों की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—"भाओभत्तट्ठो, अवड्ढभातो अद्धभत्तट्ठो, तस्सद्ध उवड्ढभातो।" भात शब्द का अर्थ है—भक्तार्थ यानी भोजन योग्य पदार्थ अपार्धभात का अर्थ है—अर्द्ध भक्तार्थ यानी उसका आधा भाग उपार्द्ध भात (भक्त) होता है।

६. णितिउमाणाइं के स्थान पर कहीं णियोमाणाइं एवं कहीं णिइउमाणाइं पाठ मिलता है।

भिक्षाचरों का प्रवेश होता है, ऐसे कुलों में आहार-पानी के लिए साधु-साध्वी प्रवेश एवं निर्गमन न करें।

विवेचन—नित्यपिण्ड प्रदाता कुलों में प्रवेश-निषेध—इस सूत्र में साधु-साध्वियों के लिए उन पुण्याभिलाषी दानशील भद्र लोगों के यहाँ जाने-आने का निषेध किया है, जिन कुलों में पुण्य-लाभ समझ कर श्रमण, ब्राह्मण, याचक आदि हर प्रकार के भिक्षाचर के लिए प्रतिदिन पूरा (उसकी आवश्यकता की दृष्टि से) आधा या चौथाई भाग आहार दिया जाता है; जहाँ हर तरह के भिक्षाचर आहार लेने आते-जाते रहते हैं। ऐसे नित्यपिण्ड प्रदायी कुलों में जब निर्ग्रन्थ भिक्षु-भिक्षुणी जाने और आहार लेने लगेंगे तो वह गृहस्थ उनके निमित्त अधिक भोजन बनवाएगा अथवा जैन भिक्षु वर्ग को देने के बाद थोड़ा-सा बचेगा, उन लोगों को नहीं मिल सकेगा, जो प्रतिदिन वहाँ से भोजन ले जाते हैं, अतः उन्हें अन्तराय लगेगा और आहार लाभ से वंचित भिक्षाचरों के मन में जैन साधु-साध्वियों के प्रति द्वेष जगेगा।[1]

कुल का अर्थ यहाँ विशिष्ट गृह समझना चाहिए। ऐसे कुलों से आहार ग्रहण का निषेध करने की अपेक्षा उनमें प्रवेश-निर्गमन का निषेध इसलिए किया गया है कि उन घरों में साधु प्रवेश करेगा, या उन घरों के पास से होकर निकलेगा तो गृहपति उस साधु को भिक्षा-ग्रहण करने की प्रार्थना करेगा, उसकी प्रार्थना को साधु ठुकरा देगा या उसके द्वारा बनाए हुए आहार की निन्दा करेगा तो उस भद्र भावुक गृहस्थ के मन में दुःख या क्षोभ उत्पन्न हो सकता है। उसकी दान देने की भावना को ठेस पहुँच सकती है।

णितिय अग्गपिंड का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—'भात, दाल आदि जो भी आहार बना है, उसमें से पहले पहल भिक्षार्थ देने के लिए जो आहार निकाल कर रख लिया जाता है।' चूर्णिकार इसे 'अग्रभिक्षा' कहते हैं।[2]

'भाए' का अर्थ वृत्तिकार करते हैं—'अर्ध पोष' यानी प्रत्येक व्यक्ति के पोषण के लिए पर्याप्त आहार का आधा हिस्सा, चूर्णिकार इसका अर्थ 'भात' करते हैं, भत्तट्ठ=भोजन के पदार्थ यानी पूरा भोजन।[3]

अवड्ढभाए का अर्थ वृत्तिकार करते हैं—उपार्द्धभाग यानी पोष—(पोषण-पर्याप्त आहार) का चौथा भाग। चूर्णिकार अर्थ करते हैं—'अद्ध भत्तट्ठ' अर्थात् आधा भात;[4] भोजन का आधा भाग।

णितियउमाणाइं की व्याख्या वृत्तिकार यों करते हैं—जिन कुलों में नित्य 'उमाणं' यानि स्व-पर-पक्षीय भिक्षाचरों का प्रवेश होता है, वे कुल। तात्पर्य यह है कि उन घरों से प्रतिदिन आहार मिलने के कारण उनमें स्वपक्ष—अपना मनोनीत साधु वर्ग तथा परपक्ष—अन्य भिक्षा-

---

१ टीका पत्रांक ३२६।
२ (क) टीका पत्र ३२६। (ख) चूर्णि मूल पाठ टि० पृ० १०८।
(ग) दशवैकालिक ३।२ में 'नियाग' शब्द भी नित्य अग्रपिण्ड का सूचक है।
३ (क) टीका पत्र ३२६, (ख) चूर्णि मू० पा० टि० पृ० १०८।
४ (क) टीका पत्र ३२६, (ख) चूर्णि मू० पा० टि० पृ० १०८।

चर वर्ग, सभी भिक्षा के लिए प्रवेश करते हैं। ऐसी स्थिति में उन गृहपतियों को बहुत-से भिक्षाचरों को आहार देना पड़ेगा। अत उन्हें आहार भी प्रचुर मात्रा में बनवाना पड़ेगा। ऐसा करने में षट्कायिक जीवों की विराधना सम्भव है। यदि वे अल्प मात्रा में भोजन बनवाते हैं तो जैन साधुओं को देने के बाद थोड़ा सा बचेगा, इससे दूसरे भिक्षाचर आहार-लाभ मे वंचित हो जाएंगे, उनके अन्तराय लगेगा।

चूर्णिकार इस पद की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि—नित्य दूसरे भिक्षुओं को देने पर पकाया हुआ आहार अवमान—कम हो जाएगा, यदि वह स्व पर—दोनों प्रकार के भिक्षाचरों को आहार देता है तो अपने भिक्षुओं को देने में आहार कम पड़ जाएगा। इस कारण बाद में उसे अधिक आहार पकाना पड़ेगा। अधिक पकाने में षट्-कायिक जीवों का वध होगा। इसलिए जिन कुलों में नित्य स्व-पर पक्षीय भिक्षाचरों को आहार देने में कम पड जाता है, वे नित्यावमानक कुल है।[1]

३३४. एयं खलु[2] तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिते सहिते सदा जए त्ति बेमि। ॥ पढमो उद्देसओ समत्तो ॥

३३४. यह (पूर्व सूत्रोक्त पिण्डैषणा विवेक) उस (सुविहित) भिक्षु या भिक्षुणी के लिए (ज्ञानादि आचार की) समग्रता है, कि वह समस्त पदार्थों में संयत या पंचसमितियो से युक्त, ज्ञानादि-सहित अथवा स्वहित परायण होकर सदा प्रयत्नशील रहे। —ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—इस सूत्र में पिछले सूत्रों में विधि—निषेध द्वारा जो पिण्डैषणा-विवेक बताया है, उसके निष्कर्ष और उद्देश्य तथा अन्त में निर्देश का संकेत है।

सामग्गिय की व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है—'भिक्षु द्वारा यह उद्गम-उत्पादन-ग्रहणैषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम आदि कारणो (दोषों) से सुपरिशुद्ध पिण्ड का ग्रहण ज्ञानाचार सामर्थ्य है, दर्शन-चारित्र-तपोवीर्याचार संपन्नता है। चूर्णिकार के शब्दों में इस प्रकार आहारगत दोषों का परिहार करने से पिण्डैषणा गुणों मे उत्तर गुण में समग्रता होती है।[3]

विशुद्धाहारी भिक्षु का सामर्थ्य बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'सव्वट्ठेहिं समिए सहिए।' अर्थात् वह भिक्षु सरस-नीरस आहारगत पदार्थों में या रूप-रस-गन्ध स्पर्शयुक्त पदार्थों में संयत अथवा पाँचसमितियों से युक्त अर्थात् शुभाशुभ में राग-द्वेष से रहित तथा स्व-पर-हित से युक्त (सहित) अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे सहित होता है।[4]

निर्देश—इस प्रकार के सामर्थ्य से युक्त भिक्षु या भिक्षुणी इस निर्दोष भिक्षावृत्ति का परिपालन करने में सदा प्रयत्नशील रहे।"

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) टीका पत्र ३२६। (ख) चूर्णि मू० पा० टि० पृ० १०८।

२. इसके स्थान पर "एत खलु ......सामग्गियं" पाठ मानकर चूर्णिकार व्याख्या करते हैं—'एत खलु एव परिहरता पिंडेसणागुणेहिं उत्तरगुणसमग्गता भवति।"—यह इस प्रकार आहारगत दोषों का त्याग करने से पिण्डैषणा के गुणों से उत्तरगुण समग्रता भिक्षु या भिक्षुणी को प्राप्त होती है।

३. (क) टीका पत्र ३२७। (ख) चू० मू० पा० टि० पृ० १०८। ४. टीका पत्र ३२७।

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

अष्टमी पर्वादि में आहार ग्रहण-विधि निषेध

३३५. से भिक्खू वा गाहावतिकुलं पिंडवातपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा, असणं वा ४ अट्ठमिपोसहिएसु वा अद्धमासिएसु वा मासिएसु वा दोमासिएसु वा तेमासिएसु वा चाउमासिएसु वा पंचमासिएसु वा छम्मासिएसु वा उऊसु[1] वा उदुसंधीसु वा उदुपरियट्टेसु वा बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगे एगातो उक्खातो परिएसिज्जमाणे पेहाए, दोहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए, तिहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए, कुंभीमुहातो[2] वा कलोवातितो वा संणिहिसंणिचयातो[3] वा परिएसिज्जमाणे पेहाए, तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं जाव अणासेवितं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव णो पडिगाहेज्जा।

अह पुण एवं जाणेज्जा पुरिसंतरकडं जाव आसेवितं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा।

३३५. वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के घर में आहार-प्राप्ति के निमित्त प्रविष्ट होने पर अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप आहार के विषय में यह जाने कि यह आहार अष्टमी, पौषधव्रत के उत्सवों के उपलक्ष्य में तथा अर्द्धमासिक (पाक्षिक), मासिक, द्विमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक और षाण्मासिक उत्सवों के उपलक्ष्य में तथा ऋतुओं, ऋतुसन्धियों एवं ऋतु-परिवर्तनों के उत्सवों के उपलक्ष्य में (बना है, उसे) बहुत-से श्रमण, माहन (ब्राह्मण), अतिथि, दरिद्र एवं भिखारियों को एक बर्तन से (लेकर) —परोसते हुए देखकर, दो बर्तनों से (लेकर) परोसते हुए देखकर, या तीन बर्तनों से (लेकर) परोसते हुए देखकर एवं चार बर्तनों से (लेकर) परोसते हुए देखकर तथा संकड़े मुँह वाली कुम्भी और बाँस की टोकरी में से (लेकर) एवं संचित किए हुए गोरस (दूध, दही, घी आदि) आदि पदार्थों को परोसते हुए देखकर, जो कि पुरुषान्तरकृत नहीं है, घर से बाहर निकाला हुआ नहीं है, दाता द्वारा अधिकृत नहीं है, न परिभुक्त और आसेवित है तो ऐसे चारों प्रकार के आहार को अप्रासुक और अनेषणीय समझ कर [illegible] ग्रहण न करे।

और यदि ऐसा जाने कि यह आहार पुरुषान्तरकृत (अन्यार्थ कृत, दूसरे के हस्तक किया

1. [illegible] 'उदुसु' या 'उदुसु' मिलते हैं। 'उऊसु' का अर्थ 'ऋतुओं' [illegible] 'उदुसु' पाठ मानकर अर्थ किया है— सरितादिसु' नदी आदि में।
2. [illegible] की है—कुंभी कुम्भमाणा, [illegible] —कुम्भी बड़े [illegible] बड़ी होती है। [illegible] [illegible], पिटारी आदि।
3. [illegible] —सन्निधि [illegible] [illegible] दूध दही आदि।

जा चुका हो) है, घर से बाहर निकाला हुआ है, दाता द्वारा अधिकृत है, परिभुक्त है और आसेवित है तो ऐसे आहार को प्रासुक और एषणीय समझ कर मिलने पर ग्रहण कर ले।

विवेचन—पर्व विशेष में निष्पन्न आहार कब अग्राह्य, कब ग्राह्य?—इस सूत्र में अष्टमी आदि पर्व विशेष के उत्सव में श्रमणादि को खास तौर से दिए जाने वाले ऐसे आहार का निषेध किया है, जो श्रमणादि के सिवाय किन्हीं दूसरों (गृहस्थों) के लिए नहीं बना है, न उसे बाहर निकाला है, न दाता ने उसका उपयोग व सेवन किया है, न दाता का स्वामित्व है। क्योंकि ऐसा आहार सिर्फ श्रमणादि के निमित्त से ही बनाया गया माना जाता है, अगर उसे जैन-श्रमण लेता है तो वह आरम्भ-दोषों का भागी बनेगा। किन्तु यदि ऐसा आहार पुरुषान्तरकृत आदि है तो उसे लेने में कोई दोष नहीं है। साथ ही इस बात के निर्णय के लिए उपाय भी बताया है।

उक्खा, कुंभीमुहा, कलोवातो आदि शब्दों के अर्थ इस प्रकार है—**उक्खा** पिठर, बड़ी बटलोई जैसा बर्तन, **कुम्भी**—संकड़े मुंह वाले बर्तन। **कलोवातो**—पिटारी या बांस की टोकरी। संनिधि है—गोरस आदि।[1]

भिक्षा योग्य कुल

३३६. से भिक्खू वा २ जाव अणुपविट्ठे समाणे से ज्जाइं पुण कुलाइं जाणेज्जा, तंजहा—उग्गकुलाणि वा भोगकुलाणि वा राइण्णकुलाणि वा खत्तियकुलाणि वा इक्खागकुलाणि वा हरिवंसकुलाणि वा एसियकुलाणि वा वेसियकुलाणि वा गंडागकुलाणि वा कोट्टागकुलाणि वा गामरक्खकुलणि वा बोक्कसालियकुलाणि वा अण्णतरेसु वा तहप्पगारेसु अदुगुंछिएसु अगरहितेसु असणं वा ४ फासुयं जाव पडिगाहेज्जा।

३३६. वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के घर में आहार प्राप्ति के लिए प्रविष्ट होने पर (आहार ग्रहण योग्य) जिन कुलों को जाने वे इस प्रकार हैं—उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, क्षत्रियकुल, इक्ष्वाकुकुल, हरिवंशकुल, गोपालादिकुल, वैश्यकुल, नापितकुल, बढ़ई-कुल, ग्रामरक्षक कुल या तन्तुवाय-कुल, ये और इसी प्रकार के और भी कुल, जो अनिन्दित और अगर्हित हों, उन कुलों (घरों) से प्रासुक और एषणीय अशनादि चतुर्विध आहार मिलने पर ग्रहण करे।

विवेचन—भिक्षाग्रहण के लिए कुलों का विचार—यद्यपि जैन-श्रमण समतायोगी होता है, जाति-पांति के भेदभाव, छुआ-छूत, रंग-भेद, सम्प्रदाय-प्रान्तादि भेद में उसका कतई विश्वास नहीं होता, न वह इन भेदों को लेकर राग-द्वेष, मोह-घृणा या उच्च-नीच आदि व्यवहार करता है बल्कि शास्त्रों में जहाँ साधु के भिक्षाटन का वर्णन आता है, वहाँ स्पष्ट उल्लेख है—"**उच्चनीयमज्झिमकुलेसु अडमाणे**" (—उच्च, नीच और मध्यम कुलों में भिक्षाटन करता हुआ)।[2] यहाँ उच्च, नीच, मध्यम का जाति-वंश परक या रंग-प्रान्त-राष्ट्रादिपरक अर्थ न करके जैनाचार्यों ने

---

१. टीका पत्र ३२७।

२. अन्तकृद्दशा वर्ग २ तथा अन्य आगम।

सम्पन्नता-असम्पन्नता परक अर्थ ही किया है।[1] अगर उच्च-नीच या किसी प्रकार का भेदभाव आहार ग्रहण करने के विषय में करना होता तो शास्त्रकार मूलपाठ में नापित, बढ़ई, तन्तुवाय (जुलाहे) आदि के घरो से आहार लेने का विधान न करते, तथा उग्र आदि जिन कुलों का उल्लेख किया है, उनमें से बहुत-से वंश तो आज लुप्त हो चुके हैं, क्षत्रियों में भी हूण, शक, यवन आदि वंश के लोग मिल चुके है। इसीलिए शास्त्रकार ने अन्त में यह कह दिया कि इस प्रकार के किसी भी लौकिक जाति या वंश के घर हों, उनसे साधु भिक्षा ग्रहण कर सकता है, बशर्ते कि वह घर निन्दित और घृणित न हो।[2]

जुगुप्सित और गर्हित घर—जुगुप्सा या घृणा उन घरों में होती है, जहाँ खुले आम मांस-मछली आदि पकाये जाते हो, मांस के टुकड़े, हड्डियाँ, चमड़ा आदि पड़ा हो, पशुओं या मछलियों आदि का वध किया जाता हो, जिनके यहाँ बर्तनों में मांस पकता हो; अथवा जिनके बर्तन, घर, आगन, कपड़े, शरीर आदि अस्वच्छ हो, स्वच्छता के कोई संस्कार जिन घरों में न हों, ऐसे घर, चाहे वे क्षत्रियों या मूलपाठ में बताए गए किसी जाति, वंश के ही क्यों न हों, वे जुगुप्सित और घृणित होने के कारण त्याज्य समझने चाहिए। और गर्हित-निन्द्य घर वे हैं—जहाँ सरे आम व्यभिचार होता हो, वेश्यालय हो, मदिरालय हो, कसाईखाना हो, जिनके आचरण गंदे हों, जो हिंसादि पापकर्म में ही रत हो, ऐसे घर भी शास्त्र में परिगणित जातियों के ही क्यों न हों, भिक्षा के लिए त्याज्य है। जुगुप्सित और निन्दित लोगों के घरों में भिक्षा के लिए जाने से भिक्षु को स्वयं घृणा पैदा होगी, संसर्ग से बुद्धि मलिन होगी, आचार-विचार पर भी प्रभाव पड़ना सम्भव है, लोक-निन्दा भी होगी, आहार की शुद्धि भी न रहेगी और धर्मसंघ की बदनामी भी होगी।

वृत्तिकार ने अपने युग की छाया में 'अदुगुंछिएसु अगरहिएसु' इन दो पदों का अर्थ इस प्रकार किया है—जुगुप्सित यानी चर्मकार आदि के कुल तथा गर्हित यानी दास्य आदि के कुल। परन्तु शास्त्रकार की ये दोनों शर्तें शास्त्र में परिगणित प्रत्येक ज्ञाति-वंश के घर के साथ हैं।[3]

उग्गकुलाणि आदि पदों के अर्थ—वृत्तिकार के अनुसार—कुल शब्द का अर्थ यहाँ घर समझना चाहिए, वंश या जाति नही।[4] क्योंकि आहार घरों में मिलता है, जाति या वंश में

---

१. (क) प्रासाद हवेली आदि उच्चभवन द्रव्य से उच्च कुल है, जाति, विद्या, आदि से समृद्ध व्यक्तियों के भवन भावत. उच्चकुल है। तृण, कुटी झोंपड़ी आदि द्रव्यत नीच कुल है, जाति, धन, विद्या आदि से हीन व्यक्तियों के घर भावत नीच कुल है—

—दशवैकालिक सूत्र ५/१४ पर हारिभद्रीय टीका पृ० १६६।

(ख) नीच कुल को छोड़कर उच्च कुल मे भिक्षा करने वाला भिक्षु जातिवाद को बढ़ावा देता है—जातिवाओ य उववूहिओ भवति।

—दशवैकालिक सू० अ० ५ उ० २ गा० २५ तथा उस पर जिनदासचूर्णि एवं हारिभद्रीय टीका पृ० १९८-१९९।

२. आचाराग मूलपाठ के आधार पर पृ० १०१।

३. टीका पत्र ३२७ के आधार पर।

४. दशवैकालिक चूर्णि मे भी यही अर्थ मिलता है 'कुल सबंधि-समवातो, तदालयो वा—सम्बन्धियो का समवाय या घर—कुल कहा जाता है—अगस्त्यसिंह चूर्णि पृ० ५०३ (दश० ५/१४)

नहीं। इस दृष्टि से यहाँ जितने भी नाम गिनाए है, वे वंशवाचक या ज्ञातिवाचक (प्राय अपने पेशे से सम्बन्धित जाति संज्ञक) है। इस दृष्टि से उग्र का आरक्षकवंश, भोग का राजा के पूज्य-पुरोहित, भोक्ता आदि वंश राजन्य का राजा के मित्र स्थानीय वंश, क्षत्रिय का राठौड़ आदि वंश, इक्ष्वाकु का ऋषभदेव स्वामी के वंशज, हरिवंश का हरि—(श्रीकृष्ण, अरिष्टनेमि आदि के) वंशज, एसिय का गोपाल ज्ञाति, वेसिय का वैश्यज्ञातीय वणिक्, गण्डक का नापित-ज्ञातीय, कोट्टाग का सुथार या बढ़ईजातीय, बोक्कसालिय का तन्तुवाय (बुनकर) ज्ञातीय, गामरक्ख का ग्रामरक्षक ज्ञातीय अर्थ वृत्तिकार ने किया है। चूर्णिकार ने कुछ पदो के अर्थ इस प्रकार दिए है—एसिय=वणिक्, वेसिय=रंगरेज (रंगोपजीवी), गंडक=ग्राम का आदेशवाहक, कोट्टाग=रथकार।[1] प्रासुक और एषणीय का विचार तो सभी घरो में आहार लेते समय करना ही चाहिए।

इन्द्रमह आदि उत्सव में अशनादि एषणा

३३७. से भिक्खू वा २ जाव अणुपविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ समवाएसु वा पिंडणियरेसु वा इंदमहेसु वा खंदमहेसु वा एवं रुद्दमहेसु वा मुगुंदमहेसु वा भूत-महेसु वा जक्खमहेसु वा नागमहेसु वा थूभमहेसु वा चेतियमहेसु वा रुक्खमहेसु वा गिरिमहेसु वा दरिमहेसु वा अगडमहेसु वा तलागमहेसु वा दहमहेसु वा णदिमहेसु वा सरमहेसु वा सागर-महेसु वा आगरमहेसु वा अण्णतरेसु वा तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु वट्टमाणेसु बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए[2] एगातो उक्खातो परिएसिज्जमाणे दोहिं जाव संणिहि-संणिचयातो वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरगयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

अह पुण एवं जाणेज्जा – दिण्णं जं तेसिं दायव्वं, अह तत्थ भुंजमाणे पेहाए गाहावति-भारियं वा गाहावतिभगिणिं वा गाहावतिपुत्तं वा गाहावतिधूयं वा सुण्हं वा धातिं वा दासं वा दासिं वा कम्मकरं वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोएज्जा[3] —आउसो त्ति वा भगिणि त्ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णयरं भोयणजायं ? से सेवं वदंतस्स परो असण वा ४ आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं असण वा ४ सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं जाव पडिगाहेज्जा।

---

१. (क) टीका पत्र ३२७। (ख) आचा० चूर्णि मूलपाठ टि० पृ० १०६।

२. 'वणीमए' के बदले 'वणीमएसु' पाठ प्राय. प्रतियों में मिलता है, परन्तु पूर्वापर अनुसन्धान करने पर 'वणीमए' पाठ ही युक्तिसगत प्रतीत होता है।

३. आलोएज्जा का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—आलोएज्जा=आलविज्जा, अर्थात्—बोले। वृत्तिकार इसके दो अर्थ करते है—आलोकयेत्=पश्येत्, प्रभु प्रभुसन्दिष्ट या ब्रूयात्। आलोकयेत्=देखे, तथा गृह-स्वामी को, या गृहपति के सेवक से कहे।

३३७. वह भिक्षु या भिक्षुणी भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होने पर यह जाने कि वहाँ मेला, पितृपिण्ड के निमित्त भोज तथा इन्द्रमहोत्सव, स्कन्दमहोत्सव, रुद्रमहोत्सव, मुकुन्दमहोत्सव, भूतमहोत्सव, यक्षमहोत्सव, नागमहोत्सव तथा स्तूप, चैत्य, वृक्ष, पर्वत, गुफा, कूप, तालाब, ह्रद (कुण्ड), नदी, सरोवर, सागर या आकर (खान) सम्बन्धी महोत्सव एवं अन्य इसी प्रकार के विभिन्न प्रकार के महोत्सव हो रहे हैं, (उनके उपलक्ष में निष्पन्न) अशनादि चतुर्विध आहार बहुत-से श्रमण, माहन, अतिथि, दरिद्र, याचकों को एक बर्तन में से, दो बर्तनों, तीन बर्तनों या चार बर्तनों में से लेकर परोसा (भोजन कराया) जा रहा है तथा घी, दूध, दही, तैल, गुड़ आदि का संचय भी संकड़े मुँह वाली कुप्पी में से तथा बांस की टोकरी या पिटारी से परोसा जा रहा है, यह देखकर तथा इस प्रकार का आहार पुरुषान्तरकृत, घर से बाहर निकाला हुआ, दाता द्वारा अधिकृत, परिभुक्त या आसेवित नहीं है तो ऐसे चतुर्विध आहार को अप्रासुक और अनेषणीय समझ कर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

यदि वह यह जाने कि जिनको (जो आहार) देना था, दिया जा चुका है, अब वहाँ गृहस्थ भोजन कर रहे हैं, ऐसा देखकर (आहार के लिए वहाँ जाए), उस गृहपति की पत्नी, बहन, पुत्र, पुत्री या पुत्रवधू, धायमाता, दास या दासी अथवा नौकर या नौकरानी को पहले से ही (भोजन करती हुई) देखे, (तब अवसर देखकर) पूछे—"आयुष्मती भगिनी ! क्या मुझे इस भोजन में से कुछ दोगी ? ऐसा कहने पर वह स्वयं अशनादि आहार लाकर साधु को दे अथवा अशनादि चतुर्विध आहार की स्वयं याचना करे या वह गृहस्थ स्वयं दे तो उस आहार को प्रासुक एषणीय जानकर मिलने पर ग्रहण करे।

विवेचन—महोत्सवों में निष्पन्न आहार कब ग्राह्य, कब अग्राह्य ?—इस सूत्र में सूत्र ३३५ की तरह की चर्चा की गई है। अन्तर इतना-सा है कि वहाँ तिथि, पर्व-विशेष में निष्पन्न आहार का निरूपण है, जबकि यहाँ विविध महोत्सवों में निष्पन्न आहार का। यहाँ महोत्सवों में निष्पन्न आहार जिनको देना था, दे चुकने के बाद जब गृहस्थ भोजन कर रहे हों, तब आहार को दाता दे तो ग्राह्य बताया है।[1]

'समवाएसु' आदि शब्दों के अर्थ—वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार है—समवाय का अर्थ मेला है, जनसमूह का एकत्रित मिलन जहाँ हो। पिण्डनिकर का अर्थ है—पितृपिण्ड=मृतक-भोज। स्कन्ध=कार्तिकेय, रुद्र प्रसिद्ध हैं, मुकुन्द=बलदेव, इन सबकी लोक में महिमा-पूजा विशिष्ट समय पर की जाती है।

संखडि-गमन निषेध

३३८. से भिक्खू वा २ परं अद्ध जोयणमेराए संखडिं[2] संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

१. टीका पत्र ३२८ के आधार पर।

२. किसी-किसी प्रति में ... [illegible]

२. टीका पत्र ३२८ के आधार पर।

से भिक्खू वा २ पाईणं संखडिं णच्चा पडीणं गच्छे अणाढायमाणे, पडीणं संखडिं णच्चा पाईणं गच्छे अणाढायमाणे, दाहिणं संखडिं णच्चा उदीणं गच्छे अणाढायमाणे, उदीणं संखडिं णच्चा दाहिणं गच्छे अणाढायमाणे। जत्थेव सा संखडी सिया, तंजहा—गामंसि वा णगरंसि वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा दोणमुहंसि वा आगरंसि वा आसमंसि वा संणिवेसंसि वा जाव रायहाणिंसि वा संखडिं संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए। केवली बूया—आयाणमेतं[1]। संखडिं संखडिपडियाए अभिसंधारेमाणे आहाकम्मियं वा उद्देसियं वा मीसज्जायं वा कीयगडं वा पामिच्चं वा अच्छेज्जं वा अणिसट्ठं वा अभिहडं वा आहट्टु दिज्जमाणं भुंजेज्जा, असंजते[2] भिक्खुपडियाए खुड्डियदुवारियाओ[3] महल्लियाओ कुज्जा, महल्लियदुवारियाओ खुड्डियाओ कुज्जा, समाओ सेज्जाओ विसमाओ कुज्जा, विसमाओ सेज्जाओ समाओ कुज्जा; पवाताओ सेज्जाओ णिवायाओ कुज्जा, णिवायाओ सेज्जाओ पवाताओ कुज्जा, अंतो वा बहिं वा कुज्जा उवस्सयस्स हरियाणि छिंदिय २ दालिय[4] संथारगं संथारेज्जा, एस[5] खलु भगवया मीसज्जाए अक्खाए।

तम्हा से संजते णियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

३३८. संखडि (बृहद् भोज) में आहारार्थ जाने का निषेध—वह भिक्षु या भिक्षुणी अर्ध योजन

---

१. इसके बदले किसी-किसी प्रति मे 'आययणमेयं' पाठ है। अर्थात् यह दोषो का आयतन-स्थान है।

२. यहाँ 'असंजए' के बदले 'असंजए स भिक्खु' पाठान्तर भी है। अर्थ होता है—वह भिक्षु असंयमी है।

३. "खुड्डियाओ दुवारियाओ"... आदि पाठ की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—"खुड्डियाओ दुवारियातो महं०" प्रकाश-प्रवात-अवकाशार्थं बहुयाण, 'महल्लियाओ दुवारियाओ खुड्डियाओ' सुसंगुप्तणिवातार्थं थोवाण"... । अतो वा बाहिं वा हरिया छिंदिय छिंदिया दालिय त्ति भुसा खरा पिट्टेत्ता सघरति।" अर्थात्—छोटे दरवाजे बड़े करवाएगा—अधिक प्रकाश, हवा, और अधिक लोगों के समावेश के लिए। अथवा बड़े दरवाजे छोटे करवाएगा। मकान को अच्छी तरह सुरक्षित एवं निर्वात (बंद) बनाने तथा सीमित लोगो के निवास के लिए (उपाश्रय) (साधु के लिए बनाए गए वासस्थान) के अन्दर या बाहर उगी हुई हरियाली को काट-काटकर तथा कुशों को उखाड़कर, खुरदरी जमीन कूट-पीटकर सम बनाएगा उस पर साधु का आसन (तख्त, पाट या अन्य आसन) लगाएगा।

४. यहाँ '२' का अंक पुनरुक्ति का सूचक है।

५. इसके बदले १. "एस विलुंगयामो सिज्जाए (सज्जाए)२. एस विलुंगयामो मीसज्जाए—३. एस खलु भगवया मो मीसज्जाए; ४. एस खलु भगवया सेज्जाए अक्खाए" आदि पाठान्तर है। अर्थ इस प्रकार हैं (१) यह साधु अकिंचन होने के कारण वासस्थान का संस्कार कर न सकेगा, अतः मुझे ही कराना होगा। (२) निर्ग्रन्थ अकिंचन है, इस कारण वह गृहस्थ या कारणवश वह साधु स्वयं संस्कार कराएगा। (३) भगवान् ने इसे मिश्रजात दोष कहा है। (४) यह सब भगवान् ने शय्यैषणा नामक अध्ययन मे कहा है।

की सीमा से पर (आगे—दूर) संखडि (बड़ा जीमनवार—बृहत्भोज) हो रही है, यह जानकर संखडि में निष्पन्न आहार लेने के निमित्त से जाने का विचार न करे।

यदि भिक्षु या भिक्षुणी यह जाने कि पूर्व दिशा में संखडि हो रही है, तो वह उसके प्रति अनादर (उपेक्षा) भाव रखते हुए पश्चिम दिशा को चला जाए। यदि पश्चिम दिशा में संखडि जाने तो उसके प्रति अनादर भाव से पूर्व दिशा में चला जाए।

इसी प्रकार दक्षिण दिशा में संखडि जाने तो उसके प्रति अनादरभाव रखकर उत्तर दिशा में चला जाए और उत्तर दिशा में संखडि होती जाने तो उसके प्रति अनादर बताता हुआ दक्षिण दिशा में चला जाए।

संखडि (बृहत् भोज) जहाँ भी हो, जैसे कि गाँव में हो, नगर में हो, खेड़े में हो, कुनगर में हो, मडंब में हो, पट्टन में हो, द्रोणमुख (बन्दरगाह) में हो, आकर—(खान) में हो, आश्रम में हो, सन्निवेश (मौहल्ले) में हो, यावत् (यहाँ तक कि) राजधानी में हो, इनमें से कहीं भी संखडि जाने तो संखडि (से स्वादिष्ट आहार लाने) के निमित्त से मन में संकल्प (प्रतिज्ञा) लेकर न जाए। केवल ज्ञानी भगवान् कहते हैं—यह कर्मबन्धन का स्थान—कारण है।

संखडि में संखडि (—में निष्पन्न बढ़िया भोजन लाने) के संकल्प से जाने वाले भिक्षु को आधाकर्मिक, औद्देशिक, मिश्रजात, क्रीतकृत, प्रामित्य, बलात् छीना हुआ, दूसरे के स्वामित्व का पदार्थ उसकी अनुमति के बिना लिया हुआ या सम्मुख लाकर दिया हुआ आहार सेवन करना होगा। क्योंकि कोई भावुक गृहस्थ (असंयत) भिक्षु के संखडी में पधारने की सम्भावना से छोटे द्वार को बड़ा बनाएगा, बड़े द्वार को छोटा बनाएगा, विषम वासस्थान को सम बनाएगा तथा सम वासस्थान को विषम बनाएगा। इसी प्रकार अधिक वातयुक्त वास स्थान को निर्वात बनाएगा या निर्वात वास-स्थान को अधिक वातयुक्त (हवादार) बनाएगा। वह भिक्षु के निवास के लिए उपाश्रय के अन्दर और बाहर (उगी हुई) हरियाली को काटेगा, उसे जड़ से उखाड़ कर वहाँ संस्तारक (आसन) बिछाएगा। इस प्रकार (वास स्थान के आरम्भयुक्त संस्कार की सम्भावना के कारण) संखडि में जाने को भगवान् ने मिश्रजात दोष बताया है।

इसलिए संयमी निर्ग्रन्थ इस प्रकार नामकरण, विवाह आदि के उपलक्ष्य में होने वाली पूर्व संखडि (प्रीतिभोज) अथवा मृतक के पीछे की जाने वाली पश्चात्-संखडि (मृतक-भोज) को (अनेक दोषयुक्त) संखडि जान कर संखडि (—में-निष्पन्न आहार-लाभ) की दृष्टि से जाने का मन में संकल्प न करे।

विवेचन—संखडि की परिभाषा—'संखडि' एक पारिभाषिक शब्द है। "संखण्ड्यन्ते विराध्यन्ते प्राणिनो यत्र सा संखडि," जिसमें आरम्भ-समारम्भ के कारण प्राणियों की विराधना होती है, उसे संखडि कहते हैं, यह उसकी व्युत्पत्ति है।[1] भोज आदि में अन्न का विविध रीतियों

---

1. (क) आचा० टीका पत्र ३२८।
(ख) इसी प्रकार का अर्थ दशवै० ७।३६ की जिनदासचूर्णि पृ० २५७ तथा हारिभद्रीय टीका पृ० २११ पर किया गया है।

से संस्कार किया जाता है, इसलिए भी इसे 'संस्कृति' (संखडि) कहा जाता होगा। वर्तमान—युगभाषा में इसे 'बृहद्भोज' (जिसमें प्रीतिभोज आदि भी समाविष्ट हैं) कहते हैं। राजस्थान में इसे 'जीमनवार' कहते हैं। इसे दावत या गोठ भी कहते हैं।

संखडि में जाने का निषेध और उपेक्षा भाव क्यों?—संखडि में जाने से निम्नोक्त दोष लगने की सम्भावना है—

(१) जिह्वालोलुपता। (२) स्वादलोलुपतावश अतिप्रिय आहार खाने का लोभ। (३) अति मात्रा में स्वादिष्ट भोजन करने से स्वास्थ्य हानि, प्रमाद-वृद्धि, स्वाध्याय का भंग। (४) जनता की भीड़ में धक्का मुक्की, स्त्री संघट्टा (स्पर्श) एवं मुनि वेश की अवहेलना। (५) जनता में साधु के प्रति अश्रद्धा भाव बढ़ने की सम्भावना आदि।

श्रद्धालु गृहस्थ को पता लग जाने पर कि अमुक साधु यहाँ प्रीतिभोज के अवसर पर पधारे हुए हैं, मुझे उन्हें किसी भी मूल्य पर आहार देना है, यह सोचकर वह उनके उद्देश्य से खाद्य-सामग्री तैयार करवाएगा, खरीद कर लाएगा, उधार लाएगा, किसी से जबरन छीनकर लाएगा, दूसरे की चीज को अपने कब्जे में करके देगा, घर से सामान तैयार करा कर साधु के वास स्थान पर लाकर देगा; इत्यादि अनेक दोषों की पूरी सम्भावना रहती है।

इसके सिवाय कई बृहद् भोज पूरे दिन रात या दो तीन दिन तक चलते हैं, इसलिए गृहस्थ अपने पूज्य साधु को उसमें पधारने के लिए आग्रह करता है, अथवा गृहस्थ को पता लग जाता है कि पूज्य साधु पधारने वाले हैं तो वह उनके ठहरने के लिए अलग से प्रबन्ध करेगा, ताकि वह स्थान गृहस्थ स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क से रहित, विविक्त एवं साधु के निवास योग्य बन जाए। इसके लिए वह गृहस्थ उस मकान को विविध-प्रकार से घुटा-घुटा कर मरम्मत करवाएगा, रंग-रोगन करवाएगा, वहाँ फर्श पर उगी हुई हरी घास आदि को उखड़वा-कर उसको संस्कारित करवाएगा, सजाएगा, इन दोषों का उल्लेख मूलपाठ में किया गया है। जिस संखडि में जाने के पीछे इतने दोषों की सम्भावना हो, उस संखडि में सुविहित साधु कैसे जा सकता है? इसीलिए कहा गया है—'केवलीबूया—आयाणमेयं' केवलज्ञानी भगवान् कहते हैं—यह (—संखडि में गमन) आदान—कर्मबन्ध का कारण (आस्रव) है, अथवा दोषों का आयतन—स्थान है।

यही कारण है कि साधु के लिए ऐसे बृहद्भोजों को टालने और उसके प्रति उपेक्षा बताकर उस स्थान से विपरीत दिशा में विहार कर देने तथा आधे योजन दो कोस तक में भी कहीं ऐसे विशेष भोज का नाम सुनते ही साधु उधर जाने का विचार बदल देने का विधान है। कारण यह है कि अगर वह उधर जाएगा या संखडिस्थल के पास से होकर निकलेगा तो बहुत सम्भव है, भावुक गृहस्थ उस साधु को अत्याग्रह करके संखडि में ले जाएगा, और तब वे ही पूर्वोक्त दोष लगने की संभावना होगी इसलिए दूर से ऐसे बृहद् भोजों से बचने का निर्देश किया गया है।[1]

---

१. टीका पत्र ३२८-३२९ के आधार पर।

३३८. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिते सहिते सदा जए त्ति बेमि।

॥ बीओ उद्देसओ समत्तो ॥

३३८. निष्कर्ष और निर्देश—यह (संखडिविवर्जन रूप पिण्डैषणा विवेक) उस भिक्षु या भिक्षुणी (के भिक्षु भाव) की समग्रता-सम्पूर्णता है कि वह समस्त पदार्थों में संयत या समित व ज्ञानादि सहित होकर सदा प्रयत्नशील रहे।[1]

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

संखडि-गमन में विविध दोष

३४०. से एगतिओ अण्णतरं संखडिं असित्ता पिबित्ता छड्डेज्ज[2] वा, वमेज्ज वा, भुत्ते वा से णो सम्मं परिणमेज्जा, अण्णतरे वा से दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा।

केवली बूया—आयाणमेतं।

इह खलु भिक्खू गाहावतीहिं वा गाहावतीणीहिं वा परिवायएहिं[3] वा परिवाइयाहिं वा एगज्झं सद्धिं सोंडं पाउं भो वतिमिस्सं हुरत्था वा उवस्सयं पडिलेहमाणे णो लभेज्जा तमेव उवस्सयं सम्मिस्सीभावमावज्जेज्जा, अण्णमणे[4] वा से मत्ते विप्परियासियभूते[5] इत्थिविग्गहे वा किलीबे वा, तं भिक्खुं उवसंकमित्तु बूया—आउसंतो समणा! अहे आरामंसि वा अहे

1. इसका विवेचन प्रथम उद्देशकवत् समझ लेना चाहिए।
2. 'छड्डेज्ज वा वमेज्ज वा' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—छड्डी ओमिरावणिता, वमणं वमणमेव।
3. इसकी व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में—परिवाया कावालियमादी, परिव्वातियाओ तेसिं चेव भोतिओ [illegible] पिबंति, अगारीओ वि माहिस्सरमासवग-उज्जेणीसु एगतत्त एगवता एग- [illegible] पादु प्रकाशने प्रकाशं पिबंति। अर्थात्—परि- [illegible] इन्हीं की होती है। ये सब वर्षा और ग्रीष्म आदि [illegible] में मद्य पीती हैं। पादु प्रकाशन अर्थ में है। यानि प्रगट में पीते हैं। [illegible] उज्जयिनी आदि में एकत्रित, एक वाक्य होकर साथ में मिलकर [illegible] हैं।
4. अण्णमणे की व्याख्या चूर्णिकार करते हैं—अण्णमण्णो णाम ण [illegible] अन्यमना का अर्थ है जो [illegible] न हो।
5. विप्परियासियभूते के बदले चूर्णिकार 'विपरियासियभूतो' पाठ मानकर व्याख्या करते हैं—विपरिया- [illegible] —विपरियासियभूतो का अर्थ है— [illegible]

उवस्सयंसि वा रातो वा वियाले वा गामधम्मनियंतियं[1] कट्टु रहस्सियं मेहुणधम्मपवियारणाए[2] आउट्टामो। तं चेगइओ[3] सातिज्जेज्जा।

अकरणिज्जं चेतं संखाए, एते आयाणा[4] संति संविज्जमाणा[5] पच्चवाया भवंति। तम्हा से संजए णियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडि वा पच्छासंखडि वा संखडि संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

३४०. कदाचित् भिक्षु अथवा अकेला साधु किसी संखडि (बृहत् भोज) में पहुँचेगा तो वहाँ अधिक सरस आहार एवं पेय खाने-पीने से उसे दस्त लग सकता है, या वमन (कै) हो सकता है अथवा वह आहार भलीभाँति पचेगा नहीं (हजम न होगा); फलतः (विशूचिका, ज्वर या शूलादि) कोई भयंकर दुःख या रोगातंक पैदा हो सकता है।

इसीलिए केवली भगवान् ने कहा—'यह (संखडि में गमन) कर्मों का उपादान कारण है।

इसमें (संखडि स्थान में या इसी जन्म में) (ये भयस्थल हैं)—यहाँ भिक्षु गृहस्थों के गृहस्थपत्नियों अथव परिव्राजक-परिव्राजिकाओं के साथ एकचित्त व एकत्रित होकर नशीला पेय पीकर (नशे में भान भूलकर) बाहर निकल कर उपाश्रय (वास-स्थान) ढूंढ़ने लगेगा, जब वह नहीं मिलेगा, तब उसी (पान-स्थल) को उपाश्रय समझकर गृहस्थ स्त्री-पुरुषों व परिव्राजक परिव्राजिकाओं के साथ ही ठहर जाएगा। उनके साथ घुलमिल जाएगा। वे गृहस्थ-गृहस्थ-पत्नियाँ आदि (नशे में) मस्त एवं अन्यमनस्क होकर अपने आपको भूल जाएंगे, साधु अपने को भूल जाएगा। अपने को भूलकर वह स्त्री शरीर पर या नपुंसक पर आसक्त हो जाएगा। अथवा स्त्रियाँ या नपुंसक उस भिक्षु के पास आकर कहेंगे—आयुष्मन् श्रमण! किसी बगीचे या उपाश्रय में रात को या विकाल में एकान्त में मिलें। फिर कहेंगे—ग्राम के निकट किसी गुप्त, प्रच्छन्न, एकान्तस्थान में हम मैथुन-सेवन किया करेंगे। उस प्रार्थना को कोई एकाकी अनभिज्ञ साधु स्वीकार भी कर सकता है।

---

१. गामधम्मणियंतिय के बदले चूर्णिकार 'गामणियंतिय कण्हुई रहस्सित' पाठ मानकर व्याख्या करते हैं—गामणियंतिय गामसमभाग कण्हुइ रहस्सित कम्हिति रहस्से उच्छुप्रखवा वा अन्नतरे वा पच्छण्णे, मिहु रहस्से सहयोगे च, पवियरण पवियारणा (पवियारणाए) आउट्टामो-कुर्वीमो।"—गामणियंतिय-यानी ग्राम के निकट किसी एकान्त स्थान में, इक्षु के खेत में या किसी प्रच्छन्न स्थान में। मिहु का अर्थ है—रहस्य या सहयोग, प्रविचारणा=मैथुन सेवन, आउट्टामो: करेंगे।

२. चूर्णिकार इसका अर्थ करते हैं—'पवियरण पवियारणा अर्थात्—प्रतिचरण=(मैथुन सेवन) प्रविचारणा

३. चेगइओ के बदले किसी-किसी प्रति में चेगाणिओ, एगतीयो पाठान्तर है। अर्थ समान है।

४. 'आयाणा' के बदले पाठान्तर मिलता—आयाणाणि आयतणाणि आदि। अर्थ में अन्तर है, प्रथम का अर्थ है कर्मों का आदान (ग्रहण) तथा द्वितीय का अर्थ है—दोषों का आयतन स्थान है।

५. संविज्जमाणा के बदले किसी-किसी प्रति में संविज्जमाणा तथा संविज्जमाण है, अर्थ क्रमश: है—संवेदन (अनुभव) किये जाने वाले, कर्म पुद्गलों को अधिकाधिक धारण करने वाले।

यह (साधु के लिए सर्वथा) अकरणीय है यह जानकर (संखडि में न जाए)। संखडि में जाना कर्मों के आस्रव का कारण है, अथवा दोषों का आयतन (स्थान) है। इसमें जाने से कर्मों का संचय बढ़ता जाता है, पूर्वोक्त दोष उत्पन्न होते हैं, इसलिए संयमी निर्ग्रन्थ पूर्व-संखडि या पश्चात्-संखडि को संयम खण्डित करने वाली जानकर संखडि की अपेक्षा से उसमें जाने का विचार भी न करे।

३४१. से भिक्खू वा २ अण्णतरं संखडिं सोच्चा णिसम्म संपहावति[1] उस्सुयभूतेणं अप्पाणेणं, धुवा संखडी। णो संचाएति तत्थ इतराइतरेहिं[2] कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवातं पडिगाहेत्ता आहारं आहारेत्तए। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा।

से तत्थ कालेण अणुपविसित्ता तत्थितराइतरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं[3] एसियं वेसियं पिंडवातं पडिगाहेत्ता आहारं आहारेज्जा।

३४१. वह भिक्षु या भिक्षुणी पूर्व-संखडि या पश्चात्-संखडि में से किसी एक के विषय में सुनकर मन में विचार करके स्वयं बहुत उत्सुक मन से (संखडिवाले गांव की ओर) जल्दी-जल्दी जाता है। क्योंकि वहाँ निश्चित ही संखडि है। [मुझे गाँव में भिक्षार्थ भ्रमण करते देख संखडि वाला अवश्य ही आहार के लिए प्रार्थना करेगा, इस आशय से] वह भिक्षु उस संखडि वाले ग्राम में संखडि से रहित दूसरे-दूसरे घरों से एषणीय तथा रजोहरणादि वेश से लब्ध उत्पादनादि दोषरहित भिक्षा से प्राप्त आहार को ग्रहण करके वहीं उसका उपभोग नहीं कर सकेगा। क्योंकि वह संखडि के भोजन-पानी के लिए लालायित है। (ऐसी स्थिति में) वह भिक्षु मातृस्थान (कपट) का स्पर्श करता है। अतः साधु ऐसा कार्य न करे।

वह भिक्षु उस संखडि वाले ग्राम में अवसर देखकर प्रवेश करे, संखडि वाले घर के सिवाय दूसरे-दूसरे घरों से सामुदायिक भिक्षा से प्राप्त एषणीय तथा केवल वेष से प्राप्त—धात्रीपिण्डादि दोषरहित पिण्डपात (आहार) को ग्रहण करके उसका सेवन कर ले।

३४२. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा गामं वा जाव रायहाणिं वा, इमंसि खलु गामंसि वा जाव[4] रायहाणिंसि वा संखडी सिया, तं पि याइं गामं वा जाव[4] रायहाणिं वा संखडिं संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

केवली बूया—आयाणमेतं।

---

१. किसी किसी प्रति में इसके बदले 'परिहावइ' पाठ है। अर्थ समान है। चूर्णिकार ने अर्थ किया है—'समन्ततो धावति,' चारों ओर दौड़ता है।
२. इसका अर्थ चूर्णिकार करते हैं—'इतराइतरा'= उच्चणीयाणि अर्थात् दूसरे उच्चनीच कुल।
३. इसका अर्थ चूर्णि में किया गया है—समुदाणजातं सामुदाणियं। समुदान—भिक्षा से निष्पन्न सामुदानिक है।
४. यहाँ जाव शब्द सूत्र ३२८ में अंकित समग्र पाठ का सूचक है।

स्वादिष्ट भोजन-पानी की आशा से वहाँ जाने का साधु-साध्वी कोई विचार न करे। बार-बार पुनरावृत्ति करके भी शास्त्रकार ने इस बात को जोर देकर कहा है - केवली भगवान् ने कहा है—"यह दोषों का आयतन है या कर्मों के बन्ध के कारण है।" ऐसे बृहद्भोज में जाने से साधु की साधना की प्रतिष्ठा गिर जाती है, इसका स्पष्ट चित्र शास्त्रकार ने खोलकर रख दिया है।[1]

छड्डे वा वमेज्ज वा—ये दोनों क्रिया पद एकार्थक लगते हैं। किन्तु चूर्णिकार ने इन दोनों पदों का अन्तर बताया है कि कुजल क्रिया द्वारा या रेचन क्रिया द्वारा उसे निकालेगा या वमन करेगा। बृहत् भोज में भक्तों की अधिक मनुहार और अपनी स्वाद-लोलुपता के कारण अति मात्रा में किये जाने वाले स्वादिष्ट भोजन के ये परिणाम हैं।[2]

आयाणं या आययणं ? केवली भगवान् कहते हैं—यह 'आदान' है, पाठान्तर 'आययणं' होने से 'आयतन' है—ऐसा अर्थ भी निकलता है। वृत्तिकार ने दोनों ही पदों की व्याख्या यों की है—कर्मों का आदान (उपादान कारण) है, अथवा दोषों का आयतन (स्थान) है।[3]

संविज्जमाणा पच्चवाया—वृत्तिकार ने इस वाक्य का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—(१) रस-लोलुपतावश वमन, विरेचन, अपाचन, भयंकर रोग आदि की सम्भावना, (२) संखडि में मद्यपान से मत्त साधु द्वारा अब्रह्मचर्य सेवन जैसे कुकृत्य की पराकाष्ठा तक पहुँचने की सम्भावना। इन दोनों भयंकर दोषों के अतिरिक्त अन्य अनेक कर्मसंचयजनक (प्रत्यपाय) दोष या संयम में विघ्न उत्पन्न हो सकते हैं। 'संविज्जमाण' पाठान्तर होने से इसका अर्थ हो जाता है—'अनुभव किये जाने वाले दोष या विघ्न होते हैं।[4]

'गामधम्म नियंतियं कट्टु.........'—इस पंक्ति का भावार्थ यह है कि "पहले मैथुन-सेवन का वादा (निमन्त्रण) किसी उपाश्रय या बगीचे में करके फिर रात्रि समय में या विकाल-वेला में किसी एकान्त स्थान में गुप्त रूप से मैथुन सेवन करने में प्रवृत्त होंगे।" तात्पर्य यह है कि संखडि में गृहस्थ स्त्रियों या परिव्राजिकाओं का खुला सम्पर्क उस दिन के लिए ही नहीं, सदा के लिए अनिष्ट एवं पतन का मार्ग खोल देता है। चूर्णिकार 'गामनियंतियं' पाठ मानकर अर्थ करते हैं—ग्राम के निकट किसी एकान्त स्थान में।[5]

संखडिस्थल में विभिन्न लोगों का जमघट—इस शास्त्रीय वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जहाँ ऐसे बृहत् भोज होते थे, वहाँ उस गृहस्थ के रिश्तेदार स्त्री-पुरुषों के अतिरिक्त परिव्राजक-परिव्राजिकाओं को भी ठहराया जाता था, अपने पूज्य साधुओं को भी वहाँ ठहराने का खास प्रबन्ध किया जाता था। चूर्णिकार का मत है कि परिव्राजक-कापालिक आदि तथा कापालिकों

---

१. आचारांग वृत्ति एवं मूलपाठ पत्र ३३० के आधार पर।
२. आचारांग चूर्णि, आचा० मू० पा० टि० पृ० ११२।
३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३३१-३३२।
४. (क) टीका पत्र ३३०। (ख) आचा० चू० मू० पा० टि० पृष्ठ ११२।
५. टीका पत्र ३३०।

की परिव्राजिकाएं वर्षा और ग्रीष्म ऋतु आदि मे होने वाले बृहत्भोजो में सम्मिलित होकर मद्य पीते थे; माहेश्वर, मालव और उज्जयिनी आदि प्रदेशों में गृहस्थपत्नियाँ भी एकचित्त और एकवाक्य होकर सब मिलकर एक साथ मद्य पीती थी और प्रकट में पीती थी। इससे स्पष्ट है कि यहाँ मद्य का दौर चलता था, उसमें साधु भी लपेट में आ जाय तो क्या आश्चर्य! फिर जो अनर्थ होता है, उसे कहने की आवश्यकता नही। यही कहा गया है।—

"एगज्ज्ञ सद्धिं सोंडं पाउ ......" एकध्य का अर्थ है—एकचित्त सोंड का अर्थ है—मद्य = विकट। पाउं का अर्थ है—पीने के लिए 'वतिमिस्स' का अर्थ है—परस्पर मिल जाएँगे।[1]

'उवस्सय' शब्द यहाँ साधुओ के ठहरने के नियत मकान के अर्थ में नहीं है, किन्तु उस सामान्य स्थान को भी उपाश्रय कह दिया जाता था, जहाँ साधु ठहर जाता था।[2]

'सातिज्जेज्जा' शब्द का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—स्वीकार कर ले।

'समहावइ' का अर्थ वैसे तो 'दौड़ना' है किन्तु वृत्तिकार प्रसंगवश इस वाक्य की व्याख्या करते हैं—"किसी कारणवश साधु संखडि का नाम सुनते ही स्थल के अभिमुख इतने अत्यन्त उत्सुक मन से शीघ्र-शीघ्र चलता है कि मेरे लिए वहाँ अद्भुत खाद्य पदार्थ होंगे; क्योंकि वहाँ निश्चय ही संखडि है।[3]

'माइट्ठाणं संफासे' का अर्थ 'मातृस्थान का स्पर्श करना है'। मातृ स्थान का अर्थ है—कपट या कपटयुक्त वचन।[4] इससे सम्बन्धित तथा माया का कारण बताने वाले मूलपाठ का आशय यह है कि वह साधु संखडि वाले ग्राम में आया तो है—संखडि-निष्पन्न आहार लेने, किन्तु सीधा संखडिस्थल पर न जाकर उस गाँव में अन्यान्य घरों से थोड़ी-सी भिक्षा ग्रहण करके पात्र खाली करने के लिए उसी गाँव मे कही बैठकर वह आहार कर लेता है, ताकि खाली पात्र देखकर संखडि वाला गृहपति भी आहार के लिए विनती करेगा तो इन पात्रो में भर लूँगा।" इसी भावना को लक्ष्य में रखकर यहाँ कहा गया है कि ऐसा साधु माया का सेवन करता है। अतः संखडिवाले ग्राम में अन्यान्य घरो से प्राप्त आहार को वही करना उचित नही है। इहलौकिक-पारलौकिक हानियो के खतरो के कारण साधु संखडि वाले ग्राम मे न जाए, यही उचित है।

'सामुदाणियं एसिय वेसिय पिडवातं · ·····' इस पंक्ति का तात्पर्य यह है कि कदाचित् विहार करते हुए संखडि वाला ग्राम बीच मे पड़ता हो और वहाँ ठहरे बिना कोई चारा न हो तो संखडि वाले घर को छोड़कर अन्य घरो से सामुदानिक भिक्षा से आहार ग्रहण करके सेवन करे। सामुदानिक आदि पदो का अर्थ इस प्रकार है—सामुदाणिय = भैक्ष्य, एसियं = आधा

---

१. आचारांग चूर्णि, आचा० मू० पा० टि० पृ० ११२।
२. टीका पत्र ३३०। ३. टीका पत्र ३३०।
४. मातिट्ठाणं विवज्जेजा—मायाप्रधानवचोविवर्जयेत्—सूत्रकृत् १/६/२५ शीलांकवृत्ति

कर्मादि-दोषरहित एषणीय, वेसियं=केवल रजोहरणादि वेष के कारण प्राप्त, उत्पादनादि दोष-रहित पिंडवातं=आहार।[1]

संखडि में जाने से गौरव-हानि—संखडि में जाने से साधु की कितनी गौरवहानि होती है? इसका निरूपण सूत्र ३४२ में स्पष्टतया किया गया है। ऐसी संखडि के दो विशेषण प्रस्तुत किए गए है—"आकीर्णा और अवमा।" अकीर्णा वह संखडि होती है, जिसमें भिखारियों की अत्यधिक भीड़ हो, और 'अवमा' वह संखडि होती है, जिसमें आहार थोड़ा बनाया गया है, किन्तु याचक अधिक आ गए हों। इन दोनों प्रकार की संखडियों के कारण संखडि से आहार लेने में बाह्य और आन्तरिक—दोनों प्रकार का संघर्ष होता है। बाह्य संघर्ष तो अंगो की परस्पर टक्कर के कारण होता है, परस्पर जमकर मुठभेड़ होती है, एक दूसरे पर प्रहार आदि भी हो सकते है। और आन्तरिक संघर्ष होता है—परस्पर विद्वेष, घृणा, अश्रद्धा एवं सम्मान-हानि। इससे साधुत्व की गौरवहानि के अतिरिक्त लोकश्रद्धा भी समाप्त हो जाती है। आहार ग्रहण के समय तू-तू-मैं-मैं होती है। हर एक भिक्षाचर एक दूसरे के बीच में ही झपटकर पहले स्वयं आहार ले लेना चाहता है। संखडि वाला गृहपति देखता है कि मेरे इस प्रसंग को लेकर ही इतने सारे लोग आ गए है तो इन सबको मुझे जैसे-तैसे आहार देना ही पड़ेगा। अतः वह उन सबको देने के लिए पुनः आहार बनवाता है, इस प्रकार से निष्पन्न आहार आधाकर्मादि-दोष से दूषित होता है, वह अनेषणीय आहार उक्त निर्ग्रन्थ भिक्षु को भी लेना पड़ता है; खाना भी पड़ता है।[2]

अक्कंतपुव्वे आदि शब्दों की व्याख्या वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार है—**अक्कंतपुव्वे**—परस्पर आक्रान्त होना—पैर से पैर टकराना, दब जाना या ठोकर लगना, **संचालियपुव्वे**—एक दूसरे पर हाथ चलाना, धक्का देना, **आवडियपुव्वे**—पात्र से पात्र टकराना, रगड़ खाना, **उवट्टियपुव्वे**—सिर से सिर का स्पर्श होकर टकराना, **संखोभियपुव्वे**—शरीर से शरीर का संघर्ष होना, **अभिहयपुव्वे**—परस्पर प्रहार करना, **परियासियपुव्वे**—परस्पर धूल उछालना, **ओसित्तपुव्वे**—परस्पर सचित्त पानी छींटना। **परिभुत्तपुव्वे**—पहले स्वयं आहार का उपभोग कर लेना, **परिभाइयपुव्वे**—पहले स्वयं आहार ग्रहण कर लेना। **अट्ठीण**—हड्डियों का, मुक्कों का, **लेलुणा**—ढेले से या पत्थर से, **कवालेण**—खप्पर से, ठीकरे से (विग्रह करना)।[3]

शंका-ग्रस्त-आहार-निषेध

३४३. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ 'एसणिज्जे सिया अणेसणिज्जे सिया'। वितिगिंछसमावन्नेण अप्पाणेण असमाहडाए लेस्साए तहप्पगारं असणं वा ४ लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

---

1. पत्र ३३१ के अनुसार पत्र।
2. टीका पत्र ३३१।
3. टीका पत्र ३३१।

३४३. गृहस्थ के घर में भिक्षा प्राप्ति के उद्देश्य से प्रविष्ट भिक्षु या भिक्षुणी यह जाने कि यह आहार एषणीय है या अनेषणीय ? यदि उसका चित्त (इस प्रकार की) विचिकित्सा (आशंका) से युक्त हो, उसकी लेश्या (चित्तवृत्ति) अशुद्ध आहार की हो रही हो, तो वैसे (शंकास्पद) आहार के मिलने पर भी ग्रहण न करे।

विवेचन—शंकास्पद आहार लेने का निषेध—इस सूत्र में यह बताया गया है—साधु के मन में ऐसी शंका पैदा हो जाए कि पता नहीं यह आहार एषणीय है या अनेषणीय ? तथा उसके अन्तःकरण की वृत्ति (लेश्या) से भी यही आवाज उठती हो कि यह आहार अशुद्ध है, ऐसी शंकाकुलस्थिति में 'ज संके त समायरे' इस न्याय से उस आहार को न लेना ही उचित है।[1]

वितिगिंछ समावन्नेण' आदि पदों के अर्थ वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार है—विचिकित्सा का अर्थ है—जुगुप्सा या अनेषणीय की आशंका, उससे ग्रस्त आत्मा से। असमाहडाए लेसाए का अर्थ है—अशुद्ध लेश्या से यानी यह आहार उद्गमादि दोष से दूषित है, इस प्रकार की चित्तविप्लुति से अशुद्ध अन्तःकरण रूप लेश्या उत्पन्न होती है।[2]

सर्वोपकरण सहित-गमनागमन

३४४. [१] से भिक्खू[3] वा २ गाहावतिकुलं पविसितुकामे सव्वं भंडगमायाए गाहावतिकुलं पिंडवातपडियाए पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।

[२] से भिक्खू वा २ बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा सव्वं भंडगमायाए बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा।

[३] से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे सव्वं भंडगमायाए गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

३४५. से भिक्खू वा २ अह पुण एवं जाणेज्जा, तिव्वदेसियं वा वासं वासमाणं पेहाए, तिव्वदेसियं वा महियं संणिवयमाणिं पेहाए, महावाएण[4] वा रयं समुद्धतं पेहाए, तिरिच्छं संपातिमा वा तसा पाणा संथडा संणिवतमाणा पेहाए, से एवं णच्चा णो सव्वं भंडगमायाए गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा, बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

---

१. टीका पत्र ३३२ के आधार पर। २. टीका पत्र ३३२ के आधार पर।

३. यह ३४४ सूत्र जिनकल्पादि गच्छ-निर्गतसाधु के लिए विवक्षित है। फिर 'वा २' यह पाठ यहाँ क्यों ? ऐसी आशंका हो सकती है, तथापि आगे के दोनों सूत्रों में तथा इस ग्रन्थ में सर्वत्र 'से भिक्खू वा २' ऐसा पाठ सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, प्रायः सभी प्रतियों में। अतः ऐसा ही ... है, ऐसा सोचकर (टिप्पणकार ने) मूल में रखा है। वृत्तिकार ने भी ... किया है। अतः 'वा २' पाठ होते हुए भी यहाँ 'स भिक्षुः' इस ... युक्ति संगत लगता है।

४. तुलना के लिए देखिए—दसवेआलियं अ० ५ उ० १ गा० ८

३४४. [१] जो भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होना चाहता है, वह अपने सब धर्मोपकरण (साथ में) लेकर आहार आदि के उद्देश्य से गृहस्थ के घर में प्रवेश करे या निकले।

[२] साधु या साध्वी बाहर मलोत्सर्गभूमि या स्वाध्यायभूमि में निकलते या प्रवेश करते समय अपने सभी धर्मोपकरण लेकर वहाँ से निकले या प्रवेश करे।

[३] एक ग्राम से दूसरे ग्राम विचरण करते समय साधु या साध्वी अपने सब धर्मोपकरण साथ में लेकर ग्रामानुग्राम विहार करे।

३४५. यदि वह भिक्षु या भिक्षुणी यह जाने कि बहुत बड़े क्षेत्र में वर्षा बरसती दिखायी देती है, विशाल प्रदेश में अन्धकार रूप धुंध (ओस या कोहरा) पड़ती दिखायी दे रही है, अथवा महावायु (आंधी या अंधड़) से धूल उड़ती दिखायी देती है, तिरछे उड़ने वाले या त्रस प्राणी एक साथ बहुत-से मिलकर गिरते दिखाई दे रहे हैं; तो वह ऐसा जानकर सब धर्मोपकरण साथ में लेकर आहार के निमित्त गृहस्थ के घर में न तो प्रवेश करे और न वहाँ से निकले। इसी प्रकार (ऐसी स्थिति में) बाहर विहार (मलोत्सर्ग-) भूमि या विचार (स्वाध्याय-) भूमि में भी निष्क्रमण या प्रवेश न करे; न ही एक ग्राम से दूसरे ग्राम को विहार करे।

विवेचन—जिनकल्पी आदि भिक्षु का आचार—ये दोनों सूत्र गच्छ-निर्गत विशिष्ट साधना करने वाले जिनकल्पिक आदि भिक्षुओं के कल्प (आचार) की दृष्टि से है, ऐसा वृत्तिकार का कथन है।

जिनकल्पिक दो प्रकार के हैं—छिद्रपाणि और अच्छिद्रपाणि। अच्छिद्रपाणि जिनकल्पी यथाशक्ति अनेक प्रकार के अभिग्रह विशेष के कारण दो प्रकार के उपकरण रखते हैं—

(१) रजोहरण और (२) मुखवस्त्रिका। कोई-कोई तीसरा प्रच्छादन पट भी ग्रहण करते हैं, इस कारण तीन, कई ओस की बूंदों व परिताप से रक्षार्थ ऊनी कपड़ा भी रखते हैं, इस कारण चार, कोई असहिष्णु भिक्षु दूसरा सूती वस्त्र भी लेते हैं, इस कारण उनके पाँच धर्मोपकरण होते हैं।

छिद्रपाणि जिनकल्पी के पात्रनिर्योग सहित सात प्रकार के, रजोहरण मुखवस्त्रिकादि ग्रहण के क्रम से नौ, दस, ग्यारह या बारह प्रकार के उपकरण होते है। दोनों प्रकार के जिनकल्पिक के लिए शास्त्रीय विधान है कि वह आहार, विहार, निहार और विचार (स्वाध्याय) के लिए जाते समय अपने सभी धर्मोपकरणों को साथ लेकर जाए, क्योंकि वह प्रायः एकाकी होता है, दूसरे साधु से भी प्राय सेवा नही लेता, स्वाश्रयी होता है। इसलिए अपने सीमित उपकरणों को पीछे किसके भरोसे छोड़ जाए?[1]

किन्तु मूसलधार वर्षा दूर-दूर तक बरस रही हो, धुंध पड रही हो, आंधी चल रही

---

१. टीका पत्र ३३२।

हो, बहुत-से उड़ने वाले त्रस प्राणी गिर रहे हों तो वह आहार, विहार, एवं विचार के लिए मंडोपकरण साथ से लेकर गमनागमन की प्रवृत्ति बन्द रखे।[1]

वृत्तिकार ने स्थविरकल्पिक साधु वर्ग के लिए भी विवेक बताया है—यह समाचारी ही है कि विहार करने वाला साधु गच्छ के अन्तर्गत हो या गच्छनिर्गत हो, उसे ध्यान रखना चाहिए कि यदि वर्षा या धुन्ध पड़ रही हो तो जिनकल्पी बाहर नहीं जाएगा, क्योंकि उसमें छह मास तक मल-मूत्र को रोकने की शक्ति होती है। अन्य साधु कारण विशेष में (मल-व्युत्सर्गार्थ) जाए तो सभी उपकरण लेकर न जाए, यह तात्पर्यार्थ है।[2]

निषिद्ध-गृह-वर्ग

३४६. से भिक्खू वा २ से ज्जाइं पुणो कुलाइं जाणेज्जा, तंजहा—खत्तियाण वा राईण वा[3] कुराईण वा रायपेसियाण वा रायवंसट्ठियाणं वा अंतो वा बाहिं[4] वा गच्छंताण वा संणिविट्ठाण वा णिमंतेमाणाण वा अणिमंतेमाणाण वा असणं वा ४ लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३४६. भिक्षु एवं भिक्षुणी इन कुलों (घरों) को जाने, जैसे कि चक्रवर्ती आदि क्षत्रियों के कुल, उनसे भिन्न अन्य राजाओं के कुल, कुराजाओं (छोटे राजाओं) के कुल, राज भृत्य-

---

१. टीका पत्र ३३३ के आधार पर। २. टीका पत्र ३३३ के आधार पर।

३. चूर्णिकार 'राईण वा' आदि शब्दों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—खत्तिया=चक्कवट्टी-बलदेव-वासुदेव-मडलियरायाणो, कुराया=पच्चंतियरायाणो, रायवंसिता—रायवंसुप्पभूया ण रायाणो। रायपेसिता=अग्गरभोइता। अर्थात्—क्षत्रिय=चक्रवर्ती, बलदेव वासुदेव व मांडलिक राजा कुराजा=किसी प्रदेश का राजा, ठाकुर आदि। राजवंशिक=राजवंश में पैदा हुए, राजा के मामा भानजा आदि किंतु राजा नहीं। राजप्रेष्य=राजा के भृत्य।

४ 'अंतो वा बाहिं वा गच्छंताण वा'—इत्यादि पाठ में बदले पाठान्तर मिलते हैं—(१) वा सणिविट्ठाण वा णिमंतेमाणाण वा (२) वा गच्छताण वा सणिविट्ठाण वा णिमंतेमाणाण वा' तथा (३) वा गच्छताण वा सणिविट्ठाणवा असणिविट्ठाण वा णिमतेमाणाण वा। अर्थ क्रमश इस प्रकार है—(१) घर के अन्दर बैठे हो या बाहर या निमन्त्रित किये जाते हों। (२) अन्दर या बाहर जा-आ रहे हों, बैठे हों या निमन्त्रित किये जाते हैं, (३) अन्दर या बाहर जा-आ रहे हो, ठहरे हो या न ठहरे हों, या निमन्त्रित किये जाते हो। चूर्णिकार ने इस पंक्ति की व्याख्या यों की है—अंतो=अतो नगरादीण बहिं—णिग्गमणिग्गताण, संणिविट्ठाणं=ठियाण, इतरेसिं गच्छंताणं, मंगलत्थ पासंडाण साहूण वा दिज्जा, णिमतेति सयमेव, अणिम० दुक्कस्स देज्जा, देंताणं सयमेव, अदेंताणं अण्णो दिज्जा असण वा ४ लाभे सते णो पडिग्गाहिज्जा। अर्थात्—अतो=नगरादि के भीतर, बाहिं=निगम से निर्गत, सणिविट्ठाणं=स्थित, दूसरे जाते हुओं को, मंगलार्थ—पाषण्डों या साधुओं को देता हो, स्वयमेव निमन्त्रण दे, अथवा अनिमंत्रितों को मुश्किल से देता हो, जिनको दिया जाता हो, उन्हें स्वयं देता हो, जिनको न देता हो उन्हें दूसरा देता हो, ऐसे घर में अशनादि आहार मिलने पर भी ग्रहण न करे।

मालूम होता है, चूर्णि के अनुसार—अंतो वा बाहिं वा संणिविट्ठाणं वा असंणिविट्ठाण वा णिमंतेमाणाणं वा अणिमंतेमाणाणं वा देंताणं वा अदेंताणं वा असणं वा—यह पाठ है।

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

संखडि-गमन-निषेध

३४८. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा, मसादियं[1] वा मच्छादियं वा मंसखलं वा मच्छखलं वा आहेणं वा पहेणं वा हिंगोलं वा संमेलं वा हीरमाणं पेहाए, अंतरा से मग्गा बहुपाणा बहुबीया बहुहरिया बहुओसा बहुउदया : बहुउत्तिंग-पणग-दगमट्टिय-

---

१. निशीथ सूत्र (उद्दे-११) में इससे मिलता-जुलता पाठ और साथ में चूर्णिकारकृत उसकी व्याख्या भी देखिये—

जे भिक्खू मसादियं वा मच्छादियं वा मंसखलं वा मच्छखलं वा आहेणं वा पहेणं वा हिंगोलं वा सम्मेलं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं विरूवरूवं हीरमाणं पेहाए। अत्र चूर्णि —जे भिक्खू मसादियं वा इत्यादि। जम्मि पगरणे मंस आदीए दिज्जति पच्छा ओदणादि त मंसादी भण्णति, मसाण वा गच्छंता आदावेव पगरणं करेंति तं वा मंसादी, आणिएसु मंसेसु आदावेव जणवयस्स मंसपगरणं करेंति पच्छा सय परिभुंजति तं वा मसादी भन्नति। एवं मच्छादियं पि वत्तव्वं। मंसखलं जत्थ मसाणि सोसिज्जति। एव मच्छखलं पि जमण्णगिहातो आणिज्जति त आहेणं। जमण्णगिहं निज्जति त पहेणं। अधवा ज वधुघरातो वरघरं निज्जति त आहेणं, ज वरघरातो वधुघरं निज्जति त पहेणगं। अधवा वरवधूण ज आभव्वं परोप्पर निज्जति त सव्व आहेणगं, जमण्णतो निज्जति त पहेणगं। सव्वाणमादियाण ज हिज्जई निज्जई त्ति त हिंगोल, अधवा जं मयभत्तं करडुगादियं तं हिंगोलं। विवाहभत्तं सम्मेल, अधवा सम्मेलो गोट्ठी, तीए भत्त सम्मेल भण्णति। अहवा कम्मारंभेसु ल्हासिया जे ते सम्मेला, तेसिं ज भत्त तं सम्मेलं। गिहातो उज्जाणादिसु हीरंत नीयमानमित्यर्थः। पेहा प्रेक्ष्य', इति।

अर्थात्—"जे भिक्खू मसादियं वा इत्यादि।" जिस प्रकरण (संखडी-भोज) में प्रारम्भ में मांस दिया/परोसा जाता है, बाद में चावल आदि उसे मांसादिक (भोज) कहते हैं। मांसाशियों के चले जाने की सम्भावना देखकर पहले ही मांस का भोजन बनाता है, उसे भी मसादि भोज कहते हैं, अथवा मांस के लाये जाने पर प्रारम्भ में ही जनपद को मांस भोजन कराता है, फिर स्वय उपभोग करता है, उसे भी मसादी कहते हैं। इसी प्रकार मत्स्यादि का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। मंसखलं—का अर्थ है जहाँ मांस सुखाया जाता है। इसी प्रकार मत्स्यखल भी समझ लेना चाहिए। जिसे अन्य घर से लाया जाता है तब किये जाने वाले भोज को 'आहेणं' कहते हैं। अथवा जब वधू को अपने पितृगृह से वरगृह में लाई जाती है उसे आहेणं और जब वरगृह से वधू अपने पितृगृह में लायी जाती है तब उसे कहते हैं 'पहेण'। अथवा जब अन्यत्र ले जाया जाता है, तब भी पहेण कहते हैं। अथवा वर-वधू को आजन्म परस्पर (सम्बन्ध जोड़ने के लिए) ले जाया जाता है, वहाँ गोष्ठ की जाती है, उसे कहते हैं—आहेण। जब अन्य उन्हें कोई ले जाता है, तब उस भोज को 'पहेणग' कहते हैं। सब भोजों के आदि में जो ले जाया जाता है उसे हिंगोल अथवा जो मृतक भोज करड्डिकादिक होता है, उसे भी हिंगोल कहते है। विवाह के निमित्त जो भोज होता है वह सम्मेल होता है। अथवा सम्मेल कहते हैं गोष्ठी-मिलन को, उसके निमित्त जो भोजन होता है उसे भी सम्मेल कहते हैं। अथवा किसी व्यवसाय या कार्य के प्रारम्भ में जो नर्तक एकत्रित होकर गाते बजाते हैं, उसे भी सम्मेल कहते हैं। उसके साथ जो भोजन होता है उसे भी सम्मेल कहते हैं। घर में उद्यान आदि में ले जाते हुए देखा है उसे भी 'सम्मेल' कहा जाता है।

मक्कडासंताणगा, बहवे तत्थ [1]समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा उवागता उवागमिस्संति, अच्चाइण्णा[2] वित्ती, णो पण्णस्स णिक्खमण-पवेसाए णो पण्णस्स वायण-पुच्छण-परियट्टणा-ऽणुप्पेह-धम्माणुओगचिंताए। से एवं णच्चा तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्ज गमणाए।

से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा मंसादियं वा जाव[3] संमेलं वा हीरमाणं पेहाए अंतरा से मग्गा अप्पपाणा जाव संताणगा, णो जत्थ बहवे समण-माहण[4] जाव उवागमिस्संति, अप्पाइण्णा वित्ती, पण्णस्स णिक्खमण-पवेसाए, पण्णस्स वायण-पुच्छण-परियट्टणा-ऽणुप्पेह-धम्माणुओगचिंताए। सेवं णच्चा[5] तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए अभिसंधारेज्ज गमणाए।

३४८. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रवेश करते समय भिक्षु या भिक्षुणी यह जाने कि इस संखडि के प्रारम्भ में मांस पकाया जा रहा है या मत्स्य पकाया जा रहा है, अथवा संखडि के निमित्त मांस छीलकर सुखाया जा रहा है या मत्स्य छीलकर सुखाया जा रहा है; विवाहोत्तर काल में नव-वधू के प्रवेश के उपलक्ष्य में भोज हो रहा है, या पितृगृह में वधू के पुनः प्रवेश के उपलक्ष्य में भोज हो रहा है, या मृतक-सम्बन्धी भोज हो रहा है, अथवा परिजनों के सम्मानार्थ भोज (गोठ) हो रहा है। ऐसी संखडियों (भोजों) से भिक्षाचरों को भोजन लाते हुए देखकर संयमशील भिक्षु को वहाँ भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। क्योंकि वहाँ जाने में अनेक दोषों की सम्भावना है, जैसे कि—मार्ग में बहुत-से प्राणी, बहुत-सी हरियाली, बहुत-से ओसकण, बहुत पानी, बहुत-से कीड़ीनगर, पाँच वर्ण की—नीलण-फूलण (फूहेरे) हैं, काई आदि निगोद के जीव हैं, सचित्तपानी से भीगी हुई मिट्टी है, मकड़ी के जाले हैं; उन सबकी विराधना होगी; (इसके अतिरिक्त) वहाँ बहुत-से शाक्यादि—श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र, याचक (भिखारी) आदि आए हुए हैं, आ रहे हैं तथा आएंगे, संखडिस्थल चरक आदि जनता की भीड़ से अत्यन्त घिरा हुआ है; इसलिए वहाँ प्राज्ञ साधु का निर्गमन-प्रवेश का व्यवहार उचित नहीं है; क्योंकि वहाँ (नृत्य, गीत एवं वाद्य

१. चूर्णिकार ने इसके स्थान पर इस प्रकार का पाठान्तर माना है—'बहवे समण-माहणा उवागता उवागमिस्सति'—वहाँ बहुत से श्रमण-ब्राह्मण आ गए हैं, आएँगे।
२. इसके बदले 'तरथाइण्णा' पाठ मिलता है। अर्थ है—वहाँ संखडि की जगह जनाकीर्ण हो गयी है। चूर्णिकार 'अच्चाइण्णा' पाठ मान कर अर्थ करते हैं—'अत्यर्थं आइण्णा अच्चाइण्णा' संखडि की भूमि अत्यन्त (ठसाठस) भर गई है।
३. यहाँ 'जाव' शब्द से सू० ३४८ के पूर्वार्ध में पठित समग्र पाठ समझ लेना चाहिए।
४. यहाँ 'जाव' शब्द से सू० ३४८ के पूर्वार्ध में पठित सम्पूर्ण पाठ समझ लें।
५. चूर्णि में पाठान्तर है—'से एवं णच्चा'। अर्थ समान है।

होने से) प्राज्ञ भिक्षु की वाचना, पृच्छना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथारूप स्वाध्याय प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। अतः इस प्रकार जानकर वह भिक्षु पूर्वोक्त प्रकार की मांस प्रधानादि संयम-खण्डितकरी पूर्व संखडि या पश्चात् संखडि में संखडि की प्रतिज्ञा से जाने का मन में संकल्प न करे।

वह भिक्षु या भिक्षुणी, भिक्षा के लिए गृहस्थ के यहाँ प्रवेश करते समय यह जाने कि नववधू के प्रवेश आदि के उपलक्ष्य में भोज हो रहा है, उन भोजों में भिक्षाचर भोजन लाते दिखायी दे रहे हैं, मार्ग में बहुत-से प्राणी यावत् मकड़ी का जाला भी नहीं है। तथा वहाँ बहुत-से भिक्षु-ब्राह्मणादि भी नहीं आए हैं, न आएँगे और न आ रहे हैं, लोगों की भीड़ भी बहुत कम है। वहां (मांसादि दोष-परिहार-समर्थ) प्राज्ञ (-अपवाद मार्ग में) निर्गमन—प्रवेश कर सकता है, तथा वहाँ प्राज्ञ साधु के वाचना-पृच्छना आदि धर्मानुयोग चिन्तन में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी, ऐसा जान लेने पर उस प्रकार की पूर्व संखडि या पश्चात् संखडि में संखडि की प्रतिज्ञा से जाने का विचार कर सकता है।

विवेचन—मांसादि-प्रधान संखडि में जाने का निषेध और विधान—जो भिक्षु तीन करण तीन योग से हिंसा का त्यागी है, जो एकेन्द्रिय जीवों की भी रक्षा के लिए प्रयत्नशील है, उसके लिए मांसादि-प्रधान संखडि में तो क्या, किसी भी संखडि में चलकर जाना सर्वथा निषिद्ध बताया गया है। यही कारण है कि प्रस्तुत सूत्र के पूर्वार्द्ध में मार्ग में स्थित—एकेन्द्रियादि जीवों की विराधना के कारण, भिक्षाचरों की अत्यन्त भीड़ के कारण तथा सारे रास्ते में लोगों के जमघट होने से तथा नृत्य-गीत-वाद्य आदि के कोलाहल के कारण स्वाध्याय-प्रवृत्ति में बाधा की सम्भावना से उस संखडि में जाने का निषेध किया गया है।

किन्तु सूत्र के उत्तरार्द्ध में पूर्वोक्त बाधक कारण न हो तो शास्त्रकार ने उस संखडि में जाने का विधान भी किया है। कहाँ तो संखडि में जाने पर कठोर प्रतिबन्ध और कहाँ मांसादि-प्रधान संखडि में जाने का विधान? इस विकट प्रश्न पर चिन्तन करके वृत्तिकार इसका रहस्य खोलते हुए कहते हैं[1]—अब अपवाद—(सूत्र) कहते हैं—कोई भिक्षु मार्ग में चलने से अत्यन्त थक गया हो, अशक्त हो गया हो, आगे चलने की शक्ति न रह गयी हो, लम्बी बीमारी से अभी उठा ही हो, अथवा दीर्घ तप के कारण कृश हो गया हो, अथवा कई दिनों से ऊनोदरी चल रही हो, या भोज्य पदार्थ आगे मिलना दुर्लभ हो, संखडिवाले ग्राम में ठहरने के सिवाय कोई चारा न हो, गाँव में और किसी घर में उस दिन भोजन न बना हो, ऐसी विकट परिस्थिति में पूर्वोक्त बाधक कारण न हों तो उस संखडि को अल्पदोषयुक्त मानकर वहाँ जाए, बशर्ते कि उस संखडि में मांस वगैरह पहले ही पका या बना लिया या दे दिया गया हो, उस समय निरामिष भोजन ही वहाँ प्रस्तुत हो। इस प्रकार पूर्वोक्त कारणों में से कोई गाढ़ कारण

---

१. टीका पत्र ३३४।

उपस्थित होने पर मासादि दोषों के परिहार में समर्थ प्राज्ञ गीतार्थ साधु के लिए उस संखडि में जाने का (अपवाद रूप में) विधान है।

आचार्य शीलांक के इस समाधान से ऐसा प्रतीत होता है कि यह उत्तरार्ध का विधान किसी कठिन परिस्थिति में फँसे हुए श्रमण की तात्कालिक समस्या के समाधान स्वरूप है। वास्तव में इस प्रकार के भोज (संखडि) में जाना श्रमण का विधि-मार्ग नहीं है, किन्तु अपवाद-मार्ग के रूप में ही यह कथन है। इसका आसेवन श्रमण के स्व-विवेक पर निर्भर है। इस बात की पुष्टि निशीथ सूत्र की चूर्णि भी करती है।[1]

'मंसादियं' आदि शब्दों की व्याख्या वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार है—

मसादियं=जिस संखडि में मांस ही आदि में (प्रधानतया) हो,

मच्छादियं=जिस संखडि में मत्स्य ही आदि (प्रारम्भ) में (प्रधानतया) हो।

'मंसखलं वा मच्छखलं वा'=संखडि के निमित्त मांस या मत्स्य काट-काटकर सुखाया जाता हो, उसका ढेर मांसखल तथा मत्स्यखल कहलाता है। आहेणं=विवाह के बाद नववधू-प्रवेश के उपलक्ष्य में दिया जाने वाला भोज, पहेणं=पितृगृह में वधू के प्रवेश पर दिया जाने वाला भोज, हिंगोलं=मृतक भोज, संमेलं=परिजनों के सम्मान में दिया जाने वाला प्रीतिभोज (दावत) या गोठ।[2]

गो-दोहन वेला में भिक्षार्थ प्रवेश-निषेध

३४९. से भिक्खू वा २ गाहावति जाव पविसित्तुकामे से ज्जं पुण जाणेज्जा, खीरिणीओ गावीओ खीरिज्जमाणीओ पेहाए असणं वा ४ उवक्खडिज्जमाणं[3] पेहाए, पुरा अप्पजूहिते। सेवं णच्चा णो गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा।

से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा। अह पुण एवं जाणेज्जा, खीरिणीओ गावीओ खीरियाओ पेहाए, असणं वा ४ उवक्खडितं पेहाए, पुरा पजूहिते। सेवं णच्चा ततो संजयामेव गाहावतिकुलं पिंडवातपडियाए णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा।

३४९. गोदोहन-वेला में आहारार्थ गृह प्रवेश निषिद्ध या विहित? भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रवेश करना चाहते हों; (यदि उस समय) यह जान जाएँ कि अभी दुधारू गायों को दुहा जा रहा है तथा अशनादि आहार अभी तैयार किया जा रहा है, या हो

---

1. देखिए इसी सूत्र के मूल पाठ टिप्पण १, पृ० ४१ पर।
2. टीका पत्र ३३८।
3. चूर्णिकार ने इसका भावार्थ इस प्रकार दिया है—'उवक्खडिज्जमाणे समतट्ठाए'—अर्थात् श्रमणों के लिए तैयार किये जाते हुए…

रहा है, अभी तक उसमें से किसी दूसरे को दिया नहीं गया है। ऐसा जानकर आहार प्राप्ति की दृष्टि से न तो उपाश्रय से निकले और न ही उस गृहस्थ के घर में प्रवेश करे।

किन्तु (गृहस्थ के यहाँ प्रविष्ट होने पर गोदोहनादि को जान जाए तो) वह भिक्षु उसे जानकर एकान्त में चला जाए और जहाँ कोई आता-जाता न हो, और न देखता हो, वहाँ ठहर जाए। जब वह यह जान ले कि दुधारू गायें दुही जा चुकी हैं और अशनादि चतुर्विध आहार भी अब तैयार हो गया है, तथा उसमें से दूसरों को दे दिया गया है, तब वह संयमी साधु—आहार प्राप्ति की दृष्टि से वहाँ से निकले या उस गृहस्थ के घर में प्रवेश करे।

विवेचन—आहार के लिए प्रवेश निषिद्ध कब कब विहित ?—इस सूत्र में गृहस्थ के घर में तीन कारण विद्यमान हों तो आहारार्थ प्रवेश के लिए निषेध किया गया है—

(१) गृहस्थ के यहाँ गायें दुही जा रही हों,

(२) आहार तैयार न हुआ हो,

(३) किसी दूसरे को उसमें से दिया न गया हो।

अगर ये तीनों बाधक कारण न हों तो साधु आहार के लिए उस घर में प्रवेश कर सकता है, वहाँ से निकल भी सकता है।

गृह-प्रवेश में निषेध के जो तीन कारण बताए हैं, उनका रहस्य वृत्तिकार बताते हैं—गायें दुहते समय यदि साधु गृहस्थ के यहाँ जाएगा तो उसे देखकर गायें भड़क सकती है, कोई भद्र श्रद्धालु गृहस्थ साधु को देखकर बछड़े को स्तन-पान करता छुड़ाकर साधु को शीघ्र दूध देने की दृष्टि से जल्दी-जल्दी गायों को दुहने लगेगा, गायों को भी त्रास देगा, बछड़ों के भी दूध पीने में अन्तराय लगेगा। अधपके भात को अधिक ईंधन झोंक कर जल्दी पकाने का प्रयत्न करेगा, भोजन तैयार न देखकर साधु के वापस लौट जाने से गृहस्थ के मन में संक्लेश होगा, वह साधु के लिए अलग से जल्दी-जल्दी भोजन तैयार कराएगा, तथा दूसरों को न देकर अधिकांश भोजन साधु को दे देगा तो दूसरे याचकों या परिवार के अन्य सदस्यों को अन्तराय होगा।[1]

अगर कोई साधु अनजाने में सहसा गृहस्थ के यहाँ पहुँचा और उसे उक्त बाधक कारणों का पता लगे, तो इसके लिए विधि बताई गई है कि वह साधु एकान्त में, जन-शून्य व आवागमन रहित स्थान में जाकर ठहर जाए; जब गायें दुही जा चुकें, भोजन तैयार हो जाए, तभी उस घर में प्रवेश करे।[2]

अतिथि-श्रमण आने पर भिक्षा विधि

३५०. भिक्खागा णामेगे एवमाहंसु समाणा[3] वा वसमाणा वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे—

---

१. टीका पत्र ३३५। २. टीका पत्र ३३५।

३. चूर्णि में इसके स्थान पर पाठान्तर है—'सामाणा वा वसमाणा वा गामाणुगामं दुइज्जमाणे'। अर्थ एक-सा है। चूर्णिकार ने इस सूत्र-पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार की है—"भिक्खणसीला भिक्खागा

खुड्डाए खलु अयं गामे, संणिरुद्धाए, णो महालए, से हंता भयंतारो बाहिरगाणि गामाणि भिक्खायरियाए वयह। संति तत्थेगतियस्स भिक्खुस्स पुरेसंथुता वा पच्छासंथुता वा परिवसंति, तंजहा—गाहावती वा गाहावतिणीओ वा गाहावतिपुत्ता वा गाहावतिधूयाओ वा गाहावति-सुण्हाओ वा धातीओ वा दासा वा दासीओ वा कम्मकरा वा कम्मकरीओ वा। तहप्पगाराइं कुलाइं पुरेसंथुयाणि वा पच्छासंथुयाणि वा पुव्वामेव भिक्खायरियाए अणुपविसिस्सामि, अवि-याइंत्थ[1] लभिस्सामि पिंडं वा लोयं[2] वा खीरं वा दधिं वा णवणीतं वा घयं वा गुलं वा तेल्लं वा महुं वा मज्जं वा मंसं वा संकुलिं[3] वा फाणितं वा पूयं[4] वा सिहरिणिं वा, तं पुव्वामेव

नामग्रहणा दव्वभिक्खाग। एते, ण सव्वे। एवमवधारणे। आहंसु बुवा। समाणा वुड्ढवासी, वसमाणा णवकप्पविहारी, दूतिज्जमाणा मासकप्पं वउमासकप्पं वा काउं सकममाणा, कोंहिंचि गामे ठिता उडुबद्धे अथवा हिंडमाणा। माइट्ठाणेण मा अम्ह खेत्तगारो भवतु त्ति बाहुणाए आगते २ भणंति — खुड्डाए खलु अयं गामे ···।'

—अर्थात्-जो भिक्षणशील हो वे भिक्षाक कहलाते हैं। यहाँ नामग्रहण किया है, इसलिए- द्रव्य भिक्षाक समझना चाहिए। 'एते' का अर्थ है—कुछ भिक्षु, सभी नहीं। 'एव' निश्चय अर्थ में है। 'आहंसु'=कहते हैं। समाणा=वृद्धवासी (स्थिरवासी), वसमाणा=नवकल्पकल्पविहारी। दूतिज्जमाणा =मासकल्प (आठ) एवं चातुर्मासकल्प (एक) करके विचरण करते वाले, किसी ग्राम में ठहरे-ऋतुबद्ध अथवा विचरण करते हुए। 'माइट्ठाणेण' (माया का स्थान यह है कि हमारा क्षेत्र श्रेष्ठ न हो जाय, अन्यथा, ये यहाँ जम जाएँगे इस दृष्टि से) अतिथि (समागत) साधुओं के आने पर वे कहते हैं— "यह गाँव बहुत छोटा है, कहीं अन्यत्र भिक्षा के लिए जाएं, गाँव बहुत बड़ा नहीं है।·······"

निशीथ सूत्र द्वितीय उद्देशक में इसी से मिलता-जुलता पाठ और चूर्णिकार कृत व्याख्या देखिये-'जे भिक्खू सामाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं वा दूतिज्जमाणे पुरेसंथुयाणि वा पच्छासंथुयाणि वा कुलाइं पुव्वामेव भिक्खायरियाए अणुपविसति।" इसकी चूर्णि—'जे भिक्खू सामाणे' इत्यादि। भिक्खू पूर्ववत्। सामाणो नाम समधीनः अप्रवसितः को सो? वुड्ढो वासः। 'वसमाणो' उउबद्धिते अट्ठमासे वासावासं च नवमं। एवं नवविहं विहारं विहरंतो वसमाणो भण्णति। अनु=पच्छाभावे, गामातो अण्णो गामो अणुग्गामो, दोसु वासेसु सिसिर-गिम्हेसु वा रीइज्जति त्ति दूइज्जति।" अर्थात्—'भिक्खू' का अर्थ पूर्ववत् है। 'सामाणो' का अर्थ है समधीन यानी जो प्रवास (विहार) न करता हो, वह कौन? वृद्धवास। 'वसमाणो' का तात्पर्य है-ऋतुबद्ध—आठ मास में आठ विहार एवं वर्षावास का नौवा विहार, यों जो नौ विहार (कल्प) में विचरण करता हो, वह वसमान कहलाए है। 'अनु' पश्चात् अर्थ में है। ग्राम से अन्य ग्राम को अनुग्राम कहते है। दो वासों में शिशिर और ग्रीष्म ऋतुओं में जो विचरण करता है।

१. इसके स्थान पर किसी-किसी प्रति में अवियाइ इत्थ, अवि या इत्थ, अविअ इत्थ-ये पाठान्तर मिलते हैं, अर्थ समान है।
२. 'लोयं' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'लुत्तरस लोयगं, वण्णादि—अपेतं, असोभणमित्यर्थः।' अर्थात्-जिसमें से रस लुप्त हो गया हो, उसे लोयग कहते हैं, जो वर्णादि से रहित, अशोभन (खराब) हो।
३. देखिये-दशवैकालिक (५।१।१०२) में इससे मिलता जुलता पाठ। वहाँ 'संकुलि' (सक्कुलि) का अर्थ तिलसांकली या लपसी किया है।
४. 'पूप' या 'पूव' पाठ भी सम्यक् प्रतीत होता है।

भोच्चा[1] पिच्चा पडिग्गहं च संलिहिय संमज्जिय ततो पच्छा भिक्खूहिं सद्धिं गाहावतिकुलं पिंड-वात-पडियाए पविसिस्सामि वा णिक्खमिस्सामि वा। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा।

से तत्थ भिक्खूहिं सद्धिं कालेण अणुपविसित्ता तत्थितरातियरेहिं[2] कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवातं पडिगाहेत्ता आहारं आहारेज्जा।

३५०. जंघादि बल क्षीण होने से एक ही क्षेत्र में स्थिरवास करने वाले अथवा मास-कल्प विहार करने वाले कोई भिक्षु, अतिथि रूप से अपने पास आए हुए, ग्रामानुग्राम विचरण करने वाले साधुओं से कहते हैं—पूज्यवरो! यह गाँव बहुत छोटा है, बहुत बड़ा नहीं है, उसमें भी कुछ घर सूतक आदि के कारण रुके हुए हैं। इसलिए आप भिक्षाचरी के लिए बाहर (दूसरे) गाँवों में पधारें।

मान लो, इस गाँव में स्थिरवासी मुनियों में से किसी मुनि के पूर्व-परिचित (माता-पिता आदि कुटुम्बीजन) अथवा पश्चात्परिचित (श्वसुर-कुल के लोग) रहते हैं, जैसे कि—गृहपति, गृहपत्नियाँ, गृहपति के पुत्र एवं पुत्रियाँ, पुत्रवधुएँ, धायमाताएँ, दास-दासी, नौकर-नौकरानियाँ वह साधु यह सोचे कि जो मेरे पूर्व-परिचित और पश्चात-परिचित घर हैं, वैसे घरों में अतिथि साधुओं द्वारा भिक्षाचरी करने से पहले ही मैं भिक्षार्थ प्रवेश करूंगा और इन कुलों से अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लूंगा जैसे कि—"शाली के ओदन आदि, स्वादिष्ट आहार, दूध, दही, नवनीत, घृत, गुड़, तेल, मधु, मद्य[3] या मांस अथवा जलेबी, गुड़राब, मालपुए, शिखरिणी नामक मिठाई, आदि। उस आहार को मैं पहले ही खा-पीकर पात्रों को धो-पोंछकर साफ कर लूंगा। इसके पश्चात् आगन्तुक भिक्षुओं के साथ आहार-प्राप्ति के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करूंगा और वहाँ से निकलूंगा।"

इस प्रकार का व्यवहार करने वाला साधु माया-कपट का स्पर्श (सेवन) करता है। साधु को ऐसा नहीं करना चाहिए।

उस (स्थिरवासी) साधु को भिक्षा के समय उन भिक्षुओं के साथ ही उसी गाँव में विभिन्न उच्च-नीच और मध्यम कुलों से सामुदानिक भिक्षा से प्राप्त एषणीय, वेष से उपलब्ध (धात्री आदि दोष से रहित) निर्दोष आहार को लेकर उन अतिथि साधुओं के साथ ही आहार करना चाहिए।

---

१. चूर्णि में इसकी व्याख्या यों की गयी है—'तं भोच्चा पच्छा साहूणो हिंडावेति' जो आहार मिला उसका उपभोग करके फिर आगुन्तक साधुओं को भिक्षा के लिए घुमाता है।

२. इसके स्थान पर पाठान्तर मिलते हैं—'तत्थितरातिरेहिं' 'तत्थितरेतरेहिं' अर्थ समान है।

३. यहाँ 'मद्य' शब्द कई प्रकार के स्वादिष्ट पेय तथा 'मांस' शब्द बहुत गूदे वाली अनेक वनस्पतियों का सामूहिक वाचक हो सकता है, जो कि गृहस्थ के भोज्य-पदार्थों में सामान्यतया सम्मिलित रहती हैं। टीकाकार ने 'मद्य' और 'मांस' शब्दों की व्याख्या छेदशास्त्रानुसार करने की सूचना की है। साथ ही कहा है—अथवा कोई अतिशय प्रमादी साधु अतिलोलुपता के कारण मांस मद्य भी स्वीकार कर ले।

—सम्पादक

विवेचन—रस लोलुपता और माया— इस सूत्र का आशय स्पष्ट है। प्राघूर्णक (पाहुने) साधुओं के साथ जो साधु स्वाद-लोलुपतावश माया करता है, वह साधु स्व-पर-वंचना तो करता ही है, आत्म-विराधना और भगवदाज्ञा का उल्लंघन भी करता है। शास्त्रकार की ऐसे मायिक साधु के लिए गम्भीर चेतावनी है। आचारांग चूर्णि और निशीथ चूर्णि में इसका विशेष स्पष्टीकरण किया गया है।[1]

३५१. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

३५१. यही संयमी साधु-साध्वी के ज्ञानादि आचार की समग्रता है।[2]

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

पंचमो उद्देसओ

पंचम उद्देशक

अग्रपिण्ड-ग्रहण-निषेध

३५२. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा, अग्गपिंड उक्खिप्पमाणं पेहाए, अग्गपिंडं[3] णिक्खिप्पमाणं पेहाए, अग्गपिंडं हीरमाणं पेहाए, अग्गपिंडं परिभाइज्जमाणं पेहाए, अग्गपिंडं परिभुज्जमाणं[4] पेहाए, अग्गपिंडं परिट्ठविज्जमाणं पेहाए, पुरा असिणादि[5] वा अवहारादि वा, पुरा जत्थऽण्णे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा खद्धं[6] खद्धं उवसंकमंति, से हंता अहमवि खद्धं खद्धं उवसंकमामि। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा।

३५२ : वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के घर में भिक्षा के निमित्त प्रवेश करने पर यह जाने कि अग्रपिण्ड निकाला जाता हुआ दिखायी दे रहा है, अग्रपिण्ड रखा जाता दिखायी दे

---

१. देखिए आचारांग मूल पाठ टिप्पण पृ० ११८।
२. इसका विवेचन सूत्र ३३४ के अनुसार समझ लेना चाहिए।
३. किसी-किसी प्रति में 'अग्गपिंड और किसी प्रति में 'अग्गपिंड' परिभाइज्जमाणं पेहाए' पाठ नहीं है।
४. 'परिभुंजमाण' पाठान्तर कहीं-कहीं मिलता है।
५. 'असिणादि वा अवहारादिवा' के स्थान पर किन्हीं प्रतियों में 'असणादि वा अवहारादि वा' पाठ है। चूर्णिकार इस पंक्ति का अर्थ यों करते हैं—'पुरा असणाई वा' तत्थेव भुंजंति, जहा बोडियसण्णा, अवहरंति णाम उक्कडंति' अर्थात् पहले जैसे अन्य बोटिकसदृश भिक्षु अग्रपिण्ड का उपभोग कर गये थे, वैसे ही निर्ग्रन्थ खाता है। अवहरित का अर्थ है—निकालता है।
६. चूर्णिकार के शब्दों में व्याख्या—'खद्धं खद्धं' णाम बहवे अवसक्कंति तुरियं च, तत्थ भिक्खू वि तहेव। अर्थात्—खद्ध खद्ध का अर्थ है—बहुत से भिक्षुक जल्दी-जल्दी आ रहे हैं, वहाँ भिक्षु भी इसी प्रकार का विचार करता है—तो।

रहा है, (वहीं) अग्रपिण्ड ले जाया जाता दिख रहा है, वहीं वह बांटा जाता दिख रहा है, (वहीं) अग्रपिण्ड का सेवन किया जाता दिख रहा है, वहीं वह फेंका या डाला जाता दृष्टिगोचर हो रहा है, तथा पहले, अन्य श्रमण-ब्राह्मणादि (इस अग्रपिण्ड का) भोजन कर गए हैं एवं कुछ भिक्षाचर पहले इसे लेकर चले गए हैं, अथवा पहले (हम लेंगे, इस अभिप्राय से) यहाँ दूसरे श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र, याचक आदि (अग्रपिण्ड लेने) जल्दी-जल्दी आ रहे हैं, (यह देखकर) कोई साधु यह विचार करे कि मैं भी (इन्हीं की तरह) जल्दी-जल्दी (अग्रपिण्ड लेने) पहुँचूं, तो (ऐसा करने वाला साधु) माया-स्थान का सेवन करता है। वह ऐसा न करे।

विवेचन—माया का सेवन—इस सूत्र में साधु को माया-सेवन से दूर रहने का निर्देश किया गया है। यह भी बताया गया है कि माया-सेवन का सूत्रपात कैसे और कब सम्भव है? जब साधु यह देखता है कि गृहस्थ के यहाँ से अग्रपिण्ड निकाला जा रहा है, ले जाया जा रहा है, रखा जा रहा है, बांटा जा रहा है और इधर-उधर फेंका जा रहा है, कुछ भिक्षाचर पहले ले गए हैं और दूसरे दनादन लेने आ रहे हैं, इसलिए मैं भी जल्दी-जल्दी वहाँ पहुँचूं, अन्यथा मैं पीछे रह जाऊँगा, दूसरे भिक्षुक सब आहार ले जाएँगे। यह उसके माया-सेवन का कारण बनता है। उतावली और हड़बड़ी में जब वह चलेगा तो जीवों की विराधना भी सम्भव है, और स्वादलोलुपता की वृद्धि भी। दशवैकालिक सूत्र में चलने की विधि बताते हुए कहा है कि "भिक्षु दनादन न चले, बहुत शान्ति से, अनुद्विग्न, अव्याक्षिप्त, अमूर्च्छित (अनासक्त), अव्यग्रचित्त से यतनापूर्वक धीरे-धीरे भिक्षा के लिए चले।'[1]

'अग्रपिंड—अग्रपिण्ड वह है, जो भोजन तैयार होने के बाद दूसरे किसी को न देकर, या न खाने देकर उसमें से थोड़ा-थोड़ा अंश देवता आदि के लिए निकाला जाता है। उसी अग्रपिण्ड की यहाँ देवादि के निमित्त से होने वाली ६ प्रक्रियाएँ बताई गयी हैं—

(१) देवता के लिए अग्रपिण्ड का निकालना। (२) अन्यत्र ले जाना। (३) देवालय आदि में ले जाना। (४) उसमें से प्रसाद बांटना। (५) उस प्रसाद को खाना। (६) देवालय से चारों दिशाओं में फेंकना। इन प्रक्रियाओं के बाद वह अग्रपिण्ड विविध भिक्षाचरों को दिया जाता है, इनमें से कुछ लोग वहीं खा लेते हैं, कुछ लोग जैसे-तैसे—झपट कर ले लेते हैं और चले जाते हैं, कुछ लोग अग्रपिण्ड लेने के लिए उतावले कदमों से आते हैं।'[2]

---

१. (क) टीका पत्र ३३६ के आधार पर।

(ख) संपत्ते भिक्खकालम्मि, असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥१॥
से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गगओ मुणी।
चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥२॥
पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे।
वज्जंतो बीयहरियाइं, पाणे य दगमट्टियं

२. टीका पत्र ३३६।

'पुरा असिणादि वा' इत्यादि पदों के अर्थ—असिणादि=पहले दूसरे श्रमणादि उस अग्रपिण्ड का सेवन कर चुके है, अवहारादि=कुछ पहले व्यवस्था या अव्यवस्थापूर्वक जैसे-तैसे उसे ले चुके। खद्द खद्दं=जल्दी-जल्दी।[1]

विषम मार्गादि से भिक्षाचर्यार्थ गमन-निषेध

३५३. से भिक्खू वा २[2] जाव[3] समाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि[4] वा पागाराणि वा तोरणाणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपासगाणि वा, सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा।

केवली बूया—आयाणमेयं। से तत्थ परक्कममाणे पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा तत्थ से काए उच्चारेण वा पासवणेण वा खेलेण वा सिंघाणएण वा वंतेण वा पित्तेण वा पूएण वा सुक्केण वा सोणिएण वा उवलित्ते सिया। तहप्पगारं कायं णो अणंतरहियाए[5] पुढवीए, णो ससणिद्धाए पुढवीए, णो ससरक्खाए पुढवीए, णो चित्तमंताए सिलाए, णो चित्तमंताए लेलूए, कोलावासंसि वा दारुए जीवपतिट्ठिते सअंडे सपाणे आव[1]

१. टीका पत्र ३३६।
२. जहाँ-जहाँ '२' का चिन्ह है वहां 'भिक्खुणी वा' पाठ समझना।
३. यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र ३२४ के अनुसार समग्र पाठ का सूचक है।
४. तुलना करिए—दशवैकालिक (५।२।७ एवं ६ गाथा)
५. 'अणंतरहियाए' आदि पदों की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—"अणंतरहिता नाम, तिरे अंतर्धाने, न अंतर्हिता, सचेतणा इत्यर्थः, सचेतणा अहवा अणंतेहि रहिता इत्यर्थः। ससणिद्धा घडओ [5]त्थ पाणियभरितो पल्हत्थतो, वास वा पडियमेत्तयं। ससरक्खा सचित्ता मट्टिया वहि पडति या मुगडमादिणा णिज्जमाणी कुंभकारादिणा लवण वा। चित्तमंता सिला सिला एव सचित्ता। मेयू मट्टितालेडओ सचित्तो चेव। कोलो नाम घुणो तस्स आवासं कट्ठं, अन्ने वा दारुए जीवपतिट्ठते हरितादीण उवरि उद्देहियाणं वा सचित्ते वा सअंडे सपाणे पुव्वभणिता। आमज्जति एक्कसि। पमज्जति पुणो पुणो।"

'अणंतरहियाए' आदि पदों की चूर्णिकार-कृत व्याख्या का अर्थ इस प्रकार है—अर्थात् अनन्तरहिता (अनन्तर्हिता) का अर्थ होता है—जिसकी चेतना अन्तर्हित न हो—तिरोहित न हो, अर्थात् जो सचेतन हो अथवा अनन्तों (अनन्त निगोद भाव) से रहित हो, वह अनन्त-रहित है। ससणिद्धा=स्निग्ध पृथ्वी, जैसे पानी का घड़ा उलट जाने से (मिट्टी पर) वह स्निग्ध हो जाती है, या मिट्टी पर पानी का बूंद गिरे पड़ा हो वह भी स्निग्ध पृथ्वी है। ससरक्खा सचित्त मिट्टी, जहाँ गिरती है, जिसे कुम्भकार आदि गाड़ी आदि में डोकर ले जाते हैं, अथवा सचित्त नमक। चित्तमंता सिला=जो शिला ही सचित्त हो, लेलू=मिट्टी का ढेला, जो सचित्त होता है। कोल—कहते हैं घुन को, उसका आवास काष्ठ होता है। अन्य जो लकड़ी, जीवप्रतिष्ठित हो, हरित पर या लकड़ी पर दीमक लग जाने से या सचित्त हो, 'सअंडे सपाणे' का अर्थ पहले कहा जा चुका है। आमज्जति=एक बार, पमज्जति=बार-बार प्रमार्जन करना है।

१ यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र ३२४ में पठित 'सपाणे' से 'संताणए' तक के पाठ का सूचक है।

संताणए णो[1] (?) आमज्जेज्ज वा, णो (?) पमज्जेज्ज वा, संलिहेज्ज वा णिल्लिहेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा आतावेज्ज वा पयावेज्ज वा।

से पुव्वामेव अप्पससरक्खं तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा जाएज्जा, जाइत्ता से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, २ [त्ता] अहे झामथंडिल्लंसि वा[2] जाव अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि पडिलेहिय २ पमज्जिय २ ततो संजयामेव आमज्जेज्ज वा जाव पयावेज्ज वा।

३५४. से भिक्खू वा[3] २ जाव[4] पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा गोणं[5] वियालं पडिपहे पेहाए, महिसं वियालं[6] पडिपहे पेहाए, एवं मणुस्सं आसं हत्थि सीहं वग्घं विगं दीवियं अच्छं तरच्छं परिसरं सियालं विरालं सुणयं कोलसुणयं कोकंतियं चित्ताचेल्लडयं[7] वियालं पडिपहे सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा।

३५५. से भिक्खू वा २ जाव समाणे अंतरा से ओवाए[8] वा खाणु वा कंटए वा घसी वा भिलुगा वा विसमे वा विज्जले वा परियावज्जेज्जा। सति परक्कमे संजयामेव [परक्कमेज्जा] णो उज्जुयं गच्छेज्जा।

बन्द द्वारवाले गृह में प्रवेश-निषेध

३५६. से भिक्खू वा २ गाहावतिकुलस्स दुवारबाहं[9] कंटगबोंदियाए पडिपिहितं पेहाए

---

१. संताणए के बाद 'आमज्जेज्ज वा' और 'पमज्जेज्ज वा' के पूर्व 'णो' शब्द लिपिकार की असावधानी से अंकित हुआ लगता है, यहाँ यह निरर्थक है। इसलिए (?) संकेत है।
२. यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र ३४४ में पठित 'झामथंडिल्लंसि वा' से लेकर 'अण्णतरंसि' तक के पूर्ण पाठ का सूचक है।
३. यहाँ भिक्खू वा के बाद '२' का चिन्ह, भिक्खुणी वा पाठ का सूचक है।
४. यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र ३२४ में पठित 'गाहावइकुल' से लेकर पविट्ठे तक के पाठ का सूचक है।
५. तुलना करिए—दशवैकालिक ५।१।१२ साण सूइय गावि दित्तं गोणं हयं गयं—दूरओ परिवज्जिय…
६. चूर्णि में, सर्वप्रथम 'मणुस्स वियाल' पद है। उसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—"मणुस्सविआलो णाम गहिल्लमत्तओ, गहिल्लओ, रुणपिसाइयागहितो वा सेसा गोणादि मारगा अलक्कइता वा।" मनुष्यव्याल का अर्थ है—पागल या उन्मत्त, अथवा विक्षिप्त युद्धोन्मादग्रस्त या पिशाचादिग्रस्त। शेष गोण (साड आदि के आगे व्याल विशेषण का अर्थ है—मारक (मरकना)— —।
७. चित्ताचेल्लडय का अर्थ है—आरण्यक जीवविशेष। सूत्र ५१५ में भी प्रयुक्त है।
८. 'ओवाए' के स्थान पर पाठान्तर मिलते हैं —'उवाए' उवाओ उववाओ आदि। चूर्णिकार इसका अर्थ करते हैं—'खुड्डजाइ उवापंति अस्मिन्निति उवात' अर्थात्—जिसमें क्षुद्रजातीय प्राणी गिर जाते हैं, उसे 'उवात' कहते हैं। दशवैकालिक (अ० ५।१।४ गा०) में इससे मिलती-जुलती गाथा है, वहाँ 'ओवाय' (अवपात) का अर्थ हरिभद्रसूरि और जिनदासगणि ने खड्डा या गड्डा किया है। अगस्त्यसिंह ने (चूर्णि में) अर्थ किया है—अहोपतणमोवातो खड्डाकूव झिरिडाति। अर्थात् अधःपातन को अवपात कहते हैं, खड्डा कुआ और जीर्णकूप भी अवपात है। —जि० चू० पृ० १६९
९. 'दुवारबाहं' का अर्थ चूर्णिकार ने अग्गदार (अग्रद्वार) किया है।

तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुण्णविय अपडिलेहिय अपमज्जिय णो अवंगुणेज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा। तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुण्णविय पडिलेहिय पमज्जिय ततो संजयामेव अवंगुणेज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।

३५३ वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के घर भिक्षार्थ जाते समय रास्ते के बीच में ऊँचे भूभाग या खेत की क्यारियाँ हों या खाइयाँ हों, अथवा बांस की टाटी हो, या कोट हो, बाहर के द्वार (बंद) हों आगल हों अर्गला-पाशक हो तो उन्हें जानकर दूसरा मार्ग हो तो संयमी साधु उसी मार्ग से जाए, उस सीधे मार्ग से न जाए; क्योंकि केवली भगवान् कहते हैं—यह कर्मबन्ध का मार्ग है।

उस विषम-मार्ग से जाते हुए भिक्षु (का पैर) फिसल जाएगा या (शरीर) डिग जाएगा अथवा गिर जाएगा। फिसलने, डिगने या गिरने पर उस भिक्षु का शरीर मल, मूत्र, कफ, लीट, वमन, पित्त, मवाद, शुक्र (वीर्य) और रक्त से लिपट सकता है। अगर कभी ऐसा हो जाए तो वह भिक्षु मल-मूत्रादि से उपलिप्त शरीर को सचित्त पृथ्वी — स्निग्ध पृथ्वी से, सचित्त चिकनी मिट्टी से, सचित्त शिलाओं से, सचित्त पत्थर या ढेले से, या घुन लगे हुए काठ से, जीवयुक्त काष्ठ से, एवं अण्डे या प्राणी या जालों आदि से युक्त काष्ठ आदि से अपने शरीर को न एक बार साफ करे और न अनेक बार घिस कर साफ करे। न एक बार रगड़े या घिसे और न बार-बार घिसे, उबटन आदि की तरह मले नहीं, न ही उबटन की भांति लगाए। एक बार या अनेक बार धूप में सुखाए नहीं।

वह भिक्षु पहले सचित्त-रज आदि से रहित तृण, पत्ता, काष्ठ, कंकर आदि की याचना करे। याचना से प्राप्त करके एकान्त स्थान में जाए। वहाँ अग्नि आदि के संयोग से जलकर जो भूमि अचित्त हो गयी है, उस भूमि की या अन्यत्र उसी प्रकार की भूमि का प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करके यत्नाचारपूर्वक संयमी साधु स्वयमेव अपने—(मल-मूत्रादिलिप्त) शरीर को पोंछे, मले, घिसे यावत् धूप में एक बार व बार-बार सुखाए और शुद्ध करे।

३५४. वह साधु या साध्वी जिस मार्ग से भिक्षा के लिए जा रहे हों, यदि वे यह जाने कि मार्ग में सामने मदोन्मत्त सांड है, या मतवाला भैंसा खड़ा है, इसी प्रकार दुष्ट मनुष्य, घोड़ा, हाथी, सिंह, बाघ, भेड़िया, चीता, रीछ, व्याघ्र विशेष—(तरच्छ), अष्टापद, सियार बिल्ला (वनबिलाव), कुत्ता, महाशूकर—(जंगली सूअर), लोमड़ा, चित्ता, चिल्लडक नामक एक जंगली जीव विशेष और साँप आदि मार्ग में खड़े या बैठे हैं, ऐसी स्थिति में दूसरा मार्ग हो तो उस मार्ग से जाए, किन्तु उस सीधे (जीव-जन्तुओं वाले) मार्ग से न जाए।

३५५. साधु-साध्वी भिक्षा के लिए जा रहे हों, मार्ग में बीच में यदि गड्ढा हो, खूंटा हो या ठूंठ पड़ा हो, कांटे हों, उतराई की भूमि हो, फटी हुयी काली जमीन हो, ऊँची-नीची भूमि हो, या कीचड़ अथवा दलदल पड़ता हो, (ऐसी स्थिति में) दूसरा मार्ग हो तो संयमी

साधु स्वयं उसी मार्ग से जाए, किन्तु जो (गड्ढे आदि वाला विषम, किन्तु) सीधा मार्ग है, उससे न जाए।

३५६. साधु या साध्वी गृहस्थ के घर का द्वार भाग कांटों की शाखा से ढँका हुआ देखकर जिसका वह घर, उससे पहले अवग्रह (अनुमति) मांगे बिना, उसे अपनी आँखों से देखे बिना और रजोहरणादि से प्रमार्जित किए बिना न खोले, न प्रवेश करे और न उसमें से (होकर) निकले, किन्तु जिसका घर है, उससे पहले अवग्रह (अनुमति) मांग कर अपनी आँखों से देखकर और रजोहरणादि से प्रमार्जित करके उसे खोले, उसमें प्रवेश करे और उसमें से निकले।

विवेचन - बचने वाले मार्गों से आहारार्थ-गमन न करे—सूत्र ३५३ से सूत्र ३५६ तक शास्त्रकार ने उन मार्गों का उल्लेख किया है, जो संयम, आत्मा और शरीर को हानि पहुँचा सकते हैं। ऐसे चार प्रकार के मार्गों का नाम-निर्देश इस प्रकार किया है—(१) ऊँचा भू-भाग, खाई, कोट, बाहर के द्वार, आगल, अर्गलापाशक आदि रास्ते में पड़ते हों, (२) मतवाला सांड, भैंसा, दुष्ट मनुष्य, घोड़ा, हाथी, सिंह, बाघ, भेड़िया, चीता, रीछ, व्याघ्र (हिंसक पशु)—अष्टापद, गीदड़, वनबिलाव, कुत्ता, जंगली सूअर, लोमड़ी, सांप आदि खतरनाक प्राणी मार्ग में बैठे या खड़े हों (३) मार्ग के बीच में गड्ढा, ठूंठ, कांटे, उतार वाली भूमि, फटी हुई जमीन, ऊबड़-खाबड़ जमीन, कीचड़ या दलदल पड़ता हो, तथा (४) गृहस्थ के घर का द्वार कांटों की बाड़ आदि से अवरुद्ध हो तो उस मार्ग या उस घर को छोड़ दे, दूसरा मार्ग साफ और ऐसे खतरों से रहित हो तो उस मार्ग से जाए; दूसरा घर, जो खुला हो, उसमें प्रवेश करे। दशवैकालिक सूत्र में भी इसी प्रकार का वर्णन किया गया है।[1]

खतरों वाले मार्ग से जाने से क्या-क्या हानियाँ हैं, उसका स्पष्ट उल्लेख शास्त्रकार ने स्वयं किया है। जिस घर का द्वार कांटों से अवरुद्ध कर रखा हो, उसमें बिना-अनुमति के,

१. (क) ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए।
संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥४॥
पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥५॥
तम्हा तेण न गच्छेज्जा, संजए सुसमाहिए।
सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥६॥
साणं सूइयं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥१२॥ —दशवै० अ० ५/उ० १

(ख) यहाँ एक अपवाद भी बताया है—'सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे' यदि अन्य मार्ग न हो तो इन विषम मार्गों से सावधानी व यतनापूर्वक जा सकता है जिससे आत्म-विराधना और संयम-विराधना न हो। 'जति अण्णो मग्गो णत्थि ता तेण वि य पहेण गच्छेज्जा जहा आयसंजम विराहणा ण भवइ।' —जिनदास चूर्णि पृ० १६६।

तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुण्णविय अपडिलेहिय अप्पमज्जिय णो अवंगुणेज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा। तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुण्णविय पडिलेहिय पमज्जिय ततो संजयामेव अवंगुणेज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।

३५३ वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के यहाँ आहारार्थ जाते समय रास्ते के बीच में ऊँचे भूभाग या खेत की क्यारियाँ हों या खाइयाँ हों, अथवा बांस की टाटी हो, या कोट हो, बाहर के द्वार (बंद) हों, आगल हों, अर्गला-पाशक हों तो उन्हें जानकर दूसरा मार्ग हो तो संयमी साधु उसी मार्ग से जाए, उस सीधे मार्ग से न जाए; क्योंकि केवली भगवान् कहते हैं—यह कर्मबन्ध का मार्ग है।

उस विषम-मार्ग से जाते हुए भिक्षु (का पैर) फिसल जाएगा या (शरीर) डिग जाएगा, अथवा गिर जएगा। फिसलने, डिगने या गिरने पर उस भिक्षु का शरीर मल, मूत्र, कफ, लीट, वमन, पित्त, मवाद, शुक्र (वीर्य) और रक्त से लिपट सकता है। अगर कभी ऐसा हो जाए तो वह भिक्षु मल-मूत्रादि से उपलिप्त शरीर को सचित्त पृथ्वी—स्निग्ध पृथ्वी से, सचित्त चिकनी मिट्टी से, सचित्त शिलाओं से, सचित्त पत्थर या ढेले से, या घुन लगे हुए काष्ठ से, जीवयुक्त काष्ठ से, एवं अण्डे या प्राणी या जालों आदि से युक्त काष्ठ आदि से अपने शरीर को न एक बार साफ करे और न अनेक बार घिस कर साफ करे। न एक बार रगड़े या घिसे और न बार-बार घिसे, उबटन आदि की तरह मले नहीं, न ही उबटन की भाँति लगाए। एक बार या अनेक बार धूप में सुखाए नहीं।

वह भिक्षु पहले सचित्त-रज आदि से रहित तृण, पत्ता, काष्ठ, कंकर आदि की याचना करे। याचना से प्राप्त करके एकान्त स्थान में जाए। वहाँ अग्नि आदि के संयोग से जलकर जो भूमि अचित्त हो गयी है, उस भूमि की या अन्यत्र उसी प्रकार की भूमि का प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करके यत्नाचारपूर्वक संयमी साधु स्वयमेव अपने—(मल-मूत्रादिलिप्त) शरीर को पोंछे, मले, घिसे यावत् धूप में एक बार व बार-बार सुखाए और शुद्ध करे।

३५४. वह साधु या साध्वी जिस मार्ग से भिक्षा के लिए जा रहे हों, यदि वे यह जानें कि मार्ग में सामने मदोन्मत्त सांड है, या मतवाला भैंसा खड़ा है, इसी प्रकार दुष्ट मनुष्य, घोड़ा हाथी, सिंह, बाघ, भेड़िया, चीता, रीछ, व्याघ्र विशेष—(तरच्छ), अष्टापद, सियार, बिल्ला (वनबिलाव), कुत्ता, महाशूकर—(जंगली सूअर), लोमड़ी, चित्ता, चिल्लडक नामक एक जंगली जीव विशेष और सांप आदि मार्ग में खड़े या बैठे हैं, ऐसी स्थिति में दूसरा मार्ग हो तो उस मार्ग से जाए, किन्तु उस सीधे (जीव-जन्तुओं वाले) मार्ग से न जाए।

३५५ साधु-साध्वी भिक्षा के लिए जा रहे हों, मार्ग में बीच में यदि गड्ढा हो, ठूंठ हो या कांटे हों, उतराई की भूमि हो, फटी हुयी काली जमीन हो, ऊँची-नीची भूमि हो या कीचड़ अथवा दलदल पड़ता हो, (ऐसी स्थिति में) दूसरा मार्ग हो तो संयमी

तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुण्णविय अपडिलेहिय अपमज्जिय णो अवंगुणेज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा। तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुण्णविय पडिलेहिय पमज्जिय ततो संजयामेव अवंगुणेज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।

३५३ वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के यहाँ आहारार्थ जाते समय रास्ते के बीच में ऊँचे भूभाग या खेत की क्यारियाँ हों या खाइयाँ हों, अथवा बांस की टाटी हो, या कोट हो, बाहर के द्वार (बंद) हों, आगल हों, अर्गला-पाशक हों तो उन्हें जानकर दूसरा मार्ग हो तो संयमी साधु उसी मार्ग से जाए, उस सीधे मार्ग से न जाए; क्योंकि केवली भगवान् कहते हैं—यह कर्मबन्ध का मार्ग है।

उस विषम-मार्ग से जाते हुए भिक्षु (का पैर) फिसल जाएगा या (शरीर) डिग जाएगा, अथवा गिर जाएगा। फिसलने, डिगने या गिरने पर उस भिक्षु का शरीर मल, मूत्र, कफ, लींट, वमन, पित्त, मवाद, शुक्र (वीर्य) और रक्त से लिपट सकता है। अगर कभी ऐसा हो जाए तो वह भिक्षु मल-मूत्रादि से उपलिप्त शरीर को सचित्त पृथ्वी—स्निग्ध पृथ्वी से, सचित्त चिकनी मिट्टी से, सचित्त शिलाओं से, सचित्त पत्थर या ढेले से, या घुन लगे हुए काठ से, जीवयुक्त काष्ठ से, एवं अण्डे या प्राणी या जालों आदि से युक्त काष्ठ आदि से अपने शरीर को न एक बार साफ करे और न अनेक बार घिस कर साफ करे। न एक बार रगड़े या घिसे और न बार-बार घिसे, उबटन आदि की तरह मले नहीं, न ही उबटन की भाँति लगाए। एक बार या अनेक बार धूप में सुखाए नहीं।

वह भिक्षु पहले सचित्त-रज आदि से रहित तृण, पत्ता, काष्ठ, कंकर आदि की याचना करे। याचना से प्राप्त करके एकान्त स्थान में जाए। वहाँ अग्नि आदि के संयोग से जलकर जो भूमि अचित्त हो गयी है, उस भूमि की या अन्यत्र उसी प्रकार की भूमि का प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करके यत्नाचारपूर्वक संयमी साधु स्वयमेव अपने—(मल-मूत्रादिलिप्त) शरीर को पोंछे, मले, घिसे यावत् धूप में एक बार व बार-बार सुखाए और शुद्ध करे।

३५४. वह साधु या साध्वी जिस मार्ग से भिक्षा के लिए जा रहे हों, यदि वे यह जानें कि मार्ग में सामने मदोन्मत्त साड है, या मतवाला भैंसा खड़ा है, इसी प्रकार दुष्ट मनुष्य, घोड़ा, हाथी, सिंह, बाघ, भेड़िया, चीता, रीछ, व्याघ्र विशेष—(तरच्छ), अष्टापद, सियार बिल्ला (वनबिलाव), कुत्ता, महाशूकर—(जंगली सूअर), लोमड़ा, चित्ता, चिल्लडक नामक एक जंगली जीव विशेष और साँप आदि मार्ग में खड़े या बैठे हैं, ऐसी स्थिति में दूसरा मार्ग हो तो उस मार्ग से जाए, किन्तु उस सीधे (जीव-जन्तुओं वाले) मार्ग से न जाए।

३५५. साधु-साध्वी भिक्षा के लिए जा रहे हों, मार्ग में बीच में यदि गड्ढा हो, खूंटा हो या ठूंठ पड़ा हो, कांटे हों, उतराई की भूमि हो, फटी हुयी काली जमीन हो, ऊँची-नीची भूमि हो, या कीचड़ अथवा दलदल पड़ता हो, (ऐसी स्थिति में) दूसरा मार्ग हो तो संयमी

साधु स्वयं उसी मार्ग से जाए, किन्तु जो (गड्ढे आदि वाला विषम, किन्तु) सीधा मार्ग है, उससे न जाए।

३५६. साधु या साध्वी गृहस्थ के घर का द्वार भाग कांटों की शाखा से ढंका हुआ देखकर जिनका वह घर, उनसे पहले अवग्रह (अनुमति) मांगे बिना, उसे अपनी आंखों से देखे बिना और रजोहरणादि से प्रमार्जित किए बिना न खोले, न प्रवेश करे और न उसमें से (होकर) निकले, किन्तु जिनका घर है, उनसे पहले अवग्रह (अनुमति) मांग कर अपनी आंखों से देखकर और रजोहरणादि से प्रमार्जित करके उसे खोले, उसमें प्रवेश करे और उसमें से निकले।

विवेचन—खतरे वाले मार्गों से आहारार्थ गमन न करे—सूत्र ३५३ से सूत्र ३५६ तक शास्त्रकार ने उन मार्गों का उल्लेख किया है, जो संयम, आत्मा और शरीर को हानि पहुंचा सकते हैं। ऐसे चार प्रकार के मार्गों का नाम-निर्देश इस प्रकार किया है—(१) ऊंचा भू-भाग, खाई, कोट, बाहर के द्वार, आगल, अर्गलापाशक आदि रास्ते में पड़ते हों, (२) मतवाला सांड, भैंसा, दुष्ट मनुष्य, घोड़ा, हाथी, सिंह, बाघ, भेड़िया, चीता, रीछ, श्वापद (हिंसक पशु)—अष्टापद, सियार, वनबिलाव, कुत्ता, जंगली सूअर, लोमड़ी, सांप आदि खतरनाक प्राणी मार्ग में बैठे या खड़े हों (३) मार्ग के बीच में गड्ढा, ठूंठ, कांटे, उतार वाली भूमि, फटी हुई जमीन, ऊबड़-खाबड़ जमीन, कीचड़ या दलदल पड़ता हो, तथा (४) गृहस्थ के घर का द्वार कांटों की बाड़ आदि से अवरुद्ध हो तो उस मार्ग या उस घर को छोड़ दे, दूसरा मार्ग साफ और ऐसे खतरों से रहित हो तो उस मार्ग से जाए; दूसरा घर, जो खुला हो, उसमें प्रवेश करे। दशवैकालिक सूत्र में भी इसी प्रकार का वर्णन किया गया है।[1]

खतरों वाले मार्ग से जाने से क्या-क्या हानियां हैं, उनका स्पष्ट उल्लेख शास्त्रकार ने स्वयं किया है। जिस घर का द्वार कांटों से अवरुद्ध कर रखा हो, उसमें बिना-अनुमति के,

१. (क) ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए।
संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥४॥
पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥५॥
तम्हा तेण न गच्छेज्जा, संजए सुसमाहिए।
सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥६॥
साणं सूइयं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥१२॥ —दशवै० अ० ५/उ०१

(ख) यहां एक अपवाद भी बताया है—'सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे' यदि अन्य मार्ग न हो तो इन विषम मार्गों से सावधानी व यतनापूर्वक जा सकता है जिससे आत्म-विराधना और संयम-विराधना न हो। 'जति अण्णो मग्गो नत्थि ता तेण वि य पहेण गच्छेज्जा जहा आयसंजम विराहणा ण भवइ।' —जिनदास चूर्णि पृ० १६८।

तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुण्णविय अपडिलेहिय अप्पमज्जिय णो अवंगुणेज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा। तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुण्णविय पडिलेहिय पमज्जिय ततो संजयामेव अवंगुणेज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।

३५३ वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के यहाँ आहारार्थ जाते समय रास्ते के बीच में ऊँचे भूभाग या खेत की क्यारियाँ हों या खाइयाँ हों, अथवा बांस की टाटी हो, या कोट हो, बाहर के द्वार (बंद) हों, आगल हों, अर्गला-पाशक हों तो उन्हें जानकर दूसरा मार्ग हो तो संयमी साधु उसी मार्ग से जाए, उस सीधे मार्ग से न जाए; क्योंकि केवली भगवान् कहते हैं—यह कर्मबन्ध का मार्ग है।

उस विषम-मार्ग से जाते हुए भिक्षु (का पैर) फिसल जाएगा या (शरीर) डिग जाएगा, अथवा गिर जाएगा। फिसलने, डिगने या गिरने पर उस भिक्षु का शरीर मल, मूत्र, कफ, लींट, वमन, पित्त, मवाद, शुक्र (वीर्य) और रक्त से लिपट सकता है। अगर कभी ऐसा हो जाए तो वह भिक्षु मल-मूत्रादि से उपलिप्त शरीर को सचित्त पृथ्वी—स्निग्ध पृथ्वी से, सचित्त चिकनी मिट्टी से, सचित्त शिलाओं से, सचित्त पत्थर या ढेले से, या घुन लगे हुए काष्ठ से, जीवयुक्त काष्ठ से, एवं अण्डे या प्राणी या जालों आदि से युक्त काष्ठ आदि से अपने शरीर को न एक बार साफ करे और न अनेक बार घिस कर साफ करे। न एक बार रगड़े या घिसे और न बार-बार घिसे, उबटन आदि की तरह मले नहीं, न ही उबटन की भाँति लगाए। एक बार या अनेक बार धूप में सुखाए नहीं।

वह भिक्षु पहले सचित्त-रज आदि से रहित तृण, पत्ता, काष्ठ, कंकर आदि की याचना करे। याचना से प्राप्त करके एकान्त स्थान में जाए। वहाँ अग्नि आदि के संयोग से जलकर जो भूमि अचित्त हो गयी है, उस भूमि की या अन्यत्र उसी प्रकार की भूमि का प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करके यतनाचारपूर्वक संयमी साधु स्वयमेव अपने—(मल-मूत्रादिलिप्त) शरीर को पोंछे, मले, घिसे यावत् धूप में एक बार व बार-बार सुखाए और शुद्ध करे।

३५४. वह साधु या साध्वी जिस मार्ग से भिक्षा के लिए जा रहे हों, यदि वे यह जानें कि मार्ग में सामने मदोन्मत्त सांड है, या मतवाला भैंसा खड़ा है, इसी प्रकार दुष्ट मनुष्य, घोड़ा, हाथी, सिंह, बाघ, भेड़िया, चीता, रीछ, व्याघ्र विशेष—(तरच्छ), अष्टापद, सियार, बिल्ला (वनबिलाव), कुत्ता, महाशूकर—(जंगली सूअर), लोमड़ी, चित्ता, चिल्लडक नामक सर्पवत् जीव विशेष और साँप आदि मार्ग में खड़े या बैठे हैं, ऐसी स्थिति में दूसरा मार्ग हो तो उस मार्ग से जाए, किन्तु उस सीधे (जीव-जन्तुओं वाले) मार्ग से न जाए।

३५५ साधु-साध्वी भिक्षा के लिए जा रहे हों, मार्ग में बीच में यदि गड्ढा हो, ठूंठ हो या कांटे हों, ढलान की भूमि हो, फटी हुयी काली जमीन हो, ऊँची-नीची भूमि हो, या कीचड़ अथवा दलदल पड़ता हो, (ऐसी स्थिति में) दूसरा मार्ग हो तो संयमी

तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुण्णविय अपडिलेहिय अप्पमज्जिय णो अवंगुणेज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा। तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुण्णविय पडिलेहिय पमज्जिय ततो संजयामेव अवंगुणेज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।

३५३ वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के यहाँ आहारार्थ जाते समय रास्ते के बीच में ऊँचे भूभाग या खेत की क्यारियाँ हों या खाइयाँ हों, अथवा बांस की टाटी हो, या कोट हो, बाहर के द्वार (बंद) हों, आगल हों, अर्गला-पाशक हों तो उन्हें जानकर दूसरा मार्ग हो तो संयमी साधु उसी मार्ग से जाए, उस सीधे मार्ग से न जाए; क्योंकि केवली भगवान् कहते हैं—यह कर्मबन्ध का मार्ग है।

उस विषम-मार्ग से जाते हुए भिक्षु (का पैर) फिसल जाएगा या (शरीर) डिग जाएगा अथवा गिर जाएगा। फिसलने, डिगने या गिरने पर उस भिक्षु का शरीर मल, मूत्र, कफ, लीट, वमन, पित्त, मवाद, शुक्र (वीर्य) और रक्त से लिपट सकता है। अगर कभी ऐसा हो जाए तो वह भिक्षु मल-मूत्रादि से उपलिप्त शरीर को सचित्त पृथ्वी—स्निग्ध पृथ्वी से, सचित्त चिकनी मिट्टी से, सचित्त शिलाओं से, सचित्त पत्थर या ढेले से, या घुन लगे हुए काठ से, जीवयुक्त काष्ठ से, एवं अण्डे या प्राणी या जालों आदि से युक्त काष्ठ आदि से अपने शरीर को न एक बार साफ करे और न अनेक बार घिस कर साफ करे। न एक बार रगड़े या घिसे और न बार-बार घिसे, उबटन आदि की तरह मले नहीं, न ही उबटन की भाँति लगाए। एक बार या अनेक बार धूप में सुखाए नहीं।

वह भिक्षु पहले सचित्त-रज आदि से रहित तृण, पत्ता, काष्ठ, कंकर आदि की याचना करे। याचना से प्राप्त करके एकान्त स्थान में जाए। वहाँ अग्नि आदि के संयोग से जल कर जो भूमि अचित्त हो गयी है, उस भूमि की या अन्यत्र उसी प्रकार की भूमि का प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करके यत्नाचारपूर्वक संयमी साधु स्वयमेव अपने—(मल-मूत्रादिलिप्त) शरीर को पोंछे, मले, घिसे यावत् धूप में एक बार व बार-बार सुखाए और शुद्ध करे।

३५४. वह साधु या साध्वी जिस मार्ग से भिक्षा के लिए जा रहे हों, यदि वे यह जानें कि मार्ग में सामने मदोन्मत्त सांड है, या मतवाला भैंसा खड़ा है, इसी प्रकार दुष्ट मनुष्य, घोड़ा, हाथी, सिंह, बाघ, भेड़िया, चीता, रीछ, व्याघ्र विशेष—(तरच्छ), अष्टापद, सियार, बिल्ला (वनबिलाव), कुत्ता, महाशूकर—(जंगली सूअर), लोमड़ा, चित्ता, चिल्लडक नामक एक जंगली जीव विशेष और साँप आदि मार्ग में खड़े या बैठे हैं, ऐसी स्थिति में दूसरा मार्ग हो तो उस मार्ग से जाए, किन्तु उस सीधे (जीव-जन्तुओं वाले) मार्ग से न जाए।

३५५. साधु-साध्वी भिक्षा के लिए जा रहे हों, मार्ग में बीच में यदि गड्ढा हो, खूंटे हों या ठूंठ पड़ा हो, कांटे हों, उतराई की भूमि हो, फटी हुयी काली जमीन हो, ऊँची-नीची भूमि हो, या कीचड़ अथवा दलदल पड़ता हो, (ऐसी स्थिति में) दूसरा मार्ग हो तो संयमी

साधु स्वयं उसी मार्ग से जाए, किन्तु जो (गड्ढे आदि वाला विषम, किन्तु) सीधा मार्ग है, उससे न जाए।

३५६. साधु या साध्वी गृहस्थ के घर का द्वार भाग कांटों की शाखा से ढंका हुआ देखकर जिनका वह घर, उनसे पहले अवग्रह (अनुमति) मांगे बिना, उसे अपनी आंखों से देखे बिना और रजोहरणादि से प्रमार्जित किए बिना न खोले, न प्रवेश करे और न उसमें से (होकर) निकले; किन्तु जिनका घर है, उनसे पहले अवग्रह (अनुमति) मांग कर अपनी आंखों से देखकर और रजोहरणादि से प्रमार्जित करके उसे खोले, उसमें प्रवेश करे और उसमें से निकले।

विवेचन—खतरे वाले मार्गों से आहारार्थ गमन न करे—सूत्र ३५३ से सूत्र ३५६ तक शास्त्रकार ने उन मार्गों का उल्लेख किया है, जो संयम, आत्मा और शरीर को हानि पहुँचा सकते हैं। ऐसे चार प्रकार के मार्गों का नाम-निर्देश इस प्रकार किया है—(१) ऊंचा भू-भाग, खाई, कोट, बाहर के द्वार, आगल, अर्गलापाशक आदि रास्ते में पड़ते हों, (२) मतवाला सांड, भैंसा, दुष्ट मनुष्य, घोड़ा, हाथी, सिंह, बाघ, भेड़िया, चीता रीछ, श्वापद (हिंसक पशु)—अष्टापद, गीदड़, वनबिलाव, कुत्ता, जंगली सूअर, लोमड़ा, सांप आदि खतरनाक प्राणी मार्ग में बैठे या खड़े हों (३) मार्ग के बीच में गड्ढा, ठूंठ, कांटे, उतार वाली भूमि, फटी हुई जमीन, ऊबड़-खाबड़ जमीन, कीचड़ या दलदल पड़ता हो, तथा (४) गृहस्थ के घर का द्वार कांटों की बाड़ आदि से अवरुद्ध हो तो उस मार्ग या उस घर को छोड़ दे, दूसरा मार्ग साफ और ऐसे खतरों से रहित हो तो उस मार्ग से जाए; दूसरा घर, जो खुला हो, उसमें प्रवेश करे। दशवैकालिक सूत्र में भी इसी प्रकार का वर्णन किया गया है।[1]

खतरों वाले मार्ग से जाने से क्या-क्या हानियाँ हैं, उनका स्पष्ट उल्लेख शास्त्रकार ने स्वयं किया है। जिस घर का द्वार कांटों से अवरुद्ध कर रखा हो, उसमें बिना-अनुमति के,

---

१. (क) ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए।
संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥४॥
पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥५॥
तम्हा तेण न गच्छेज्जा, संजए सुसमाहिए।
सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥६॥
साणं सूइयं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥१२॥ —दशवै० अ० ५/उ०१

(ख) यहाँ एक अपवाद भी बताया है—'सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे' यदि अन्य मार्ग न हो तो इन विषम मार्गों से सावधानी व यतनापूर्वक जा सकता है जिससे आत्म-विराधना और संयम-विराधना न हो। 'जति अण्णो मग्गो नत्थि ता तेण वि य पहेण गच्छेज्जा जहा आयसंजम विराहणा न भवइ।' —जिनदास चूर्णि पृ० १६६।

पूर्व प्रविष्ट श्रमण माहनादि की उपस्थिति में भिक्षा विधि

३५७. से भिक्खू वा २ जाव[1] समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा, समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए णो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा ।

केवली[2] बूया – आयाणमेयं । पुरा पेहा एतस्सट्ठाए परो असणं[3] वा ४ आहट्टु दलएज्जा । अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा एस पतिण्णा, एस हेतु, एस उवएसे – जं णो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा ।

से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, २ [त्ता] अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा । से से परो अणावायमसंलोए चिट्ठमाणस्स असणं वा ४ आहट्टु दलएज्जा, से सेवं वदेज्जा--आउसंतो समणा ! इमे भे असणे वा ४ सव्वजणाए णिसट्ठे, तं भुंजह व णं परिभाएह[4] व णं ।

तं चेगतिओ पडिगाहेत्ता तुसिणीओ उवेहेज्जा-अवियाइं एयं ममामेव सिया । माइट्ठाणं संफासे । णो एवं करेज्जा ।

से त्तमायाए तत्थ गच्छेज्जा,[5] २ [त्ता] से पुव्वामेव आलोएज्जा आउसंतो समणा ! इमे भे असणे वा ४ सव्वजणाए णिसट्ठे । तं भुंजह व णं परियाभाएह व णं ।

से णमेवं वदंतं परो वदेज्जा-आउसंतो समणा ! तुमं चेव णं परिभाएहि ।

से तत्थ परिभाएमाणे णो अप्पणो खद्धं २[6] डायं २ ऊसढं २ रसियं २ मणुण्णं २ णिद्धं २ लुक्खं २ । से तत्थ अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अणज्झोववण्णे बहुसममेव परिभाएज्जा ।[7]

से णं परिभाएमाणं परो वदेज्जा-आउसंतो समणा ! मा णं तुमं परिभाएहि, सव्वे वेगतिया[8] भोक्खामो वा पाहामो वा ।

से तत्थ भुंजमाणे णो अप्पणो खद्धं खद्धं जाव लुक्खं । से तत्थ अमुच्छिए ४ बहुसममेव भुंजेज्ज वा पाएज्ज वा ।

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र ३२४ के अन्तर्गत समग्र पाठ का सूचक है ।
२. यह पाठ वृत्ति आदि कई प्रतियों में नहीं है ।
३. जहाँ '४' का चिन्ह हो वहाँ वह शेष तीनों आहारों का सूचक है ।
४. इसके स्थान पर पाठान्तर है—परियाभाएह, परि (व) भाभाएह आदि । अर्थ समान है ।
५. गच्छेज्जा के बाद '२' का चिन्ह गच्छ धातु की पूर्वकालिक क्रिया-पद 'गच्छित्ता' का बोधक है ।
६. यहाँ से लुक्खं तक जो '२' का चिन्ह है, वह प्रत्येक शब्द से संयुक्त है, वह हरेक शब्द की पुनरावृत्ति का सूचक है ।
७. इसके स्थान पर पाठान्तर है—'सम एव परियाभाएज्जा' से णं परियाभाएज्जा परिभाएज्जा से णं' अर्थात् वह उन्हें सम विभाग करे ।
८. इसके स्थान पर पाठान्तर मिलता है—'वेगओ ठिया भोक्खामो—एक [illegible] भोजन करें ।

से भिक्खू वा[1] २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा, समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं
तिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए णो ते उवातिक्कम्म पविसेज्ज वा ओभासेज्ज वा। से त्तमायाए
वक्कमेज्जा, २[2] [त्ता] अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा।
अह पुणेवं जाणेज्जा पडिसेहिए[3] व दिण्णे वा, तओ तम्मि णिवट्टिते[4] संजयामेव पवि-
वा ओभासेज्ज वा।

३५७. वह भिक्षु या—भिक्षुणी भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करते समय यदि
नें कि बहुत-से शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, (ग्राम-पिण्डोलक), दरिद्र, अतिथि और याचक
उस गृहस्थ के यहाँ पहले से ही प्रवेश किए हुए हैं, तो उन्हें देखकर उनके (दृष्टि पथ में
इस तरह से) सामने या जिस द्वार से वे निकलते हैं, उस द्वार पर खड़ा न हो।
केवली भगवान् कहते हैं—यह कर्मों का उपादान—कारण है।
पहली ही दृष्टि में गृहस्थ उस मुनि को वहाँ (द्वार पर) खड़ा देखकर उसके लिए
-समारम्भ करके अशनादि चतुर्विध आहार बनाकर, उसे लाकर देगा। अतः भिक्षुओं
पहले से ही निर्दिष्ट यह प्रतिज्ञा है, यह हेतु है, यह उपदेश है कि वह भिक्षु उस गृहस्थ
शाक्यादि भिक्षाचरों की दृष्टि में आए, इस तरह सामने और उनके निर्गमन द्वार पर
हो।
यह (उन श्रमणादि को भिक्षार्थ उपस्थित) जान कर एकान्त स्थान में चला जाए,
कर कोई आता-जाता न हो और देखता न हो, इस प्रकार से खड़ा रहे।
उस भिक्षु को उस अनापात और असंलोक स्थान में खड़ा देखकर वह गृहस्थ अशनादि
—लाकर दे, साथ ही वह यों कहे—"आयुष्मान् श्रमण! यह अशनादि चतुर्विध आहार
सब (निर्ग्रन्थ—शाक्यादि श्रमण आदि उपस्थित) जनों के लिए दे रहा हूँ। आप अपनी
अनगार इस आहार का उपभोग करें और परस्पर बाँट लें।"
इस पर यदि वह साधु उस आहार को चुपचाप लेकर यह विचार करता है कि, 'यह
(गृहस्थ ने) मुझे दिया है, इसलिए मेरे ही लिए है"; तो वह माया-स्थान का सेवन
है। अतः उसे ऐसा नहीं करना चाहिए।
वह साधु उस आहार को लेकर वहाँ (उन शाक्यादि श्रमण आदि के पास) जाए, और
कर सर्वप्रथम उन्हें वह आहार दिखाए, और यह कहे—"हे आयुष्मान् श्रमणादि!

---

1. भिक्खू वा के बाद '२' का अंक 'भिक्खुणी वा' का सूचक है।
2. वक्कमेज्जा के बाद '२' का अंक 'अवक्कमित्ता' पद का सूचक है।
3. ... तुलना—
 पडिसेहिए व दिण्णे वा, तओ तम्मि नियत्तिए।
 उवसंकमेज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए॥ —दशवै० ५/२/१३
4. ... के स्थान पर ... है—'णियट्टिए, तओ संजया,' अर्थ एक समान है।

यह अशनादि चतुर्विध आहार गृहस्थ (दाता) ने हम सबके लिए—(अविभक्त ही) दिया है। अतः आप सब इसका उपभोग करें और परस्पर विभाजन कर लें।"

ऐसा कहने पर यदि कोई शाक्यादि भिक्षु उस साधु से कहे कि—"आयुष्मन् श्रमण! आप ही इसे हम सबको बाट दें। (पहले तो वह साधु इसे टालने का प्रयत्न करे)। (विशेष कारणवश ऐसा करना पड़े तो, सब लोगों में) उस आहार का विभाजन करता हुआ वह साधु अपने लिए जल्दी-जल्दी अच्छा-अच्छा प्रचुर मात्रा में वर्णादिगुणों से युक्त सरस साग, स्वादिष्ट-स्वादिष्ट, मनोज्ञ-मनोज्ञ, स्निग्ध-स्निग्ध आहार और उनके लिए रूखा-सूखा आहार न रखे, अपितु उस आहार में अमूर्च्छित, अगृद्ध, निरपेक्ष एवं अनासक्त होकर सबके लिए एकदम समान विभाग करे।

यदि सम-विभाग करते हुए उस साधु को कोई शाक्यादि भिक्षु यों कहे कि—"आयुष्मन् श्रमण! आप विभाग मत करें। हम सब एकत्रित—(सम्मिलित) होकर यह आहार खा-पी लेंगे।"

(ऐसी विशेष परिस्थिति में) वह उन—पार्श्वस्थादि स्वतीर्थिकों) के साथ आहार करता हुआ अपने लिए प्रचुर मात्रा में सुन्दर, सरस आदि आहार और दूसरों के लिए रूखा-सूखा, (ऐसी स्वार्थी-नीति न रखे); अपितु उस आहार में वह अमूर्च्छित, अगृद्ध, निरपेक्ष और अनासक्त होकर बिलकुल सम मात्रा में ही खाए-पिए।

वह भिक्षु या भिक्षुणी भिक्षा के लिए गृहस्थ के यहाँ प्रवेश करने से पूर्व यदि यह जाने कि वहाँ शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, ग्रामपिण्डोलक या अतिथि आदि पहले से प्रविष्ट हैं, तो यह देख वह उन्हें लाँघ कर उस गृहस्थ के घर में न तो प्रवेश करे और न ही दाता से आहारादि की याचना करे। परन्तु उन्हें देखकर वह एकान्त स्थान में चला जाए, वहाँ जाकर कोई न आए-जाए, तथा न देखे, इस प्रकार से खड़ा रहे।

जब वह यह जान ले कि गृहस्थ ने श्रमणादि को आहार देने से इन्कार कर दिया है, अथवा उन्हें दे दिया है और वे उस घर से निपटा दिये गये हैं, तब संयमी साधु स्वयं उस गृहस्थ के घर में प्रवेश करे, अथवा आहारादि की याचना करे।

विवेचन—दूसरे भिक्षाजीवियों के प्रति निर्ग्रन्थ भिक्षु की समभावी नीति :—प्रस्तुत सूत्र में निर्ग्रन्थ भिक्षु की दूसरे भिक्षाचरों के साथ ५ परिस्थितियों में व्यवहार की समभावी नीतियों का निर्देश किया गया है—

(१) श्रमणादि पहले से गृहस्थ के यहाँ जमा हों तो वह उसके यहाँ प्रवेश न करे, बल्कि एकान्त स्थान में जाकर खड़ा हो जाए।

(२) यदि गृहस्थ वहाँ आकर सबके लिए इकट्ठी आहार-सामग्री देकर परस्पर बाँट कर खाने का अनुरोध करे तो उसका हकदार स्वयं को ही न मान ले, अपितु निश्छल भाव से उन श्रमणादि को वह आहार सौंपकर उन्हें बाँट देने का अनुरोध करे।

(३) यदि वे वह कार्य निर्ग्रन्थ भिक्षु को ही सौंपें तो वह समभावपूर्वक वितरण करे।

(४) यदि वे श्रमणादि उस आहार-सामग्री का सम्मिलित उपयोग करने का अनुरोध करें तो स्वयं ही सरस, स्वादिष्ट आहार पर हाथ साफ न करे, सबके लिए रखे।

(५) वह श्रमणादि भिक्षाचरों को गृहस्थ के यहाँ पूर्व-प्रविष्ट देखकर उन्हें लांघकर न प्रवेश करे और न आहार-याचना करे, अपितु उनके वहाँ से निवृत्त होने के बाद ही वह प्रवेश करे व आहार-याचना करे।[1]

इन पाँचों परिस्थितियों में शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ साधु को समभाव की नीति, सयम रक्षा साधुता, निश्छलता के अनुकूल अपने आप को ढाल लेने का निर्देश किया है। इन पाँचों परिस्थितियों में साधु के लिए—विधि-निषेध के निर्देशों को देखते हुए स्पष्ट ध्वनित होता है कि जैन-साधु नियमों की जड़ता में अपने आपको नहीं जकड़ता, वह देश, काल, परिस्थिति, पात्रता और क्षमता के अनुरूप अपने आप को ढाल सकता है। इससे यह भी स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि दूसरे भिक्षाचरों को देखकर वह उनकी सुख-सुविधाओं एवं अपेक्षाओं का भी ध्यान रखे, सामूहिक आहार-सामग्री मिलने पर वह उनसे घृणा-विद्वेषपूर्वक नाक-भौं सिकोड़ कर चुपचाप अपने आप को अकेला ही उस सामग्री का हकदार न माने, बल्कि उन भिक्षाचरों के पास जाकर सारी परिस्थिति निश्छल भाव से स्पष्ट करे, विभाजन का अस्वीकार और उसमें पक्षपात न करे, न ही सहभोजन के प्रस्ताव पर उससे विमुख हो।[2]

वृत्तिकार निर्ग्रन्थ साधु के इस व्यवहार का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—"इस प्रकार का—(सब का साझा) आहार उत्सर्गरूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए, दुर्भिक्ष, मार्ग चलने की थकान, रुग्णता आदि के कारण अपवाद रूप में वह आहार ग्रहण करे।"

"...किन्तु हम सब एकत्र स्थिर होकर खाएंगे-पीएंगे, (शाक्यादि-भिक्षुओं के इस प्रस्ताव पर)"'पर-तीर्थिकों के साथ नहीं खाना-पीना चाहिए, स्व-यूथ्यों, पार्श्वस्थ आदि, और साम्भोगिक साधुओं के साथ उन्हें आलोचना देकर आहार पानी सम्मिलित करना चाहिए।[3]

---

१ तुलना करिये—समणं माहणं वा वि, किविणं वा वणीमगं।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१०॥
तं अइक्कमित्तु न पविसे, न चिट्ठे चक्खु-गोयरे।
एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठेज्ज संजए ॥११॥
वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा।
अपत्तियं सिया होज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा ॥१२॥
पडिसेहिए व दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए।
उवसंकमेज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१३॥ —दशवै० अ० ५/२-१३

२. आचारांग मूल पाठ तथा टीका पत्र ३३१ के आधार पर।

३. (क) टीका पत्र ३३१।

(ख) टीकाकार ने इस विधि को साधु का सामान्य आचार नहीं माना है, विशेष परिस्थितियों में बाध्य होकर ऐसा करना पड़े, तो वहाँ अत्यन्त सरलतापूर्ण भद्र व्यवहार करने की सूचना है। —सम्पादक

'पामपिंडोलग' आदि पदों के अर्थ ?—गामपिंडोलग=जो ग्राम के पिण्ड पर निर्वाह करता है।[1] संलोए=सामने दिखायी दे, इस तरह से, णपडिदुवारे=निकलने—प्रवेश करने के द्वार पर। अणावायमसंलोए=जहाँ कोई आता-जाता न हो, जहाँ कोई देख न रहा हो। सव्वजणाए णिसट्ठे=सब जनों के लिए (साझा-भोजन) दिया है। परिभाएह=विभाजन करो। उवेहेज्जा=कल्पना करे, सोचे। अविणाइं=(गृहस्थ ने) अर्पित किया है। चइं चइं=जल्दी-जल्दी या प्रचुर मात्रा में। सागं—शाक, व्यञ्जन। ऊसढं=उच्छ्रित=वर्णादिगुणों से युक्त=सुन्दर। रसियं=सरस, अमुच्छिए आदि चार पद एकार्थक हैं, किन्तु क्रमशः यों हैं अमूर्च्छित, अगृद्ध, निरपेक्ष और अनासक्त। बहुसममेव=प्रायः सममात्रा में, बेराशिया=एकत्र व्यवस्थित होकर, ओभासेज्ज=दाता से याचना करे, णिवट्टिते=निपटा देने पर—निवृत्त होने पर।[2]

३५८. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

सू० ३५८. यही उस भिक्षु अथवा भिक्षुणी के लिए ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप आदि के आचार की समग्रता - सम्पूर्णता है।[3]

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ

छठा उद्देशक

कुक्कुटादि प्राणी होने पर अन्य मार्ग-गवेषणा

३५९. से भिक्खू वा २ जाव[4] समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा, रसेसिणो बहवे पाणा घासेसणाए संथडे संणिवतिए पेहाए, तंजहा—कुक्कुडजातियं वा सूयरजातियं वा, अग्गपिंडंसि वा वायसा संथडा संणिवतिया पेहाए, सति परक्कमे संजया[5] णो उज्जुयं गच्छेज्जा।

३५९. वह भिक्षु या भिक्षुणी आहार के निमित्त जा रहे हों, उस समय मार्ग में यह जाने कि रसान्वेषी बहुत-से प्राणी आहार के लिए झुण्ड के झुण्ड एकत्रित होकर (किसी पदार्थ

---

१. (क) पिण्डोलग—पर-दत्त आहार से जीवन-निर्वाह करने वाला भिखारी (—उत्त० बृहद्वृत्ति पत्र २५०)
   (ख) कृपणं वा पिण्डोलकं—दशवै० हारि० टीका पृ० १८४।

२. टीका पत्र ३३९-३४०।

३. इसका विवेचन प्रथम उद्देशक के सू० ३३४ की समान समझना चाहिए।

४. यहाँ 'जाव' शब्द सू० ३२४ में पठित समग्र पाठ का सूचक है।

५. संजया के स्थान पर पूर्वापरसूत्रों में 'संजयामेव' शब्द मिलता है, तथापि संयत का सम्बोधन या संयत—सम्यगुपयुक्त शब्द का वाचक है।

चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स दगच्छड्डणमेत्तए चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स चंदणिउयए चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स सिणाणस्स[1] वा वच्चस्स वा संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स आलोयं वा थिग्गलं वा संधिं वा दगभवणं वा बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलियाए वा उद्दिसिय २[2] ओणमिय २ उण्णमिय २ णिज्झाएज्जा। णो गाहावतिं अंगुलियाए उद्दिसिय २ जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए चालिय २ जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए तज्जिय २ जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए उक्खुलंपिय २ जाएज्जा, णो गाहावतिं वंदिय २ जाएज्जा, णो व णं फरुसं वदेज्जा।

अचित्त संसृष्ट अग्राह्य आहार एषणा

अह तत्थ कंचि भुंजमाणं पेहाए, तंजहा—गाहावतिं वा जाव कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भइणी ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णतरं भोयणजातं ?

से सेवं वदंतस्स परो हत्थं वा मत्तं वा दव्विं वा भायणं वा सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा। से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भइणी ति वा मा एतं तुमं हत्थं वा मत्तं वा दव्विं वा भायणं वा सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेहि वा पधोवाहि[3] वा, अभिकंखसि मे दातुं एमेव दलयाहि।

से सेवं वदंतस्स परो हत्थं वा ४[4] सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेत्ता पधोइत्ता आहट्टु दलएज्जा। तहप्पगारेणं पुरेकम्मकतेणं हत्थेण वा ४[5] असणं वा ४[6] अफासुयं[7] अणेसणिज्जं जाव णो पडिगाहेज्जा।

अह पुणेवं[8] जाणेज्जा णो पुरेकम्मकतेणं, उदउल्लेणं। तहप्पगारेणं उदउल्लेण हत्थेण वा ४ असणं वा ४ अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

अह पुणेवं जाणेज्जा—णो उदउल्लेण, ससणिद्धेण। सेसं तं चेव।

---

१. सिणाणस्स वच्चस्स आदि शब्दों का अर्थ यों है—सिणाण जहि ण्हायंति—यानी जहाँ स्नान करते हैं—स्नान-घर। इसी प्रकार 'वच्च' शब्द भी शौचालय को सूचित करता है।
२. अवलंबिय उद्दिसिय आदि पदों के आगे '२' का अंक सर्वत्र उसी पद की पुनरावृत्ति का सूचक है।
३. पाठान्तर है—'पहोएहि', अर्थ समान है।
४. 'हत्थं वा' में ४ का अंक 'मत्तं वा दव्विं वा भायणं वा' इन पदों का सूचक है।
५. हत्थेण वा के आगे ४ का अंक 'मत्तेण वा, दव्विएण वा भायणेण वा' इन तीन पदों का सूचक है।
६. 'असणं वा' के आगे '४' का अंक शेष तीनों आहारों का सूचक है।
७. 'अफासुयं' के आगे 'जाव' शब्द 'अणेसणिज्जं लाभे संते' इन पदों का सूचक है।
८. इसके स्थान पर पाठान्तर मिलते हैं 'पुण एव, पुण एवं।' अर्थ समान है।

एवं ससरक्खे मट्टिया ऊसे हरियाले हिंगुलुए मणोसिला अंजणे लोणे गेरुय वणि सेडिय सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस उक्कुट्ठ असंसट्ठेण।[1]

अह पुणेवं जाणेज्जा-णो असंसट्ठे, संसट्ठे। तहप्पगारेण संसट्ठेण हत्थेण वा ४ अ वा ४ फासुयं जाव पडिगाहेज्जा।

अह पुण एवं जाणेज्जा-असंसट्ठे, संसट्ठे। तपहप्पगारेण संसट्ठेण हत्थेण वा ४ अ वा ४ फासुयं जाव[2] पडिगाहेज्जा।

३६०. आहारादि के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट भिक्षु या भिक्षुणी उसके दरवाजे की चौखट (शाखा) पकड़कर खड़े न हों, न उस गृहस्थ के गंदा पानी फेंकने के पर खड़े हों, न उनके हाथ-मुंह धोने या पीने के पानी बहाये जाने की जगह खड़े हों, ही स्नानगृह, पेशाबघर या शौचालय के सामने (जहाँ व्यक्ति बैठा दिखता हो, वहाँ) निर्गमन-प्रवेश द्वार पर खड़े हों। उस घर के झरोखे आदि को, मरम्मत की हुई दीवार को, दीवारों की सन्धि को, तथा पानी रखने के स्थान को, बार-बार बाहें उठाकर या फै अंगुलियों से बार-बार उनकी ओर संकेत करके, शरीर को ऊंचा उठाकर या नीचे झु न तो स्वयं देखे, और न दूसरे को दिखाए। तथा गृहस्थ (दाता) को अंगुलि से बार-बार करके (वस्तु की) याचना न करे, और न ही अंगुलियाँ बार-बार चलाकर या अंगुलियों दिखाकर गृहपति से याचना करे। इसी प्रकार अंगुलियों से शरीर को बार-बार खुजला गृहस्थ की प्रशंसा या स्तुति करके आहारादि की याचना न करे। (न देने पर) गृह कठोर वचन न कहे।

गृहस्थ के यहाँ आहार के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी किसी व्यक्ति को भोज हुए देखे, जैसे कि गृहस्वामी, उसकी पत्नी, उसकी पुत्री या पुत्र, उसकी पुत्रवधू या के दास-दासी या नौकर-नौकरानियों में से किसी को, पहले अपने मन में विचार करके आयुष्मान गृहस्थ (भाई)! या हे बहन! इसमें से कुछ भोजन मुझे दोगे?

उस भिक्षु के ऐसा कहने पर यदि वह गृहस्थ अपने हाथ को, मिट्टी के बर्तन (कुड़छी) को या कांसे आदि के बर्तन को ठंडे (सचित्त) जल से, या ठंडे हुए उष्णजल बार धोए या बार-बार रगड़कर धोने लगे तो वह भिक्षु पहले उसे भली-भाँति देख विचार कर कहे—'आयुष्मन् गृहस्थ! या बहन! तुम इस प्रकार हाथ, पात्र, कुड़छी को ठंडे सचित्त पानी से या कम गर्म किए हुए (सचित्त) पानी से एक बार या बार धोओ। यदि मुझे भोजन देना चाहती हो तो ऐसे—(हाथ आदि धोए बिना) ही दे दो

---

१. इसके विशेष स्पष्टीकरण एवं तुलना के लिए दशवैकालिक सूत्र अ० ५ उ० १ गा० ३२ मूल एवं टिप्पणी सहित देखिये।

२. 'फासुयं' के आगे 'जाव' शब्द 'एसणिज्जं लाभे संते' इन पदों का सूचक है।

साधु के इस प्रकार कहने पर यदि वह (गृहस्थ भाई या बहन) शीतल या अल्प उष्ण-जल से हाथ आदि को एक बार या बार-बार धोकर उन्हीं से अशनादि आहार लाकर देने लगे तो उस प्रकार के पुरःकर्म-रत (देने से पहले हाथ आदि धोने के दोष से युक्त) हाथ आदि से लाए गए अशनादि चतुर्विध आहार को अप्रासुक और अनेषणीय समझकर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

यदि साधु यह जाने कि दाता के हाथ, पात्र आदि भिक्षा देने के लिए (पुरःकर्मकृत) नहीं धोए हैं, किन्तु पहले से ही गीले हैं, (ऐसी स्थिति में भी) उस प्रकार के सचित्त जल से गीले हाथ, पात्र, कुडछी आदि से लाकर दिया गया आहार भी अप्रासुक-अनेषणीय जानकर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

यदि वह जाने कि हाथ आदि पहले से गीले तो नहीं हैं, किन्तु सस्निग्ध (जमे हुए थोड़े जल से युक्त) हैं, तो उस प्रकार के सस्निग्ध हाथ आदि से लाकर दिया गया आहार........भी ग्रहण न करे।

यदि यह जाने कि हाथ आदि जल से आर्द्र या सस्निग्ध तो नहीं है, किन्तु क्रमश सचित्त मिट्टी, क्षार (नौनी) मिट्टी, हड़ताल, हिंगलू (सिंगरफ), मेनसिल, अंजन, लवण, गेरू, पीली मिट्टी, खड़िया मिट्टी, सौराष्ट्रिका (गोपीचंदन), बिना छना (चावल आदि का) आटा, आटे का चोकर, पीलुपर्णिका के गीले पत्तों का चूर्ण आदि में से किसी से भी हाथ आदि संसृष्ट (लिप्त) हैं तो उस प्रकार के हाथ आदि से लाकर दिया गया आहार.... .भी ग्रहण न करे।

यदि वह यह जाने कि दाता के हाथ आदि सचित्त जल से आर्द्र, सस्निग्ध या सचित्त मिट्टी आदि से असंसृष्ट (अलिप्त) तो नहीं है, किन्तु जो पदार्थ देना है, उसी से (किसी दूसरे के) हाथ आदि संसृष्ट (सने) है तो ऐसे (उसके) हाथों या बर्तन आदि से दिया गया अशनादि आहार प्रासुक एवं एषणीय मानकर प्राप्त होने पर ग्रहण कर सकता है।

(अथवा) यदि वह भिक्षु यह जाने कि दाता के हाथ आदि सचित्त जल, मिट्टी आदि से संसृष्ट (लिप्त) तो नहीं हैं, किन्तु जो पदार्थ देना है, उसी से उसके हाथ आदि संसृष्ट हैं तो ऐसे हाथों या बर्तन आदि से दिया गया अशनादि आहार प्रासुक एवं एषणीय समझकर प्राप्त होने पर ग्रहण करे।

विवेचन—अंगोपांग-संयम और आहारग्रहण—इस सूत्र में आहार ग्रहण के पूर्व मन, वचन काया और इन्द्रियों की चपलता, असंयम और लोलुपता से बचने का विधान किया गया है। इसमें हाथ, पैर, भुजा, शरीर के अंगोपांग, नेत्र और अंगुलि और वाणी के संयम का ही नहीं, अपितु जिह्वा, श्रोत्र, स्पर्शेन्द्रिय आदि पर भी संयम रखने की, साथ ही इन सबके असंयम अनियन्त्रण से हानि की बात भी ध्वनित कर दी है। दरवाजे की चौखट, जीर्ण-शीर्ण या अस्थिर हो तो उसे पकड़कर खड़े होने से अकस्मात् वह गिर सकती है, स्वयं गिर सकता है, स्वयं के चोट लग सकती है। बर्तन आदि धोने या हाथ मुंह धोने के स्थान पर खड़े रहने से साधु के

(६) सचित्त क्षार (खारी या नोनी मिट्टी)[६]।

(७) हड़ताल।

(८) हींगलू।

(९) मैनसिल।

(१०) अंजन।

(११) नमक।

(१२) गेरू (लाल मिट्टी)।

(१३) पीली मिट्टी।[७]

(१४) खड़िया मिट्टी।[८]

(१५) सौराष्ट्रिका[९] (सौराष्ट्र में पायी जाने वाली एक प्रकार की मिट्टी, जिसे 'गोपीचंदन' भी कहते हैं)।

(१६) तत्काल पीसा हुआ बिना छना आटा।[१०]

(१७) चावलों के छिलके।[११]

(१८) गीली वनस्पति का चूर्ण या फलों के बारीक टुकड़े।[१२]

इनमें पुरःकर्म, पश्चात्कर्म, उदकार्द्र और सस्निग्ध ये चार अप्काय से सम्बन्धित हैं। पिष्ट, कुक्कुस और उक्कुट्ठ—ये तीन वनस्पतिकाय से सम्बन्धित हैं और शेष ग्यारह पृथ्वीकाय से सम्बन्धित हैं।[१३] दशवैकालिक सूत्र में 'एव' और 'बोधव्व' ? ये दो पद संग्रहगाथाओं के सूचक हैं। चूर्णिकार ने चूर्णि में इसके पूर्वोक्त 'उदउल्ल' (उदकार्द्र) से लेकर 'उक्कुट्ठ' तक संसृष्ट योग्य सत्तरह सचित्त पदार्थों को लेकर सत्तरह गाथाएँ दी हैं।[१४]

---

६ (क) उसो नाम पंसुखारो —जिन० चू० पृ० १७६

(ख) उसो लवणपंसू —अगस्त्य० चू० पृ० १०६

७ वण्णिया पीयमट्टिया, वण्णिका=पीली मिट्टी —जिन० चू० पृ० १७६

८ सेडिया-सेटिका-खटिका=खड़िया मिट्टी —टीका पत्र ३४१ से

९ सोरट्ठिया=सौराष्ट्र्याढकी तुवरी पर्पटी कालिका सती।
भुजाता देशभाषायां गोपीचन्दनमुच्यते॥ —शालिग्राम निघन्टु पृ० ६४

१० आमपिट्ठं आमलोट्ठो सो अप्पिधणो पोरिसिमित्तेण परिणमइ बहुइधणो आरतो परिणमइ।
—जि० चू० पृ० १७६

११ कुक्कुसा=चाउलत्तया (चावलों के छिलके) —जिनदास चूर्णि पृ० १७६

१२ उक्कुट्ठो णाम सचित्त वणस्सति पत्त कुरफलाणि वा उदूखले छुब्भति, तेहि हत्थो लित्तो......।
—निशीथ० भा० गा० १४८ चू०।

१३. निशीथ भाष्य चूर्णि गा०।

१४. (क) एवं उदओल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिया ऊसे।
हरियाले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे॥३३॥

दो तरह से आहार लिया जा सकता है—

(१) जो देने को उद्यत है, उसके हाथ आदि सचित्त पानी आदि से सने हैं, परन्तु देय वस्तु सचित्त से लिप्त नहीं है, ऐसी स्थिति में सचित्त से सने हुए हाथ आदि जिसके न हों, वह अन्य व्यक्ति देना चाहे तो साधु उस आहार को ले सकता है।

(२) दाता के हाथ आदि सचित्त जल आदि से संसृष्ट नहीं है, किन्तु देय वस्तु से संसृष्ट हैं तो ले-ले।[1]

सचित्त-मिश्रित आहार-ग्रहण निषेध

३६१. से भिक्खू वा २ [जाव समाणे][2] से ज्जं पुण जाणेज्जा-पिहुयं वा बहुरयं[3] वा जाव चाउलपलंबं वा अस्संजए भिक्खुपडियाए चित्तमंताए सिलाए जाव मक्कडासंताणाए कोट्टिंसु वा कोट्टेंति वा कोट्टिस्संति वा उप्फणिंसु[4] वा ३। तहप्पगारं पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा अफासुयं जाव[5] णो पडिगाहेज्जा।

३६२. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा—बिलं वा लोणं उब्भियं लोणं अस्संजए भिक्खुपडियाए चित्तमंताए सिलाए जाव संताणाए भिंदिंसु वा भिंदंति वा भिंदिस्संति वा रुचिंसु[6] वा ३, बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

३६३. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा—असणं वा ४ अगणिणिक्खित्तं, तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

[illegible]

१ [illegible] —दशवै० ५।

२ [illegible]

३ [illegible] 'जाव समाणे' पद है, ऐसा प्रतीत होता है।

४ [illegible] 'उप्फणिंसु वा उप्फणिंति वा' का सूचक है।

५ [illegible] इससे पाठ का सूचक है।

६ [illegible]

केवली बूया—आयाणमेयं । अस्संजए भिक्खुपडियाए उस्सिचमाणे वा निस्सिचमाणे[1] वा आमज्जमाणे वा पमज्जमाणे वा उतारेमाणे[2] वा उयत्तमाणे अगणिजीवे हिंसेज्जा । अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा एस पतिण्णा, एस हेतू, एस कारणं, एसुवदेसे—जं तहप्पगारं असणं वा ४ अगणिणिक्खित्तं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।

३६१. गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट साधु-साध्वी को यह ज्ञात हो जाए कि शालि-धान, जौ, गेहूँ आदि में सचित्त रज (तुष सहित) बहुत है, गेहूँ आदि अग्नि में भूंजे हुए हैं, किन्तु वे अर्धपक्व हैं, गेहूँ आदि के आटे में तथा कुटे हुए धान में भी अखण्ड दाने हैं, कण-रहित चावल के लम्बे दाने सिर्फ एक बार भुने हुए या कुटे हुए हैं, अतः असंयमी गृहस्थ भिक्षु के उद्देश्य से सचित्त शिला पर, सचित्त मिट्टी के ढेले पर, घुन लगे हुए लक्कड़ पर, या दीमक लगे हुए जीवाधिष्ठित पदार्थ पर, अण्डे सहित, प्राण-सहित या मकड़ी आदि के जालों सहित शिला पर उन्हें कूट चुका है, कूट रहा है या कूटेगा, उसके पश्चात् वह उन—(मिश्रजीवयुक्त) अनाज के दानों को लेकर उफन चुका है, उफन रहा है या उफनेगा, इस प्रकार के (भूसी से पृथक् किए जाते हुए) चावल आदि अन्नों को अप्रासुक और अनेषणीय जानकर साधु ग्रहण न करे।

३६२. गृहस्थ के घर में आहारार्थ प्रविष्ट साधु-साध्वी यदि यह जाने कि असंयमी गृहस्थ किसी विशिष्ट खान में उत्पन्न सचित्त नमक या समुद्र के किनारे क्षार और पानी के संयोग से उत्पन्न उद्भिज्ज लवण के सचित्त शिला, सचित्तमिट्टी के ढेले पर, घुन लगे लक्कड़ पर या—जीवाधिष्ठित पदार्थ पर, अण्डे, प्राण, हरियाली, बीज या मकड़ी के जाले सहित शिला पर टुकड़े कर चुका है, कर रहा है या करेगा, या पीस चुका है, पीस रहा है या पीसेगा तो साधु ऐसे सचित्त या सामुद्रिक लवण को अप्रासुक—अनेषणीय समझ कर ग्रहण न करे।

३६३. गृहस्थ के घर आहार के लिए प्रविष्ट साधु-साध्वी यदि यह जान जाए कि अशनादि आहार अग्नि पर रखा हुआ है, तो उस आहार को अप्रासुक—अनेषणीय जानकर प्राप्त होने पर ग्रहण न करे।

केवली भगवान् कहते हैं—यह कर्मों के आने का मार्ग है। क्योंकि असंयमी गृहस्थ साधु के उद्देश्य से अग्नि पर रखे हुए बर्तन में से आहार को निकालता हुआ, उफनते हुए दूध आदि को जल आदि के छींटे देकर शान्त करता हुआ, अथवा उसे हाथ आदि से एक बार या बार-बार हिलाता हुआ, आग पर से उतारता हुआ या बर्तन को टेढ़ा करता हुआ वह अग्निकायिक जीवों की हिंसा करेगा। अतः भिक्षुओं के लिए तीर्थंकर भगवान् ने पहले से ही प्रतिपादित किया है कि उसकी यह प्रतिज्ञा है, यह हेतु है, यह कारण है और यह उपदेश है कि वह (साधु

---

1. 'निस्सिचमाणे' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'णिस्सिचति तहिं अण्णं छुभति' अर्थात् बर्तन में अन्न ऊफते (आधण डालते) समय अन्न को मसलती है।
2. उतारेमाणे का आशय चूर्णि में दिया है—'उतारेमाणे वा अगणिविराहणा' उतारते हुए अग्नि की विराधना होती है।

सत्तमो उद्देसओ

सप्तम उद्देशक

मालाहृत दोष-युक्त आहार-ग्रहण निषेध

३६५. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा—असणं वा ४[1] खंधंसि[2] वा थंभंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासादंसि वा हम्मियतलंसि वा अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि उवणिक्खित्ते सिया। तहप्पगारं मालोहडं असणं वा ४ अफासुयं णो पडिगाहेज्जा।

केवली बूया—आयाणमेयं। अस्संजए भिक्खुपडियाए पीढं वा फलगं वा णिस्सेणिं वा उदूहलं वा अवहट्टु[3] उस्सविय दुरुहेज्जा[4]। से तत्थ दुरुहमाणे पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा। से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा हत्थं वा पायं वा बाहुं वा ऊरुं वा उदरं वा सीसं वा अण्णतरं वा कायंसि इंदियजायं लूसेज्ज वा, पाणाणि वा ४[5] अभिहणेज्ज वा, वत्तेज्ज[6] वा, लेसेज्ज वा, संघसेज्ज वा, संघट्टेज्ज वा, परियावेज्ज वा, किलामेज्ज वा, [उद्दवेज्ज वा ?,] ठाणाओ ठाणं संकामेज्ज वा, [जीवियाओ ववरोवेज्ज वा ?][7]। तं तहप्पगारं मालोहडं असणं वा ४ लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३६६. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा—असणं वा ४

---

१. यहाँ 'असणं वा' के बाद '४' का अंक शेष तीनों आहारों का सूचक है।

२. 'खंधंसि वा' की व्याख्या चूर्णि में इस प्रकार की गयी है—खंधो पागारओ, अथवा खंधो, सो तज्जातो अतज्जातो वा, अतज्जातो अडवीए गोउलादिसु उवनिविट्ठस्स होज्ज, अतज्जातो घरे चेव, पाहाणखंधोवा, तज्जातो गिरिणगरे, अतज्जातोऽन्यत्र। अर्थात् स्कन्ध प्राकारक का नाम है। अथवा स्कन्ध दो प्रकार का होता है—तज्जात और अतज्जात। अतज्जात वह है, जो जंगल में, गोकुल आदि में डाला जाता है। अतज्जात स्कन्ध घर में ही पाषाण का बना हुआ स्कन्ध होता है, तज्जात होता है गिरिनगर में—उसी पत्थर में जो बनता है।

३. 'अवहट्टु' का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—'अवहट्टु=अण्णतो गिण्हित्ता अण्णहि ठवेति।' अवहट्टु का अर्थ है—अन्य स्थान से लेकर अन्य स्थान में रख देता है।

४. 'दुरुहेज्जा' के स्थान पर 'दुरुहेज्ज' तथा 'द्रुहेज्जा' पाठान्तर मिलते हैं। अर्थ समान है।

५. 'पाणाणि वा' के आगे '४' का चिन्ह 'भूयाणि वा, जीवाणि वा, सत्ताणि वा' का सूचक है।

६. इसके स्थान पर 'वित्तासिज्ज', 'वित्तसेज्ज' आदि पाठान्तर मिलते हैं अर्थ होता है—विशेष रूप से त्रास देगा।

७. यहाँ भी आवश्यकोक्त ऐर्यापथिकी सूत्र के इस पाठ के अनुसार क्रम माना है—'अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओठाणं, संकामिया, जीवियाओ ववरोविया।'

'कोट्ठिगातो'[1] वा कोलेज्जातो[2] वा अस्संजए भिक्खुपडियाए उक्कुज्जिय अवउज्जिय ओहरिय आहट्टु दलएज्जा। तहप्पगारं असण वा ४ मालोहडं ति णच्चा लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३६५ गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि अशनादि चतुर्विध आहार गृहस्थ के यहाँ भींत पर, स्तम्भ पर, मंच पर, घर के अन्य ऊपरी भाग (आले) पर, महल पर, प्रासाद आदि की छत पर या अन्य उस प्रकार के किसी ऊँचे स्थान पर रखा हुआ है, तो इस प्रकार के ऊँचे स्थान से उतार कर दिया जाता अशनादि चतुर्विध आहार अप्रासुक एवं अनेषणीय जान कर साधु ग्रहण न करे।

केवली भगवान् कहते हैं—यह कर्मबन्ध का उपादान—कारण है; क्योंकि असंयत गृहस्थ भिक्षु को आहार देने के उद्देश्य से (ऊँचे स्थान पर रखे हुए आहार को उतारने हेतु) चौकी, पट्टा, सीढ़ी (निःश्रेणी) या ऊखल आदि को लाकर ऊंचा करके उस पर चढ़ेगा। ऊपर चढ़ता हुआ वह गृहस्थ फिसल सकता है या गिर सकता है। वहाँ से फिसलते या गिरते हुए उसका हाथ, पैर, भुजा, छाती, पेट, सिर या शरीर का कोई भी अंग (इन्द्रिय समूह) टूट जाएगा, अथवा उसके गिरने से प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन हो जाएगा, वे जीव नीचे (धूल में) दब जाएंगे, परस्पर चिपक कर कुचल जाएंगे, परस्पर टकरा जाएंगे, उन्हें पीडाजनक स्पर्श होगा, उन्हें संताप होगा, वे हैरान हो जाएंगे, वे त्रस्त हो जाएंगे, या एक (अपने) स्थान

---

१. निशीथ चूर्णि (उ० १७) में इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार है—'पुरिसपमाणा हीणाहिया वा चिक्खल्लमयो कोट्ठिया भवति। कोलेज्जो नाम धसमओ कडवल्लो सट्टई वि भण्णति, अन्ने भणंति उट्टिया। उवरिहुत्तकरणं उक्कुज्जित, उद्धाए तिरियहुत्तकरणं अवकुज्जिया वा, ओहरिय त्ति पीढग-मालिगु मारुभिउ ओतारेति। अहवा उच्चं कुज्जा उक्कुज्जिया इंडायत्तं तदद्गुह-गानि, कायं कुज्ज इत्वा गृह-जाति, मोणमिय इत्यर्थः।'

अर्थात् पुरुषप्रमाण अथवा न्यूनाधिक ऊँची चिकनी कोष्टिका होती है। कोलेज्ज—कहते हैं धम जाने वाली चटाई का बाड़ जिसे सट्टइ (टाटी) भी कहते हैं। अन्य आचार्य इसे उष्ट्रिका कहते हैं। ऊपर गर्दन करना उक्कुज्जित है, ऊँचा होकर तिरछी गर्दन करना अवकुज्जिया है, ओहरिय कहते हैं—जहाँ ऊँची चौकी आदि पर चढ़ कर उतारा जाता है। अथवा उक्कुज्जिया का अर्थ है—ऊँचा उठकर [illegible] होकर आहार ग्रहण करना (उकडूमा) है। शरीर को कुबड़ा करके—अर्थात् नीचे झुककर।

२ इसके स्थान पर 'कुट्ठिगाओ', 'कोट्ठिगातो', 'कोट्ठियाओ', 'कोट्ठिगाओ' आदि पाठान्तर मिलते हैं। चूर्णिकार ने 'कोट्ठियाए' पाठ ही माना है, जिसका अर्थ होता है—अन्न-संग्रह रखने की कोठी।

३ 'कोलेज्जाओ' के स्थान पर चूर्णिकार 'कालेज्जाओ' पाठ मान कर व्याख्या करते हैं—'कालेज्जाओ [illegible] उवरिं [illegible] भूमिघरो—भूमीए वा खणिता भूमीघरग उवरि संकडं हेट्ठा विच्छिन्नं [illegible] करेंति, माहि कुच्छिरं ति मोहमासो धण्णं मवट्ठति'

अर्थात्—कालेज्ज का अर्थ है—काम का बनाया हुआ भूमिगृह, जो ऊपर से सकड़ा और [illegible] चौड़ा। [illegible] उस भूमि का बना देते हैं, तब उसमें [illegible] तक गेहूं आदि धान्य [illegible] है।

से दूसरे स्थान पर उनका संक्रमण हो जाएगा, अथवा वे जीवन से भी रहित हो जाएँगे। अतः इस प्रकार के मालाहृत (ऊँचे स्थान से उतार कर लाये गए) अशनादि चतुर्विध आहार के प्राप्त होने पर भी साधु उसे ग्रहण न करे।

३६६. आहार के लिए, गृहस्थ के घर में प्रविष्ट साधु या साध्वी को यह ज्ञात हो जाए कि असंयत गृहस्थ साधु के लिए अशनादि चतुर्विध आहार मिट्टी आदि की बड़ी कोठी में से या ऊपर से संकड़े और नीचे से चौड़े भूमिगृह में से नीचा होकर, कुबड़ा होकर या टेढ़ा होकर निकाल कर देना चाहता है, तो ऐसे अशनादि चतुर्विध आहार को मालाहृत (दोष से युक्त) जान कर प्राप्त होने पर भी वह साधु या साध्वी ग्रहण न करे।

विवेचन—मालाहृत दोषयुक्त आहार ग्रहण न करे—इन दोनों सूत्रों में मालाहृत दोष से युक्त आहार ग्रहण करने का निषेध है, साथ ही इस निषेध का कारण भी बताया है। मालाहृत गवेषणा (उद्गम) का १३वां दोष है। ऊपर नीचे या तिरछी दिशा में जहाँ हाथ आसानी से न पहुँच सके, वहाँ पंजों पर खड़े होकर या सीढ़ी, निसाई, चौकी आदि लगाकर साधु को आहार देना 'मालाहृत' दोष है। इसके मुख्यतया तीन प्रकार हैं—(१) ऊर्ध्व-मालाहृत (ऊपर से उतारा हुआ), (२) अधोमालाहृत (भूमिगृह, तलघर या तहखाने से निकाल कर लाया हुआ), (३) तिर्यक्-मालाहृत—ऊँडे बर्तन या कोठे आदि में से झुक कर निकाला हुआ। इनमें से भी हर एक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन-तीन भेद हैं।

एड़ियाँ उठा कर हाथ फैलाते हुए छत में टंगे छींके आदि से कुछ निकाल कर लाना जघन्य-ऊर्ध्वमालाहृत है सीढ़ी आदि लगाकर ऊपर की मंजिल से उतार कर लाई गई वस्तु उत्कृष्ट-ऊर्ध्वमालाहृत है, सीढ़ी लगाकर मंच, खंभे या दीवार पर रखी हुई वस्तु उतार कर लाना मध्यम-मालाहृत है।[1]

मालाहृत दोषयुक्त आहार लेने से क्या-क्या हानियाँ हैं? इसे मूल पाठ में बता दिया है। अहिंसा महाव्रती साधु अपने निमित्त से दूसरे प्राणी की जरा-सी भी हानि, क्षति या हिंसा सहन नहीं कर सकता, इसी कारण इस प्रकार का आहार लेने का निषेध किया है।[2]

'खंधंसि' आदि पदों के अर्थ—खंधंसि—दीवार या भित्ति पर। स्कन्ध का अर्थ चूर्णिकार प्राकारक (छोटा प्राकार) करते हैं, अथवा दो प्रकार का स्कन्ध होता है—तज्जात, अतज्जात। तज्जात स्कन्ध पहाड़ की गुफा में पत्थर का स्वतः बना हुआ आला या लटान होती है और अतज्जात कृत्रिम होती है, घरों में पत्थर का या ईंटों का आला या लटान बनाई जाती है, चीजें रखने के लिए। थंभंसि=शिला या लकड़ी के बने हुए स्तम्भ पर, मंचंसि=चार लट्ठों को

---

१. (क) पिण्डनिर्युक्ति गा० ३५७, (ख) दशवैकालिक ५।१।६७, ६८, ६९, (ग) दशवै० चूर्णि (अग०) पृ० ११७।

२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४३-३४४।

३. वही, पत्रांक ३४३-३४४।

बाँध कर बनाया हुआ ऊँचा स्थान मंच या मचान कहलाता है, उस पर, मालंसि=छत पर या ऊपर की मंजिल पर। पासायंसि=महल पर, हम्मियतलंसि=प्रासाद की छत पर। पवलेज्ज= फिसल जाएगा, पवडेज्ज=गिर पड़ेगा। लूसेज्ज—चोट लगेगी या टूट जाएगा। कोट्ठिगाओ कोष्ठिका=अन्न संग्रह रखने की मिट्टी-तृण-गोबर आदि की कोठी से, कोलेज्जाओ=ऊपर से संकड़े और नीचे से चौड़े से भूमिघर से। उक्कुज्जिय=शरीर ऊंचा करके झुक कर तथा कुबड़े होकर, अवउज्जिय=नीचे झुक कर, आहारिय=तिरछा—टेढ़ा होकर।

उद्भिन्न दोष युक्त आहार-निषेध

३६७ से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ मट्टिओलित्तं। तहप्पगारं असणं वा ४ जाव[1] लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

केवली बूया—आयाणमेयं। अस्संजए भिक्खुपडियाए मट्टिओलित्तं असणं वा उब्भिदमाणे पुढवीकायं समारंभेज्जा, तह तेउ-वाउ-वणस्सति-तसकायं समारंभेज्जा, पुणरवि ओलिंपमाणे पच्छाकम्मं करेज्जा। अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४[2] जं तहप्पगारं मट्टिओलित्तं असणं वा ४ असणं[illegible] लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३६७ गृहस्थ के घर में आहारार्थ प्रविष्ट साधु या साध्वी यह जाने कि वहाँ अशनादि चतुर्विध आहार मिट्टी से लीपे हुए मुख वाले बर्तन में रखा हुआ है तो इस प्रकार का आहार [illegible] होने पर भी ग्रहण न करे।

केवली भगवान् कहते — यह कर्म आने का कारण है। क्योंकि असंयत गृहस्थ [illegible] को आहार देने के लिए मिट्टी से लीपे आहार के बर्तन का मुंह उद्भेदन [illegible] हुआ पृथ्वीकाय का समारम्भ करेगा, तथा अग्निकाय, वायुकाय [illegible] और वनस्पति तक का समारम्भ करेगा। शेष आहार की सुरक्षा के लिए फिर [illegible] समारम्भ करेगा। इसीलिए तीर्थंकर भगवान् ने पहले से ही [illegible] है कि साधु-साध्वी की यह प्रतिज्ञा है, यह हेतु है, यह कारण है और [illegible] है कि वह मिट्टी से [illegible] बर्तन को खोल कर दिये जाने वाले अशनादि चतुर्विध [illegible] प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

विवेचन—[illegible] आहार ग्रहण न करे—इस सूत्र में उद्गम के १२ वें उद्भिन्न [illegible] का निषेध किया गया है।[1] यहाँ से [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

मिट्टी के लेप से लिप्त बर्तन के मुख को खोलकर दिया गया आहार लेने में उद्भिन्नदोष बताया है, किन्तु दशवैकालिकसूत्र में बताया गया है कि जल-कुम्भ, चक्की, पीठ, शिलापुत्र (लोढ़ा), मिट्टी के लेप और लाख आदि श्लेष द्रव्यों से पिहित (ढके, लिपे और मूंदे हुए) बर्तन का श्रमण के लिए मुंह खोलकर आहार देती हुयी महिला को मुनि निषेध करे कि 'मैं इस प्रकार का आहार नहीं ले सकता।'[1] उद्भिन्न से यहाँ मिट्टी का लेप ही नहीं, लाख, चपड़ा, कपड़ा, लोह, लकड़ी आदि द्रव्यों से बंद बर्तन का मुंह खोलने का भी निरूपण अभीष्ट है, अन्यथा सिर्फ मिट्टी के लेप से बन्द बर्तन के मुंह को खोलने में ही षट्काय के जीवों की विराधना कैसे सम्भव है ?

पिण्डनिर्युक्ति गाथा ३४८ में उद्भिन्न दो प्रकार का बताया गया है—(१) पिहित-उद्भिन्न और (२) कपाट-उद्भिन्न।

चपड़ी, मिट्टी, लाख आदि से बन्द बर्तन का मुंह खोलना पिहित उद्भिन्न है, और बंद किवाड़ का खोलना कपाटोद्भिन्न है। पिधान (ढक्कन-लेप) सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार का हो सकता है, उसे साधु के लिए खोला जाए और बन्द किया जाए तो वहाँ पश्चात्कर्म एवं आरम्भजन्य हिंसा की सम्भावना है।[2] इसीलिए यहाँ पिहित-उद्भिन्न आहार-ग्रहण का निषेध किया है। लोहा-चपड़ी आदि से बंद बर्तन को खोलने में अग्निकाय का समारम्भ स्पष्ट है, अग्नि प्रज्वलित करने के लिए हवा करनी पड़ती है, इसलिए वायुकायिक हिंसा भी सम्भव है, घी आदि का ढक्कन खोलते समय नीचे गिर जाता है तो पृथ्वीकाय,—वनस्पतिकाय और छोटे-छोटे त्रसजीवों की विराधना भी सम्भव है। बर्तनों के कई छानण (बंद) मुंह खोलते समय *और बाद में भी पानी से भी गृहस्थ धोते हैं, इसलिए अप्काय की भी विराधना होती है।* लकड़ी का डाट बनाकर लगाने से वनस्पतिकायिक जीवों की भी विराधना सम्भव है।[3]

षट्काय जीव-प्रतिष्ठित आहार-ग्रहण निषेध

३६८. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ पुढविक्कायपतिट्ठितं। तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

अप्काय-अग्निकाय प्रतिष्ठित आहार-ग्रहण निषेध

से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ आउकायपतिट्ठितं तह चेव। एवं अगणिकायपतिट्ठितं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

---

१. दगवारएण पिहियं, नीसाए पीढएण वा।
   लोढेण वावि लेवेण, सिलेसेण व केणइ ॥४५॥
   तं च उब्भिंदिया देज्ज, समणट्ठाए व दावए।
   देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥४६॥ —दसवै० अ० ५ उ० १

२. (क) आचा० टीका पत्र ३४४ के आधार पर। (ख) पिण्डनिर्युक्ति गाथा ३४८।

३. आचा० टीका पत्र ३४४ के आधार पर।

केवली बूया—आयाणमेयं।

अस्संजए भिक्खुपडियाए अगणिं उस्सिक्किय[1] णिस्सिक्किय ओहरिय[2] आहट्टु दलएज्जा। अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा[3] ४ जाव णो पडिगाहेज्जा।

वायुकाय-हिंसाजनित निषेध

से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा—असणं वा ४ अच्चुसिणं अस्संजए भिक्खुपडियाए सूवेण वा विहुवणेण[4] वा तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पेहुणेण वा पेहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा फुमेज्ज वा वीएज्जा वा। से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो त्ति वा भगिणि त्ति वा मा एतं तुमं असणं वा ४ अच्चुसिणं सूवेण[5] वा जाव फुमाहि वा वीयाहि वा, अभिकंखसि मे दाउं एमेव दलयाहि। से सेवं वदंतस्स परो सूवेण वा जाव वीइत्ता आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं जाव[6] णो पडिगाहेज्जा।

वनस्पति-प्रतिष्ठित आहार ग्रहण-निषेध

से भिक्खू वा २ जाव समाणे[7] से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ वणस्सतिकायपतिट्ठितं। तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वणस्सतिकायपतिट्ठितं अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा। एवं तसकाए वि।

३६८. गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट भिक्षु या भिक्षुणी यदि यह जाने कि यह अशनादि चतुर्विध आहार—पृथ्वीकाय (सचित्त मिट्टी आदि) पर रखा हुआ है, तो इस प्रकार के आहार को अप्रासुक और अनेषणीय समझकर साधु-साध्वी ग्रहण न करें।

वह भिक्षु या भिक्षुणी आदि....यह जाने कि—अशनादि आहार अप्काय (सचित्त जल आदि) पर रखा हुआ है, तो इस प्रकार के आहार को अप्रासुक अनेषणीय जानकर ग्रहण न करे।

---

१. इन दोनों पदों के स्थान पर 'उस्सिक्किया णिस्सिक्किया',—'उस्सिकिय णिस्सिकिय, 'उस्सिंकिय णिस्सिंकिय' और—'उस्सिंचिय णिस्सिंचिय' पाठान्तर मिलते हैं। अर्थ प्राय: समान है। उस्सिंकिय का अर्थ चूर्णि में इस प्रकार है—उस्सिंचिय = पानी सुखा कर। अन्य टीका में 'ओस (उस्स) सिंच' पाठ मान कर अर्थ किया है—ओसधाय = उसाकर।
२. ओहरिय का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'उत्तारेतुं' = उतारकर।
३. यहाँ 'पुव्वोवदिट्ठा' के आगे '४' का चिन्ह सूत्र ३६७ के अनुसार—'णो पडिगाहेज्जा' तक हुआ समझें।
४. 'विहुवणेण' के स्थान पर 'विहुयणेण' पाठान्तर मानकर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—विहुवणं = वीयणओ = व्यजनक = पंखा।
५. सूवण का अर्थ चूर्णिकार ने यों किया है—सूप-सुप्प-सूप (छाज)।
६. अफासुय के आगे जाव शब्द 'पडिगाहेज्जा' तक सूत्र ३२४ के अनुसार समग्र पाठ समझें।
७. जाव के अन्तर्गत सूत्र ३२४ के अनुसार 'समाणे' तक का समग्र पाठ समझें।

आहार में—पानी में घनेरिया, चींटी, लट, भागनी, कुंआरे आदि जीव पड़े हों या सांप, बिच्छू आदि आहार के बर्तन के नीचे या ऊपर बैठे हों अथवा उस आहार पर चींटियाँ लगी हुई हों, मक्खियाँ बैठी भिनभिना रही हों, या अन्य कोई उड़ने वाला प्राणी उस आहार पर बैठा हो या मंडरा रहा हो तो ऐसी स्थिति में उस आहार को सचित्त प्रतिष्ठित माना जाता है, साधु के लिए वह ग्राह्य नहीं होता।[1] क्योंकि—अहिंसा महाव्रती साधु अपने आहार के लिए किसी भी जीव को जरा-सा भी कष्ट नहीं दे सकता। यही कारण है कि वह इतना सावधानीपूर्वक चलता है। इस सूत्र में शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छर्दित, इन दस एषणा-दोषों का समावेश हो जाता है।[2]

पानक-एषणा

३६९. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा, तंजहा—उस्सेइमं वा[3] संसेइमं वा चाउलोदगं वा अण्णतरं वा तहप्पगारं पाणगजातं अधुणाधोतं अणंबिलं अव्वोक्कंतं[4] अपरिणतं अविद्धत्थं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा। अह पुणवं जाणेज्जा चिराधोतं अंबिलं वक्कंतं परिणतं विद्धत्थं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा।

---

१. तुलना करें :—

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा॥ ५७॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ ५८॥
असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
उदगम्मि होज्ज निक्खित्तं, उत्तिंगपणगेसु वा॥ ५९॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ ६०॥
असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
तेउम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च संघट्टिया दए॥ ६१॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ ६२॥
एवं उस्सक्किया ओसक्किया, उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया, ओवत्तिया ओयारिया दए॥ ६३॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ ६४॥
होज्ज कट्ठं सिलं वा वि, इट्टालं वा वि एगया।
ठवियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं॥ ६५॥

—दसवै० ५/उ० १

२. आचारांग टीका पत्र ३४५ के आधार पर।
३. तुलना कीजिए—दशवैकालिक अ० ५, उ० १, गा० १०६।
४. 'अव्वोक्कंतं' के स्थान पर अव्वक्कंत पाठ मानकर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—अव्वक्कंतं=सचेतन।

३७०. से भिक्खू वा २ जाव[1] समाणे से ज्जं पुण पाणगजातं जाणेज्जा तंजहा-तिलोदगं[2] वा तुसोदगं वा जवोदगं वा आयामं वा सोवीरं वा सुद्धवियडं वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं पाणगजातं पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो त्ति वा भगिणि त्ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णतरं पाणगजातं ? से सेवं वदंतं परो वदेज्जा—आउसंतो समणा ! घेवेदं पाणगजातं पडिग्गहेण वा उस्सिचियाणं ओयत्तियाणं[3] गिण्हाहि। तहप्पगारं पाणगजातं सयं वा गेण्हेज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं लाभे संते पडिगाहेज्जा।

३७१. से भिक्खू वा जाव समाणे से ज्जं पुण पाणगं जाणेज्जा—अणंतरहिताए पुढवीए जाव संताणए उद्धट्टु उद्धट्टु[4] णिक्खित्ते सिया। असंजते भिक्खुपडियाए उदउल्लेण वा ससणिद्धेण वा सकसाएण वा मत्तेण वा सीतोदएण वा संभोएत्ता आहट्टु दलएज्जा। तहप्पगारं पाणगजायं अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३६९. गृहस्थ के घर में पानी के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि पानी के इन प्रकारों को जाने,—जैसे कि—आटे का हाथ लगा हुआ पानी, तिल धोया हुआ पानी, चावल धोया हुआ पानी, अथवा अन्य किसी वस्तु का इसी प्रकार का तत्काल धोया हुआ पानी हो, जिसका स्वाद चलित—(परिवर्तित) न हुआ हो, जिसका रस अतिक्रान्त न हुआ (बदला न) हो, जिसके वर्ण आदि का परिणमन न हुआ हो, जो शस्त्र-परिणत न हुआ हो, ऐसे पानी को अप्रासुक और अनेषणीय जानकर मिलने पर भी साधु-साध्वी ग्रहण न करे।

इसके विपरीत यदि वह यह जाने कि यह बहुत देर का चावल आदि का धोया हुआ धोवन है, इसका स्वाद बदल गया है, रस का भी अतिक्रमण हो गया है, वर्ण आदि भी परिणत हो गए हैं और शस्त्र-परिणत भी है तो उस पानक (जल) को प्रासुक और एषणीय जानकर प्राप्त होने पर साधु-साध्वी ग्रहण करे।

३७०. गृहस्थ के यहाँ पानी के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी अगर इस प्रकार का पानी जाने, जैसेकि तिलों का (धोया हुआ) उदक; तुषोदक, यवोदक, उबले हुए चावलों का ओसामण (माड), कांजी का बर्तन धोया हुआ जल, प्रासुक उष्ण जल अथवा इसी प्रकार का अन्य—द्राक्षों को धोया हुआ पानी (धोवन) इत्यादि जल-प्रकार पहले देखकर ही साधु गृहस्थ से कहे—"आयुष्मान् गृहस्थ (भाई) या आयुष्मती बहन ! क्या मुझे इन जलों (धोवन पानी) में से किसी जल (पानक) को दोगे ?" साधु के इस प्रकार कहने पर वह गृहस्थ यदि कहे कि "आयुष्मन

१. 'जाव' के आगे का 'समाणे' तक का पाठ सू० ३२४ के अनुसार समझें।
२. तुलना कीजिए—दशवैकालिक अ०५, उ०१, गा० ७८, ६२।
३. इसके स्थान पर पाठान्तर इस प्रकार है—'उस्सिचियाणं अवत्तियाणं'। अर्थ समान है।
४. इसके स्थान पर 'ओहट्टु निक्खित्ते', 'उद्दट्टु २ निक्खित्ते' पाठान्तर है। अर्थ समान है।

ा ! जल पात्र में रखे हुए पानी को अपने पात्र से आप स्वयं उलीच कर या जल के बर्तन उलटकर ले लीजिए।" गृहस्थ के इस प्रकार कहने पर साधु उस पानी को स्वयं से ले ा गृहस्थ स्वयं देता हो तो उसे प्रासुक और एषणीय जान कर प्राप्त होने पर ग्रहण ले।

३७१. गृहस्थ के यहाँ पानी के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि इस प्रकार का पानी कि गृहस्थ ने प्रासुक जल को व्यवधान रहित (सीधा) सचित्त पृथ्वी पर, सस्निग्ध पृथ्वी सचित्त पृथ्वी पर, सचित्त शिला पर, सचित्त मिट्टी के ढेले या पाषाण पर, घुन लगे हुए कड़ पर, दीमक लगे जीवाधिष्ठित पदार्थ पर, अण्डे, प्राणी, बीज, हरी वनस्पति, ओस, वत्त जल, चींटी आदि के बिल, पाँच वर्ण की काई, कीचड़ से सनी मिट्टी, मकड़ी के जालों युक्त पदार्थ पर रखा है, अथवा सचित्त पदार्थ से युक्त बर्तन से निकालकर रखा है। असंयत स्थ भिक्षु को देने के उद्देश्य से सचित्त जल टपकते हुए अथवा जरा-से गीले हाथों से, वत्त पृथ्वी आदि से युक्त बर्तन से, या प्रासुक जल के साथ सचित्त (शीतल) उदक मिलाकर कर दे तो उस प्रकार के पानक (जल) को अप्रासुक और अनेषणीय मानकर साधु उसे लने पर भी ग्रहण न करे।

विवेचन—अग्राह्य और ग्राह्य जल—साधु के लिए भोजन की तरह पानी भी अचित्त ही ह्य है, सचित्त नहीं। गर्म पानी (तीन उबाल आने पर) अचित्त हो जाता है, परन्तु ठण्डा नी भी चावल, तिल, तुष, जौ, द्राक्षा आदि धोने, काँजी, आटे, छाछ आदि के बर्तन धोने से र्ण-गन्ध-रस-स्पर्श बदल जाने पर अचित्त और प्रासुक हो जाता है। वह पानी, जिसे शास्त्रीय षा में 'पानक' कहा गया है, भिक्षाविधि के अनुसार साधु ग्रहण कर सकता है, बशर्ते कि वह नी ताजा धोया हुआ न हो, उसका स्वाद बदल गया हो, गन्ध भी बदल गया हो, रंग भी रिवर्तित हो गया हो, और विरोधी शस्त्र द्वारा निर्जीव हो गया हो, इसी प्रकार उस प्रासुक ल का बर्तन किसी सचित्त जल, पृथ्वी, वनस्पति, अग्नि आदि के या त्रसकाय के नीचे, ऊपर ा स्पर्श करता हुआ न हो, पंखे, हाथ आदि से हवा करके न दिया जाता हो, उसमें पृथ्वी ायादि या द्वीन्द्रियादि त्रसजीव न पड़े हों, उसमें सचित्त पानी मिलाकर न दिया जाता हो। निष्कर्ष यह है कि पूर्वोक्त प्रकार का प्रासुक अचित्त जल सचित्त वस्तु से बिल्कुल अलग रखा ो तो साधु के लिए ग्राह्य है, अन्यथा नहीं।[1]

---

१. (क) टीका पत्र ३४६ के आधार पर।
   (ख) दशवै० जिनदास चूर्णि पृ० १८५।

तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वारधोयणं।
संसेइमं चाउलोदगं, अहुणाधोयं विवज्जए ॥ ७५ ॥
जं जाणेज्ज चिराधोयं, मइए दंसणेण वा।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा, जं च निस्संकियं भवे ॥ ७६ ॥

—दसवै० ५/१

दशवैकालिक आदि आगमों में इसका विस्तृत निरूपण है।

'पाणगजायं' आदि पदों के अर्थ—पाणगजायं—पानक (पेयजल) के प्रकार, उस्सेइमं=आटा ओसनते समय जिस पानी में हाथ धोए जाते हैं, डुबोये जाते है, वह पानी उत्स्वेदिम कहलाता हैं। ससेइमं=तिल धोया हुआ पानी अथवा अरणि या लकडी बुझाया हुआ पानी संस्वेदिम होता है।[1] अहुणाधोयं=ताजा धोया हुआ (धोवन) पानी; अणंबिलं=जो अपने स्वाद से चलित न हुआ हो, अव्वुक्कंतं=रसादि में अतिक्रान्त न हुआ हो. अपरिणयं=वर्णादि परिणत (परिवर्तन) न हुआ हो, अविद्धत्थं=विरोधी शस्त्र द्वारा जिसके जीव विध्वस्त न हुए हों, अफासुयं=सचित्त, आयामं=चावलों का ओसामण=माड, सोवीरं=कांजी या काजी का पानी, सुद्धवियडं=शुद्ध उष्ण प्रासुक जल, पडिग्गहेण=पात्र स. उस्सिंचियाण=उलीच कर, ओयत्तियाण=उलट या उडेलकर, अणतरहियाए पुढवीए=बीच में व्यवधान से रहित पृथ्वी पर, उद्दट्टु=निकालकर, सकसाएण मत्तेण=सचित्त पृथ्वी आदि के अवयव से संलिप्ट पात्र (वर्तन) से, 'सीतोदएण समोएत्ता'=शीतल (सचित्त) उदक के साथ मिलाकर।[2]

३७२. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा २ सामग्गियं।

यह (आहार-पानी की गवेषणा का विवेक) उस भिक्षु या भिक्षुणी की (ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि आचार सम्बन्धी) समग्रता है।[3]

॥ सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

अट्ठमो उद्देसओ

अष्टम उद्देशक

अग्राह्य-पानक निषेध

३७३. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण पाणगजातं जाणेज्जा, तंजहा—अंबपाणगं वा अंबाडगपाणगं वा कविट्ठपाणगं[4] वा मातुलुंगपाणगं[5] वा मुद्दियापाणगं वा दालिमपाणगं वा खज्जूरपाणगं वा णालिएरपाणगं वा करीरपाणगं वा कोलपाणगं वा आमलगपाणगं वा चिंचापाणगं वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं पाणगजातं सअट्ठियं सकणुयं सबीयगं[6] अस्संजए

१. आटे का धोवन भी 'ससेइम कहलाता है। —दसवै० पृ० ५ उ० १
२. टीका पत्र ३४६।
३. इसका विवेचन प्रथम उद्देशक के सूत्र ३३४ के अनुसार समझ लेना चाहिए।
४. तुलना कीजिए—दशवैकालिक अ०५, उ०२, गा० २३।
५. इसके स्थान पर 'मातुलंग'—'मोतुलिंग' पाठान्तर मिलता है।
६. सबीयग के स्थान पर साणुबीयगं पाठ मानकर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—'अनु=स्तोके, छो (थो) वेण बीतेण सह=साणुबीयगं।'—अणु का अर्थ हैं थोडा। थोडे-से बीजो के सहित 'साणुबीजक' कहलाता है।

भिक्खुपडियाए छब्बेण वा दूसेण वा वालगेण वा आवीलियाण परिपीलियाण परिस्साइयाण' आहट्टु दलएज्जा। तहप्पगारं पाणगजायं अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३७३ गृहस्थ के घर में पानी के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि इस प्रकार का पानक जाने, जैसे कि आम्रफल का पानी, अंबाडक (आम्रातक), फल का पानी, कपित्थ (कैथ) फल का पानी, बिजौरे का पानी, द्राक्षा का पानी, दाड़िम (अनार) का पानी, खजूर का पानी, नारियल (डाभ) का पानी, करीर (करील) का पानी, बेर का पानी, आँवले के फल का पानी, इमली का पानी, इसी प्रकार का अन्य पानी पानक) है, जो कि गुठली सहित है, छाल आदि के सहित है, या बीज सहित है, और कोई असंयत गृहस्थ साधु के निमित्त बाँस की छलनी से, वस्त्र से, गाय आदि के पूँछ के बालों से बनी छलनी से एक बार या बार-बार मसल कर, छानता है और (उसमें रहे हुए छाल, बीज, गुठली आदि को अलग करके) लाकर देने लगता है, तो साधु-साध्वी इस प्रकार के पानक (जल) को अप्रासुक और अनेषणीय मान कर मिलने पर भी न ले।

विवेचन—आम्र आदि का पानक ग्राह्य या अग्राह्य ? आम आदि के फलों को धो कर, या उनका रस निकालते समय बार-बार हाथ लगाने से जो धोवन पानी तैयार होता है, उस पानी के रंग, स्वाद, गंध और स्पर्श में तो परिवर्तन हो जाता है, इसलिए वह प्रासुक होने के कारण ग्राह्य हो जाता है, किन्तु उस पानी में यदि इन फलों की गुठली, छिलके, पत्ते, बीज आदि पड़े हों, अथवा कोई भावुक गृहस्थ उस पानी में पड़े हुए गुठली आदि सचित्त पदार्थों को साधु के समक्ष या उसके निमित्त मसलकर तथा छलनी कपड़े आदि से छानकर सामने लाकर देने लगे तो वह प्रासुक पानक भी सचित्त संस्पृष्ट या आरम्भ-जनित होने से अप्रासुक एवं अग्राह्य हो जाता है।

द्राक्षा, आँवला, इमली एवं बेर आदि का कई पदार्थों को तो तत्काल निचोड़ कर पानक बनाया जाता है। वृत्तिकार कहते है कि ऐसा पानक (पानी) उद्गम (१६ उद्गम) दोषों से दूषित होने के कारण अनेषणीय है। आधाकर्म आदि १६ उद्गम दोष दाता के द्वारा लगाए जाते हैं। इनको यथायोग्य समझ लेना चाहिए।[2]

---

१. चूर्णिकार ने इन तीनों क्रियाओं का अर्थ इस प्रकार किया है—
आवीलेति एक्कसि, परिपीलेति बहुसो, परिसाएति गालेति। अर्थात् एक बार मर्दन करने को 'आपील' बार-बार मर्दन करने को 'परिपील' और छानने को 'परिसाए' कहते हैं।

२. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४६ के आधार पर।
(ख) उद्गम दोषों का वर्णन सूत्र, ३२४ पृष्ठ ८ पर देखें।
(ग) तुलना कीजिए—"कविट्ठं माउलिंगं च, मूलगं मूलगत्तियं।
आमं असत्थपरिणयं, मणसा वि न पत्थए॥"

—दसवै० ५।२।२३

'अंबाडग' आदि पदों के अर्थ—'अंबाडग' का अर्थ आम्रातक (आँवला) किया है,[1] किन्तु आगे 'आमलग' शब्द आता है, इसलिए अम्बाडे कोई अन्य फल विशेष होना चाहिए।[2] मातुलुंग=बिजौरे का फल, मुद्दिय=द्राक्षा, कोल=बेर, आमलग=आँवला, चिंचा[3]=इमली। सअट्ठियं=गुठली सहित, सकणुयं=छाल आदि सहित, छब्वेण=बाँस की छलनी से, वालगेण=बालों से बनी छलनी से, आवीलियाण परिपीलियाण=एक बार मसल या निचोड़ कर, बार-बार मसल या निचोड़ कर, परिसाइयाण=छान कर।

आहार-गन्ध में अनासक्ति

३७४. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावतिकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णगंधाणि वा पाणगंधाणि वा सुरभिगंधाणि वा आघाय २ से तत्थ आसायपडियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे 'अहो गंधो, अहो गंधो' णो गंधमाघाएज्जा।

३७४. वह भिक्षु या भिक्षुणी आहार प्राप्ति के लिए जाते समय पथिक-गृहों (धर्मशालाओं) में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में या परिव्राजकों के मठों में अन्न की सुगन्ध, पेय पदार्थ की सुगन्ध तथा कस्तूरी इत्र आदि सुगन्धित पदार्थों की सौरभ को सूंघ-सूंघ कर उस सुगन्ध के आस्वादन की कामना से उसमें मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रस्त एवं आसक्त होकर—'वाह! क्या ही अच्छी सुगन्ध है!' कहता हुआ (मन में सोचता हुआ) उस गन्ध की सुवास न ले।

विवेचन—आहारार्थ जाते समय सावधान रहे—शास्त्र में अंगार, धूम आदि ५ दोष बताए हैं, जिन्हें साधु आहार का उपभोग करते समय राग द्वेष-ग्रस्त होकर लगा लेता है।[4] प्रस्तुत सूत्र में आहार-पानी का सीधा उपभोग न होकर उनके सुगन्ध की सराहना करके परोक्ष उपभोग का प्रसंग है, जिसे शास्त्रकार ने परिभोगैषणा दोष के अन्तर्गत माना है। इस प्रकार खाद्य-पेय वस्तुओं की महक में आसक्त होने से वस्तु तो पल्ले नहीं पड़ती, सिर्फ राग (आसक्ति) के कारण कर्मबन्ध होता है। इसलिए इस सूत्र में गन्ध में होने वाली आसक्ति से बचने का निर्देश किया गया है।

इस सूत्र से ध्वनित होता है कि भिक्षा के लिए जाते समय मार्ग में पड़ने वाली धर्मशालाओं, उद्यानगृहों, गृहस्थगृहों में या मठों में कहीं प्रीतिभोज के लिए तैयार किये जा रहे सरस-सुगन्धित स्वादिष्ट पदार्थों की महक पा कर साधु का मन विचलित हो जाता है,

१. (क) पाइअ सद्द महण्णवो, पृ० ११।
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४६।
२. महाराष्ट्र में 'अम्बाडी' नामक पत्तेदार सब्जी होती है जिसका स्वाद खट्टा व कसैला होता है।
३. मराठी में चिंच इमली के अर्थ में आज भी प्रयुक्त होता है।
४. देखें सूत्र ३२८ का टिप्पण पृष्ठ ८।

३८५. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा उच्छुं वा काणं अंगारिगं सम्मिस्सं विदूमितं वेत्तग्गगं वा कदलिऊसुगं[1] वा अण्णतरं[2] वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

३८६. से भिक्खू वा २ जाव[3] समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा लसुणं वा लसुणपत्तं वा लसुणणालं वा लसुणकंदं वा लसुणचोयगं वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणतं जाव[4] णो पडिगाहेज्जा।

३८७. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा अच्छियं[5] वा कुंभिपक्कं तेंदुगं[6] वा वेलुगं वा कासवणालियं वा, अण्णतरं वा आमं असत्थपरिणतं जाव णो पडिगाहेज्जा।

३८८. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा कणं वा कणकुंडगं वा कणपूयलिं वा[7] चाउलं वा चाउलपिट्ठं वा तिलं वा तिलपिट्ठं वा तिलपप्पडगं[8] वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणतं जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

---

१. कदलिऊसुगं के स्थान पर चूर्णिकार ने कंदलीउस्सुग पाठ माना है, जिसकी व्याख्या इस प्रकार है—कंदलीउस्सुगं मज्झ कदलीए हत्थिदंतसंठितं। कंदलीउस्सुगं=कंदली के बीच में हाथी-दांत के आकार का होता है।

२. अण्णतर या तहप्पगार की व्याख्या चूर्णिकार करते हैं—'कक्कातो सिंबा, कलो चणगो, उसिं सेंगा तस्स चेव, एवं मुग्गमासाण वि, आमत्ता ण कप्पंति।' कला कहते हैं चने को। उसिं का अर्थ है—उसी की सींग यानी फली। इसी प्रकार मूंग, मोठ और उड़द की भी फली। सेंगा=फली (मराठी भाषा में आज भी प्रयुक्त) होती है, कच्ची होने से साधु को लेना कल्पनीय नहीं है।

३. जाव से गाहावइकुलं से लेकर समाणे तक का समग्र पाठ सू० ३२४ के अनुसार है।

४. यहाँ जाव शब्द से अफासुय से लेकर णो पडिगाहेज्जा तक का समग्र पाठ सूत्र ३२४ के अनुसार समझें।

५. अच्छियं के स्थान पर कहीं-कहीं अच्छिकं, कहीं अत्थियं पाठान्तर मिलता है। अर्थ दोनों का समान है। चूर्णिकार 'अत्थियं' पाठ मानकर कहते हैं—अत्थियं कुम्भीए पच्चति—अस्थिक कुंभी में पकाया जाता है।

६. तुलना कीजिए—
'...... अत्थियं तिंदुयं बिल्लं उच्छुखंडं व सिंबलिं ......।' —दसवै० ५/१/७४

७. कणपूयलि की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में—'कणा तदुलकणियाओ, कुंडओ कुक्कुसा, तेहिं चेव पूयलिता आमिता।' अर्थात् कण=चावल के दाने, कुंड—कहते हैं उनके चोकर (छाणस) को, चोकर में चावल के भूसे सहित दाने होते हैं, जो सचित्त होने से उसकी पोली (रोटी) बनाते समय साथ में रह जाते हैं, इसलिए ग्राह्य नहीं है।

८. चूर्णिकार मान्य पाठान्तर इस प्रकार है—तिलपप्पड आमगं असत्थपरिणयं लाभे संते णो पडिग्गाहेज्जा। तिलपपड़ी, कच्ची (अपक्व) और अशस्त्र-परिणत होने से मिलने पर भी ग्रहण न करे।

[illegible]

यसुसरक—गंडेरी है, संकरेनु, निस्सारक, कसेरू, सिंघाड़ा
है, अथवा अन्य इसीप्रकार की वनस्पति विशेष है, जो अपक
है, तो उसे अप्रासुक और अनेषणीय जानकर मिलने पर भी

३८३. गृहस्थ के यहाँ भिक्षा के लिए प्रविष्ट साधु या
नीलकमल आदि या कमल की नाल है, पद्म कन्दमूल है,
पद्मकेसर है, या पद्मकन्द है, तथा इसीप्रकार का अन्य
शस्त्र-परिणत नहीं है तो उसे अप्रासुक व अनेषणीय जानकर

३८४. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट साधु
अग्रबीज वाली, मूल बीज वाली, स्कन्धबीज वाली तथा
अग्रजात मूलजात, स्कन्धजात तथा पर्वजात वनस्पति है,
मूल आदि पूर्वोक्त भागों के सिवाय अन्य भाग में उत्पन्न
(गर्भ), कन्दली का स्तबक, नारियल का गूदा खजूर का गूद
प्रकार की कच्ची और अशस्त्र-परिणत वनस्पति है, उसे अप्र
मिलने पर भी ग्रहण न करे।

३८५. गृहस्थ के यहाँ प्रविष्ट साधु या साध्वी
छेद वाला काना ईख है, तथा जिसका रंग बदल गया है,
ने थोड़ा-सा खा भी लिया है, ऐसा फल है, तथा बेंत का अग्र
एवं इसी प्रकार की अन्य कोई वनस्पति है, जो कच्ची और
अप्रासुक और अनेषणीय समझ कर मिलने पर भी न ले।

३८६. गृहस्थ के घर में आहारार्थ प्रविष्ट साधु या स
है, लहसुन का पत्ता, उसकी नाल (डंडी) लहसुन का कंद
छाल, या अन्य उस प्रकार की वनस्पति है, जो कि कच्ची (
तो उसे अप्रासुक और अनेषणीय मानकर मिलने पर ग्रहण न

३८७. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट साधु
वहाँ आस्थिक वृक्ष के फल, टेम्बरु के फल, टिम्ब (बेल) का

अन्य उसी प्रकार का पदार्थ है जो कि कच्चा और अशस्त्र परिणत है, तो उसे अप्रासुक और अनेषणीय जान कर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

विवेचन — अपक्व और अशस्त्रपरिणत आहार क्यों अग्राह्य — सू० ३७४ से ३८८ तक में मुख्य रूप से विविध प्रकार की वनस्पति से जनित आहार को आमक,[1] अपक्व, अशस्त्र परिणत, या अधिकोज्झितधर्मी — अधिक भाग फेंकने योग्य, पुराने बासी सड़े हुए जीवोत्पत्ति युक्त आदि लेने का निषेध किया है, क्योंकि वह अप्रासुक और अनेषणीय होता है। यों तो अधिकांश आहार वनस्पतिजन्य ही होता है, फिर भी कुछ आहार गोरस (दूध, दही, मक्खन, घी आदि) जनित और कुछ प्राणियों द्वारा संगृहीत (मधु आदि) आहार होता है।[2]

शास्त्र में वनस्पति के दस प्रकार बताए हैं —

१ मूल,	२ कन्द,
३ स्कन्ध,	४ त्वचा,
५. शाखा,	६. प्रवाल,
७. पत्र,	८. पुष्प,
९. फल और	१०. बीज।[3]

इनमें से त्वचा (छाल) शाखा, पुष्प आदि कुछ चीजें तो सीधी आहार में काम नहीं आतीं, वे औषधि के रूप में काम आती हैं। यहाँ इन दसों में आहारोपयोगी कुछ वनस्पतियों के प्रकार बता कर उन्हीं के समान अन्य वनस्पतियों को कच्ची, अपक्व, अर्धपक्व, या अशस्त्र-परिणत के रूप में लेना निषिद्ध बताया है। इन सूत्रों में क्रमशः इन वनस्पतियों का उल्लेख किया है—

(१) कमल आदि का कन्द, (२) पिप्पल, मिर्च, अदरक आदि का चूर्ण, (३) आम्र आदि

१. 'अपक्व'—शास्त्रों में 'आम' शब्द अपक्व के अर्थ में तथा 'असिद्ध' शब्द 'शस्त्र-अपरिणत' 'अशस्त्र परिणत'—के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
'जो फल पक कर वृक्ष से स्वयं नीचे गिर जाता है या पकने पर तोड़ लिया जाता है, उसे पक्व कहते हैं। पक्व फल भी सचित्त-बीज, गुठली आदि से संयुक्त होता है। जब उसे शस्त्र से विदारित कर, बीज आदि को दूर कर या अग्नि आदि से संस्कारित कर दिया जाता है, तब वह 'भिन्न' अथवा शस्त्र-परिणत कहलाता है। आमक—अर्धपक्व या अर्धसंस्कारित फल भी सचित्त एवं शस्त्र-अपरिणत (अग्राह्य) कोटि में गिना गया है।
—देखें बृहत्कल्प सूत्र उद्देशक १ सूत्र १-२ की व्याख्या (कप्पसुत्तं १/१-२, मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल')
२. आचारांग मूल एवं वृत्ति पत्रांक ३४७-३४८।
३. दशवै० जिनदास चूर्णि पृ० १३८—

मूले कंदे खंधे तया य साले तहप्पवाले य।
पत्ते पुप्फे य फले बीए दसमे य नायव्वा॥

के प्रलम्ब फल (४) विविध वृक्षों के प्रवाल, (५) कपित्थ आदि के कोमल फल, (६) गूलर, बड़, पीपल आदि का मंथु (चूर्ण), (७) जलज वनस्पतियाँ, (८) पद्म आदि कन्द के मूल आदि (९) अग्र-मूल-स्कन्ध-पर्व-बीजोत्पन्न वनस्पतियाँ, (१०) ईख, बेंत आदि की विकृति (११) लहसुन और उसके सभी अवयव, (१२) आस्थिक आदि वृक्षों के फल, (१३) बीज रूप वनस्पति और तन्निर्मित आहार, (१४) अधपके पत्तों की भाजी, सड़ी खली, तथा विकृत गोरस जनित आहार।[1]

उत्तराध्ययन सूत्र (अ-३६) में वनस्पतिकाय के मुख्यतया दो भेद बताए हैं—(१) साधारण और (२) प्रत्येक।

साधारण वनस्पति में शरीर एक होता है, तथा प्राण—आत्माएँ अनेक होती हैं, जैसे कन्द, मूल, आलू, अदरक, लहसुन, हलदी आदि। प्रत्येक शरीरवासी वनस्पति (जिसके एक शरीर में आत्मा भी एक ही होती है) वृक्ष, गुल्म, गुच्छ, लता, वल्ली, तृण, वलय पर्व, कुहुण, जलरुह, औषधि (गेहूँ आदि अन्न), तने, हरित (हरियाली दूब आदि) अनेक प्रकार की होती है।[2]

यहाँ जितनी भी वनस्पतियों का निर्देश किया है, वे जब तक हरी, या कच्ची होती हैं, किसी स्व-काय, पर-काय या उभय-काय शस्त्र से परिणत नहीं होतीं, या फल के रूप में परिपक्व नहीं होतीं, तब तक अप्रासुक (सचित्त) और अनेषणीय मानी जाती हैं, वे साधु के लिए ग्राह्य नहीं होतीं।

सालुय आदि पदों के अर्थ—शालूक आदि अपक्वरूप में खाए जाते हैं, इसलिए इनके ग्रहण का निषेध किया गया है। सालुयं=उत्पल-कमल का कन्द (जड़)। यह जलज कन्द होता है। विरालियं=पलाशकन्द, विदारिका का कन्द। यह कन्द स्थलज और पत्तों से उत्पन्न होता है।[3] सासवनालियं=सर्षप (सरसों) की नाल।[4] पिप्पलि=कच्ची हरी पीपर। पिप्पल चुण्ण—हरी पीपर को पीस कर उसकी चटनी बनाई जाती है, या उसे कूट कर चूर-चूर किया जाता है, उसे पीपर का चूर्ण कहते हैं। मिरियं—काली या हरी कच्ची मिर्च। सिंगबेरं=कच्चा अदरक। सिंगबेरचुण्णं=कच्चे अदरक को कूट पीस कर चटनी बनाई जाती है।[5] पलंब=लम्बा लटकनेवाला फल।[6] पवाल=नवांकुर या किसलय नया कोमल पत्ता।[7] सरडुय=

---

१. आचारांग वृत्ति के आधार पर पत्रांक ३४७-३४८।
२. उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३६ गा० ९४ से १०० तक।
३. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४७, (ख) दशवै० ५/२/१८ हारि० टीका प० १८५।
४. दशवै० ५/२/१८ जिन० चूर्णि पृ० १९७।
५. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४७।
६. पाइअ सद्दमहण्णवो पृ० ५९६।
७. पाइअ सद्दमहण्णवो पृ० ५७५।

जिसमें गुठली न बंधी हो, ऐसा कोमल (कच्चा) फल।[1] मंथु=फल का कूटा हुआ चूर्ण, चूरा, बुकनी।[2] आमग=कच्चा। दुरुक्कं=थोड़ा पीसा हुआ। साणुबीयं=जिसका योनि बीज विध्वस्त न हुआ हो। उच्छुमेरकं=ईख का छिलका उतार कर छोटे-छोटे टुकड़े किये हुए हों, वह गंडेरी। शंकरेलुअ आदि सिंघाड़े की तरह जल में पैदा होने वाली वनस्पतियां हैं।[3] अग्गबीयाणि=उत्पादक भाग को बीज कहते हैं जिसके अग्र भाग बीज होते हैं, जैसे—कोरंटक, जपापुष्प आदि वे अग्रबीज कहलाते हैं। मूलबीयाणि=जिन (उत्पलकंद आदि) के मूल ही बीज हैं। खंधबीयाणि=जिन (अश्वत्थ, थूहर, कैथ आदि) के स्कन्ध ही बीज हैं, वे। पोरबीयाणि=जिन (ईख आदि) के पर्व—पोर ही बीज हैं, वे। काणग=छिद्र हो जाने से काना फल, या ईख। अंगारिय=रंग बदला हुआ, या मुर्झाया हुआ फल। सम्मिस्सं=जिसका छिलका फटा हुआ हो। वियदूमियं=सियारों द्वारा थोड़ा खाया हुआ। वेत्तग्ग=बेंत का अग्र भाग। लसुणचोयग=लहसुन के ऊपर का कड़ा छिलका।[4] अत्थियं आदि प्रत्येक कुम्भीपक्व से सम्बन्धित हैं।[5] आमडाग=कच्चा हरा पत्ता, जो अपक्व या अर्धपक्व हो, पूतिपिण्णाग का अर्थ—सड़ा हुआ खल होता है, दशवैकालिक जिनदास चूर्णि के अनुसार पूति का अर्थ सरसों की पिट्ठी का पिण्ड है। पिण्याक का अर्थ है—खल।[6]

पुराने मधु-मद्य-घृतादि अग्राह्य—मधु, मद्य, घृत आदि कुछ पुराने हो जाने पर इनमें उनके ही जैसे रंग के जीव पैदा हो जाते है, जो वहीं बार-बार जन्म लेते, बढ़ते हैं, जो वहीं बने रहते है। इसीलिए कहा है—एत्थ पाणाअणुप्पसूता ......अविद्धत्था।[7]

'तक्कलीमत्थएण' का तात्पर्य—कन्दली के मस्तक, (मध्यवर्ती गर्भ), कंदली के सिर, नारियल के मस्तक और खजूर के मस्तक के सिवाय अन्यत्र जीव नहीं होता। इनके मस्तक स्थान छिन्न होते ही जीव समाप्त हो जाता है।[8]

३८९. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

३८९. यह (वानस्पतिकायिक आहार-गवेषणा) उस भिक्षु या भिक्षुणी की (ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि से सम्बन्धित) समग्रता है।[9]

॥ अट्ठम उद्देसओ समत्तो ॥

---

१. (क) पाइअसद्द० पृ० ८७२। (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४७।
२ (क) पाइअसद्द० पृ० ६६४। (ख) दशवै० जिन० चूर्णि पृ० १९०।
३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४८।
४. (क) दशवै० हारि० टीका प० १११। (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४८।
५. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४९।
६. (क) आचारांग वृत्ति पत्र ३४८। (ख) दशवै० जिन० चूर्णि पृ० १९६।
७ आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४८।
८. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४८। (ख) आचा० चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० १३३
९. इसका विवेचन ३३४वें सूत्र के अनुसार समझें।

वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा संतेगतिया सड्ढा भवंति

वा। तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति—जे इमे भवंति समणा

गवंता संजता संवुडा बंभचारी उवरया मेहुणाओ धम्माओ णो

ए असणे वा पाणे वा खाइमे वा साइमे वा भोत्तए वा पातए

रणो अट्ठाए णिट्ठितं, तंजहा—असणं वा ४, सव्वमेयं समणाणं

उ वि अप्पणो सयट्ठाए असणं वा ४ चेतिस्सामो। एयप्पगारं

रगारं असणं वा ४ अफासुयं अणेसणिज्जं जाव लाभे संते णो

जाव[1] समाणे वा वसमाणे[2] वा गामाणुगामं वा दूइज्जमाणे, से

व रायहाणि वा इमंसि खलु गामंसि वा[3] जाव रायहाणिंसि वा

या वा पच्छासंथुया वा परिवसंति, तंजहा—गाहावती वा जाव

कुलाइं णो पुव्वामेव भत्ताए वा पाणाए वा णिक्खमेज्ज वा

ई। पुरा पेहा एतस्स परो अट्ठाए असणं वा ४ उवकरेज्ज[4] वा

पुव्वोवदिट्ठा ४[5] जं णो तहप्पगाराइं कुलाइं पुव्वामेव भत्ताए

णक्खमेज्ज वा।

कमेज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा, से तत्थ

त लेकर कम्मकरी तक का समग्र पाठ सू० ३४७ के अनुसार समझें।

र्ग से लेकर समाणे तक का पाठ सू० ३२४ के अनुसार समझें।

में चूर्णिकार कहते हैं—समाणावी—वुड्ढवासिता—'समाण' आदि के

र है देखें सूत्र ३५० पृष्ठ ४५ का टिप्पण ३।

से लेकर रायहाणिंसि तक का सारा पाठ सू० ३३८ के अनुसार समझें।

र के स्थान पर उवकरेज्ज वा उवक्खडेज्ज वा पाठ मानकर चूर्णिकार

स प्रकार करते हैं—उवकरेति परिवच्छेति, उवक्खडेति रंधेति। अर्थात्

ी एकत्रित करता है, उवक्खडेति=पकाता है।

चिन्ह सू० ३५७ के अनुसार एस पतिण्णा आदि चार बातों का सूचक

(२) पूर्व-पश्चात्-परिचित गृहस्थों के यहाँ भिक्षाकाल से पूर्व न जाए, (३) कदाचित अनजाने में चला भी जाए, तो उन घरों में बचकर अन्य घरों में भिक्षा करे। (४) भिक्षाकाल में भिक्षाटन करते देख परिचित गृहस्थ को आधाकर्मिक दोषयुक्त आहार बनाते जान कर उसे वैसा करने से इन्कार कर दे, (५) फिर भी बनाकर देने लगे तो उस आहार को न ले।

आधाकर्म के साथ-साथ उद्गम के अन्य दोष भी अपने खास परिचित घरों से लेने में लगने की सम्भावना हो।[1]

ग्रासैषणा दोष-परिहार

३९३. से भिक्खू वा २ जाव[2] समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा, मंसं वा मच्छं वा[3] भज्जिज्जमाणं पेहाए तेल्लपूयं वा आएसाए उवक्खडिज्जमाणं पेहाए णो खद्धं खद्धं उवसंकमित्तु ओभासेज्जा णण्णत्थ गिलाणाए।[4]

३९४. से भिक्खू वा २ जाव समाणे अण्णतरं भोयणजातं पडिगाहेत्ता सुब्भि सुब्भि भोच्चा दुब्भि दुब्भि परिट्ठवेति। मातिट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा।

सुब्भि[5] वा दुब्भि वा सव्वं भुंजे ण छड्डए।

३९५. से भिक्खू वा २ जाव समाणे अण्णतरं वा पाणगजायं पडिगाहेत्ता पुप्फं पुप्फं आविइत्ता कसायं कसायं परिट्ठवेति। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा। पुप्फं पुप्फे ति वा कसायं कसाए ति वा सव्वमेयं भुंजेज्जा, ण किंचि वि परिट्ठवेज्जा।

३९६. से भिक्खू वा २ बहुपरियावण्णं भोयणजायं पडिगाहेत्ता साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुण्णा अपरिहारिया अदूरगया। तेसिं अणालोइया अणामंतिया[6] परिट्ठवेति। मातिट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा।

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५१ के आधार पर।

२. यहाँ जाव शब्द से गाहावइकुलं से लेकर समाणे तक का पाठ सूत्र ३२४ के अनुसार समझें।

३. 'मंसं वा ···तेल्लपूयं वा' तक चूर्णिकार मान्य पाठान्तर इस प्रकार है—मंसं वा मच्छं वा भज्जिज्जमाणं पेहाए सक्कुलिं वा पूयं वा तेल्लपूयं वा। अर्थात मांस और मत्स्य को भूंजे जाते हुए देखकर, पूरी-पुआ या तेल का पुआ कड़ाही में बनाते देखकर·······।

४. णण्णत्थ गिलाणाए के स्थान पर णण्णत्थ गिलाणिए,······गिलाणोए, णण्णत्थ गिलाणो आदि पाठान्तर मिलते हैं। चूर्णिकार ने तीसरा पाठान्तर माना है जिसका अर्थ है—ग्लान (रोगी) के सिवाय।

५. 'सुब्भि······से लेकर छड्डए' तक का पाठान्तर इस प्रकार है—'सुब्भि ति वा दुब्भि ति वा सव्वमेव भुंजिज्जा, णो किंचि वि परिट्ठविज्जा' सुगन्धित हो या दुर्गन्धित, उस सब आहार का—उपभोग कर ले, किंचित् भी न परठे=न डाले।

६. अणामंतिया के स्थान पर अणामंतिया पाठ किसी-किसी प्रति में मिलता है। उसका अर्थ है—दूसरे की अपेक्षा किये बिना।

से समाहाए तत्थ गच्छेज्जा २ [त्ता][1] से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसंतो समणा ! इमे मे असणे वा ४ बहुपरियावण्णे, तं भुंजह व णं[2] [परिभाएह व णं]। से सेवं वदंतं परो वदेज्जा—आउसंतो समणा ! आहारमेतं असणं वा ४ जावतियं २[3] सरति तावतियं २ भोक्खामो वा पाहामो वा । सव्वमेयं परिसडति सव्वमेयं भोक्खामो वा पाहामो वा ।

३९३ गृहस्थ के घर में साधु या साध्वी के प्रवेश करने पर उसे यह ज्ञात हो जाए कि वहाँ अपने किसी अतिथि के लिए मांस या मत्स्य भूना जा रहा है, तथा तेल के पुए बनाए जा रहे हैं, इसे देखकर वह अतिशीघ्रता से पास में जाकर याचना न करे। रुग्ण साधु के लिए अत्यावश्यक हो तो किसी पथ्यानुकूल सात्त्विक आहार की याचना कर सकता है।

३९४. गृहस्थ के यहाँ आहार के लिए जाने पर वहाँ से भोजन लेकर जो साधु सुगन्धित (अच्छा-अच्छा) आहार स्वयं खा लेता है और दुर्गन्धित (खराब-खराब) बाहर फेंक देता है, वह माया-स्थान का स्पर्श करता है। उसे ऐसा नहीं करना चाहिए। अच्छा या खराब, जैसा भी आहार प्राप्त हो, साधु उसका समभावपूर्वक उपभोग करे, उसमें से किंचित् भी फेंके नहीं।

३९५. गृहस्थ के यहाँ पानी के लिए प्रविष्ट जो साधु-साध्वी वहाँ से यथाप्राप्त जल लेकर वर्ण-गन्ध-युक्त (मधुर) पानी को पी जाते हैं, और कसैला-कसैला पानी फेंक देते हैं, वे मायास्थान का स्पर्श करते हैं। ऐसा नहीं करना चाहिए। वर्ण-गन्धयुक्त अच्छा या कसैला जैसा भी जल प्राप्त हुआ हो, उसे समभाव से पी लेना चाहिए, उसमें से जरा-सा भी बाहर नहीं डालना चाहिए।

३९६. भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट साधु-साध्वी उसके यहाँ से बहुत-सा (आवश्यकता से अधिक) नाना प्रकार का भोजन ले आएँ (और उतना खाया न जाए तो) वहाँ जो साधर्मिक, सांभोगिक समनोज्ञ तथा अपरिहारिक साधु-साध्वी निकटवर्ती रहते हों, उन्हें पूछे (दिखाए) बिना एवं निमंत्रित किये बिना जो साधु-साध्वी उस आहार को परठ (डाल) देते हैं, वे मायास्थान का स्पर्श करते हैं, उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।

वह साधु उस आहार को लेकर उन साधर्मिक, समनोज्ञ साधुओं के पास जाए। वहाँ जाकर सर्वप्रथम उस आहार को दिखाए और इस प्रकार कहे-आयुष्मान् श्रमणो ! यह चतुर्विध आहार हमारी आवश्यकता से बहुत अधिक है, अतः आप इसका उपभोग करें, और अन्यान्य भिक्षुओं को वितरित कर दें। इस प्रकार कहने पर कोई भिक्षु यों कहे कि—'आयुष्मान् श्रमण!

---

१. यहाँ '२' का चिन्ह गम धातु की पूर्वकालिक क्रिया के रूप गच्छित्ता का सूचक है।

२. तं भुंजह व णं आदि पाठ की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—जे असणपाणखाइमसाइमे भुंजह वा णं परिभाएह वा णं=भुंजंथ सतमेव परिभाएध अण्णमण्णेसिं देह। अर्थात्—इस अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का स्वयं उपभोग करो और अन्यान्य साधुओं को दो।

३. यहाँ '२' का चिन्ह पुनरावृत्ति का सूचक है।

ग्रासैषणा-विवेक

३६७. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं व ४ परं समुद्दिस्स बहिया णीहडं तं परेहिं असमणुण्णातं अणिसिट्ठं[1] अफासुयं जाव[2] णो पडिगाहेज्जा। तं परेहिं समणुण्णातं समणुसट्ठं[3] फासुयं जाव[4] लाभे संते पडिगाहेज्जा।

३६७. गृहस्थ के घर में आहार प्राप्ति के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि दूसरे (गुप्तचर, भाट आदि) के उद्देश्य से बनाया गया आहार देने के लिए निकाला गया है, परन्तु अभी तक उस घरवालों ने उस आहार को ले जाने की अनुमति नहीं दी है और न ही उन्होंने उस आहार को ले जाने या देने के लिए उन्हें सोपा है, (ऐसी स्थिति में) यदि कोई उस आहार को लेने की साधु को विनति करे तो उसे अप्रासुक एवं अनेषणीय जान कर स्वीकार न करे।

यदि गृहस्वामी आदि ने गुप्तचर भाट आदि को उक्त आहार ले जाने की भलीभांति अनुमति दे दी है तथा उन्होंने वह आहार उन्हें अच्छी तरह से सोप दिया है और कह दिया है—तुम जिसे चाहो दे सकते हो, (ऐसी स्थिति में) साधु को कोई विनति करे तो उस आहार को प्रासुक और एषणीय समझकर ग्रहण कर लेवें।

विवेचन—आहार-ग्रहण मे विवेक—इस सूत्र में एक के स्वामित्व का आहार दूसरा कोई देने लगे तो साधु को कब लेना है, कब नहीं ? इस सम्बन्ध में स्पष्ट विवेक बताया है। जिसका उस आहार पर स्वामित्व है, उस घरवाले यदि दूसरे व्यक्ति को उस आहार को सोप दे और यथेच्छ दान की अनुमति दे दें तो वह आहार साधु के लिए ग्राह्य है अन्यथा नहीं।

णीहड आदि पदों के अर्थ—*णीहडं* = निकाला गया है, *असमणुण्णातं* = किसको देना है, इसकी सम्यक् प्रकार से अनुज्ञा (अनुमति) नहीं दी गई है, *अणिसिट्ठं* = सोपा नहीं गया है।[5]

३६८. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

३६८. यही उस भिक्षु या भिक्षुणी की (ज्ञान-दर्शनादि की) समग्रता है।[6]

॥ णवमो उद्देसओ समत्तो ॥

---

१. इसके स्थान पर असमणिट्ठ पाठान्तर है। अर्थ होता है—सम्यक् प्रकार से नहीं दिया गया है।
२. अफासुयं के बाद जाव शब्द अणेसणिज्जं मण्णमाणे लाभे सते—इतने पाठ का सूचक है।
३. समणुसट्ठं के स्थान पर पाठान्तर मिलते हैं। समणिसट्ठं, समणिट्ठं णिसट्ठं तथा णिसिट्ठं आदि। अर्थ क्रमश यो है—सम्यक् रूप से सौंप दिया, अच्छी तरह से दिया है, दे दिया है, सोप दिया है।
४. यहाँ फासुय के बाद जाव शब्द एसणिज्जं मण्णमाणे—इतने पाठ का सूचक है।
५. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५२
६. इसका विवेचन सूत्र ३३४ के अनुसार समझें।

दसमो उद्देसओ

दशम उद्देशक

आहार-वितरण विवेक

३९९. से एगतिओ साहारणं वा पिंडवातं पडिगाहेत्ता ते साहम्मिए अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खद्धं खद्धं दलाति । मातिट्ठाणं संफासे । णो एवं करेज्जा ।

से समायाए तत्थ गच्छेज्जा, गच्छित्ता पुव्वामेव एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! संति मम पुरेसंथुया वा पच्छासंथुया वा, तंजहा—आयरिए वा उवज्झाए वा पवत्ती वा थेरे वा गणी वा गणधरे वा गणावच्छेइए वा, अवियाइं एतेसिं खद्धं खद्धं दाहामि ?[+] से णेवं वदंतं परो वदेज्जा—कामं[1] खलु आउसो ! अहापज्जत्तं निसिराहि ।[+] जावइयं २ परो वदति तावइयं[2] २ णिसिरेज्जा । सव्वमेतं परो वदति सव्वमेयं णिसिरेज्जा ।

४००. से एगइओ मणुण्णं भोयणजातं पडिगाहेत्ता पंतेण भोयणेण पलिच्छाएति 'मामेतं दाइयं संतं दट्ठूणं सयमादिए[3] तं [जहा–] आयरिए वा जाव गणावच्छेइए वा' । णो खलु मे कस्सइ किंचि वि दातव्वं सिया । माइट्ठाणं संफासे । णो एवं करेज्जा ।

से समायाए तत्थ गच्छेज्जा, २ [त्ता] पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे पडिग्गहं कट्टु इमं खलु त्ति आलोएज्जा । णो किंचि वि विणिगूहेज्जा ।[4]

४०१. से एगतिओ अण्णतरं भोयणजातं पडिगाहेत्ता भद्दयं भद्दयं भोच्चा विवण्णं विरसमाहरति । मातिट्ठाणं संफासे । णो एवं करेज्जा ।

३९९. कोई भिक्षु बहुत-से साधुओं के लिए गृहस्थ के यहाँ से साधारण अर्थात् सम्मिलित आहार लेकर आता है और उन साधर्मिक साधुओं से बिना पूछे ही (अपनी इच्छा से) जिसे-जिसे चाहता है, उसे-उसे बहुत-बहुत दे देता है; तो ऐसा करके वह माया-स्थान का स्पर्श करता है। उसे ऐसा नहीं करना चाहिए।

असाधारण आहार प्राप्त होने पर भी आहार को लेकर गुरुजनादि के पास आए; वहाँ जाते ही सर्वप्रथम इस प्रकार कहे—"आयुष्मन् श्रमणो ! यहाँ मेरे पूर्व-परिचित (जिनसे दीक्षा अंगीकार की है) तथा पश्चात्-परिचित (जिनसे श्रुताभ्यास किया है), जैसे कि आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणधर (गच्छ प्रमुख) या गणावच्छेदक आदि; अगर

+ इस चिन्ह का पाठ कुछ प्रतियों में नहीं है।

1. कामं खलु आउसो......आदि पाठ की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—कामं णाम इच्छातः अहापज्जत्तं अहापज्जत्तं, जावइयं वा वदेज्जा। काम का अर्थ है—स्वेच्छा से, जिसके लिए जितना पर्याप्त हो, अथवा जितना आचार्यादि कहें......।
2. जावइयं और तावइयं के पश्चात् '२' का चिन्ह उसी की—पुनरावृत्ति का सूचक है।
3. इसके स्थान पर सयमाइए, सतमातिए पाठान्तर मिलते हैं। अर्थ समान है।
4. इसके स्थान पर पाठान्तर है—विणिगहेज्जा, णिगहेज्जा, णिगूहेज्जा, अर्थ क्रमशः यों है—अदला-बदली (हेरा-फेरी) करे, अपने कब्जे में करे, छिपाए—माया करे।

आपकी अनुमति हो तो मैं इन्हें पर्याप्त आहार दूं।" उसके इस प्रकार कहने पर यदि गुरुजनादि कहें—'आयुष्मन् श्रमण! तुम अपनी इच्छानुसार उन्हें यथापर्याप्त आहार दे दो।' ऐसी स्थिति में वह साधु जितना-जितना वे कहें, उतना-उतना आहार उन्हें दे दें। यदि वे कहें कि 'सारा आहार दे दो', तो सारा का सारा दे दें।

४००. यदि कोई भिक्षु भिक्षा में सरस स्वादिष्ट आहार प्राप्त करके उसे नीरस तुच्छ आहार से ढक कर छिपा देता है, ताकि आचार्य, उपाध्याय, यावत् गणावच्छेदक आदि मेरे प्रिय व श्रेष्ठ इस आहार को देखकर स्वयं न ले लें। मुझे इसमें से किसी को कुछ भी नहीं देना है। ऐसा करने वाला साधु मायास्थान का स्पर्श करता है। साधु को ऐसा छल-कपट नहीं करना चाहिए।

वह साधु उस आहार को लेकर आचार्य आदि के पास जाए और वहाँ जाते ही सबसे पहले झोली खोल कर पात्र को हाथ में ऊपर उठा कर 'इस पात्र में यह है, इसमें यह है', इस प्रकार एक-एक पदार्थ उन्हें बता दे। कोई भी पदार्थ जरा-सा भी न छिपाए।

४०१. यदि कोई भिक्षु गृहस्थ के घर से प्राप्त भोजन को लेकर मार्ग में ही कहीं, सरस-सरस आहार को स्वयं खाकर शेष बचे तुच्छ एवं नीरस आहार को उपाश्रय में आचार्यादि के पास लाता है, तो ऐसा करने वाला साधु मायास्थान का सेवन करता है। साधु को ऐसा नहीं करना चाहिए।

विवेचन—स्वाद-लोलुपता और प्रच्छन्नता—साधु-जीवन में जरा-सी भी माया अनेक दोषों, यहाँ तक कि सत्य, अहिंसा और अस्तेय, इन तीन महाव्रतों का ध्वंस कर देती है, क्योंकि ऐसा साधक मायावश वास्तविकता को छिपाता है, इसमें सत्य महाव्रत को आंच आती है, तथा मायावश महान् रत्नाधिकों को न बताकर छिप-छिप कर सरस आहार स्वयं खा जाता है, इसमें अचौर्य महाव्रत भंग होता है, तथा मायावश प्रासुक, एषणीय एवं कल्पनीय का विचार न करके जैसा-तैसा दोषयुक्त आहार ले आता है तो अहिंसा-महाव्रत भी खण्डित हो जाता है। आहार-वितरण में पक्षपात करता है तो समता का भी नाश हो जाता है; साथ ही स्वाद-लोलुपता भी बढ़ती जाती है।[1]

इन तीनों सूत्रों में स्वादलोलुपता और माया से बचने का स्पष्ट निर्देश किया गया है। इन तीन सूत्रों में माया-दोष के तीन कारणों की सम्भावना का चित्रण प्रस्तुत किया गया है—(१) आहार-वितरण के समय पक्षपात करने से, (२) सरस आहार को नीरस आहार से दबा कर रखने से, (३) भिक्षा-प्राप्त सरस आहार को उपाश्रय में लाए बिना बीच में ही कहीं खा लेने से।[2]

---

१ (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५३ के आधार पर, 　　(ख) दशवै० ५/२/३१-३२, ३४, ३५

२. तुलना कीजिए—सिया एगइओ लद्धुं विविहं पाणभोयणं।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा विवण्णं विरसमाहरे॥ 　—दशवै० ५/२/३३

पुरेसंथुया, पच्छासंथुया आदि शब्दों के अर्थ—यहाँ प्रसंगवश पुरेसंथुया का अर्थ होता है—पूर्व-परिचित—जिन श्रमण महापूज्य से मैंने दीक्षा ग्रहण की है, वे तथा उनसे सम्बन्धित, तथा पच्छासंथुया का अर्थ होता है—जिन महाभाग से मैंने शास्त्रों का अध्ययन—श्रवण किया है, वे तथा उनसे सम्बन्धित—पश्चात्-परिचित। पवत्ती=साधुओं को वैयावृत्य आदि में यथायोग्य प्रवृत्त करने वाला प्रवर्तक। थेरे=स्थविर साधु जो संयम आदि में विषाद पाने वाले साधुओं को स्थिर करता है। गणी=गच्छ का अधिपति। गणधरे=गुरु के आदेश से साधुगण को लेकर पृथक् विचरण करने वाला आचार्यकल्प मुनि। गणावच्छेइए=गणावच्छेदक—गच्छ के कार्यों हितों का चिन्तक। अवियाइं=इत्यादि, खद्धं खद्धं=अधिक-अधिक। णितिरेज्जा=दे। पलिच्छाएति=आच्छादित कर (ढक) देता है। सयमाए=स्वयं खाऊँगा। 'दाइए'=दिया गया है। उत्ताणए हत्थे=सीधी हथेली में। विणिगूहेज्जा=छिपाए।[1]

बहु-उज्झितधर्मी-आहार-ग्रहण निषेध

४०२. से भिक्खू वा २[2] से ज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुमेरगं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा संबलिं वा संबलियालिगं[3] वा, अस्सि खलु पडिग्गाहितंसि अप्पे भोयणजाते बहुउज्झियधम्मिए, तहप्पगारं अंतरुच्छुयं वा जाव संबलियालिगं वा अफासुयं जाव[4] णो पडिगाहेज्जा।

४०३. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा बहुअट्ठियं वा मंसं मच्छं वा बहुकंटगं, अस्सि खलु पडिग्गाहितंसि अप्पे भोयणजाते बहुउज्झियधम्मिए, तहप्पगारं बहुअट्ठियं वा मंसं मच्छं वा बहुकंटगं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

४०४. से भिक्खू वा २ जाव[5] समाणे सिया णं परो बहुअट्ठिएण मंसेण उवणिमंतेज्जा-आउसंतो समणा! अभिकंखसि बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहेत्तए? एतप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भइणी ति वा णो खलु मे कप्पति बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहेत्तए। अभिकंखसि मे दाउं, जावतितं[6] तावतितं पोग्गलं दलयाहि, मा अट्ठियाइं।

से सेवं वदंतस्स परो अभिहट्टु अंतोपडिग्गहगंसि बहुअट्ठियं मंसं परियाभाएत्ता णिहट्टु

1. [illegible] चूर्णि [illegible] ३५।
2. यहाँ '२' का चिह्न [illegible] का सूचक है।
3. संबलियालिगं के स्थान पर पाठान्तर है, सिंबलिथालिगं, सिंबलिथालियं, संबलिथालगं, सिंबलिथालगं। अर्थ एक-सा है।
4. यहाँ जाव शब्द अफासुयं से लेकर णो पडिगाहेज्जा तक के पाठ का सूत्र ३२४ के अनुसार सूचक है।
5. यहाँ जाव शब्द सू० ३२४ के अनुसार गाहावइकुलं से समाणे तक के पाठ का सूचक है।
6. इसके स्थान पर चूर्णिकार (सम्मत) [illegible] पोग्गलं ......पाठान्तर है।

दलपुज्जा। तहप्पगारं पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा।

से य आहच्च पडिगाहिते सिया, तं णो[1] हि त्ति वएज्जा, णो धि त्ति वएज्जा, णो अणह त्ति वएज्जा। से त्तमादाय एगंतमवक्कमेज्जा, २ [त्ता] अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे[2] जाव संताणए मंसगं मच्छगं भोच्चा अट्ठियाइं कंटए गहाए से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, २ [त्ता] अहे झामथंडिल्लंसि वा[3] जाव पमज्जिय पमज्जिय परिट्ठवेज्जा।

४०२. गृहस्थ के घर मे आहार के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि वहाँ ईख के पर्व का मध्य भाग है, पर्व-सहित इक्षुखण्ड (गंडेरी) है, पेरे हुए ईख के छिलके हैं, छिला हुआ अग्रभाग है, ईख की बड़ी शाखाएँ हैं, छोटी डालियाँ हैं, मूंग आदि की तोड़ी हुई फली तथा चौले की फलियाँ पकी हुई है. (किसी निमित्त से अचित्त है), परन्तु इनके ग्रहण करने पर इनमें खाने योग्य भाग बहुत थोड़ा और फेंकने योग्य भाग बहुत अधिक है, (ऐसी स्थिति में) इस प्रकार के अधिक फेंकने योग्य आहार को अकल्पनीय और अनेषणीय मानकर मिलने पर भी न ले।

४०३. गृहस्थ के यहाँ आहार के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि इस गूदेदार पके फल (मांस) में बहुत गुठलियाँ (अस्थि) है, या इस अनन्नास (मच्छ) मे बहुत काँटे है, इसे ग्रहण करने पर इस आहार में खाने योग्य भाग अल्प है, फेंकने योग्य भाग अधिक है, तो इस प्रकार के बहुत गुठलियों तथा बहुत काटों वाले गूदेदार फल के प्राप्त होने पर उसे अकल्पनीय समझ कर न ले।

४०४. भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के यहाँ आहार के लिए प्रवेश करे, तब यदि वह बहुत-सी गुठलियों एवं बीज वाले फलों के लिए आमंत्रण करे—"आयुष्मन् श्रमण! क्या आप बहुत-सी गुठलियों एवं बीज वाले फल लेना चाहते है?" इस प्रकार का वचन सुनकर और उस पर विचार करके पहले ही साधु उससे कहे—आयुष्मन् गृहस्थ (भाई) या बहन! बहुत-से बीज-गुठली से युक्त फल लेना मेरे लिए कल्पनीय नही है। यदि तुम मुझे देना चाहते/चाहती

---

१. त णो हि त्ति वएज्जा, णो धि त्ति वएज्जा, णो अणह त्ति वएज्जा—के स्थान पर पाठान्तर है—णो हि त्ति वएज्जा, णो वि त्ति वएज्जा, णो हंदह त्ति वएज्जा, ...णो अणह त्ति वएज्जा। इन सबका भावार्थ चूर्णिकार ने यो दिया है—'बहुअट्ठिते दिण्णे हि त्ति हिति हसित विति य णं वा फरुसं च भणेज्जा'—गृहस्थ द्वारा बहुत गुठलियो वाला आहार देने पर हि हि करके उसकी हँसी न उड़ाए, और न ही कठोर वचन बोले।

२. यहाँ जाव शब्द से अप्पंडे से लेकर संताणए तक का पाठ सू० ३२४ के अनुसार समझें।

३. यहाँ झामथंडिल्लंसि वा के बाद जाव शब्द सू० ३२४ के अनुसार पमज्जिय तक के पाठ का सूचक है।

हो तो इस फल का जितना गूदा (गिर—सार भाग) है, उतना मुझे दे दो, गुठलियाँ नहीं।

भिक्षु के इस प्रकार कहने पर भी वह गृहस्थ अपने बर्तन में से उपर्युक्त फल ल देने लगे तो जब उसी गृहस्थ के हाथ या पात्र में वह हो तभी उस प्रकार के फल को अप्रा और अनेषणीय मानकर लेने से मना कर दे—प्राप्त होने पर भी न ले। इतने पर भी गृहस्थ हठात्—बलात् साधु के पात्र में डाल दे तो फिर न तो हाँ-हूँ कहे न धिक्कार कहे न ही अन्यथा (भला-बुरा) कहे, किन्तु उस आहार को लेकर एकान्त में चला जाए। व जाकर जीव-जन्तु, काई, लीलण फूलण, गीली मिट्टी, मकड़ी के जाले आदि से रहित वि निरवद्य उद्यान में या उपाश्रय में बैठकर उक्त फल के खाने योग्य सार भाग का उपभोग क और फेंकने योग्य बीज, गुठलियों एवं कांटों को लेकर वह एकान्त स्थल में चला जाए, व दग्ध भूमि पर, या अस्थि राशि पर अथवा लोहादि के कूड़े पर, भूसे के ढेर पर, सूखे गोबर ढेर पर या ऐसी ही किसी प्रासुक भूमि पर प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके उन्हें पर (डाल) दे।

विवेचन—अग्राह्य आहार : खाने योग्य कम, फेंकने योग्य अधिक—सू० ४०२ से ४०४ ऐसे आहार का उल्लेख किया गया है, जिसमें स्वयं पक जाने पर भी या अग्नि से शस्त्र परिणत हो जाने पर भी खाने योग्य भाग अल्प रहता है और फेंकने योग्य भाग बहुत अधिक रहता है। इसलिए ऐसा आहार प्रासुक होने पर भी अनेषणीय और अग्राह्य है। कदाचि गृहस्थ ऐसा बहु-उज्झितधर्मी आहार देने लगे तो साधु को उसे स्पष्ट कह देना चाहिए कि ऐसा आहार लेना मेरे लिए कल्पनीय नहीं है। कदाचित् भावुकतावश हठात् कोई गृहस्थ साधु के पात्र में वैसा आहार डाल दे तो उसे उक्त गृहस्थ को कुछ भी उपालम्भ या दोष दिये बिना चुपचाप एकान्त में जाकर उसमें से सार भाग का उपभोग करके फेंकने योग्य भाग को अलग निकाल कर एकान्त निरवद्य जीव जन्तु-रहित स्थान देखभाल एवं साफ करके वहाँ डाल देना चाहिए। ऐसे बहु-उज्झितधर्मी आहार में यहाँ चार प्रकार के पदार्थ बताए हैं—(१) ईख के टुकड़े और उसके विविध अवयव, (२) मूंग, मोठ चौले आदि की हरी फलियाँ, (३) ऐसे फल जिनमें बीज और गुठलियाँ बहुत हों—जैसे तरबूज, ककड़ी, सीताफल, पपीता, नींबू, बेल, अनार, आदि, (४) ऐसे फल जिसमें कांटे अधिक हों, जैसे अनन्नास आदि।[1]

---

१. मूल सूत्र में 'बहु अट्ठियं मंसं मच्छं वा बहुकंटगं' इन पदों को देख कर सहसा यह भ्रम हो जाता है कि क्या जैन साधु, जो षट्काय के रक्षक हैं, पंचेन्द्रिय-वध से निष्पन्न तथा नरक-गमन के कारण मांस और मत्स्य का ग्रहण और सेवन कर सकते हैं? भले ही वह अग्नि में पका हुआ हो, संस्कारित हो?

आचारांग चूर्णिकार और वृत्तिकार[1] दोनों इस सूत्र की व्याख्या साधारणतः मांस-मत्स्यपरक करते हैं।

चूर्णिकार ने भी इस विषय में कोई समाधान नहीं दिया, अगर प्राचीनपरम्परा के अनुसार कुछ समाधान दिया भी हो तो आज वह उपलब्ध नहीं है, लेकिन वृत्तिकार इसे आपवादिक सूत्र मानकर कहते हैं- "इस प्रकार मांस सूत्र भी समझ लेना चाहिए। मांस का ग्रहण कभी सद्वैद्य की प्रेरणा से, मकड़ी आदि के काटने हुए उस असह्य पीड़ा के उपशमनार्थ बाह्य परिभोग से, पसीना आदि होने से, ज्ञानादि में उपकारक होने से उपयोगी देखा गया है। भुज् धातु यहाँ जूते के उपयोग की तरह बाह्य परिभोग के अर्थ में है, खाने के अर्थ में नहीं।"[1] निष्कर्ष यह है कि ये दोनों ही आचार्य मुनि के लिए इसे अभक्ष्य मानते हैं। दशवैकालिक सूत्र (अ० ५) में भी इसी से—मिलती-जुलती दो गाथाएं हैं—

> बहु अट्ठियं पुग्गलं अणिमिसं वा बहुकंटयं ।
> अत्थियं तिंदुयं बिल्लं उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥७३॥
> अप्पेसिया भोयणजाए, बहु-उज्झियधम्मिए ।
> देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥७४॥

दोनों का अर्थ स्पष्ट है। दशवैकालिक सूत्र के कुछ व्याख्याकारों ने मांस-मत्स्य-शब्दों का लोक-प्रसिद्ध मांस-मत्स्यपरक और कइयों ने वनस्पतिपरक अर्थ किया है। इस सूत्र के चूर्णिकार इस गाथा का अर्थ मांस (पुद्गल) मत्स्य (अनिमिष) परक करते हैं, वे कहते हैं—साधु को मांस खाना नहीं कल्पता, फिर भी किसी देश, काल और परिस्थिति की अपेक्षा से इस आपवादिक सूत्र की रचना हुई है।[2] इस सूत्र के टीकाकार हरिभद्रसूरि मांस-परक अर्थ के सिवाय वनस्पतिपरक अर्थ मतान्तर द्वारा स्वीकार करते हैं।[3] प्रसिद्ध टब्बाकार पार्श्वचन्द्रसूरि ने मूलतः ही वनस्पतिपरक अर्थ किया है। इसलिए पुद्गल या मांस का अर्थ-प्राणिविकार, कलेवर, फल या उसका गूदा, इसमें से कोई हो सकता है। अनिमिष और मत्स्य भी मत्स्य तथा वनस्पति—दोनों का वाचक हो सकता है।

इस प्रकरण का समग्र अनुशीलन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि 'मंस-मच्छ' शब्द द्वय-र्थक—दो अर्थवाले हैं। द्व्यर्थक शब्द का आशय समझने के लिए वक्ता का (१) सिद्धान्त (२) व्यवहार और उसकी (३) अर्थ-परम्परा पर विचार करना चाहिए। अगर मात्र शब्द को पकड़कर उसका लोक-प्रचलित अर्थ कर दिया जाय तो वक्ता के मूल सिद्धान्त के साथ अन्याय होगा।

आगम के वक्ता (अर्थोपदेष्टा) सर्वज्ञ प्रभु महावीर परम अहिंसावादी व परम कारुणिक थे। उन्होंने मद्य, मत्स्य, मांस जैसे जुगुप्सनीय पदार्थों के सेवन का स्थान-स्थान पर निषेध किया है, न केवल निषेध, बल्कि इनका सेवन-नरक आदि घोर दुर्गति का कारण बताया है,

भगवान महावीर ने अपने जीवन-व्यवहार में, या किसी भी गणधर आदि ने कभी इस प्रकार

---

१. 'एवं मांस सूत्रमपि नेयम्। अस्य चोपादानं क्वचिल्लूताद्युपशमनार्थं—सद्वैद्योपदेशतो बाह्यपरिभोगेन स्वेदादिना ज्ञानाद्युपकारकत्वात्—फलवद् दृष्टम्। भुजिश्चात्र बहिःपरिभोगार्थे नाभ्यवहारार्थे पदातिभोगवदिति। —आचा० वृत्ति पत्रांक ३५४।

२. (क) मंसं व णेव कप्पति साहूणं, कंचि देसं कालं पडुच्च इमं सुत्तमागतं। —दसवै० जिनदास चूर्णि पृ० १८४

(ख) मंसातीण अग्गहणे सति, देसकालगिलाणावेक्खमिदमववात सुत्तं। —दसवै० अगस्त्य सिंह चूर्णि पृ० ११८

३. 'बहुट्ठियं' 'पुग्गलं'—मांसम्, 'अनिमिषं' मत्स्यं वा 'बहुकण्टकम्', अयं किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेधः अन्ये त्वभिदधति—वनस्पत्यधिकारात्तथाविधफलाभिधाने एते।—हारि० टीका पत्र १७६।

अग्राह्य लवण-परिभोग-परिष्ठापन विधि

४०५. से भिक्खू वा २ जाव समाणे सिया से परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहए बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं परियाभाएत्ता णीहट्टु दलएज्जा । तहप्पगारं पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं अणेसणिज्जं जाव णो पडिगाहेज्जा ।

से य आहच्च पडिग्गाहिते सिया, तं च णातिदूरगते जाणेज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छेज्जा, २ [त्ता] पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भइणी ति वा इमं किं ते जाणता दिण्णं उदाहु अजाणता ? से य भणेज्जा—णो खलु मे जाणता दिण्णं, अजाणता; कामं खलु आउसो ! इदाणिं णिसिरामि, तं भुंजह व णं परियाभाएह व णं । तं परेहिं समणुण्णायं समणुसट्ठं ततो संजतामेव भुंजेज्ज वा पिएज्ज वा ।

जं च णो संचाएति भोत्तए वा पायए वा, साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुण्णा अपरिहारिया अदूरगया तेसिं अणुप्पदातव्वं सिया । णो जत्थ साहम्मिया सिया जहेव बहुपरियावण्णे कीरति तहेव कायव्वं सिया ।

४०५. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुए साधु या साध्वी को यदि गृहस्थ बीमार साधु के लिए खाड आदि की याचना करने पर अपने घर के भीतर रखे हुए बर्तन में से बिड-लवण या उद्भिज-लवण को विभक्त करके उसमें से कुछ अंश निकाल कर, बाहर लाकर देने लगे तो वैसे लवण को जब वह गृहस्थ के पात्र में या हाथ में हो तभी उसे अप्रासुक अनेषणीय समझ कर लेने से मना कर दे । कदाचित् सहसा उस अचित्त नमक को ग्रहण कर लिया हो, तो मालूम होने पर वह गृहस्थ (दाता) यदि निकटवर्ती हो तो, लवणादि को लेकर वापिस उसके पास जाए । वहाँ जाकर पहले उसे वह नमक दिखलाए, कहे—आयुष्मन् गृहस्थ (भाई) या आयुष्मती बहन ! तुमने मुझे यह लवण जानबूझ कर दिया है, या अनजाने में ?

के पदार्थों को ग्रहण नहीं किया । बल्कि आधाकर्म दोष की तरह मांसादि भोजन को मूलतः अशुद्ध मानकर उसका परिहार किया है ।

उक्त शब्दों का अर्थ स्पष्टतः ज्यों का त्यों—आज तक किसी भी आचार्य व विद्वान अनुवादक ने मान्य नहीं किया । या तो इसे अपवाद सूत्र माना है या इन शब्दों का अर्थ अनेक प्राचीन आयुर्वेदिक आदि ग्रन्थों के आधार पर—वनस्पतिपरक स्वीकार किया है ।

हमारे विचार में अपवाद सूत्र मानने का भी कोई विशेष महत्त्व नहीं, क्योंकि श्रमण ऐसी पंचेन्द्रिय-हिंसाजन्य वस्तु को शरीर के बाह्य उपभोग में भी नहीं लेता । अतः उनका वनस्पतिपरक अर्थ ही संगत लगता है । इसी सूत्र में—(अध्ययन १ सूत्र ४५) पंचेन्द्रिय शरीर तथा वनस्पति शरीर की समानधर्मिता स्पष्ट बतायी है, अतः वनस्पति विशेष में गूदे, बीज, गुठली, कांटे आदि के कारण उनकी भी—पंचेन्द्रिय शरीर के विकार (मांस-हड्डी) आदि के साथ—तुलना की जा सकती है । बंगाल के अनेक प्रान्तों (बंगाल-बिहार-पंजाब) में आज भी 'मच्छ' 'कुकडी' आदि शब्द वनस्पति विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं ।

—सम्पादक

यदि वह कहे—मैंने जानबूझ कर नहीं दिया है, अनजाने में ही दिया है, किन्तु आयुष्मन्! अब यदि आपके काम आने योग्य है तो मैं आपको स्वेच्छा से जानबूझ कर दे रहा/रही हूँ। आप अपनी इच्छानुसार इसका उपभोग करें या परस्पर बांट लें।" घरवालों के द्वारा इस प्रकार की अनुज्ञा मिलने तथा वह वस्तु समर्पित की जाने पर साधु अपने स्थान पर आकर (अचित्त हो तो) उसे यतनापूर्वक खाए तथा पीए।

यदि (उतनी मात्रा में) स्वयं उसे खाने या पीने में असमर्थ हो तो वहाँ आस-पास जो साधर्मिक, सांभोगिक, समनोज्ञ एवं अपारिहारिक साधु रहते हों, उन्हें (वहाँ जाकर) दे देना चाहिए। यदि वहाँ आस-पास कोई साधर्मिक आदि साधु न हों तो उस पर्याप्त से अधिक आहार को जो परिष्ठापनविधि बताई है, तदनुसार एकान्त निरवद्य स्थान में जाकर उसे परठ (डाल) दे।

विवेचन—एक के बदले दूसरी वस्तु मिलने पर—इस सूत्र का आशय स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—भिक्षु अपने रुग्ण साधु के लिए गृहस्थ के यहाँ जाकर खांड या बूरे की याचना करता है, परन्तु वह गृहस्थ सफेद रंग देखकर खांड या बूरे के बदले नमक एक बर्तन में से अपने हाथ में या किसी पात्र में लेकर साधु को देने लगता है. उस समय अगर साधु को यह मालूम हो जाए कि यह नमक है तो न ले, कदाचित् भूल से वह नमक ले लिया गया है, और बाद में पता लगता है कि यह तो बूरा या खांड नहीं, नमक है, तो वह पुनः दाता के पास आकर पूछे कि आपने यह वस्तु जानकर दी है या अनजाने? दाता कहे कि दी तो अनजाने मगर अब जानकर देता हूँ। आप इसका परिभोग करें अथवा बंटवारा कर लें। इस प्रकार कहकर और दाता खुशी से अनुज्ञा दे दे, उसे समर्पित कर दे तो स्वयं उसका यथायोग्य उपभोग करे, आवश्यकता से अधिक हो तो निकटवर्ती साधर्मिकों को ढूंढ़ कर उन्हें दे दे, यदि वे भी न मिलें तो फिर परिष्ठापनविधि के अनुसार उसे परठ दे।

तात्पर्य यह है कि एक वस्तु की याचना करने पर गृहस्थ यदि भूल से दूसरी वस्तु दे दे और साधु उसे लेकर चला जाय, तो भी जब साधु को वास्तविकता का पता लगे तो उसकी प्रामाणिकता इसी में है कि वह उस वस्तु को लेकर वापिस दाता के पास जाए और स्थिति को स्पष्ट कर दे। ऐसा न करने पर गृहस्थ को उसकी प्रामाणिकता में अविश्वास हो सकता है।[1]

४०६. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

४०६. यही (एषणाविधि का विवेक) उस भिक्षु या भिक्षुणी की सर्वांगीण—समग्रता है।[2]

॥ दसमो उद्देसओ समत्तो॥

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५४ के आधार पर।

२. इसका विवेचन ३३४ के अनुसार समझें।

इक्कारसमो उद्देसओ

एकादश उद्देशक

माया-परिभोगैषणा-विचार

४०७. भिक्खागा णामेगे एवमाहंसु समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं वा दू
माणे मणुण्णं भोयणजातं लभित्ता—से य भिक्खू गिलाइ, से हंदह णं तस्साहरह, से य
णो भुंजेज्जा तुमं चेव णं भुंजेज्जासि। से 'एगतितो भोक्खामि' त्ति कट्टु पलिउंचिय २
एज्जा, तंजहा—इमे पिंडे, इमे लोए, इमे तित्तए, इमे कडुयए, इमे कसाए, इमे अंबिले
महुरे, णो खलु एत्तो किंचि गिलाणस्स सवति त्ति। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करे
तहाठितं[1] आलोएज्जा जहाठितं गिलाणस्स सदति त्ति, तं [जहा]-तित्तयं तित्तए ति वा,
२, कसायं २, अंबिलं २, महुरं २।[2]

४०८. भिक्खागा णामेगे एवमाहंसु समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइ
[वा] मणुण्णं भोयणजातं लभित्ता—से य भिक्खू गिलाइ, से हंदह णं तस्साहरह, से य
णो भुंजेज्जा आहरेज्जासि णं। णो खलु मे अंतराए आहरिस्सामि।+ इच्चेयाइं आ
उवातिकम्म+

४०७ एक क्षेत्र में (वृद्धावस्था, रुग्णता आदि कारणवश पहले से) स्थिरवासी स
चारी वाले साधु अथवा ग्रामानुग्राम विचरण करने वाले (आगन्तुक) साधु भिक्षा में मनोज्ञ
प्राप्त होने पर कहते हैं—जो भिक्षु ग्लान (रुग्ण) है, उसके लिए तुम यह मनोज्ञ आहार
और उसे ले जाकर दे दो। अगर वह रोगी भिक्षु न खाए तो तुम खा लेना। उस
उनसे (रोगी के लिए) वह आहार लेकर सोचा—'यह मनोज्ञ आहार मैं अकेला ही ख
में विचार कर उस मनोज्ञ आहार को अच्छी तरह छिपा कर रोगी भिक्षु को दूसरा
दिखलाते हुए कहता है—भिक्षुओं ने आपके लिए यह आहार दिया है। किन्तु यह आहा
लिए पथ्य नहीं है, यह रूखा है, यह तीखा है, यह कड़वा है, यह कसैला है, यह खट्टा
अधिक मीठा है, अतः रोग बढ़ानेवाला है। इससे आप (ग्लान) को कुछ भी लाभ नहीं
इस प्रकार कपटाचरण करने वाला भिक्षु मातृस्थान का स्पर्श करता है। भिक्षु को ऐ
नहीं करना चाहिए। किन्तु जैसा भी आहार हो, उसे वैसा ही दिखलाए—अर्थात् वि

1. तहाठितं ...... सवति का पाठान्तर है—तहेव तं आलोएज्जा जहेव तं गिलाणस्स सवति
भावार्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार दिया है—अहत्थियं आलोएइ जहा गिलाणस्स सवति।
यथार्थ रूप से ग्लान के समक्ष प्रगट करे, जिससे ग्लान का उपकार हो।
2. यहाँ '२' का अंक 'तित्तए' की भांति सर्वत्र पुनरावृत्ति का सूचक है।
+ यह पाठ मुनि जम्बूविजयजी की प्रति में नहीं है, किन्तु चूर्णि एवं टीका के अनुसार होना

सिक्त यावत् मीठे को मीठा बताए। रोगी को स्वास्थ्य लाभ हो, वैसा पथ्य आहार देकर उसकी सेवा-शुश्रूषा करे।

४०८. यदि समनोज्ञ स्थिरवासी साधु अथवा ग्रामानुग्राम विचरण करने वाले (दूसरे स्थान से आए) साधुओं को मनोज्ञ भोजन प्राप्त होने पर यों कहे कि 'जो भिक्षु रोगी है, उसके लिए यह मनोज्ञ (पथ्य) आहार ले जाओ, अगर वह रोगी भिक्षु इसे न खाए तो यह आहार वापस हमारे पास ले आना, क्योंकि हमारे यहाँ भी रोगी साधु है।' इस पर आहार लेने वाला वह साधु उनसे कहे कि यदि मुझे आने में कोई विघ्न उपस्थित न हुआ तो यह आहार वापस ले आऊंगा।' (यों वचन-बद्ध साधु वह आहार रुग्ण साधु को न देकर स्वयं खा जाता है, तो वह मायास्थान का स्पर्श करता है।) उसे उन पूर्वोक्त कर्मों के आयतनों (कारणों) का सम्यक् परित्याग करके (सत्यतापूर्वक यथातथ्य व्यवहार करना चाहिए।)

विवेचन—मायारहित आहार-परिभोग का निर्देश—सू० ४०७ और ४०८ में शास्त्रकार ने आहार के उपभोग के साथ कपटाचार से सावधान रहने का निर्देश दिया है। निर्दोष भिक्षा के साथ जहाँ स्वाद लोलुपता जुड़ जाती है, वहाँ मायाचार, दम्भ और दिखावा आदि बुराइयाँ साधु जीवन में घुस जाती हैं। रुग्ण साधु के लिए लाया हुआ पथ्य आहार उसे न देकर वाक्-छल से उसे उलटा-सीधा समझा कर स्वयं खा जाता है, वह साधु मायाचार करता है। वृत्तिकार उक्त मायाचारी साधु के मायाचार को दो भागों में विभक्त करते हैं—(१) पहले वह मन में ही कपट करने का पाठ घड़ लेता है, (२) तदनन्तर ग्लान भिक्षु को वह आहार अपथ्य बताकर स्वयं खा लेता है।

सूत्र ४०८. में भी वह रुग्ण भिक्षु के साथ कपट करने के लिए उन्हीं पूर्वोक्त बातों को दोहराया है। इसमें थोड़ा-सा अन्तर यह है कि आहार लाने वाला साधु उन आहारदाता साधुओं के साथ वचनबद्ध हो जाता है, कि अगर वह रुग्ण साधु इस आहार का उपभोग नहीं करेगा तो कोई अन्तराय न होने पर मैं इस आहार को वापस आपके पास ले आऊंगा।" किंतु रुग्ण साधु के पास जाकर उसे पुराने आहार की अपथ्यता के दोषों को बताकर रुग्ण को वह आहार न देकर स्वाद-लोलुपतावश स्वयं उस आहार को खा जाता है और उन साधुओं को बता देता है कि रुग्ण-सेवा-काल में ही मेरे पेट में पीड़ा उत्पन्न हो गई, इस अन्तरायवश मैं उस ग्लानार्थ दिये गए आहार को लेकर न आ सका, इस प्रकार दोहरी माया का सेवन करता है।[1]

'इच्चेयाइं आयतणाइं'—चूर्णिकार के शब्दों में व्याख्या—कदाचित् रुकावट होने के कारण वह ग्लानसाधु के लिए उस आहार पानी को न भी ले जा सके। जैसे कि सूर्य अस्त होने आया हो, रास्ते में साँड या भैंसा, मारने को उद्यत हो, मतवाला हाथी हो, कोई पीड़ा हो गई हो,

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५५ के आधार से

किन्तु यह सब यथातथ्य न बतलाकर बनावटी बातें बनाता है तो ये सब संसार-परिवृद्धिकारक दोषों के आयतन (स्थान) हैं।[1]

सप्त पिंडैषणा-पानैषणा

४०९. अह भिक्खू जाणेज्जा सत्त पिंडेसणाओ सत्त पाणेसणाओ।

[१] तत्थ खलु इमा पढमा पिंडेसणा—असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते।

तहप्पगारेण असंसट्ठेण हत्थेण वा मत्तएण वा असणं वा ४ सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुयं पडिगाहेज्जा—पढमा पिंडेसणा।

[२] अहावरा दोच्चा पिंडेसणा—संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, तहेव दोच्चा पिंडेसणा।

[३] अहावरा तच्चा पिंडेसणा—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया सड्ढा भवंति गाहावती वा जाव कम्मकरी वा। तेसिं च णं अण्णतरेसु विरूवरूवेसु भायणजातेसु उवणिक्खित्तपुव्वे सिया, तं जहा—थालंसि वा पिढरगंसि[3] वा सरगंसि वा परगंसि वा वरगंसि वा। अह पुणेवं जाणेज्जा असंसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, संसट्ठे वा हत्थे असंसट्ठे मत्ते। से य पडिग्गहधारी सिया पाणिपडिग्गहए वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भगिणी ति वा एतेण तुमं असंसट्ठेण हत्थेण संसट्ठेण मत्तेण संसट्ठेण वा हत्थेण असंसट्ठेण मत्तेण अस्सिं पडिग्गहगंसि वा पाणिंसि वा णिहट्टु ओवित्तु दलयाहि। तहप्पगारं भोयणजातं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा। फासुयं एसणिज्जं जाव लाभे संते पडिगाहेज्जा। तच्चा पिंडेसणा।

[४] अहावरा चउत्था पिंडेसणा—से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण[4] जाणेज्जा पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा, अस्सिं खलु पडिग्गाहितंसि अप्पे पच्छाकम्मे अप्पे पज्जवजाते।

---

१. आचारांग चूर्णि—"[illegible] आवातेण ण [illegible] असतो मुरो, [illegible] हत्थी मत्तो, भूमं वा हाग्गो। इच्चेयाइं आयतणाइं—आयतणा दोसाइं [illegible]..." आचा० मूलपाठ टिप्पण पृष्ठ १४२

२. [illegible] के बाद ४ का अंक सूत्र ३६० के अनुसार शेष तीनों दिशाओं का सूचक है।

३. पिढरगंसि के स्थान पर पाठान्तर है—पिढरंसि।—चूर्णिकार ने इन पदों का अर्थ इस प्रकार किया है—[illegible] पिढरग का अन्नंमि [illegible]। [illegible] परगंसि वा। वरगंसि वा [illegible] (व?) [illegible] वरगह [illegible], तं अमिणिणा वा कुणइ [illegible] [illegible] वरगं—पिढर (गोली) पर जो कि [illegible] में रखी हुई है, [illegible] की [illegible] [illegible] = भूमि, जो भूमि को उखाड़ता है, वह है वराह। वरग (वराह) के लिए [illegible] विशेष का वाचक। वरार्थ = मणिमय बहुमूल्य पात्र, [illegible]।

४. यहाँ [illegible] के सू० ३२५ के अनुसार पिहुयं से लेकर चाउलपलंबं तक का पाठ समझें।

तहप्पगारं पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा सयं वा णं जाएज्जा जाव पडिगाहेज्जा। चउत्था पिंडेसणा।

[५] अहावरा पंचमा पिंडेसणा—से भिक्खू वा २ जाव समाणे उवहितमेव[1] भोयणजातं जाणेज्जा, तंजहा-सरावंसि वा डिंडिमंसि वा कोसगंसि वा। अह पुणेवं जाणेज्जा बहुपरियावण्णे पाणीसु दगलेवे। तहप्पगारं असणं वा ४ सयं वा णं जाएज्जा[2] जाव[3] पडिगाहेज्जा पंचमा पिंडेसणा।

[६] अहावरा छट्ठा पिंडेसणा[4]—से भिक्खू वा २ उग्गहियमेव भोयणजायं जाणेज्जा जं च सयट्ठाए उग्गहितं जं च परट्ठाए उग्गहितं तं पादपरियावण्णं तं पाणिपरियावण्णं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा। छट्ठा पिंडेसणा।

[७] अहावरा सत्तमा पिंडेसणा—से भिक्खू वा २ जाव समाणे बहुउज्झितधम्मियं भोयणजायं जाणेज्जा जं चऽण्णे बहवे दुपय-चउप्पय-समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा णावकंखंति तहप्पगारं उज्झितधम्मियं भोयणजायं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा जाव पडिगाहेज्जा। सत्तमा पिंडेसणा। इच्चेयाओ सत्त पिंडेसणाओ।

[८] अहावराओ सत्त पाणेसणाओ। तत्थ खलु इमा पढमा पाणेसणा-असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते। तं चेव भाणियव्वं, णवरं चउत्थाए णाणत्तं, से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण पाणगजातं जाणेज्जा, तंजहा-तिलोदगं वा तुसोदगं वा जवोदगं वा आयामं वा सोवीरं वा सुद्धवियडं वा, अस्सि खलु पडिग्गाहितंसि अप्पे पच्छाकम्मे, तहेव जाव पडिगाहेज्जा।

---

१. उवहितमेव के स्थान पर चूर्णिकार ने उवगहितं पाठान्तर मानकर व्याख्या की है—उवगहियं भुंजमाणस्स सअट्ठाए उवणीतं। अर्थात् उपगृहिता नामक पिण्डैषणा में उपगृहीत का अर्थ है—भोजन करने वाला अपने लिए थाली आदि में भोजन परोसकर लाया है।

२. इसके स्थान पर पाठान्तर है—जातेज्जा, जाणेज्जा, अर्थ है, याचना करे, जाने।

३. यहाँ जाव शब्द से सू० ३२४ के अनुसार फासुयं से लेकर 'पडिगाहेज्जा' तक का पाठ समझें।

४. छठी पिण्डैषणा का भावार्थ चूर्णिकार के शब्दों में—छट्ठा उग्गहिता पग्गहिता, उग्गहितं दव्वं हत्थगतं, पग्गहितं दाहिण-हत्थगतं दिज्जमाणं एसुगविक्खंभमेत्तं, जस्स वि अट्ठाए उग्गहियं पग्गहियं सो वि तं णेच्छति, पादपरियावन्नं कंसभाय (जो) णत्थि दगलेवो पाणीसु णत्थि दगलेवो देंतस्स नियत्तो भावो छट्ठो' अर्थात्—छठी पिण्डैषणा उद्गृहीता प्रगृहीता है। उद्गृहीत=द्रव्य हस्तगत किया है। प्रगृहीत=दाहिने हाथ में लिया हुआ द्रव्य, दाता और आदाता के बीच में देहली के द्वार तक का अन्तर है। जिसके लिए वह भोज्यद्रव्य हस्तगत किया और दाएँ हाथ में लिया गया है, वह भी उसे नहीं चाहता, कांसी का बर्तन कच्चे पानी से लिप्त नहीं है, और न हाथ कच्चे पानी से लिप्त है, जिनको देना था, दिया जा चुका है। यह है—छठी पिण्डैषणा।

प्रकार के धान्य यावत् मुग्न शालि आदि चावल या तो साधु स्वयं माँग ले; या फिर गृहस्थ बिना माँगे ही उसे दे तो प्रासुक एवं एषणीय समझ कर प्राप्त होने पर ले ले। यह चौथी पिण्डैषणा है।

(५) इसके बाद पांचवी पिण्डैषणा इस प्रकार है—'"साधु यह जाने कि गृहस्थ के यहां अपने खाने के लिए किसी बर्तन में या भोजन (पिरोस) कर रखा हुआ है, जैसे कि सकोरे में, कांसे के बर्तन में, या मिट्टी के किसी बर्तन में। फिर यह भी जान जाए कि उसके हाथ और पात्र जो सचित्त जल से धोए थे, अब कच्चे पानी से लिप्त नहीं है। उस प्रकार के आहार को प्रासुक जानकर या तो साधु स्वयं मांग ले या गृहस्थ स्वयं देने लगे तो वह ग्रहण करले। यह पांचवी पिण्डैषणा है।

(६) इसके अनन्तर छठी पिण्डैषणा यों है—'"भिक्षु यह जाने कि गृहस्थ ने अपने लिए या दूसरे के लिए बर्तन में से भोजन निकाला है, परन्तु दूसरे ने अभी तक उस आहार को ग्रहण नहीं किया है, तो उस प्रकार का भोजन गृहस्थ के पात्र में हो या उसके हाथ में हो, उसे प्रासुक और एषणीय जानकर मिलने पर ग्रहण करे। यह छठी पिण्डैषणा है।

(७) इसके पश्चात् सातवीं पिण्डैषणा यों है—गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी वहाँ बहु-उज्झितधर्मिक (जिसका अधिकांश फेंकने योग्य हो, इस प्रकार का) भोजन जाने, जिसे अन्य बहुत-से द्विपद-चतुष्पद (पशु-पक्षी एवं मानव) श्रमण (बौद्ध आदि भिक्षु), ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र और भिखारी लोग नहीं चाहते, उस प्रकार के उज्झितधर्म वाले भोजन की स्वयं याचना करे अथवा वह गृहस्थ दे दे तो उसे प्रासुक एवं एषणीय जान कर मिलने पर ले ले। यह सातवीं पिण्डैषणा है। इस प्रकार ये सात पिण्डैषणाएं हैं।

(८) इसके पश्चात् सात पानैषणाएं हैं। इन सात पानैषणाओं में से प्रथम पानैषणा इस प्रकार है—असंसृष्ट हाथ और असंसृष्ट पात्र। इसी प्रकार (पिण्डैषणाओं की तरह) शेष सब पानैषणाओं का वर्णन समझ लेना चाहिए।

इतना विशेष है कि चौथी पानैषणा में नानात्व का निरूपण है—वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के यहाँ प्रवेश करने पर जिन पान के प्रकारों के सम्बन्ध में जाने, वे इस प्रकार है—तिल का धोवन, तुष का धोवन, जौ का धोवन (पानी), चावल आदि का पानी (ओसामण), कांजी का पानी, या शुद्ध उष्णजल। इनमें से किसी भी प्रकार के पानी के ग्रहण करने पर निश्चय ही पश्चात्कर्म नहीं लगता हो तो उस प्रकार के पानी को प्रासुक और एषणीय मानकर ग्रहण करले।

४१०. इन सात पिण्डैषणाओं तथा सात पानैषणाओं में से किसी एक प्रतिमा (प्रतिज्ञा या अभिग्रह) को स्वीकार करने वाला साधु (या साध्वी) इस प्रकार न कहे कि इन सब साधु-भदन्तों ने मिथ्यारूप से प्रतिमाएं स्वीकार की है, एकमात्र मैंने ही प्रतिमाओं को सम्यक् प्रकार से स्वीकार किया है।" (अपितु वह इस प्रकार कहे—) जो ये साधु-भगवन्त इन

प्रतिमाओं का स्वीकार करके विचरण करते हैं, जो मैं भी इस प्रतिमा का स्वीकार क विचरण करता हूँ, ये सभी जिनाज्ञा में उद्यत हैं और इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे की समा पूर्वक विचरण करते हैं।

विवेचन—सात पिण्डैषणाएँ और सात पानैषणाएँ : विहंगावलोकन सूत्र ४०१ और ४१ इस अध्ययन में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक विविध पहलुओं से पिण्डैषणा और पानैषणा सम्बन्ध में यत्र तत्र उल्लेख किया गया है उसके सारांश रूप में क्रमशः विधि सहित विहंगावलो प्रस्तुत किया गया है। संक्षेप में सात पिण्डैषणाओं का नाम इस प्रकार है—(१) असंसृष्टा संसृष्टा, (३) उद्धृता, (४) अल्पलेपा, (५) उपस्थिता या उद्गृहीता, (६) प्रगृहीता, और उज्झितधर्मिका। इसी प्रकार संक्षेप में सात पानैषणाएँ हैं—(१) असंसृष्टा, (२) संसृष्टा उद्धृता, (४) अल्पलेपा या नानात्वसंज्ञा (५) उद्गृहीता, (६) प्रगृहीता और (७) उ धर्मिका। इन सबमें प्रतिपादित विषय की झांकी बताने के लिए शास्त्रकार ने एक-एक का संक्षिप्त निरूपण कर दिया है। इसी प्रकार पानैषणा के सम्बन्ध में संक्षिप्त वर्णन कि गया है।

कुल मिलाकर संक्षेप में सुन्दर निष्कर्ष दे दिया गया है, ताकि मन्दबुद्धि एवं विस्म शील साधु-साध्वी भी पुनः-पुनः अपने गुरुजनादि से न पूछकर सूत्ररूप में इन एषणाओं हृदयंगम करलें।

इन दोनों प्रकार की एषणाओं में गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा या ग्रासै का समावेश हो जाता है।[1]

अधिकारी—वृत्तिकार के अनुसार इन पिण्डैषणा-पानैषणाओं के अधिकारी दोनों प्र के साधु हैं—गच्छान्तर्गत (स्थविरकल्पी) और गच्छविनिर्गत (जिनकल्पी)। गच्छान्त स्थविरकल्पी साधु-साध्वियों के लिए सातों ही पिण्डैषणाओं और पानैषणाओं का पालन की भगवदाज्ञा है, किन्तु गच्छनिर्गत (जिनकल्पी) साधुओं के लिए प्रारम्भ की दो पिण्डैषणा पानैषणाओं का ग्रहण करने की आज्ञा नहीं है, शेष पाँचों पिण्ड-पानैषणाओं का अभिग्रह ग्रहण करने की अनुज्ञा है।[2]

दृष्टिकोण—अध्ययन की परिसमाप्ति पर शास्त्रकार ने इन पिण्ड-पानैषणाओं के कर्ता को अपना दृष्टिकोण तथा व्यवहार उदार एवं नम्र रखने के लिए दो बातों की ध्यान खींचा है—(१) अहंकारवश दूसरों को हीन मत मानो, न उन्हें हेयदृष्टि से देखो, स्वयं को भी हीन मत मानो, न हीनता की वृत्ति को मन में स्थान दो। वृत्तिकार तात्पर्य बताते हुए कहते हैं—इन सात पिण्ड-पानैषणाओं में से किसी एक प्रतिमा को

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५७ के आधार पर
(ख) आचारांग चूर्णि—मूलपाठ टिप्पण पृ० १४०

२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५०

करनेवाला साधु ऐसा न कहे कि मैंने ही पिण्डैषणादि का शुद्ध अभिग्रह धारण किया है, अन्य प्रतिमाओं को ग्रहण करनेवाले इन दूसरे साधुओं ने नहीं।" बल्कि चाहे वह गच्छनिर्गत (जिन कल्पी) हो या गच्छान्तर्गत (स्थविरकल्पी), उसे सभी प्रकार की साधना में उद्यत साधुओं को समदृष्टि से देखना चाहिए, किन्तु उत्तरोत्तर (एकेक भंग की) पिण्डैषणा का अभिग्रह धारण करनेवाले साधु को पूर्व-पूर्वतर पिण्डैषणा के अभिग्रह धारक साधु की निन्दा नहीं करनी चाहिए।

यही मानना चाहिए कि मैं और ये दूसरे सब साधु भगवन्त यथाशक्ति पिण्डैषणादि के अभिग्रह विशेष को धारण करके यथायोग विचरण करते हैं। सब जिनाज्ञा में हैं या जिनाज्ञानुसार संयम-पालन करने हेतु उद्यत (दीक्षित) हुए हैं। जिसके लिए ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप जो भी समाधि विहित है उस समाधि के साथ संयम-पालन के लिए प्रयत्नशील वे सभी साधु जिनाज्ञा में हैं, वे जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करते। कहा भी है—

"जो साधु एक या दो वस्त्र रखता है, तीन वस्त्र रखता है, या बहुत वस्त्र रखता है, या अचेलक रह सकता है, ये विविध साधनाओं के धनी साधक एक दूसरे की निन्दा नहीं करते, क्योंकि ये सभी साधु जिनाज्ञा में हैं।[1]

४११. एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

४११. इस प्रकार जो साधु-साध्वी (गौरव-लाघवग्रन्थि से दूर रहकर निरहंकारता एवं आत्मसमाधि के साथ आत्मा के प्रति समर्पित होकर) पिण्डैषणा-पानैषणा का विधिवत् पालन करते हैं, उन्हीं में भिक्षुभाव की या ज्ञानादि आचार की समग्रता है।

॥ एकादश उद्देशक समाप्त ॥

॥ द्वितीय श्रुतस्कन्ध का प्रथम पिंडैषणा अध्ययन सम्पूर्ण ॥

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५८

शय्यैषणा : द्वितीय अध्ययन

प्राथमिक

- ☆ आचारांग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन का नाम 'शय्यैषणा' है।
- ☆ शय्या का अर्थ यहाँ लोक-प्रसिद्ध बिछौना, गद्दा या 'सेज' ही नहीं है, अपितु सोने-बैठने, भोजनादि क्रिया करने तथा आवश्यक, स्वाध्याय, जप, तप आदि धार्मिक क्रिया करने के लिए आवास-स्थान, आसन, संस्तारक, सोने-बैठने के लिए पट्टा, चौकी आदि सभी पदार्थों का समावेश 'शय्या' में हो जाता है। संक्षेप में वसति-स्थान या आवास-स्थान (उपाश्रयादि) तथा तदन्तर्गत शयनीय उपकरणों को 'शय्या' कहा जा सकता है।[1]
- ☆ प्रस्तुत अध्ययन में क्षेत्रशय्या, कालशय्या तथा द्विविध भावशय्या को छोड़कर केवल उस द्रव्यशय्या का विवेचन ही विवक्षित है, जो संयमी साधुओं के योग्य हो।[2]
- ☆ द्रव्यशय्या तीन प्रकार की होती है—सचित्त, अचित्त, मिश्र।[3]
- ☆ एषणा का अर्थ है—अन्वेषण, ग्रहण और परिभोग के विषय में संयम-नियम के अनुकूल चिन्तन—विवेक करना।[4]
- ☆ संयमी-साधु के लिए योग्य द्रव्य शय्या के अन्वेषण, ग्रहण और परिभोग के सम्बन्ध में कल्प्य-अकल्प्य का चिन्तन/विवेक करना शय्यैषणा है, जिसमें शय्या-सम्बन्धी एषणा का निरूपण हो, उस अध्ययन का नाम शय्यैषणा-अध्ययन है।[5]
- ☆ धर्म के लिए आधारभूत शरीर के परिपालनार्थ एवं निर्वहन के लिए जैसे पिण्ड (आहार-पानी) की आवश्यकता होती है, वैसे ही शरीर को विश्राम देने, उसकी—सर्दी-गर्मी रोगादि से सुरक्षा करके धर्मक्रिया के योग्य रखने हेतु शय्या की आवश्यकता होती है। इसलिए 'पिण्डैषणा' में 'पिण्ड-विशुद्धि' की तरह—'शय्यैषणा'

---

१. (क) टीका पत्र ३५८ के आधार पर।
   (ख) दशवै० जिन० चूर्णि पृ० २७६।
२. आचारांग निर्युक्ति गा० २९८, ३०१।
३. आचारांग निर्युक्ति गा० २९९।
४. 'पाइअ सद्दमहण्णवो' पृ० १६४।
५. टीका पत्र ३५८ के आधार पर।

में 'शय्या-विशुद्धि' की तथा पिण्ड ग्रहण के समय गुण-दोष—विवेक की तरह शय्याग्रहण के समय भी शय्या के गुण-दोष-विवेक का प्रतिपादन किया गया है।[1]

✡ शय्यैषणा अध्ययन के तीन उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में वसति के उद्गमादि दोषों तथा गृहस्थादि संसक्त वसति से होने वाली हानियों का चिन्तन है।

✡ द्वितीय उद्देशक में वसति सम्बन्धी विभिन्न दोषों की सम्भावना एवं उससे सम्बन्धित विवेक एवं त्याग का प्रतिपादन है।

✡ तृतीय उद्देशक में संयमी साधु के साथ-वसति में होने वाली छलनाओं से सावधान रहने तथा सम-विषम वसति में समभाव रखने का विधान है।[2]

✡ प्रस्तुत अध्ययन सूत्र संख्या ४१२ से प्रारम्भ होकर ४६३ पर समाप्त होता है।

---

१. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० ३०२।
(ख) टीका पत्र ३५९ के आधार पर।

२. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० ३०३, ३०४।
(ख) टीका पत्र ३५९ के आधार पर।

बीयं अज्झयणं 'सेज्जा'

पढमो उद्देसओ

शय्यैषणा : द्वितीय अध्ययन : प्रथम उद्देशक

उपाश्रय-एषणा [प्रथम विवेक]

४१२. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा उवस्सयं एसित्तए, अणुपविसित्ता गामं वा णगरं वा जाव[1] रायहाणिं वा से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा सअंडं सपाणं जाव[2] संताणयं, तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेतेज्जा।

से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं[2], तहप्पगारे उवस्सए पडिलेहित्ता पमज्जित्ता ततो संजयामेव ठाणं वा[3] ३ चेतेज्जा।

४१२. साधु या साध्वी उपाश्रय की गवेषणा करना चाहे तो ग्राम या नगर यावत् राजधानी में प्रवेश करके साधु के योग्य उपाश्रय का अन्वेषण करते हुए यदि यह जाने कि वह उपाश्रय अंडों से यावत् मकड़ी के जालों से युक्त है तो वैसे उपाश्रय में वह साधु या साध्वी स्थान (कायोत्सर्ग), शय्या (संस्तारक) और निषीधिका (स्वाध्याय) न करे।

वह साधु या साध्वी जिस उपाश्रय को अंडों यावत् मकड़ी के जाले आदि से रहित जाने, वैसे उपाश्रय का यतनापूर्वक प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके उसमें कायोत्सर्ग, संस्तारक एवं स्वाध्याय करे।

विवेचन—उपाश्रय-निर्वाचन में प्रथम विवेक—प्रस्तुत सूत्र में उपाश्रय की एषणा विधि बतलाई गई है। 'उपाश्रय' शब्द यहाँ साधु के निमित्त सुरक्षित रखे हुए स्थान का नाम नहीं है, अपितु गृहस्थ द्वारा अपने उपयोग के लिए बनाये हुए स्थान विशेष का नाम है। प्राचीन काल में साधु जिस स्थान को भलीभाँति देखभाल कर तथा निर्दोष और जीव-जन्तु-रहित स्थान जानकर चुन लेता था, गृहस्थ द्वारा उसमें ठहरने की अनुमति दे देने पर ठहर जाता था, तब वह अपने समझने या लोगों को समझाने भर के लिए उसे 'उपाश्रय संज्ञा' दे देता था, किन्तु जब साधु वहाँ से अन्यत्र विहार कर जाता था, उसका उपाश्रय नाम मिट जाता था।

---

1. यहाँ जाव शब्द से 'णगरं वा' से लेकर रायहाणिं तक समग्र पाठ सू० ३३८ के अनुसार समझें।
2. यहाँ जाव शब्द से सपाणं से लेकर संताणयं तक समग्र पाठ सू० ३२४ के अनुसार समझें।
3. यहाँ ठाणं वा के बाद '३' का चिह्न सेज्जं वा णिसीहियं वा पाठ का सूचक है।

इस प्रकार उपाश्रय कोई नियत आवास स्थान नहीं होता था। परन्तु वर्तमान में 'उपाश्रय' शब्द साधु-साध्वियों के ठहरने के नियत स्थान में रूढ़ हो गया है।[1]

स्थान का निर्वाचन करते समय साधु को सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि उसमें अंडे, जीव जन्तु, बीज, हरियाली, ओस, कच्चा पानी, काई, लीलन-फूलन, गीली मिट्टी या कीचड़, मकड़ी के जाले आदि तो नहीं हैं ? क्योंकि साधु अगर अंडे या जीव जन्तुओं आदि से युक्त स्थान में ठहरेगा तो अनेक जीवों की विराधना उसके निमित्त से होगी, अतः अहिंसा का पूर्ण उपासक मुनि ऐसे हिंसा की सम्भावनावाले स्थान का निर्वाचन कैसे कर सकता है ? हाँ, ये सब जीव जन्तु आदि जहाँ न हों, ऐसे निरवद्य स्थान को चुनकर उसमें वह ठहरे।[2]

उपाश्रय का निर्वाचन—श्रमण साधु मुख्यतया तीन कार्यों के लिए करता था—

(१) कायोत्सर्ग के लिए,

(२) सोने-बैठने आदि के लिए।

(३) स्वाध्याय के लिए।

इसके लिए यहाँ तीन विशिष्ट शब्द प्रयुक्त किए गए हैं—ठाणं, सेज्जं, निसीहियं—इन तीनों का अर्थ है—ठाणं—स्थान कायोत्सर्ग। सेज्जं=शय्या=संस्तारक अथवा उपाश्रय /वसति। निसीहियं=स्वाध्याय-भूमि। प्राचीन काल में स्वाध्याय-भूमि आवास-स्थान से अलग एकान्त-स्थान में होती थी, जहाँ लोगों के आवागमन का निषेध होता था, इसीलिए स्वाध्याय-भूमि को निषीधिका[3]—(दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित 'नसिया') कहा जाता था।

उपाश्रय-एषणा [द्वितीय विवेक]

४१२ से कज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा-अस्सिंपडियाए एगं[4] साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं[5]

---

१. दसवैकालिक अगस्त्य० चूर्णि पृ० ११६, सेज्जा उवस्सओ।

२. टीका पत्र ३६० के आधार पर।

३. (क) टीका पत्र ३६० के आधार पर।

(ख) दसवै० ५/२/ अगस्त्य० चूर्णि पृ० १२६—'निसीहिया सज्झायठाणं, जम्मि वा रुक्खमूलादी सेव निसीहिया।'

४. चूर्णिकार के अनुसार यहाँ ६ आलाप 'एगं साहम्मियं' को लेकर होते हैं—'एगं साहम्मियं समुद्दिस्स छ आलावा तहेव जहा पिंडेसणाए, णवरं बहिया णीहडं छ, णोलगई वा छ, इतरं णोविज्जति।' यहाँ एक साधर्मिक को लेकर ६ आलाप उसी तरह होते हैं, जिस तरह पिण्डैषणा अध्ययन में बताए गए थे। विशेष यह है कि बहिया णीहडं के ६ तथा णोलगई के ६ आलाप यहाँ से अन्यत्र लागू होते हैं।

तात्पर्य यह है कि बहिया णीहडं वा, अणीहडं वा, अत्तट्ठियं वा, अणत्तट्ठियं वा, परिभुत्तं वा, अपरिभुत्तं वा, ये ६ पद शय्याध्ययन में उपयोगी नहीं हैं, चूर्णिकार का यह आशय प्रतीत होता है।

५. पाणाइं के बाद '४' के अंक से पाणाइं, भूताइं, जीवाइं सत्ताइं; ऐसा पाठ सर्वत्र समझें।

वा उक्कंबिए वा छत्ते वा लेत्ते वा घट्ठे वा मट्ठे वा संमट्ठे वा संपधूविए वा।[1] तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव अणासेविए णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

अह पुणेवं जाणेज्जा-पुरिसंतरकडे जाव[2] आसेविते, पडिलेहित्ता पमज्जित्ता ततो संजयामेव जाव चेतेज्जा।

४१६. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा-अस्संजते भिक्खुपडियाए खुड्डियाओ दुवारियाओ महल्लियाओ कुज्जा जहा पिंडेसणाए जाव[3] संथारगं संथारेज्जा बहिया वा णिण्णक्खु[4]। तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे[5] जाव अणासेविए णो ठाणं वा[6] ३ चेतेज्जा।

अह पुणेवं जाणेज्जा-पुरिसंतरकडे जाव आसेविते, पडिलेहित्ता पमज्जित्ता ततो संजयामेव जाव[7] चेतेज्जा।

४१७. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा-अस्संजए भिक्खुपडियाए उदयपसूताणि[8] कंदाणि वा मूलाणि वा पत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा बीयाणि वा हरियाणि

सुगंधीकरणं।'''वंसग कडणोक्कंबण छावण लेवण दुवारभूमी य। सप्परिकम्मा सेज्जा (वसही) एस मूलोत्तरगुणेसु॥' अर्थात्—कडितो—चटाइयों आदि के द्वारा चारों ओर से आच्छादित या सुसंस्कृत करना, ओकम्बितो—खंभों पर बांसों को तिरछे रखना, छत्तो—घास दर्भ आदि से ऊपर या सब आच्छादित कर देना, लेत्तो—दीवार आदि पर गोबर आदि से लीपना, ये उत्तरगुण (उत्तर परिकर्म) हैं, जो मूलगुणों (मूल परिकर्म) को नष्ट कर देते हैं। घट्ठा—चूने, पत्थर आदि खुरदरे पदार्थ से घिसकर विषम स्थान को सम बनाना, मट्ठा—कोमल बनाना, समट्ठा—साफ कर देना, संपधूविता—धूप आदि सुगन्ध द्रव्यों से दुर्गन्ध को सुगन्धित करना।

1. निशीथ चूर्णि उ० ५ में, मलयगिरिसूरिविरचित बृहत्कल्पवृत्ति (पृ० १६६) में तथा कल्पसूत्र किरणावली व्याख्या (पृ० १७५) में भी इन शब्दों की व्याख्या क्रमशः इसी प्रकार मिलती है।—सं०
2. यहाँ जाव शब्द से पुरिसंतरकडे से लेकर आसेविते तक का समग्र पाठ सूत्र ३३२ के अनुसार समझें।
3. यहाँ जाव शब्द पिंडेसणाध्ययन में पठित महल्लियाओ कुज्जा से लेकर संथारगं तक के पाठ का सूचक है, सूत्र ३३८ के अनुसार।
4. 'णिण्णक्खु' के स्थान पर 'णिण्णक्ख' पाठ मानकर चूर्णि में व्याख्या की गयी है—'णिण्णक्ख बोलाव (ओलवाति) अन्तो वा बाहिं वा' अर्थात्—अन्दर ले जाता है या बाहर निकालता है।
5. यहाँ जाव शब्द से 'अपुरिसंतरकडे' से लेकर अणासेविए तक का समग्र पाठ सू० ३३१ के अनुसार समझें।
6. यहाँ ठाणं वा के बाद '३' का चिन्ह सेज्जं वा णिसीहियं वा पाठ का सूचक है।
7. यहाँ जाव शब्द से संजयामेव से लेकर चेतेज्जा तक का पाठ सूत्र ४१२ के अनुसार समझें।
8. इस पंक्ति की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में—उदए पसूयाणि—कंदाणि वा'''''', एवं कुल-बीजहरिताणि उदयप्पसूयाणि वा हरिताणि वा संजयट्ठाए णोणेज्जा' अर्थात् पानी में पैदा हुए कंद, मूल, बीज, हरियाली, जल में पैदा हुए अन्य पदार्थों को साधु के निमित्त से बाहर निकाले।

वा ठाणाओ ठाणं साहरति बहिया वा णिण्णक्खु । तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव णो[1] ठाणं वा ३ चेतेज्जा ।

अह पुणेवं जाणेज्जा–पुरिसंतरकडे जाव[2] चेतेज्जा ।

४१८. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा–अस्संजए भिक्खुपडियाए पीढं वा फलगं वा णिस्सेणिं वा उदूखलं वा ठाणाओ ठाणं साहरति बहिया वा णिण्णक्खू । तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा ।

अह पुणेवं जाणेज्जा–पुरिसंतरकडे जाव चेतेज्जा ।

४१५. वह भिक्षु या भिक्षुणी यदि ऐसा उपाश्रय जाने जो कि असंयत गृहस्थ ने साधुओं के निमित्त बनाया है, काष्ठादि लगाकर संस्कृत किया है, बाँस आदि से बाँधा है, घास आदि से आच्छादित किया है, गोबर आदि से लीपा है, संवारा है, घिसा है, चिकना (सुकोमल) किया है, या ऊबड़खाबड़ स्थान को समतल बनाया है, दुर्गन्ध आदि को मिटाने के लिए धूप आदि सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित किया है, ऐसा उपाश्रय यदि अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित हो तो उसमें कायोत्सर्ग, शय्यासंस्तारक और स्वाध्याय न करे। यदि वह यह जान जाए कि ऐसा (पूर्वोक्त प्रकार का) उपाश्रय पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित है तो उसका प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके यतनापूर्वक उसमें स्थान आदि क्रिया करे।

४१६. वह साधु या साध्वी ऐसा उपाश्रय जाने, कि असंयत गृहस्थ ने साधुओं के लिए जिसके छोटे द्वार को बड़ा बनाया है, जैसे पिण्डैषणा अध्ययन में बताया गया है, यहाँ तक कि उपाश्रय के अन्दर और बाहर की हरियाली उखाड़-उखाड़ कर, काट-काट कर वहाँ संस्तारक (बिछौना) बिछाया गया है, अथवा कोई पदार्थ उसमें से बाहर निकाले गये हैं, वैसा उपाश्रय यदि अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित हो तो वहाँ कायोत्सर्गादि क्रियाएँ न करे।

यदि वह यह जाने कि ऐसा (पूर्वोक्त प्रकार का) उपाश्रय पुरुषान्तरकृत है, यावत् आसेवित है तो उसका प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके यतनापूर्वक किया जा सकता है।

४१७. वह साधु या साध्वी ऐसा उपाश्रय जाने, कि असंयत गृहस्थ, साधुओं के निमित्त से पानी से उत्पन्न हुए कंद, मूल, पत्तों, फूलों या फलों को एक स्थान से दूसरे स्थान से जा रहा है, भीतर से कंद आदि पदार्थों को बाहर निकाला गया है, ऐसा उपाश्रय यदि अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित हो तो उसमें साधु कायोत्सर्गादि क्रियाएँ न करे।

यदि वह यह जाने कि ऐसा (पूर्वोक्त प्रकार का) उपाश्रय पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित

---

१. यहाँ जाव शब्द से 'अपुरिसंतरकडे' से लेकर 'णो ठाणं वा' तक का समग्र सूत्र ३११ के अनुसार समझें।

२. यहाँ जाव शब्द से पुरिसंतरकडे से लेकर चेतेज्जा तक का समग्र पाठ सूत्र ३१२ के अनुसार समझें।

स्वयं उसका उपयोग करता है, दूसरे लोगों को उपयोग करने के लिए देता है, तब वह मकान साधु के उद्देश्य से निर्मित-संस्कारित नहीं रहता, वह अभ्यार्थकृत हो जाता है। साधु के लिए दशवैकालिक सूत्र में पर-कृत मकान में रहने का विधान है।[1]

मूलगुण-दोष[2] से दूषित मकान तो पुरुषान्तरकृत होने पर भी कल्पनीय नहीं, इसलिए अन्य विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं—"नीहडे अत्तट्ठिए परिभुत्ते आसेविते।"

उपाश्रय-एषणा [चतुर्थ विवेक]

४१६. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा, तंजहा-खंधंसि[3] वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि णण्णत्थ आगाढागाढेहिं कारणेहिं ठाणं वा[4] ३ चेतेज्जा।

से य आहच्च चेतिते सिया, णो तत्थ सीतोदगवियडेण[5] वा उसिणोदगवियडेण वा हत्थाणि वा पादाणि वा अच्छीणि वा दंताणि वा मुहं वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा णो तत्थ ऊसढं[6] पकरेज्जा, तंजहा—उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा वंतं वा पित्तं वा पूर्ति वा सोणियं वा अण्णतरं वा सरीरावयवं।

केवली बूया-आयाणमेतं। से तत्थ ऊसढं पकरेमाणे पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा, से तत्थ

---

१. (क) आचारांग मूल, वृत्ति पत्र ३६१।

(ख) अन्नट्ठं पगडं लयणं, भएज्ज सयणासणं।
उच्चारभूमिसंपन्नं इत्थी-पसु-विवज्जियं॥ —दशवै० अ० ८ गा० ५१।

२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३६१ में मूलगुण-दोष ये बताए गए हैं—
'पट्ठी वंसो दो धारणा उ चत्तारि मूलवेलीओ।' देखें सूत्र ४४३ का विवेचन

३. खंधंसि आदि पदों का अर्थ निशीथ चूर्णि उ० ४ में इस प्रकार है—'खंधो पागारो, पेढं वा, फलिहो अग्गला, अकुड्डो मंचो, सो य मंडवो। गिहोवरि मालो धुमूमिगादि। विज्जूहगवक्खोवसोभिओ पासादो। सव्वो परिकायालं हम्मतलं।'—स्कन्ध=प्राकार या एक खम्भे पर टिकाया हुआ उपाश्रय, फलिहो=अर्गला, मंचो=बिना दीवार का स्थान, वही मडप होता है। मालो=घर के ऊपर जो दूसरी आदि मंजिल हो, पासादो=अनेक कमरों से सुशोभित महल। हम्मतलं=सबसे ऊपर की अटारी।

४. 'ठाणं वा' के बाद '३' का अंक 'सेज्जं वा निसीहियं वा' पाठ का सूचक है।

५. 'सीतोदगवियडेण' आदि पदों का अर्थ देखिये निशीथ चूर्णि उ० ४ में—'सीतोदगं अतावित वियडं ति व्यपगतजीवं। उसिणंति तावियं तं चेव ववगयजीवं। एक्कंसि उच्छोलणं, पुणो पुणो धोवणं पधोवणं।' सीतोदगं=गर्म नहीं किया हुआ, वियडं=जीवरहित-प्रासुक जल। उसिणं=गर्म किया हुआ, वह भी जीव रहित जल होता है। उच्छोलणं=एक बार धोना, पधोवणं=बार-बार धोना।

६. ऊसढं का अर्थ चूर्णिकार के शब्दों में 'उज्झिते उस्सट्ठ' उच्चारादि।' ऊपर से उच्चारादि का उत्सर्जन-त्याग करना उत्सृष्ट है। इसके अनेक पाठान्तर हैं—ओसढं, ऊसढं, ऊसढं आदि।

पयलमाणे पवडमाणे वा हत्थं वा जाव सीसं वा अण्णतरं वा कायंसि इंदियजालं लूसेज्ज पाणाणि वा अभिहणेज्ज[1] वा जाव ववरोवेज्ज वा।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा[2] ४ जं तहप्पगारे उवस्सए अंतलिक्खजाते णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४१६. वह साधु या साध्वी यदि ऐसे उपाश्रय (मकान) को जाने, जो कि एक स्तम्भ पर है, या मचान पर है, दूसरी आदि मंजिल पर है, अथवा महल के ऊपर है, अथवा प्रासाद के तल (भूमितल में या छत पर) बना हुआ है, अथवा इसी प्रकार के किसी ऊँचे स्थान पर स्थित है, तो किसी अत्यन्त गाढ़ (असाधारण) कारण के बिना उक्त प्रकार के उपाश्रय में स्थान-स्वाध्याय आदि कार्य न करे।

कदाचित् किसी अनिवार्य कारणवश ऐसे उपाश्रय में ठहरना पड़े, तो वहाँ प्रासुक शीतल जल से या उष्ण जल से हाथ, पैर, आँख, दाँत या मुंह एक बार या बार-बार न धोए, वहाँ से मल-मूत्रादि का उत्सर्ग न करे, जैसे कि उच्चार (मल), प्रस्रवण (मूत्र), मुख का मल (कफ), नाक का मैल, वमन, पित्त, मवाद, रक्त तथा शरीर के अन्य किसी भी अवयव के मल का त्याग वहाँ न करे, क्योंकि केवलज्ञानी प्रभु ने इसे कर्मों के आने का कारण बताया है।

वह (साधु) वहाँ से मलोत्सर्ग आदि करता हुआ फिसल जाए या गिर पड़े। ऊपर से फिसलने या गिरने पर उसके हाथ, पैर, मस्तक या शरीर के किसी भी भाग में, या इन्द्रिय पर चोट लग सकती है, ऊपर से गिरने से स्थावर एवं त्रस प्राणी भी घायल हो सकते हैं, प्राणरहित हो सकते हैं।

अतः भिक्षुओं के लिए तीर्थंकर आदि द्वारा पहले से ही बताई हुई यह प्रतिज्ञा है, हेतु है, कारण है और उपदेश है कि इस प्रकार के उच्च स्थान में स्थित उपाश्रय में साधु कायोत्सर्ग आदि कार्य न करे।

विवेचन—उच्चस्थ उपाश्रय निषेध : चतुर्थ विवेक—इस एक ही सूत्र में एक ही खंभे, मंच आदि या अटारी के रूप में महल पर या छत पर बने हुए मकान में ठहरने का साधु के लिए निषेध किया गया है, ठहरने से होने वाली कायिक-अंगोपांगीय हानि तथा प्राणि-विराधना का भी उल्लेख किया गया है।

प्राचीनकाल में साधु प्रायः ऐसे ही मकान में ठहरते थे, जो कच्चा छोटा-सा और जीर्ण-शीर्ण होता था, जिसमें किसी गृहस्थ परिवार का निवास नहीं होता था। कच्चे और छोटे मकान का प्रतिलेखन-प्रमार्जन भी ठीक तरह से हो जाता था, और मलमूत्रादि विसर्जन भी पंचम समिति के अनुकूल हो जाता था। ऊपर की मंजिल में, या बहुत ऊँचे मकान से मल-

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द से 'अभिहणेज्ज वा' से लेकर 'ववरोवेज्ज वा' तक का सारा पाठ सूत्र ३५२ के अनुसार है।
२. 'पुव्वोवदिट्ठा' के बाद '४' का अंक सूत्र ३५७ के अनुसार 'उवएसे' तक के पाठ का सूचक है।

मूत्रादि परिष्ठापन की बहुत ही दिक्कत होती थी, रात के अंधेरे में नीचे उतरते समय पैर फिसल जाने, सिर या अन्य अंगों के चोट लग जाने का खतरा तो निश्चित था। [आजकल की तरह गृहस्थ के कई मंजिले मकान में शौचादि परठने की व्यवस्था को उस युग का साधुवर्ग स्वीकार नहीं करता था।] अतः यह निषेध उस युग के मकानों और कठोर संयमी साधुओं को लक्ष्य में रखकर किया गया है। अत्यन्त गाढागाढ कारणवश यतनापूर्वक ऐसे मकान में ठहरने का विधान भी शास्त्रकार ने 'णण्णत्थ आगाढागाढेहिं कारणेहिं' पदों द्वारा किया है।[1]

'हम्मियतलंसि' आदि पदों के अर्थ—वृत्तिकार 'हम्मियतलसि' का अर्थ हर्म्यतल—भूमिगृह करते हैं, किन्तु निशीथ चूर्णिकार इसका अर्थ करते हैं—'सव्वोपरि डायालं हम्मतलं'—सबसे ऊपर की अट्टालिका हर्म्यतल है। उच्छोलेज्ज पधोएज्ज—एक बार धोना उच्छोलण है, बार-बार धोना पधोयण। ऊसट्ठं=मलमूत्रादि का त्याग।[2]

उपाश्रय-एषणा [पंचम विवेक]

४२०. से[3] भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा सइत्थियं सखुड्डं सपसुभत्तपाणं। तहप्पगारे सागारिए उवस्सए णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४२१. आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावतिकुलेण सद्धिं संवसमाणस्स। अलसगे[4] वा विसूइया वा छड्डी वा णं उब्बाहेज्जा, अण्णतरे वा से दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा। अस्संजते कलुणपडियाए तं भिक्खुस्स गातं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा अब्भंगेज्ज वा मक्खे-

१. आचारांग मूल तथा वृत्ति पत्रांक ३६१ के आधार से

२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३६२

३. इस पाठ के बदले प्राचीन प्रतियों में यह पाठ अधिक प्रचलित देखा गया—'से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा—ससागारियं सागणियं सउदयं सइत्थियं सखुड्डपसुभत्तपाणं…।' चूर्णि में इसी पाठ के अनुसार व्याख्या मिलती है—सागारिया=पासंडत्थगिहत्थपुरिसेहिं, सागणियाए=अगणिसघट्टो, सउदयाए=उदगवहो सेहगिलाणादिदोसा, सह इत्थिताहिं सइत्थिया=आतपरसमुत्था, सखुड्डति=खुड्डाणि चेडरूवाणि सण्णाभूमिं गच्छंति पढ ते य वदंताणि डहरहा य वाउलेंति, अहवा खुड्डा सीह वग्घ-सुणगा, पसु=गोणमहिसादि, व्रतभंगमादिदोसा, एतेसु, भत्तपाणाइं च दट्ठु सेहाण भुत्ताभुत्तदोसा।' अर्थात्—सागारिया=पाखण्डी गृहस्थ पुरुष, उनके साथ, सागणियाए=अग्नि का सघट्टा=स्पर्श, सउदगाए=अप्काय विराधना नवदीक्षित-ग्लानादिदोष, सइत्थिया=स्त्रियों के साथ, गृहस्थ की अपनी एवं दूसरे की स्त्रियाँ। सखुड्ड=क्षुद्र व्यक्ति; दास रूप, जो शौच स्थान आदि की ओर जाते तथा पढ़ते समय वंदना करते हैं, अन्यथा बड़बड़ाते हैं, अथवा खुड्डा=क्षुद्र प्राणी सिंह—व्याघ्र—कुत्ता आदि, पसु=सांड, भैंसा आदि। इत्यादि दोषों से व्रतभंग हो जाता है, इनके आहार-पानी को देख कर नवदीक्षित साधु को भुक्त-अभुक्त दोष लगने की सम्भावना है।

४. 'अलसगे' का अर्थ वृत्तिकार के शब्दों में—'हस्तपादादिस्तम्भः श्वयथुर्वा' अर्थात् 'अलसगे' का अर्थ है—हाथ, पैर आदि का शून्य-जड़ हो जाना, या सूजन हो जाना।

उपदेश दिया है कि वह उस प्रकार के (गृहस्थसंसक्त) उपाश्रय में न ठहरे, न कायोत्सर्गादि क्रिया करें।

४२४. गृहस्थों के साथ एक जगह निवास करना साधु के लिए कर्मबन्ध का कारण है। उसमें निम्नोक्त कारणों से राग-द्वेष के भावों का उत्पन्न होना सम्भव है—जैसे कि उस मकान में गृहस्थ के कुण्डल, करधनी, मणि, मुक्ता, चांदी, सोना या सोने के कड़े, बाजूबद, तीनलड़ा-हार, फूलमाला, अठारह लड़ी का हार, नौ लड़ी का हार, एकावली हार, मुक्तावली हार या कनकावली हार, रत्नावली हार, अथवा वस्त्राभूषण आदि से अलंकृत और विभूषित युवती या कुमारी कन्या को देखकर भिक्षु अपने मन में ऊंच-नीच संकल्प-विकल्प कर सकता है कि ये (पूर्वोक्त) आभूषण आदि मेरे घर में भी थे, एवं मेरी स्त्री या कन्या भी इसी प्रकार की थी, या ऐसी नहीं थी। वह इस प्रकार के उद्गार भी निकाल सकता है, अथवा मन ही मन उनका अनुमोदन भी कर सकता है।

इसीलिए तीर्थंकरों ने पहले से ही साधुओं के लिए ऐसी प्रतिज्ञा का निर्देश दिया है, ऐसा हेतु, कारण और उपदेश दिया है कि साधु ऐसे (गृहस्थ-संसक्त) उपाश्रय में न ठहरे, न कायोत्सर्गादि क्रियाएँ करे।

४२५ और फिर यह सबसे बड़ा दोष का कारण है—गृहस्थों के साथ एक स्थान में निवास करने वाले साधु के लिए कि उसमें गृहपत्नियाँ, गृहस्थ की पुत्रियाँ, पुत्रवधुएं, उसकी धायमाताएं, दासियाँ या नौकरानियां भी रहेंगी। उनमें कभी परस्पर ऐसा वार्तालाप भी होना सम्भव है कि "*ये जो श्रमण भगवान होते हैं, वे शीलवान्, वयस्क, गुणवान्, संयमी, शान्त, ब्रह्मचारी एवं मैथुन धर्म से सदा उपरत होते हैं।* अतः मैथुन-सेवन इनके लिए कल्पनीय नहीं है। परन्तु जो स्त्री इनके साथ मैथुन-क्रीड़ा में प्रवृत्त होती है, उसे ओजस्वी, तेजस्वी, प्रभावशाली, रूपवान् और यशस्वी तथा संग्राम में शूरवीर, चमक दमक वाले एवं दर्शनीय पुत्र की प्राप्ति होती है।"

इस प्रकार की बातें सुनकर, मन में विचार करके उनमें से पुत्र-प्राप्ति की इच्छुक कोई स्त्री उस तपस्वी भिक्षु को मैथुन-सेवन के लिए अभिमुख कर ले, ऐसा सम्भव है।

इसीलिए तीर्थंकरों ने साधुओं के लिए पहले से ही ऐसी प्रतिज्ञा बताई है, उनका हेतु, कारण या उपदेश ऐसा है कि साधु उस प्रकार के गृहस्थों से संसक्त उपाश्रय में न ठहरे, न कायोत्सर्गादि क्रिया करें।

विवेचन—गृहस्थ-संसक्त स्थान में निवास के खतरे और सावधानी—सू० ४२० से ४२५ तक गृहस्थादि-संसक्त स्थान में साधु का निवास निषिद्ध बताकर उसमें निवास से उत्पन्न होने वाले भय स्थलों से सावधान किया गया है। सामान्यतः ब्रह्मचारी और संयमी साधुओं के लिए ब्रह्मचर्यरक्षा की दृष्टि से तीन प्रकार के निवास स्थान (उपाश्रय या मकान) वर्जित

बताए गए हैं—(१) स्त्री-संसक्त स्थान, (२) पशु-संसक्त स्थान और (३) नपुंसक-संसक्त स्थान।[1]

प्रस्तुत प्रसंग में ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा अपरिग्रह तीनों दृष्टियों से ६ प्रकार के निवास-स्थानक वर्जित बताए हैं—(१) स्त्रियों से संसक्त, (२) पशुओं से संसक्त, (३) नपुंसक संसक्त (४) क्षुद्र मनुष्यों से या नन्हे शिशुओं से संसक्त, (५) हिंस्र एवं क्षुद्र प्राणियों से संसक्त एवं (६) सागारिक—गृहस्थ तथा उसके परिवार से संसक्त उपाश्रय।

पशुओं से संसक्त धर्मस्थान में रहने से ब्रह्मचर्य हानि के अतिरिक्त अविवेकी गृहस्थ यदि पशुओं को भूखे-प्यासे रखता है, समय पर चारा-दाना नहीं देता, पानी नहीं पिलाता, या अकस्मात् आग लग गई, ऐसी स्थिति में बंधनबद्ध पशुओं का आर्त्तनाद साधु से देखा नहीं जाएगा, गृहस्थ की अनुपस्थिति में उसे करुणावश पशुओं के लिए यथायोग्य करना या कहना पड़ सकता है। नपुंसक संसक्त स्थान तो ब्रह्मचर्य हानि की दृष्टि से वर्जित है ही। क्षुद्र मनुष्यों से संसक्त मकान में रहने से वे छिद्रान्वेषी, द्वेषी एवं प्रतिकूल होकर बराबर साधु को हैरान और बदनाम करते रहेंगे। शिशुओं से युक्त स्थान में रहने से साधु को उन नन्हें बच्चों को देख कर मोह उत्पन्न हो सकता है। उनकी माताएं साधुओं के पास उन्हें लाएंगी, छोड़ देंगी, तब स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाओं में बाधा उत्पन्न होगी। सिंह, सर्प, बाघ आदि हिंस्र प्राणियों से युक्त स्थान में रहने से साधु के मन में भय पैदा होगा, निद्रा नहीं आएगी। स्त्रियों से संसक्त स्थान में रहने से ब्रह्मचर्य-हानि की संभावना तो है ही। अन्यतीर्थिक साधुओं एवं भिक्षाजीवी परिव्राजकों आदि के साथ रहने में भी अपने संयम को खतरा है, अपरिपक्व साधक उनकी बातों से बहक भी सकता है, गृहस्थ और उसके परिवार से संसक्त मकान में निवास भी अनेक खतरों से भरा है।

कुछ खतरों का संकेत यहाँ शास्त्रकार ने किया है—(१) भिक्षु के अकस्मात् दुःसाध्य रोग हो जाने पर गृहस्थ द्वारा उसके उपचार करने में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय की विराधना की सम्भावना, (२) परस्पर लड़ाई-झगड़ों से साधु के चित्त में संक्लेश, (३) गृहस्थ अपने लिए खाने-पकाने के साथ-साथ साधु के लिए भी अग्नि समारम्भ करके भोजन बनाएगा। (४) गृहस्थ के घर में विविध आभूषणों तथा सुन्दर युवतियों को देख कर पूर्वाश्रम स्मरण से मोहोत्पत्ति तथा कामोत्तेजना की सम्भावना। (५) अधिक स्त्री संसर्ग से पुरुषाभिलाषिणी स्त्री के साथ सहवास की सम्भावना। इन सब संभावनाओं को ध्यान में रखकर शास्त्रकार ने तीर्थंकर भगवान द्वारा साधु के लिए उपदिष्ट प्रतिज्ञा, हेतु, कारण और उपदेश को बार-बार दुहराकर खतरों से सावधान किया है।

१ (क) स्थानांग सूत्र स्था. ३ उ० ३ (ख) उत्तराध्ययन सूत्र अ. १६।१
२ (क) आचारांग सूत्र चूर्णि श्लोक ३६१,३६२ के आधार पर
(ख) आचारांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० १८३ (मुनि जम्बूविजयजी)

'विसूइया' आदि पदों के अर्थ—विसूइया=विसूचिका—हैजा, छड्डी=वमनरोग, उब्बाहेज्जा=पीड़ित करें, कक्केण=चन्दनादि के उबटन द्रव्य से। वृत्तिकार के अनुसार—कापायरंग के द्रव्य के काढे से, वण्णेण=कम्पिल्लक आदि द्रव्यों से बने हुए लेपसे, उच्चावचं मणं नियच्छेज्जा=मन ऊंचा-नीचा करेगा, उच्च मन—ऐसा न करें, अवच मन=ऐसा करें। चूर्णिकार के मत मे अनेक प्रकार का मन। सअट्ठाए=अपने प्रयोजन से, गुणे=करधनी, कडगाणि=कड़े, तुडियाणि—वाजूबन्द, पालंबाणि=लम्बी पुष्पमाला, सड्ढी=पुत्रोत्पत्ति में श्रद्धा रखने वाली स्त्री, पडियारणाए=मैथुन-सेवन करने के लिए आउट्टावेज्जा=प्रवृत्त करे, अभिमुख करे। साएज्जा=आकांक्षा करे।[1]

४२६. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

४२६ यही (शय्यैषणा-विवेक) उस भिक्षु या भिक्षुणी की (ज्ञानादि आचार की) समग्रता है।

॥ शय्यैषणा-अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

गृहस्थ संसक्त उपाश्रय-निषेध

४२७. गाहावती नामेगे सुइसमायारा भवंति, भिक्खू य असिणाणए मोयसमायारे से तग्गंधे दुग्गंधे[2] पडिकूले पडिलोमे यावि भवति, जं पुव्वकम्मं तं पच्छाकम्मं, जं पच्छाकम्मं तं पुव्वकम्मं[3], ते भिक्खुपडियाए वट्टमाणा करेज्ज वा णो वा करेज्जा।

---

१ (क) पाइअ सद्दमहण्णवो

(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३६२, ३६३

(ग) आचारांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० १४६

२. 'से गंधे दुग्गंधे' का तात्पर्य चूर्णिकार के शब्दों मे—'तेण तेसिं सो गंधो पडिकूलो' इस कारण उन (गृहस्थों) को वह गन्ध प्रतिकूल लगता है।

३. 'जं पुव्वकम्मं' आदि पंक्ति का तात्पर्य चूर्णिकार के शब्दों मे—"जं पुव्वकम्मं ति गिहत्थाण पुव्वकम्मं उच्छोलण, तं च पच्छा पव्वज्जाए वि कुज्जा, मा उड्डाहो होहिति, तत्थ बाउसदोसा, अह ण करेति तो उड्डाहो। अहवा ताइ पुव्वपए जामेता ईओ पच्छा संजयउवरोहा, मुत्तत्थाण उसूरे वा, पच्छिमाए पोरिसीए जेमेताइओ ताह संजयाण पाढवाघातो त्ति पदे चेव जिमिताइ। उवक्खडणा वि एवं प्रत्या- [illegible]

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा[1] ४ जं तहप्पगारे उवस्सए ठाणं वा[2] ३ चेतेज्जा।

४२८. आयाणमेतं भिक्खुस्स गाहावतीहिं सद्धिं संवसमाणस्स। इह खलु गाहावतिस्स अप्पणो सयट्ठाए विरूवरूवे भोयणजाते उवक्खडिते सिया, अह पच्छा भिक्खुपडियाए असणं वा ४ उवक्खडेज्ज वा उवकरेज्ज वा, तं च भिक्खू अभिकंखेज्जा भोत्तए वा पातए वा वियट्टित्तए वा।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं णो तहप्पगारे उवस्सए ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४२९. आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावतिणा सद्धिं संवसमाणस्स। इह खलु गाहावतिस्स अप्पणो सयट्ठाए विरूवरूवाइं दारुयाइं भिण्णपुव्वाइं भवंति, अह पच्छा भिक्खुपडियाए विरूवरूवाइं दारुयाइं भिंदेज्ज वा किणेज्ज वा पामिच्चेज्ज वा दारुणा वा दारुपरिणामं कट्टु अगणिकायं उज्जालेज्ज वा पज्जालेज्ज वा, तत्थ भिक्खू अभिकंखेज्जा आतावेत्तए वा पयावेत्तए वा वियट्टित्तए वा।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४३०. से भिक्खू वा २ उच्चारपासवणेणं उब्बाहिज्जमाणे रातो वा वियाले वा गाहावतिकुलस्स दुवारबाहं अवंगुणेज्जा, तेणो य तस्संधिचारी अणुपविसेज्जा, तस्स भिक्खुस्स णो कप्पति एवं वदित्तए—अयं[3] तेणे पविसति वा णो वा पविसति, उवल्लियति वा णो वा

हैं। यदि ऐसा नहीं करता है तो बदनामी होती है। अथवा साधुओं के लिहाज से भोजनादि जो कर्म हैं, उन्हें गृहस्थ बाद में करता है। सूत्रार्थ पौरुषी के बाद सूर्यास्त होने पर। अन्तिम पौरुषी भोजन इत्यादि करने पर साधुओं के स्वाध्याय में विघ्न पड़ता है, यह सोचकर गृहस्थ भोजन का कार्य पहले कर लेता है। भोजन बनाने का कार्य भी साधुओं के अनुरोध से इस प्रकार के विकारण स्थगित कर देता है। साधु अपनी चर्या आगे-पीछे करता है या स्थगित कर देता है। भिक्षु के अनुरोध से कई नित्यकार्य करते हैं, नहीं भी करते।

1. 'पुव्वोवदिट्ठा' के बाद '४' का अंक यहाँ 'एस उवएसो' तक के पाठ का सूचक है।
2. 'ठाणं वा' के बाद '३' का अंक 'सेज्जं वा निसीहियं वा' पाठ का सूचक है।
3. चूर्णिकार 'अतेणं तेणमिति संकति' इस वाक्य की व्याख्या यों करते हैं—"अयं उवचरए, उ... णाम चारिओ, साणि वा साहुं चेव भणति—अयं तेणे, अयं उवचरए, अयं एत्थ अकासी चोरि... आसी वा एत्थ। एत्थ सब्भावे कहिए चोरातो भयं, तुण्हिक्के पच्चणिरा। अतेणं तेणमिति ... सागारिए मते दोसा।'

—साधु अगर चोरी के विषय में सच्ची बात कहता है, किन्तु चोरी का पता न ... वे गृहस्थ उसी (साधु) को यों कहते हैं कि—यह चोर है, यह उपचरक=गुप्तचर है। इसी ने चोरी (चारी=भेद बताने का कार्य) की है यही यहाँ था। ऐसी स्थिति में अगर वह साधु बता देता है तो चोरों से भय है, यदि मौन रहता है तो उसके प्रति अप्रतीति होती है, जो ... नहीं है, उसके प्रति चोर की शंका होती है। अतः गृहस्थ—संसक्त स्थान में यह दोष सम्भव ...

सिंचति, आपतति वा णो वा आपतति, वदति¹ वा णो वा वदति, तेण हडं, अण्णेण हडं, तस्स हडं, अण्णस्स हडं, अयं तेणे, अयं उवचरए, अयं हंता, अयं एत्थमकासी। तं तवस्सिं भिक्खुं अतेणं तेणमिति संकति।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा² ४ जाव णो चेतेज्जा।

४२७. कोई गृहस्थ शौचाचार-परायण होते हैं और भिक्षुओं के स्नान न करने के कारण तथा मोकाचारी होने के कारण उनके मोकलिप्त शरीर और वस्त्रों से आने वाली वह दुर्गन्ध उस गृहस्थ के लिए दुर्गन्ध-प्रतिकूल और अप्रिय भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त वे गृहस्थ (स्नानादि) जो कार्य पहले करते थे, अब भिक्षुओं की अपेक्षा (लिहाज) से बाद में करेंगे और जो कार्य बाद में करते थे, वे पहले करने लगेंगे अथवा भिक्षुओं के कारण वे असमय में भोजनादि क्रियाएँ करेंगे या नहीं भी करेंगे। अथवा वे साधु उक्त गृहस्थ के लिहाज से प्रतिलेखनादि क्रियाएँ समय पर नहीं करेंगे, बाद में करेंगे, या नहीं भी करेंगे। इसलिए तीर्थंकरादि ने भिक्षुओं के लिए पहले से ही यह प्रतिज्ञा बताई है, यह हेतु, कारण और उपदेश दिया है कि वह इस प्रकार के (गृहस्थ-संसक्त) उपाश्रय में कायोत्सर्ग ध्यान आदि क्रियाएँ न करे।

४२८. गृहस्थों के साथ (एक मकान में) निवास करने वाले साधु के लिए वह कर्मबन्ध का कारण हो सकता है क्योंकि वहाँ (उस मकान में) गृहस्थ अपने निज के लिए नाना प्रकार के भोजन तैयार किये होंगे, उसके पश्चात् वह साधुओं के लिए अशनादि चतुर्विध आहार तैयार करेगा, उसकी सामग्री जुटाएगा। उस आहार को साधु भी खाना या पीना चाहेगा या उस आहार में आसक्त होकर वहीं रहना चाहेगा। इसलिए भिक्षुओं के लिए तीर्थंकरों ने पहले से यह प्रतिज्ञा बताई है, यह हेतु कारण और उपदेश दिया है कि वह इस प्रकार के (गृहस्थ संसक्त) उपाश्रय में स्थानादि कार्य न करे।

४२९. गृहस्थ के साथ (एक मकान में) ठहरने वाले साधु के लिए वह कर्मबन्ध का कारण हो सकता है, क्योंकि वहाँ (उस मकान में ही) गृहस्थ अपने स्वयं के लिए पहले नाना प्रकार के काष्ठ-इन्धन को काटेगा, उसके पश्चात् वह साधु के लिए भी विभिन्न प्रकार के इन्धन को काटेगा, खरीदेगा या किसी से उधार लेगा और काष्ठ (अरणि) से काष्ठ का घर्षण करके अग्निकाय को उज्ज्वलित एवं प्रज्वलित करेगा। ऐसी स्थिति में सम्भव है, वह साधु भी गृहस्थ की तरह शीत निवारणार्थ अग्नि का आताप और प्रताप लेना चाहेगा, तथा उसमें आसक्त होकर वहीं रहना चाहेगा।

---

१ वदति के स्थान पर वयइ पाठान्तर मानकर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—'व्रजति'—अर्थात् जाता है।
२. पुव्वोवदिट्ठा के बाद '४' का चिन्ह सूत्र ३५७ के अनुसार यहाँ से 'उवएसे' तक के पाठ का सूचक है।

इसीलिए तीर्थंकर भगवान् ने पहले से ही भिक्षु के लिए यह प्रतिज्ञा बताई है, यही हेतु, कारण और उपदेश दिया है कि वह इस प्रकार के (गृहस्थ संसक्त) उपाश्रय में स्थान आदि कार्य न करे।

४३०. (गृहस्थ संसक्त मकान में ठहरने पर) वह भिक्षु या भिक्षुणी, रात में या विकाल में मल-मूत्रादि की बाधा (हाजत) होने पर गृहस्थ के घर का द्वारभाग खोलेगा, उस समय कोई चोर या उसका सहचर घर में प्रविष्ट हो जाएगा तो उस समय साधु को मौन रखना होगा। ऐसी स्थिति में साधु के लिए ऐसा कहना कल्पनीय नहीं है कि यह चोर प्रवेश कर रहा है, या प्रवेश नहीं कर रहा है, यह छिप रहा है, या नहीं छिप रहा है, नीचे कूद रहा है या नहीं कूदता है, बोल रहा है या नहीं बोल रहा है, इसने चुराया है, या किसी दूसरे ने चुराया है, उसका धन चुराया है अथवा दूसरे का धन चुराया है; यही चोर है, यह उसका उपचारक (साथी) है, यह घातक है, इसी ने यहाँ यह (चोरी का) कार्य किया है। और कुछ भी न कहने पर जो वास्तव में चोर नहीं है, उस तपस्वी साधु पर (गृहस्थ को) चोर होने की शंका हो जाएगी। इसीलिए तीर्थंकर भगवान् ने पहले से ही साधु के लिए यह प्रतिज्ञा बताई है, यह हेतु, कारण और उपदेश दिया है कि वह गृहस्थ से संसक्त उपाश्रय में न ठहरे, न कायोत्सर्गादि क्रिया करे।

विवेचन—गृहस्थ संसक्त उपाश्रय : अनेक अनर्थों का आश्रय—पूर्व उद्देशक में भी शास्त्रकार ने गृहस्थ ससंक्त उपाश्रय में निवास को अनेक अनर्थों की जड़ बताया था। इस उद्देशक के प्रारम्भ में फिर उसी गृहस्थ ससंक्त उपाश्रय के दोषों को विविध पहलुओं से शास्त्रकार समझाना चाहते हैं। सूत्र ४२७ से ४३० तक इसी की चर्चा है। इन सूत्रों में चार पहलुओं से गृहस्थ संसक्त उपाश्रय निवास के दोष बताए गए हैं—

(१) साफ-सुथरा रहने वाले व्यक्ति के मकान में साधु के ठहरने पर परस्पर एक दूसरे के प्रति शंका-कुशंका से खिंचे-खिंचे रहेंगे, दोनों के कार्य का समयचक्र उलट-पुलट हो जाएगा।

(२) गृहस्थ अपने लिए भोजन बनाने के बाद साधुओं के लिए खासतौर से भोजन बनाएगा, साधु स्वादलोलुप एवं आचार भ्रष्ट हो जाएगा।

(३) साधु के लिए गृहस्थ ईंधन खरीदेगा या किसी तरह जुटाएगा, अग्नि में आरम्भ, साधु भी वहाँ रहकर आग में हाथ सेंकने लगेगा।

(४) मकान में चोर घुस जाने पर साधु धर्म-संकट में पड़ जाएगा कि गृहस्थ को कहे कि न कहे। दोनों में ही दोष है।

ये और इस प्रकार के अन्य खतरे गृहस्थ ससंक्त मकान में रहते हैं। इसलिए यहाँ शास्त्रकार ने तीर्थंकरों द्वारा निर्दिष्ट प्रतिज्ञा और उपदेश को बारम्बार दुहराकर इन

चेतावनी दी है।[1] चूर्णिकार ने इन सूत्रों का रहस्य अच्छे ढंग से समझाया है।[2]

'सुईसमाचारा' आदि पदों के अर्थ—सुईसमाचारा=शौचाचारपरायण भागवतादि भक्त या बनठन कर (इत्र-तेल, फुलेल आदि लगाए) रहने वाले सफेदपोश, पडिलोमे=विद्वेषी, दुवारबाहं = द्वारभाग को, अवंगुणेज्जा=खोलेगा, उवल्लियति—छिपता है, आपतति=नीचे कूद रहा है।[3]

<u>उपाश्रय-एषणा : विधि निषेध</u>

४३१. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा, तं [जहा-] तणपुंजेसु[4] वा पलालपुंजेसु वा सअंडे[5] जाव संताणए। तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेतेज्जा।

से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा तणपुंजेसु वा पलालपुंजेसु वा अप्पंडे[6] जाव चेतेज्जा।

४३१. जो साधु या साध्वी उपाश्रय के सम्बन्ध में यह जाने कि उसमें (रखे हुए) घास के ढेर या पुआल के ढेर, अंडे, बीज, हरियाली, ओस, सचित्त जल, कोड़ी नगर, काई, लीलण-फूलण, गीली मिट्टी, या मकड़ी के जालों से युक्त है तो इस प्रकार के उपाश्रय में वह स्थान, शयन आदि कार्य न करे।

यदि वह साधु या साध्वी ऐसा उपाश्रय जाने कि उसमें (रखे हुए) घास के ढेर या पुआल के ढेर, अंडों, बीजों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त नहीं है तो इस प्रकार के उपाश्रय में वह स्थान-शयनादि कार्य करे।

विवेचन—जीव जन्तु सहित उपाश्रय वर्जित, जीव-रहित नहीं—साधु अपने निमित्त से किसी भी जीव को हानि पहुँचाना नहीं चाहता। उसकी अहिंसा की पराकाष्ठा है—समस्त जीवों को अपनी आत्मा के समान समझना। ऐसी स्थिति में वह अपने निवास के लिए जो स्थान

---

१. टीका पत्र ३६४ के आधार पर।
२. आचारांग चूर्णि, देखिए मूल पाठ टिप्पण।
३. टीका पत्र ३६४।
४. तणपुंजेसु पलालपुंजेसु की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में—तणपुंजा गिहाण उवरि तणा कया, पलाल वा मडवस्स उवरि हेट्ठा भूमी रमणिज्जा, सअंडेहिं णो ठाणं चेतिज्जा, अप्पंडेहिं चेतिज्जा। अर्थात्—तृण का ढेर तृणपुंज कहलाता है, जो कि घरों पर किया जाता है, अथवा मंडप पर पराल बिछाई जाती है। अतः नीचे की भूमि रमणीय है, किन्तु वह अंडों या जीवजन्तु से युक्त है तो स्थान (निवास) न करे। जो अंडे आदि से रहित स्थान हो, वहीं निवास करे।
५. सअंडे के बाद जाव शब्द सअंडे से लेकर संताणए तक का पाठ सूत्र ३५६ के अनुसार समझें।
६. अप्पंडे के बाद 'जाव' शब्द चेतेज्जा तक के पाठ का सूचक है, सू० ३२४ के अनुसार।

चुनेगा, उसमें अगर जीवों के अंडे हों, बीज हों, अन्न हों, हरियाली उगी हुई हो, ओस, कच्चा पानी हो, गीली मिट्टी हो, काई या लीलण-फूलण हो अथवा चींटियों का बिल हो तो ऐसे मकान में या स्थान में निवास करने से उन सब जीवों को पीड़ा होगी। साधु की जरा-सी असावधानी से दब या मर सकते हैं, यहाँ तक कि उन्हें स्पर्श करने से दुःख हो सकता है। वनस्पति सजीव है, पानी में भी जीव हैं, यह बात वर्तमान जीव-विज्ञान ने प्रयोग करके सिद्ध कर दी है। इसी कारण साधु को ऐसे उपाश्रय में रहकर कोई क्रिया करना निषिद्ध बताया है। साथ ही जीवों से रहित, शुद्ध, निर्दोष स्थान हो तो वहाँ निवास करने का विधान किया है।[1]

'पलालपुंजेसु'—चावलों की घास को पराल या पुआल कहते हैं, उसके ढेर को पुंज कहते हैं।

नव विध शय्या-विवेक

४३२. से आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावतिकुलेसु वा परियावसहेसु वा अभिक्खणं २ साहम्मिएहिं ओवयमाणेहिं णो ओवतेज्जा।[2]

४३३. से आगंतारेसु वा[3] ४ जे भयंतारो उडुबद्धियं वा वासावासियं वा कप्पं उवातिणित्ता तत्थेव भुज्जो संवसंति अयमाउसो कालातिक्कंतकिरिया वि भवति।

४३४. से आगंतारेसु वा ४ जे भयंतारो उडुबद्धियं वा वासावासियं वा कप्पं उवातिणावित्ता तं दुगुणा दुगुणेण अपरिहरित्ता तत्थेव भुज्जो संवसंति अयमाउसो उवट्ठाणकिरिया वि भवति।

४३५. इह खलु पाईणं वा[4] ४ संतेगतिया सड्ढा भवंति, तंजहा-गाहावती वा जाव कम्मकरीओ वा, तेसिं च णं आयारगोयरे णो सुणिसंते भवति, तं सद्दहमाणेहिं तं पत्तियमाणेहिं तं रोयमाणेहिं बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवंति, तंजहा-आएसणाणि[5] वा आयतणाणि वा देवकुलाणि वा सहाणि वा

---

१ आचारांग वृत्ति पत्रांक ३६५ के आधार पर।

२ णो ओवतेज्जा के स्थान पर पाठान्तर है—'णो वएज्जा, णो य वतेज्जा।' चूर्णिकार अर्थ करते हैं 'णावएज्ज'—वहाँ मासकल्पादि निवास न करे।

३ आगंतारेसु वा के बाद '४' का चिह्न 'आरामागारेसु वा गाहावतिकुलेसु वा परियावसहेसु वा' पाठ का सूचक है, सूत्र ४३२ के अनुसार।

४ पाईणं वा के बाद '४' का अर्थ शेष तीनों दिशाओं का सूचक है।

५ चूर्णिकार के शब्दों में 'आएसणाणि' आदि पदों की व्याख्या—

आएसणाणि—[illegible] [illegible] कुम्भा[illegible], अहवा लोहारसालमादी। आयतण [illegible] [illegible] [illegible]। देवकुलं—[illegible], [illegible] [illegible]

वा पणियगिहाणि वा पणियसालाओ वा जाणगिहाणि वा जाणसालाओ वा सुधाकम्मंताणि[1] वा दब्भकम्मंताणि वा वब्भकम्मंताणि वा वव्वकम्मंताणि[2] वा इंगालकम्मंताणि वा कट्ठकम्मंताणि वा[3], सुसाणकम्मंताणि [वा] गिरिकम्मंताणि वा कंदरकम्मंताणि वा संतिकम्मंताणि वा सेलोवट्ठाणकम्मंताणि वा भवणगिहाणि वा। जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा तेहिं ओवतमाणेहिं ओवतंति[4] अयमाउसो ! अभिक्कंतकिरिया या वि भवति।

४३६. इह खलु पाईणं वा जाव[5] ४ तं रोयमाणेहिं बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवंति, तं जहा—आएसणाणि वा

मडवो वलभी या गवाणमंतरा इतरा वा। पवा=जत्थ पाणित दिज्जइ। पणितगिह=आवणो सकुड्डओ। पणियसाला=थावणो चेव अकुड्डओ, जाणगिहं=रहादीण वासकुड्ड, साला=एएमि चेव अकुड्डा। छुहा (सुधा) कडा; छुहा जत्थ कोहाविज्जति वा, दब्भा=दब्भा वलिज्जति छिज्जति वा। वव्वओ विच्चि (छि) ज्जति) वलिज्जति य। वब्भा=वरत्ताजा गदीण (गद्दीण) वलिज्जति। इंगाल-कट्ठकम्म एतेसि सालातो भवति। सुसाणे गिहाइ। गिरि=जहा खड्णागिरिम्मि लेणमादी। कंदरा=गिरिगुहा। संति=सतीए घराइ। सेल=पाहाणघराइ। उवट्ठाणगिह=जत्थ गावीओ उट्ठावित्तु दुब्भंति। सोभणं ति भवण भा दीन्तो।—अर्थात्—आएसणाणि=जहाँ क्षार पकाया जाता है, अग्नि बुझाई जाती है, अथवा लुहारकी शालादि। आयतन=पाखण्डियो के ठहरने का स्थान, जो मन्दिर की दीवार के पास होते हैं। देवकुल=वाणव्यन्तर देव से रहित या सहित, प्रतिमा सहित देवालय। सभा=मडप या छत्र वाणव्यन्तर देव सहित या रहित। पवा=प्रपा प्याऊ जहाँ पानी पिलाया जाता है, पणितगिहं=आपण (दूकान) दीवार सहित, पणियसाला=बिना दीवार की खुली दूकान, जाणगिहं=रथादि रखने का स्थान। साला=रथ आदि का खुला स्थान बिना दीवार का। छुहा=खड़ी या मकान पोतने का चूना जहाँ पकाया जाता है। दब्भा=दर्भ जहाँ काटे या मोड़ें जाते हैं, वव्वओ=घास की चटाइयाँ टोकरियाँ आदि जहाँ बनाई जाती हैं, दब्भा=जहाँ चमड़े के बरत—रस्से आदि बनते हैं। इंगालकट्ठकम्म=कोयला तथा काष्ठकर्म बनाने की शालाएं, सुसाणे गिहाइ=श्मशान में बने घर, गिरि=गिरिगृह, जैसे खड्णागिरि पर मकान बने हैं। कंदरा=पर्वत की गुफा में काट-छील कर बनाया हुआ घर, संति=शान्ति कर्म के लिए बनाए गए गृह, सेल=पाषाणगृह, उवट्ठाणगिह=जहाँ गायें आदि खड़ी करके दूही जाती हैं, उपस्थानगृह। भवणं=शोभनगृह—सुन्दर भवन।

१ 'सुधा' के बदले पाठान्तर है—'छुहा'। अर्थ समान है।

२. वव्वकम्मंताणि के बदले पाठान्तर है—'वक्कयकम्मंताणि' अर्थ होता है—वल्कल—छाल से चटाई कपड़े आदि बनाने के कारखाने।

३. कहीं कहीं सुसाणकम्मंताणि के बदले 'सुसाणगिहं' या 'सुसाणघर' पाठान्तर है। अर्थात् श्मशान में बना हुआ घर।

४. 'ओवतंति' के बदले पाठान्तर है—उवयंति।

५ पाइणं वा के बाद '४' का अंक शेष तीन दिशाओं का सूचक है।

याइं भवंति, तंजहा-आएसणाणि वा[1] जाव गिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति, २ [त्ता] इयराइयरेहिं पाहुडेहिं [वट्टंति, ?] अयमाउसो! महावज्जकिरिया यावि भवति।

४३९. इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं[2] रोयमाणेहिं बहवे समणजाते समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवंति, तंजहा-आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा, जे + भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा+ उवागच्छंति, २ [त्ता] इतराइतरेहिं पाहुडेहिं [वट्टंति, ?] अयमाउसो! सावज्जकिरिया यावि भवति।

४४०. इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं एगं समणजातं समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवंति, तंजहा-आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा महता पुढविकायसमारंभेणं[3] जाव[4] महता तसकायसमारंभेणं महता संरंभेणं महता समारंभेणं महता आरंभेणं महता विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं, तंजहा-छावणतो लेवणतो संथार-दुवार-पिहणतो, सीतोदगए[5] वा परिट्ठवियपुव्वे भवति, अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे भवति, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति इतराइतरेहिं पाहुडेहिं दुपक्खं ते कम्मं सेवंति, अयमाउसो! महासावज्जकिरिया यावि भवति।

४४१. इह खलु पाईणं वा ४[6] जाव तं रोयमाणेहिं अप्पणो सयट्ठाए तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेतियाइं भवंति, तंजहा-आएसणाणि वा[7] जाव गिहाणि वा महता पुढविकायसमा-

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द से 'आएसणाणि वा' से लेकर 'गिहाणि वा' तक का समग्र पाठ सूत्र ४३५ के अनुसार समझें।

\+ इस चिन्ह के अन्तर्गत जो पाठ है, वह किसी किसी प्रति में नहीं है।

२. यहाँ 'जाव' शब्द से पाईणं वा से लेकर 'तं रोयमाणेहिं' तक का समग्र पाठ सू० ४३५ के अनुसार समझें।

३ इन पंक्तियों के स्थान पर पाठान्तर है—' "समारंभेणं एवं आउ-तेउ-वाउ-वणस्सइ, महया तस ""। महया सरंभेण महया आरंभेण, महया आरंभ-समारंभेणं, महासरंभेणं महया आरंभेण महया समारंभेणं।'

४. यहाँ जाव शब्द से 'आउकाय "" "तेउकाय ""वाउकाय"""वणस्सइकाय समारंभेण" आदि पाठ समझना चाहिए।

५. सीतोदगए के स्थान पर पाठान्तर है—'सीतोदगए', 'सीतोदगघडे', 'सीओदएण वा'। चूर्णिकार इसका तात्पर्य समझाते हैं—'सीतोदगघडे—अब्भंतरतो सण्णिक्खित्तो, अगणिकाय वा उज्जालेंति, पाउया वा'—

—अर्थात् ठंडे सचित्त पानी के घड़े अन्दर रख दिए हैं, अग्नि जलाता है या प्रकाश करता है।

६. पाईणं वा के बाद '४' का चिन्ह शेष तीन दिशाओं का सूचक है।

७. 'आएसणाणि' से लेकर 'गिहाणि' तक का पाठ सूत्र ४३५ के अनुसार 'जाव' शब्द से समझें।

रंभेणं जाव अगणिकाये वा उज्जालियपुव्वे भवति, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति इतराइतरेहिं पाहुडेहिं एगपक्खं ते कम्मं सेवंति, अयमाउसो! अप्पसावज्जकिरिया यावि भवति।

४३२. पथिकशालाओं में उद्यान में निर्मित विश्रामगृहों में, गृहस्थ के घरों में, या तापसों के मठों आदि में जहाँ (—अन्य सम्प्रदाय के) साधु बार बार आते-जाते (ठहरते) हैं, वहाँ निर्ग्रन्थ साधुओं को मासकल्प आदि नहीं करना चाहिए।

४३३. हे आयुष्मन्! जिन पथिकशाला आदि में साधु भगवन्तों ने ऋतुबद्ध मासकल्प —(शेषकाल) या वर्षावास कल्प (चातुर्मास) बिताया है, उन्हीं स्थानों में अगर वे बिना कारण पुन-पुन निवास करते है, तो उनकी वह शय्या (वसति-स्थान) कालातिक्रान्त क्रिया-दोष से युक्त हो जाती है।

४३४. हे आयुष्मन्! जिन पथिकशालाओं आदि में, जिन साधु भगवन्तों ने ऋतुबद्ध कल्प या वर्षावासकल्प बिताया है, उससे दुगुना-दुगुना काल (मासादिकल्प का समय) अन्यत्र बिताये बिना पुन उन्हीं (पथिकशालाओं आदि) में आकर ठहर जाते हैं तो उनकी वह शय्या (निवास स्थान) उपस्थान क्रिया दोष से युक्त हो जाती है।

४३५. आयुष्मन्! इस संसार में पूर्व, पश्चिम, दक्षिण अथवा उत्तर दिशा में कई श्रद्धालु (भावुक भक्त) होते हैं, जैसे कि गृहस्वामी गृहपत्नी, उसकी पुत्र-पुत्रियाँ, पुत्रवधुएँ, धायमाताएँ, दास-दासियाँ या नौकर-नौकरानियाँ आदि; उन्होंने निर्ग्रन्थ साधुओं के आचार-व्यवहार के विषय में तो सम्यक्तया नहीं सुना है, किन्तु उन्होंने यह सुन रखा है कि साधु महात्माओं को निवास के लिए स्थान आदि का दान देने से स्वर्गादि फल मिलता है। इस बात पर श्रद्धा, प्रतीति एवं अभिरुचि रखते हुए उन गृहस्थों ने (अपने-अपने ग्राम या नगर में) बहुत-से शाक्यादि श्रमणों, ब्राह्मणों, अतिथि-दरिद्रों और भिखारियों आदि के उद्देश्य से विशाल मकान बनवा दिये हैं। जैसे कि लुहार आदि की शालाएँ, देवालय की पार्श्ववर्ती धर्मशालाएँ, सभाएँ, प्रपाएँ (प्याऊ) दुकानें, मालगोदाम, यानगृह, रथादि बनाने के कारखाने, चूने के कारखाने, दर्भ, चर्म एवं वल्कल (छाल) के कारखाने, कोयले के कारखाने, काष्ठ-कर्मशाला, श्मशान भूमि में बने हुए घर, पर्वत पर बने हुए मकान, पर्वत की गुफा से निर्मित आवास, [illegible] बने हुए पाषाण मण्डप (या भूमिगृह आदि) इस प्रकार के गृहस्थों ने [illegible] निर्मित आवास स्थानों में, (जहाँ कि शाक्यादि श्रमण [illegible] ठहरे हुए हैं (उन्हीं में बाद में) निर्ग्रन्थ आकर ठहरते हैं तो वह शय्या [illegible] दोष से युक्त हो जाती है।

४३६. हे आयुष्मन्! इस संसार में पूर्वादि दिशाओं में अनेक श्रद्धालु (भावुक) [illegible] नौकर-नौकरानियाँ आदि। निर्ग्रन्थ साधुओं के आचार [illegible] श्रद्धा, प्रतीति और अभिरुचि से प्रेरित होकर बहुत से श्रमण [illegible]

आदि के उद्देश्य से विशाल मकान बनवाए हैं, जैसे कि लोहकारशाला यावत् भूमिगृह आदि। ऐसे लोहकार शाला यावत् भूमि गृहों में चरकादि परिव्राजक, शाक्यादि श्रमण इत्यादि पहले नहीं ठहरे हैं, (वे बनने के बाद से अब तक खाली पड़े रहे हैं), ऐसे मकानों में अगर निर्ग्रन्थ श्रमण आकर पहले-पहल ठहरते है, तो वह शय्या अनभिक्रान्त क्रिया से युक्त हो जाती है। अकल्पनीय है।

४३७ इस संसार में पूर्वादि दिशाओ में कई श्रद्धा भक्ति से युक्त जन है, जैसे कि गृहपति यावत् उसकी नौकरानियाँ। उन्हें पहले से ही यह ज्ञात होता है, कि ये श्रमण भगवन्त शीलवान् यावत् मैथुनसेवन से उपरत होते हैं इन भगवन्तों के लिए आधाकर्मदोष से युक्त उपाश्रय मे निवास करना कल्पनीय नही है। अतः हमने अपने प्रयोजन के लिए जो ये लोहकारशाला यावत् भूमि गृह आदि मकान बनवाए हैं, वे सब मकान हम इन श्रमणों को दे देंगे, और हम अपने प्रयोजन के लिए बाद में दूसरे लोहकारशाला आदि मकान बना लेंगे।

गृहस्थो का इस प्रकार का वार्तालाप सुनकर तथा समझकर भी जो निर्ग्रन्थ श्रमण गृहस्थों द्वारा (भेंट रूप में) प्रदत्त उक्त प्रकार के लोहकारशाला आदि मकानों में आकर ठहरते हैं, वहाँ ठहर कर वे अन्यान्य छोटे-बड़े उपहार रूप घरो का उपयोग करते है, तो आयुष्मान् शिष्य ! उनकी वह शय्या (वसतिस्थान) वर्ज्यक्रिया से युक्त हो जाती है।

४३८. इस संसार में पूर्वादि दिशाओं मे कई श्रद्धालु जन होते हैं, जैसे कि—गृहपति, उसकी पत्नी, पुत्री, पुत्र, पुत्रवधू, धायमाता, दास-दासिया आदि। वे उनके आचार-व्यवहार से तो अनभिज्ञ होते है, लेकिन वे श्रद्धा, प्रतीति और रुचि से प्रेरित होकर बहुत से श्रमण, ब्राह्मण यावत् भिक्षाचरों को गिन-गिन कर उनके उद्देश्य से जहाँ-तहाँ लोहकारशाला यावत् भूमिगृह आदि विशाल भवन बनवाते हैं। जो निर्ग्रन्थ साधु उस प्रकार के (गृहस्थो द्वारा श्रमणादि की गिनती करके बनवाये हुए) लोहकारशाला आदि भवनों में आकर रहते हैं, वहाँ रहकर वे अन्यान्य छोटे-बड़े उपहार रूप में प्रदत्त घरों का उपयोग करते हैं तो वह शय्या उनके लिए महावर्ज्य क्रिया से युक्त हो जाती है।

४३९. इस संसार मे पूर्वादि दिशाओं में कई श्रद्धालु व्यक्ति होते है, जैसे कि—गृहपति, उसकी पत्नी यावत् नौकरानियाँ आदि। वे उनके आचार-व्यवहार से तो अज्ञात होते है, लेकिन श्रमणों के प्रति श्रद्धा, प्रतीति और रुचि से युक्त होकर सब प्रकार के श्रमणो के उद्देश्य से लोहकारशाला यावत् भूमिगृह बनवाते हैं। सभी श्रमणो के उद्देश्य से निर्मित उस प्रकार के (लोहकारशाला आदि) मकानों में जो निर्ग्रन्थ श्रमण आकर ठहरते हैं, तथा गृहस्थों द्वारा उपहार रूप में प्रदत्त अन्यान्य गृहों का उपयोग करते है, उनके लिए वह शय्या सावद्यक्रिया दोष से युक्त हो जाती है।

४४०. इस संसार में पूर्वादि दिशाओं मे गृहपति, उनकी पत्नी, पुत्री, पुत्रवधू आदि कई श्रद्धा-भक्ति से ओतप्रोत व्यक्ति है, उन्होंने साधुओं के आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में तो

जाना-सुना नहीं है, किन्तु उनके प्रति श्रद्धा, प्रतीति और रुचि से प्रेरित होकर उन्होंने किसी एक ही प्रकार के निर्ग्रन्थ श्रमण वर्ग के उद्देश्य से लोहकारशाला यावत् भूमिगृह आदि मकान जहाँ-तहाँ बनवाए हैं। उन मकानों का निर्माण पृथ्वीकाय के महान् समारम्भ से यावत् त्रसकाय के महान् संरम्भ-समारम्भ और आरम्भ से तथा नाना प्रकार के महान् पाप कर्मजनक कृत्यों से हुआ है जैसे कि— साधु वर्ग के लिए मकान पर छत आदि डाली गई है, उसे लीपा गया है, संस्तारक कक्ष को सम बनाया गया है, द्वार के ढक्कन लगाया गया है, इन कार्यों में शीतल सचित्त पानी पहले ही डाला गया है, (शीतनिवारणार्थ—) अग्नि भी पहले प्रज्वलित की गयी है। जो निर्ग्रन्थ श्रमण उस प्रकार के आरम्भ-निर्मित लोहकारशाला आदि मकानों में आकर रहते हैं, भेंट रूप में प्रदत्त छोटे-बड़े गृहों में ठहरते हैं, वे द्विपक्ष (द्रव्य से साधुरूप और भाव से गृहस्थरूप) कर्म का सेवन करते हैं। आयुष्मन्! (उन श्रमणों के लिए) यह शय्या महासावद्यक्रिया दोष से युक्त होती है।

४४१ इस संसार में पूर्वादि दिशाओं में कतिपय गृहपति यावत् नौकरानियाँ श्रद्धालु व्यक्ति हैं। वे साधुओं के आचार-व्यवहार के विषय में सुन चुके हैं, वे साधुओं के प्रति श्रद्धा, प्रतीति और रुचि से प्रेरित भी हैं, किन्तु उन्होंने अपने निजी प्रयोजन के लिए यत्र-तत्र मकान बनवाए हैं, जैसे कि लोहकारशाला यावत् भूमिगृह आदि। उनका निर्माण पृथ्वीकाय के यावत् त्रसकाय के महान संरम्भ-समारम्भ एवं आरम्भ से तथा नानाप्रकार के पापकर्मजनक कृत्यों से हुआ है। जैसे कि— छत डालने-लीपने, संस्तारक कक्ष सम करने तथा द्वार का ढक्कन बनाने में पहले सचित्त पानी डाला गया है, अग्नि भी प्रज्वलित की गई है। जो पूज्य निर्ग्रन्थ श्रमण उस प्रकार के (गृहस्थ द्वारा अपने लिए निर्मित) लोहकारशाला यावत् भूमिगृह आदि वास स्थानों में आकर रहते हैं, अन्यान्य प्रशस्त उपहाररूप पदार्थों का उपयोग करते हैं वे एकपक्ष (भाव से साधुरूप) कर्म का सेवन करते हैं। हे आयुष्मन्! (उन श्रमणों के लिए) यह शय्या अल्पसावद्यक्रिया (निर्दोष) रूप होती है।

विवेचन—नौ प्रकार की शय्याएं कौन-सी अग्राह्य कौनसी ग्राह्य? सूत्र ४३२ से लेकर ४४१ तक नौ प्रकार की शय्याओं का प्रतिपादन करके शास्त्रकार ने प्रत्येक प्रकार की शय्या के गुण दोषों का विवेक भी बता दिया है। बृहत्कल्प भाष्य में भी शय्याविधिद्वार में इन्हीं नौ प्रकार की शय्याओं का विस्तार से निरूपण किया है—

> कालातिक्कंतोवट्ठाण-अभिक्कंत-अणभिक्कंता य।
> वज्जा य महावज्जा सावज्ज महऽप्पकिरिया य॥

अर्थात्—शय्या नौ प्रकार की होती है, जैसेकि—(१) कालातिक्रान्ता, (२) उपस्थाना, (३) अभिक्रान्ता, (४) अनभिक्रान्ता, (५) वर्ज्या, (६) महावर्ज्या, (७) सावद्या, (८) महासावद्या और (९) अल्पक्रिया।

भाष्यकार एवं वृत्तिकार ने वहाँ प्रत्येक का लक्षण देकर विस्तृत वर्णन दिया है जो इस प्रकार है—

(९) अल्पसावद्यक्रिया— जो शय्या पूर्वोक्त (कालातिक्रान्तादि) दोषों से रहित गृहस्थ के द्वारा केवल अपने ही लिए, अपने ही प्रयोजन से बनाई जाती है, और उसमें विचरण करते हुए साधु अनायास ही ठहर जाते हैं, वह अल्प सावद्यक्रिया कहलाती है।[1] 'अल्प' शब्द यहाँ अभाव का वाचक है। अतएव ऐसी वसति सावद्यक्रिया रहित अर्थात् निर्दोष है।[2]

कालातिक्रान्ता आदि के सूत्रों में एवं अन्य मतानुयायी साधुओं के बारबार आवागमन वाले आवास स्थानों में निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए ऋतुबद्ध मासकल्प या चातुर्मासकल्प करने का निषेध किया गया है, उसका कारण यह है कि ऊपरा-ऊपरी किसी एक ही स्थान में मासकल्प या चातुर्मासकल्प करने से दूसरे स्थानों को लाभ नहीं मिलता, साधुओं के दर्शन-श्रवण के प्रति अरुचि एवं अश्रद्धा पैदा हो जाती है। 'अतिपरिचयादवज्ञा' वाली कहावत भी चरितार्थ हो सकती है। मूल में यहाँ 'साहम्मिएहिं ओवयमाणेहिं' पद है, जिसका शब्दश: अर्थ होता है—यदि सार्धर्मिक साधु बराबर आते-जाते हों तो···।

इन नौ प्रकार की शय्याओं में पहले-पहले की ८ शय्याएं[3] दोष युक्त होने से साधुओं के लिए अविहित मालूम होती हैं, अन्तिम 'अल्पसावद्यक्रिया' या 'अल्पक्रिया' शय्या विहित है। वास्तव में देखा जाए तो प्रथम दो प्रकार की शय्या (वसतिस्थान या मकान) अपने आप में दोषयुक्त नहीं हैं, वे दोनों साधु के अविवेक के कारण दोषयुक्त बनती है। अभिक्रान्ता और अनभिक्रान्ता शय्या को वृत्तिकार क्रमश: अल्पदोषा और अकल्पनीया बताते हैं। अभिक्रान्ता में उक्त आवास स्थानों के निर्माण में भावुक गृहस्थ का उद्देश्य सभी प्रकार के भिक्षाचरों को ठहराना होता है, उनमें 'निर्ग्रन्थ-श्रमण' भी उसके निर्माण-उद्देश्य के अन्तर्गत आ जाते हैं।

[illegible] —अर्थात्—एक प्रकार के साधर्मिक श्रमण-वर्ग के उद्देश्य से गृहस्थ जो [illegible] षट्जीवनिकाय के महान् सम्मारम्भ से, महान आरम्भ-समारम्भ [illegible] साधु के लिए मकान पर छप्पर छाता है, [illegible] द्वार बनवाता है, द्वार बन्द करता है। वृत्तिकार [illegible] की व्याख्या इस प्रकार की है—"अप्पसावज्जाए—[illegible]" [illegible]

[illegible]

और अनभिक्रान्ता में तो ये आवासगृह अभी पुरुषान्तरकृत, परिभुक्त एवं आसेवित न होने से अकल्पनीय हैं ही—निर्ग्रन्थ साधुओं के आवास के लिए।

वर्ज्या और महावर्ज्या दोनों प्रकार की शय्या अकल्पनीय है, क्योंकि वर्ज्या में साधु-समाचारी से अनभिज्ञ गृहस्थ साधु को उपाश्रय देने हेतु पहले अपने लिए बनाने का बहाना बनाता है; महावर्ज्या में गृहस्थ उक्त आवासस्थान को श्रमणादि की गणना करके उनके निमित्त से ही उक्त आवासगृह बनवाता है, इसलिए वह निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए कल्पनीय नहीं हो सकता। अब रही सावद्या और महासावद्या शय्या। जब गृहस्थ सभी प्रकार के श्रमणों के लिए आवासगृह बनवाता है, उसमें ठहरने पर निर्ग्रन्थ साधु के लिए वह सावद्या शय्या हो जाती है, क्योंकि सावद्या में तो उपाश्रय-निर्माण में षट्कायिक-जीवों का संरंभ, समारम्भ और आरम्भ होता है। वही शय्या जब खासतौर से सिर्फ निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए ही गृहस्थ बनवाता है, और उसमें निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी ठहरते हैं तो वह उनके लिए 'महा-सावद्या' हो जाती है। वृत्तिकार ने दोनों प्रकार की शय्याओं को अकल्पनीय, अप्रासुक एवं अनेषणीय बताई हैं। महासावद्याशय्या का सेवन करने से साधु द्विपक्ष-दोष का भागी होता है।

पाँच प्रकार के श्रमण ये हैं—'निग्गंथ-सक्क-तावस-गेरुय-आजीव पचहा समणा' (१) निर्ग्रन्थ, (२) शाक्य (बौद्ध), (३) तापस, (४) गैरिक और (५) आजीवक ये पाँच प्रकार के श्रमण हैं।

जहाँ गृहस्थ केवल अपने निमित्त अपने ही विशिष्ट प्रयोजन के लिए विभिन्न मकानों का निर्माण कराता है, उसमें आरम्भजनित क्रिया उस गृहस्थ को लगती है, साधु तो उसमें विहार करता हुआ आकर अनायास—सहज रूप में ही ठहर जाता है, मासकल्प या चातुर्मास कल्प बिताता है तो उसके लिए वह अल्पक्रिया-शय्या निर्दोष है, कल्पनीय है। यहाँ वृत्तिकार 'अल्प' शब्द को अभाववाचक मानते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस आवासस्थान के निर्माण में साधु को आधाकर्मादि कोई दोष नहीं लगता कोई क्रिया नहीं लगती, वह परिकर्मादि से मुक्त सावद्यक्रियारहित शय्या है। उस उपाश्रय में निरवद्य क्रियाएँ साधु करता है, इसलिए शास्त्रकार ने मूल में इसका नाम 'अल्पक्रिया' न रखकर 'अप्पसावज्जकिरिया' रखा है।

'उडुबद्धियं' आदि पदों के अर्थ—उडुबद्धिय=ऋतुबद्धकाल—शेषकाल यानी चातुर्मास छोड़कर आठ मास; मासकल्प, वासावासिय=वर्षावास सम्बन्धी काल—चातुर्मास काल या चातुर्मास कल्प। उवातिणित्ता=व्यतीत करके, अपरिहरित्ता=परिहार न करके, यानी अन्यत्र न बिताकर। सड्ढा=श्राद्ध=श्रावक गण या श्रद्धालु भक्तजन। आएसणाणि=लुहार, सुनार आदि की शालाएं, आयतणाणि=देवालयों के पास बनी हुई धर्मशालाएं या कमरे। सभा=वैदिक आदि लोगों की शालाएँ, पणियगिहाणि=दूकानें, पणियसालाओ=विक्रेय वस्तुओं को रखने के गोदाम, कम्मंताणि=कारखाने, दब्भ=दर्भ, वब्भ=वर्ध=चमड़े की वरत—रस्सा, वब्भ या वक्क=वल्कल—छाल। सेलोवट्ठाण=पाषाणमण्डप, भवणगिहाणि=भूमिगृह, तलघर। पाहुडेहिं=

उपहार रूप में प्राप्त, भेंट दिये हुए गृह, वट्टति=उपयोग में लाते हैं । बहवे समणजाते=अने
प्रकार के श्रमणों=पंचविध श्रमणों को, एगं समणजातं=सिर्फ एक प्रकार के निर्ग्रन्थ श्रमण
को, उवागच्छंति=आकर रहते हैं, ठहरते हैं ।

'छावणतो' का तात्पर्य है—संयमी साधु के लिए गृहस्थ मकान पर छप्पर छाता है,
मकान पर छत डालता है ।

संथार-दुवारपिहणतो—का तात्पर्य है—साधु के लिए ऊबड़-खाबड़ संस्तारक भूमि—
की जगह को समतल करवाता है, तथा द्वार को बन्द करने या ढकने के लिए कपाट
बनवाता है, या द्वार को बन्द करवाता है ।

दुपक्खं ते कम्मं सेवंति—वृत्तिकार ने इस पंक्ति की व्याख्या यों की है—

"द्रव्य से वे साधुवेषी हैं, किन्तु साधु जीवन में आधाकर्म-दोष युक्त उपाश्रय (व
के सेवन के कारण भाव से गृहस्थ हैं । एक ओर राग और एक ओर द्वेष है, एक ओर ई
है तो दूसरी ओर साम्परायिक है, इस प्रकार द्रव्य से साधु के और भाव से गृहस्थ के
का सेवन करने के कारण वे 'द्विपक्षकर्म' का सेवन करते हैं ।

एगपक्खं ते कम्मं सेवंति=वे (साधु) एक पक्षीय यानी साधु-जीवन के लिए कल्प
उचित, उपयुक्त कर्म (कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, शयनासनादि क्रियाएँ) करते हैं ।

४४२. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं ।

सूत्र ४४२. यह (शय्यैषणाविवेक) ही उस भिक्षु या भिक्षुणी के लिए (ज्ञानादि अ
युक्त भिक्षुभाव की) समग्रता है ।

॥ बीओ उद्देसओ समत्तो ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

उपाश्रय-छलना-विवेक

४४३. से य णो सुलभे[1] फासुए उंछे अहेसणिज्जे, णो य खलु सुद्धे इमेहिं पाहुडेहिं
—छावणतो लेवणतो संथार-दुवार पिहाणतो पिंडवातेसणाओ । से य भिक्खू चरियारते

1. से य णो सुलभे० आदि पंक्तियों का रहस्यार्थ चूर्णिकार के शब्दों में—
मबंधो अकामुगाण विवेगो, कामुगाण गहणं वसहीणं । से य णो सुलभे फासुए
भण्णतो कुइ सोहितवति, कतरो पुण्णं उंछ मण्णाम अण्णातेण, कतरे उंछे ? अहेसणि
एसणिज्जे । कतरो पुच्छति कतमुणं साहू—किमत्थ साहुणो ण अच्छंति ? भणति—पडिस्स

रते णिसीहियारते सेज्जा-संथार-पिंडवातेसणारते, संति भिक्खुणो एवमक्खाइणो उज्जुकडा[1] णियागपडिवण्णा[2] अमायं कुव्वमाणा वियाहिता।

संतेगतिया पाहुडिया उक्खित्तपुव्वा[3] भवति, एवं णिक्खित्तपुव्वा भवति, परिभाइयपुव्वा भवति, परिभुत्तपुव्वा भवति, परिट्ठवियपुव्वा भवति, एवं वियागरेमाणे समिया वियागरेइ ?

हंता भवति।

४४३. वह प्रासुक, उंछ और एषणीय उपाश्रय सुलभ नहीं है। और न हीं इन सावद्यकर्मों (पापयुक्त क्रियाओं) के कारण उपाश्रय शुद्ध (निर्दोष) मिलता है, जैसे कि कहीं साधु के निमित्त उपाश्रय का छप्पर छाने से या छत डालने से, कहीं उसे लीपने-पोतने से, कहीं संस्तारक भूमि सम करने से, कहीं उसे बन्द करने के लिए द्वार लगाने से, कहीं शय्यातर-गृहस्थ द्वारा साधु के लिए आहार बनाकर देने से एषणादोष लगाने के कारण।

[कदाचित उक्त दोषों से रहित उपाश्रय मिल भी जाए, फिर भी साधु की आवश्यक

सप्पणो य जाउ पडिस्सयं करेउ (इ ?), एव मो सुलभे फासुए उंछे। ण य सुद्धे इमेहिं पाहुडेहिं ति कारणेहिं, काणि वा ताणि ? छावण गलमाणीते कुड्डमाणीते, भूमीते वा लेवणं, संथारओ उवट्टगो दुवारा खुड्डगा महल्लगा करेंति, पिहणं वाडस्स बारस्स वा. पिंडवातं वा मम गिण्ह, ण दोसा।"

—अर्थात् यहाँ प्रसंग अप्रासुक उपाश्रयों का विवेक और प्रासुकों का ग्रहण करना है। वहीं प्रासुक उपाश्रय सुलभ नहीं है। आहार की शोध सुखपूर्वक हो सकती है, वसति की दु:खपूर्वक। कोई श्रावक भद्र साधु से पूछता है—साधु इस गाँव में क्यों नहीं टिकते ? वह कहता है—उपाश्रय नहीं है। साधु के लिए श्रावक उपाश्रय बनवाते हैं। इस कारण प्रासुक और उंछ उपाश्रय सुलभ नहीं है। इन सावद्य युक्त कारणों (प्राभृतों) से उपाश्रय शुद्ध (निर्दोष) नहीं रहता—वे कौन से कारण हैं ? वे ये हैं—साधु के लिए मकान के गले (ऊपर के सिरे) से लेकर या दीवार से लेकर उस पर छप्पर छा देना, या छत डाल देना, जमीन (फर्श) पर लीपना, संस्तारक भूमि को कूट-पीट कर चूर-चूर कर डालना, छोटे दरवाजों को बड़े बनाना, बाड़े या दरवाजे को ढकना या किवाड़ बनाना, फिर शय्यातर गृहस्थ की ओर आहार लेने का आग्रह, न लो तो द्वेषभाव। ये सब सावद्यकर्म रूप कारण हैं।

१. 'उज्जुकडा' के स्थान पर पाठान्तर है— उज्जुयकडा, उज्जुयडा, उज्जुअडा, उज्जुया आदि।

२. णियागपडिवण्णा का अर्थ चूर्णिकार ने किया है— चरित्तपडिवण्णा चारित्रप्रतिपन्न=मोक्षार्थी।

३. उक्खित्तपुव्वा आदि पदों की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में देखिए—"सो गिहत्थो भत्तिं अस्सि मंसि, एकेका एगतर उक्खित्तपुव्वा पढमं साहूण उक्खिवति आगते भिक्ख हिंडताणं ···· उक्खित्तपुव्वा, मा एतं चरगादीणं देह। परिभुत्तपुव्वा तं अप्पणा भुंजति साहूण य देंति, परिट्ठवियपुव्वा अच्चणियं करेंति।"

—"अर्थात् वह गृहस्थ यों सोचकर कि मेरी इन पर भक्ति है, कई साधुओं के लिए पहले से उस मकान को अलग स्थापित कर (रख) देता है, भिक्षा के लिए घूमते हुए साधुओं को देखकर कहता है—"यह मकान चरकादि परिव्राजकों को मत देना, ऐसी शय्या उक्खित्तपुव्वा है। परिभुत्तपुव्वा—जिसका पहले स्वयं उपभोग कर लेता है, फिर साधुओं को देता है। परिट्ठवियपुव्वा—साधुओं के लिए सफाई कराकर उस मकान को अर्चनीय-सुन्दर बना देता है।

पच्छा तस्स गिहे णिमंतेमाणस्स वा अणिमंतेमाणस्स वा असणं वा ४ अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा ।

४४५. वह साधु पथिकशालाओं, आरामगृहों, गृहपति के घरों, परिव्राजकों के मठों आदि को देख-जान कर और विचार करके कि यह उपाश्रय कैसा है ? इसका स्वामी कौन है ? आदि बातों का विचार करके फिर (इनमें से किसी) उपाश्रय की याचना करे। जैसे कि वहाँ पर या उस उपाश्रय का स्वामी है, (या स्वामी द्वारा नियुक्त) समधिष्ठाता है उससे आज्ञा मांगे और कहे—'आयुष्मन् ! आपकी इच्छानुसार जितने काल तक और (इस उपाश्रय का) जितना भाग (स्थान) आप (ठहरने के लिए) देना चाहें, उतने काल तक, उतने भाग में हम रहेंगे।"

गृहस्थ यह पूछे कि "आप कितने समय तक यहाँ रहेंगे ?" इस पर मुनि उत्तर दे— "आयुष्मन् सद्गृहस्थ ! [वैसे तो कारण विशेष के बिना हम ऋतुबद्ध (शेष) काल में एक मास तक और वर्षाकाल मे चार मास तक एक जगह रह सकते है, किन्तु] आप जितने समय तक और उपाश्रय के जितने भाग में ठहरने की अनुज्ञा देंगे, उतने समय और स्थान तक में रहकर फिर हम विहार कर जाएंगे। इसके अतिरिक्त जितने भी साधर्मिक साधु (पठन-पाठनादि कार्य के लिए) आएंगे, वे भी आपकी अनुमति के अनुसार उतने समय और उतने भाग में रहकर फिर विहार कर जाएंगे।"

४४६ साधु या साध्वी जिस गृहस्थ के उपाश्रय मे निवास करें, उसका नाम और गोत्र पहले से जान लें। उसके पश्चात् उसके घर में निमंत्रित करने (बुलाने) या न करने (न बुलाने) पर भी उसके घर का अशनादि चतुर्विध आहार अप्रासुक-अनेषणीय जान कर ग्रहण न करे।

विवेचन—उपाश्रय-याचना और निवास के पश्चात्—सूत्र ४४५ में उपाश्रय-याचना के पूर्व और पश्चात् की व्यावहारिक विधि बताई गई है। उपाश्रय-याचना से पूर्व साधु उसकी प्रासुकता, एषणीयता, निर्दोषता तथा उपयोगिता की भलीभाँति जाच-परख कर लें, साथ ही उसके स्वामी तथा स्वामी द्वारा नियुक्त अधिकारी की जानकारी कर लें, सम्भव है, वह नास्तिक हो, साधु-द्वेषी हो, अन्य सम्प्रदायानुरागी हो, देना न चाहता हो। इतनी बातें अनुकूल हों, तब साधु उस मकान के स्वामी या अधिकारी से उपाश्रय की याचना करे। एक बात का विशेष ध्यान रखे कि वह मुनियों की निश्चित संख्या न बताए।[1] (क्योंकि दूसरे साधुओं का आवागमन होता रह सकता है—कभी कम, कभी अधिक भी हो सकते है।)

उपाश्रय याचना के बाद स्वीकृति मिलते ही उस उपाश्रय स्थान के दाता (शय्यातर) का नाम-गोत्र तथा घर भी जान ले ताकि उसके घर का आहार-पानी न लेने का ध्यान रखा जा सके।[2] यही सूत्र ४४६ का आशय है।

---

१. आचारांग सूत्र वृत्ति पत्रांक ३७० के आधार पर। २. वही, पत्रांक ३७०।

कम्मकरीओ वा अण्णमण्णस्स गायं सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेंति वा पधोवेंति[1] वा सिंचंति वा सिणावेंति वा, णो पण्णस्स जाव[2] णो ठाणं वा २ चेतेज्जा।

४५३. इह खलु गाहावती वा जाव कम्मकरीओ वा णिगिणा ठिता णिगिणा उवल्लीणा मेहुणधम्मं विण्णवेंति रहस्सियं वा मंतं मंतेंति, णो पण्णस्स जाव[2] णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४५४. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा आइण्णं[3] सलेक्खं[4], णो पण्णस्स जाव[5] णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४४७. वह साधु या साध्वी यदि ऐसे उपाश्रय को जाने, जो गृहस्थो से संसक्त हो, अग्नि से युक्त हो, सचित्त जल से युक्त हो, तो उसमें प्राज्ञ साधु-साध्वी को निर्गमन-प्रवेश करना उचित नहीं है और न ही ऐसा उपाश्रय वाचना, (पृच्छा, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मानुयोग—) चिन्तन के लिए उपयुक्त है। ऐसे उपाश्रय मे कायोत्सर्ग, (शयन-आसन तथा स्वाध्याय) आदि कार्य न करे।

४४८. वह साधु या साध्वी यदि ऐसे उपाश्रय को जाने, जिसमें निवास के लिए गृहस्थ के घर में से होकर जाना पड़ता हो, अथवा जो उपाश्रय गृहस्थ के घर से प्रतिबद्ध (सटा हुआ। निकट) है, वहाँ प्राज्ञ साधु का आना-जाना उचित नहीं है, और न ही ऐसा उपाश्रय वाचनादि स्वाध्याय के लिए उपयुक्त है। ऐसे उपाश्रय में साधु स्थानादि कार्य न करे।

४४६. यदि साधु या साध्वी ऐसे उपाश्रय को जाने कि इस उपाश्रय—बस्ती में गृहस्वामी, उसकी पत्नी, पुत्र-पुत्रियाँ, पुत्रवधूएं, दास-दासियाँ आदि परस्पर एक दूसरे को कोसती हैं—झिड़कती हैं, मारती-पीटती, यावत् उपद्रव करती है, प्रज्ञावान् साधु को इस प्रकार के उपाश्रय में न तो निर्गमन-प्रवेश ही करना योग्य है, और न ही वाचनादि स्वाध्याय करना उचित है। यह जानकर साधु उस प्रकार के उपाश्रय में स्थानादि कार्य न करे।

४५०. साधु या साध्वी अगर ऐसे उपाश्रय को जाने, कि इस उपाश्रय-बस्ती में गृहस्थ, उसकी पत्नी, पुत्री यावत् नौकरानियाँ एक-दूसरे के शरीर पर तेल, घी, नवनीत या वसा से मर्दन करती हैं या चुपड़ती, (लगाती) हैं, तो प्राज्ञ साधु का वहाँ जाना-आना ठीक नहीं है और न ही वहाँ वाचनादि स्वाध्याय करना उचित है। साधु उस प्रकार के उपाश्रय में स्थानादि कार्य न करे।

---

1. पधोवेंति के स्थान पर पाठान्तर है— पहोयंति, पहोअंति। अर्थ वही है।
2. इस चिन्ह से 'निक्खमण' से धम्माणुओगचिंताए, तक का समग्र पाठ सूत्र ३४८ वत्।
3. इसके स्थान पर पाठान्तर हैं—आइण्ण संलेक्खं, आइन्न संलेक्खं, आतेण्ण सलेक्ख, आइण्णसलेक्खं। अर्थ समान है।
4. तुलना कीजिए :— चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं।
   भक्खरं पिव दट्ठूण दिट्ठिं पडिसमाहरे॥ —दशवै० ८/५४
5. यहाँ जाव शब्द से पण्णस्स से लेकर णो ठाणं वा तक का पाठ समझें।

(७) जिस उपाश्रय के पड़ौस में पुरुष-स्त्रियाँ नंगी खड़ी-बैठी रहती हों, परस्पर मैथुन विषयक वार्तालाप करती हों, गुप्त मंत्रणा करती हों।[1]

(८) जिसकी दीवारों पर पुरुष-स्त्रियों के, विशेषतः स्त्रियों के चित्र हों।[1]

"''' मज्झंमज्झेण गतु' वत्थए पडिबद्ध'' इस पंक्ति में 'वत्थए' के बदले 'पंथए' पाठ मानकर वृत्तिकार इसकी व्याख्या करते हैं—जिस उपाश्रय का मार्ग गृहस्थ के घर के मध्य में से होकर है, वहाँ बहुत-से अनर्थों की सम्भावना के कारण नहीं रहना चाहिए। किन्तु बृहत्कल्पसूत्र में इससे सम्बद्ध दो पाठ हैं, उनमें 'वत्थए' पद है। 'नो कप्पइ निग्गथाण पडिबद्धसेज्जाए वत्थए', नो कप्पइ निग्गथाण गाहावइकुलस्स मज्झमज्झेण गतु' वत्थए।' प्रथम सूत्र में है जिस उपाश्रय में गृहस्थ का घर अत्यन्त निकट हो, दीवालें आदि लगी हुई हों उस उपाश्रय में रहना नहीं कल्पता", दूसरे में है—"गृहस्थों के घर में से होकर जिस उपाश्रय में निर्गमन-प्रवेश किया जाता हो, उसमें रहना नहीं कल्पता। 'बृहत्कल्प सूत्र' के अनुसार प्रस्तुत सूत्र में भी ये दोनों अर्थ प्रतिफलित होते हैं।[2]

'इह,खलु'''पदों का सूत्र ४४४ से ४५३ तक प्रयोग किया गया है। इनका तात्पर्य वृत्तिकार ने इस प्रकार बताया है— यत्रप्रातिवेशिका' जहाँ पड़ोसी स्त्री पुरुष ' '' । आचारांग—अर्थागम में इसका अर्थ किया गया—'जिस उपाश्रय—बस्ती में '''।' यही अर्थ उचित भी प्रतीत होता है। जहाँ उपाश्रय के निकट ये कार्य होते हों, वहाँ से साधु का जाना-आना या वहाँ स्वाध्याय करना चित्त-विक्षेप या कामोत्तेजना होने से कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। और न ही ऐसे मकानों के पड़ौस में निवास किया जा सकता है।[3]

'णिगिणाठिता '' इत्यादि वाक्य का भावार्थ चूर्णिकार तथा वृत्तिकार के अनुसार यों है—'स्त्रियाँ और पुरुष नग्न खड़े रहते हैं, स्त्रियाँ नग्न ही प्रच्छन्न खड़ी रहती है, मैथुन-धर्म के सम्बन्ध में अविरति गृहस्थ या साधु को कहती हैं, रहस्यमयी मैथुन सम्बन्धी या मैथुन धर्म विषयक रात्रि-सम्भोग के विषय में परस्पर कुछ बातें करती हैं, अथवा अन्य गुप्त अकार्य सम्बद्ध रहस्य की मंत्रणा करती हैं। इस प्रकार के पड़ौस वाले उपाश्रय में कायोत्सर्ग आदि कार्य नहीं करने चाहिए।"[4]

---

१. आचारांग मूल तथा वृत्ति पत्रांक ३७०-३७१ के आधार पर

२. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७१

(ख) बृहत्कल्पसूत्र मूल तथा वृत्ति १।३०, १।३२ पृष्ठ ७३७, ७३८

(ग) कप्पसुत्त' (विवेचन) मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल' १/३२-३४ पृष्ठ १८-१९

३. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७१ (ख) अर्थागम भाग १ पृ० ११२

४. (क) आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण पृ० १५४—'णिगिणा णग्गाओ ट्ठियाओ अच्छति, णिगिणा तो उवलिज्जति, मेहुणधम्मं विन्नवेंति=ओभासंति, अविरतग साहुं वा, रहस्सितं—मेहुणपत्तियं चेव अन्न वा किंचि गुहं।' (ख) आचारांग सूत्र वृत्ति पत्रांक ३७१

'आइण्णं सलेक्खं' का तात्पर्य चूर्णिकार के अनुसार यों है—आइण्ण का अर्थ है—इतर गृहस्थ (स्त्री-पुरुष) आदि से व्याप्त, सलेक्ख का अर्थ है—चित्र कर्म से युक्त उपाश्रय।[1]

संस्तारक ग्रहणा-ग्रहण विवेक

४५५. [१] से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा संथारगं एसित्तए। से ज्जं पुण संथारगं जाणेज्जा सअंडं जाव संताणगं, तहप्पगारं संथारगं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

[२] से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण संथारगं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं गरुयं, तहप्पगारं संथारगं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

[३] से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण संथारगं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं लहुयं अपडिहारियं तहप्पगारं संथारगं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

[४] से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण संथारगं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं लहुयं पडिहारियं, णो अहाबद्धं, तहप्पगारं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

[५] से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण संथारगं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं लहुयं पडिहारियं अहाबद्धं, तहप्पगारं संथारगं जाव लाभे संते पडिगाहेज्जा।

४५५. (१) कोई साधु या साध्वी संस्तारक की गवेषणा करना चाहे और वह जिस संस्तारक को जाने कि वह अण्डों से यावत् मकड़ी के जालों से युक्त है तो ऐसे संस्तारक को मिलने पर भी ग्रहण न करे।

(२) वह साधु या साध्वी, जिस संस्तारक को जाने कि वह अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से तो रहित है, किन्तु भारी है, वैसे संस्तारक को भी मिलने पर ग्रहण न करे।

(३) वह साधु या साध्वी, जिस संस्तारक को जाने कि वह अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से रहित है, हलका भी है, किन्तु अप्रातिहारिक (दाता जिसे वापस लेना न चाहे) है, तो ऐसे संस्तारक को भी मिलने पर ग्रहण न करे।

(४) वह साधु या साध्वी, जिस संस्तारक को जाने कि वह अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से रहित है, हलका भी है, प्रातिहारिक (दाता जिसे वापस लेना स्वीकार करे) भी है किन्तु ठीक से बंधा हुआ नहीं है, तो ऐसे संस्तारक को भी मिलने पर ग्रहण न करे।

(५) वह साधु या साध्वी, संस्तारक को जाने कि वह अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से रहित है, हलका है, प्रातिहारिक है और सुदृढ़ बंधा हुआ भी है, तो ऐसे संस्तारक को मिलने पर ग्रहण करे।

विवेचन—संस्तारक ग्रहण का निषेध-विधान—इस एक ही सूत्र के पाँच विभाग करके

---

1. (क) 'आइण्णो णाम गारत्थिमाईहिं, सलेक्खो सचित्तधम्म।' —आचा० चूर्णि० मूलपाठ पृ० १५१
(ख) तुलना करें—(विहार में) स्त्री, पुरुष के चित्र नहीं बनवाना चाहिए। जो बनवाए उसे दुक्कट का दोष हो।
—विनयपिटक—चुल्लवग्ग, पृ० ४४५ (राहुल सं०)

सूत्रकार ने स्पष्ट रूप में समझा दिया है कि जो संस्तारक जीव-जन्तु आदि से युक्त हो, भारी हो, अप्रातिहारिक हो और ठीक से बंधा हुआ न हो उसे ग्रहण न करे, इसके विपरीत जो जीव-जन्तु आदि से रहित हो, हलका हो, प्रातिहारिक हो और ठीक से बंधा हुआ हो, उसे ग्रहण करे।

वृत्तिकार अण्डे आदि से युक्त संस्तारक के ग्रहण के निषेध करने का कारण बताते हैं कि जीव-जन्तु युक्त संस्तारक ग्रहण करने से संयम-विराधना दोष होगा, भारी भरकम संस्तारक ग्रहण से आत्म-विराधनादि दोष होंगे, अप्रातिहारिक के ग्रहण से उसके परित्याग आदि दोष होंगे, ठीक से बंधा हुआ नहीं होगा तो उठाते-रखते ही वह टूट या बिखर जायगा, उसको संभालना या उसका ठीक से प्रतिलेखन करना भी सम्भव न होगा। अत. बन्धनादि पलिमन्थ दोष होंगे।[1]

लहुयं के दो अर्थ फलित होते हैं—वजन से हलका और आकार में छोटा।

संथारग का संस्कृत रूप संस्तारक होता है। संस्तारक से तात्पर्य उन सभी उपकरणों से है, जो साधु के सोने, बैठने, लेटने आदि के काम में आते हैं। प्राकृत शब्द कोष में संस्तारक के ये अर्थ मिलते हैं—शय्या, बिछौना (दर्भ, घास, कुश, पराल आदि का), पाट, चौकी, फलक, अपवरक, कमरा या पत्थर की शिला या ईंट चूने से बनी हुई शय्या; साधु का वासकक्ष।[2]

संस्तारक एषणा की चार प्रतिमा

४५६. इच्चेताइं आयतणाइं[3] उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा इमाहिं चउहिं पडिमाहिं संथारगं एसित्तए—

---

१. [क] आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७१

[ख] संस्तारक-विवेक की पंचसूत्री का निष्कर्ष चूर्णिकार ने इस प्रकार दिया है—'पढम सअंड संथारगं ण गेण्हेज्जा, बितियं अप्पंडं गरुयं तं पि ण गेण्हति, ततियं अप्पंडं लहुयं अपाडिहारियं न गिण्हति, चउत्थं अप्पंडं लहुयं पाडिहारियं णो अहाबद्धं ण गेण्हेज्जा, पंचमं अप्पंडं लहुग पाडिहारियं अहाबद्धं पडिगाहिज्ज।'

—अर्थात् [१] पहला सअण्ड [जीवजन्तु-सहित] संस्तारक ग्रहण न करे। [२] द्वितीय संस्तारक अण्डे रहित है, किन्तु भारी है, उसे भी ग्रहण न करे, [३] तीसरा संस्तारक अंडे से रहित है, हलका है, किन्तु अप्रातिहारिक है, उसे भी ग्रहण न करे। [४] चौथा संस्तारक अंडे से रहित, हलका और प्रातिहारिक भी है लेकिन ठीक से बंधा नहीं है, तो भी ग्रहण न करे। [५] पांचवा संस्तारक अण्डों आदि से रहित, वजन में हलका, प्रातिहारिक और सुदृढ़ रूप से बंधा हुआ है, अत. उसे ग्रहण करे।

२. पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ८८१

३. आयतणाइं के पाठान्तर हैं—आययणाइं, आतताइं। चूर्णिकार आययणाई पाठ स्वीकार करके व्याख्या करते हैं—आयतणाणि वा संसारस्स अप्पसत्थाइं पसत्थाइं, मोक्खस्स। अर्थात्—संसार के आयतन अप्रशस्त और मोक्ष के आयतन प्रशस्त होते हैं।

में पड़ा या रखा हुआ संस्तारक देखकर गृहस्थ से नामोल्लेख पूर्वक कहे—आयुष्मान् गृह-स्थ (भाई), या बहन ! क्या तुम मुझे इन संस्तारक (योग्य पदार्थों) में से अमुक संस्तारक (योग्य पदार्थ) को दोगे / दोगी ? इस प्रकार के प्रासुक एवं निर्दोष संस्तारक की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ ही बिना याचना किए दे तो साधु उसे ग्रहण करले। यह प्रथम प्रतिमा है।

(२) इसके पश्चात् दूसरी प्रतिमा यह है—साधु या साध्वी गृहस्थ के मकान में रखे हुए संस्तारक को देखकर उसकी याचना करे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ ! या बहन ! क्या तुम मुझे इन संस्तारकों में से किसी एक संस्तारक को दोगे / दोगी ? इस प्रकार के निर्दोष एवं प्रासुक संस्तारक की स्वयं याचना करे, यदि दाता (गृहस्थ) बिना याचना किए ही दे तो प्रासुक एवं एषणीय जानकर उसे ग्रहण करे। यह द्वितीय प्रतिमा है।

(३) इसके अनन्तर तीसरी प्रतिमा यह है—वह साधु या साध्वी जिस उपाश्रय में रहना चाहता है, यदि उसी उपाश्रय में इक्कड यावत् पराल तक के संस्तारक विद्यमान हों तो गृह-स्वामी की आज्ञा लेकर उस संस्तारक को प्राप्त करके वह साधना में संलग्न रहे। यदि उस उपाश्रय में संस्तारक न मिले तो वह उत्कटुक आसन पद्मासन आदि आसनों से बैठकर रात्रि व्यतीत करे। यह तीसरी प्रतिमा है।

(४) इसके बाद चौथी प्रतिमा यह है—वह साधु या साध्वी उपाश्रय में पहले से ही संस्तारक बिछा हुआ हो, जैसे कि वहाँ तृणशय्या, पत्थर की शिला, या लकड़ी का तख्त आदि बिछा हुआ रखा हो तो उस संस्तारक को गृहस्वामी से याचना करे, उसके प्राप्त होने पर वह उस पर शयन आदि क्रिया कर सकता है। यदि वहाँ कोई भी संस्तारक बिछा हुआ न मिले तो वह उत्कटुक आसन तथा पद्मासन आदि आसनों से बैठकर रात्रि व्यतीत करे। यह चौथी प्रतिमा है।

४५७. इन चारों प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा को धारण करके विचरण करने वाला साधु, अन्य प्रतिमाधारी साधुओं की निन्दा या अवहेलना करता हुआ यों न कहे—ये सब साधु मिथ्या रूप से प्रतिमा धारण किये हुए हैं, मैं ही अकेला सम्यग्रूप से प्रतिमा स्वीकार किये हुए हूँ।

ये जो साधु भगवान् इन चार प्रतिमाओं में से किसी एक को स्वीकार करके विचरण करते हैं, और मैं जिस (एक) प्रतिमा को स्वीकार करके विचरण करता हूँ; ये सब जिनाज्ञा में उपस्थित हैं। इस प्रकार पारस्परिक समाधिपूर्वक विचरण करे।

विवेचन—संस्तारक सम्बन्धी चार प्रतिमाएं—इस सूत्र के चार विभाग करके शास्त्रकार ने संस्तारक की चार प्रतिमाएँ बताई हैं—(१) उद्दिष्टा, (२) प्रेक्ष्या, (३) विद्यमाना और (४) यथासंस्तृतरूपा। प्रतिमा के चार रूप इस प्रकार बनते हैं—(१) उद्दिष्टा—फलक आदि में से जिस किसी एक संस्तारक का नामोल्लेख किया है, उसी को मिलने पर ग्रहण करूंगा, दूसरे को

नहीं, (२) प्रेक्षा—जिसका पहले नामोल्लेख किया था, उसी को देखूंगा, तब ग्रहण करूँगा, दूसरे को नहीं, (३) विद्यमाना—यदि उद्दिष्ट और दृष्ट संस्तारक शय्यातर के घर में मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्य स्थान से लाकर उस पर शयन नहीं करूंगा, और (४) यथासंस्तृत—यदि उपाश्रय में सहज रूप से रखा या बिछा हुआ पाट आदि संस्तारक मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।" साधु चारों में से कोई भी एक प्रतिज्ञा ग्रहण कर सकता है।[1]

इक्कड़ आदि पदों के अर्थ—इक्कडं = इक्कड नामक तृण विशेष, या इस घास से निर्मित चटाई आदि, कढिणं—बांस, छाल आदि से बना हुआ कठोर तृण, या कढिणक नामक ... कंथिम आदि का बिछाने का तृण, जंतुयं = जंतुक नामक घास, परगं = मुण्डक—पुष्पादि के गूंथने में काम आने वाला तृण, मोरगं = मोर पिच्छ से निष्पन्न या मोरंगा नाम की तृण की ... तणगं = सभी प्रकार के घास (तृण), कुसं = कुश या दर्भ, कुच्चगं = कूर्चक, जिससे कूंची ... बनाई जाती है, उसका बना हुआ। पव्वगं = पिप्पलक या वर्वक नामक तृण विशेष, पलालं = धान का पराल।

अहासंथडा की व्याख्या चूर्णिकार ने यों की है—अहासंथडा = यथासंस्तृत ...

---

१. [क] आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७२

(ख) इन चारों प्रतिमाओं की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—

प्रथम और द्वितीय प्रतिमा की व्याख्या—"उद्दिट्ठे कताइ छिंदित्त आणेज्ज तेण ... विसुद्धतरा, पेहा णाम पेक्खित्त 'एरिसगं देहि' बितिया पडिमा।"—उद्दिष्टा में कदाचित् उस ... को काट कर ले आए, इसलिए प्रेक्षा उससे विशुद्धतर है। प्रेक्षा कहते हैं—किसी संस्तारक योग्य ... को देखकर 'मुझे ऐसी ही वस्तु दो'—यह दूसरी प्रतिमा है।

तीसरी प्रतिमा की व्याख्या—"ततिया अधासमण्णागता णाम जति बाहिं वसति बाहिं ... इक्कडादि, णो अंतो साहीओ णो वेसणीओ आणेयव्वं, अह अंतो वसति अंतो चेव, इक्कडादि ... तो उक्कुडुगणेसज्जिओ विहरेज्जा।"

तीसरी 'अहासमण्णागता' (यथासमन्वागता) प्रतिमा इस प्रकार है—यदि वसति (उपाश्रय) गाँव से बाहर है तो इक्कड़ आदि घास बाहर ही मिलेगा तो लेगा, अन्दर से बनाया हुआ या ... घास नहीं लाएगा, या नहीं मंगाएगा। यदि उपाश्रय गाँव के अन्दर है तो वह इक्कड़ आदि अन्दर ही लेगा, बाहर से लाया हुआ, एषणीय भी नहीं लेगा। यदि इक्कडादि घास अन्दर नहीं मिला तो वह उत्कटुक आसन या पद्मासन आदि से बैठकर सारी रात बिताएगा।

चौथी अहासंथडा प्रतिमा की व्याख्या—"तत्यत्था अहासंथडा पुढविसिला ओवट्टओ, ... कट्ठसिला वा। सिलाए—गहणा गहयं, अहासंथडगहणा भूमीए लग्गं चेव।"—यही यथा-संस्तारक प्रतिमा भी है—जो जैसा संस्तारक है, वैसा ही स्वाभाविक रूप से रहे, यही यथा-संस्तारकप्रतिमा का आशय है। जैसे पृथ्वीशिला = मिट्टी की कठोर बनी हुयी शिला, पाषाणशिला ... काष्ठ की बनी हुयी शिला। यहाँ शिलापट के ग्रहण करने के कारण 'भारी' भी ग्राह्य है, तथा 'संथड' पद के ग्रहण करने से जो संस्तारक भूमि से लगा हो, वह भी ग्राह्य है।

तिमा यह है, जिसमें पृथ्वीशिला, पाषाणशिला, काष्ठशिला, ये शिलाएं भारी होने से भूमि से
ी हुई होनी चाहिए।[1]

णेसज्जिए—का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—निषद्यापूर्वक यानी पद्मासन आदि आसन
 बैठकर।

इन सब संस्तारकों को ग्रहण करने की आज्ञा अधिक शयन प्रदेशों के लिए है।[2]

संस्तारक प्रत्यर्पण-विवेक

४५८. [१] से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा संथारगं पच्चप्पिणित्तए[3]। से ज्जं पुण संथा-
रगं जाणेज्जा सअंडं जाव संताणगं, तहप्पगारं संथारगं णो पच्चप्पिणेज्जा।

[२] से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा संथारगं पच्चप्पिणित्तए। से ज्जं पुण संथारगं
जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं, तहप्पगारं संथारगं पडिलेहिय २ पमज्जिय २ आतविय २
विणिद्धुणिय[4] २ ततो संजतामेव पच्चप्पिणेज्जा।

४५८. [१] वह भिक्षु या भिक्षुणी यदि (लाया हुआ) संस्तारक (दाता को) वापस
लौटाना चाहे, उस समय यदि उस संस्तारक को अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त जाने
तो उस प्रकार का संस्तारक (उस समय) वापस न लौटाए।

[२] वह भिक्षु या भिक्षुणी यदि (लाया हुआ) संस्तारक (दाता को) वापस सौंपना
चाहे, उस समय उस संस्तारक को अंडों यावत् मकड़ी के जालों से रहित जाने तो, उस प्रकार
के संस्तारक को बार-बार प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करके, सूर्य की धूप देकर एवं यतनापूर्वक
झाड़कर, तब गृहस्थ (दाता) को संयमपूर्वक वापस सौंपे।

विवेचन—संस्तारक को वापस लौटाने में विवेक—इस सूत्र में संस्तारक-प्रत्यर्पण के समय
साधु का ध्यान तीन बातों की ओर खींचा है—

[१] यदि प्रातिहारिक संस्तारक जीव-जन्तु, अण्डों आदि से युक्त है तो उस समय उसे
न लौटाए।

---

१. [क] आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७२
[ख] आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पणी पृ० १६५
[ग] आचारांग, अत्थागमे प्रथम खण्ड, पृ० ११३
[घ] पाइअसद्दमहण्णवो
२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७२ के अनुसार
३. पच्चप्पिणित्तए के स्थान पर पाठान्तर है—पच्चाप्पिणियत्तए, पच्चप्पिणित्तए, पच्चणियत्तए। अर्थ समान है।
४. विणिद्धुणिय के स्थान पर पाठान्तर है—विद्धुणिय। चूर्णिकार ने 'विणिद्धुणिय' पद का भावार्थ दिया है—विणिद्धुणिय....वसिय—पच्चाप्पिणेज्जा।' अर्थात्—उसे हिलाकर या झाड़कर वापस सौंपे या लौटाए।

[२] यदि वह जीवजन्तु आदि से रहित है, तो भी बिना देखे भाले न लौटाए।

[३] लौटाने से पहले अच्छी तरह देख-भाल करके, झाड़-पोंछकर, धूप में सुखा कर साफ करके ठीक हालत में लौटाए।[1]

इन तीनों प्रकार के विवेक के पीछे अहिंसा, संयम और साधु के प्रति श्रद्धा-संवर्द्धन का दृष्टिकोण है।

पच्चप्पिणित्तए आदि पदों का अर्थ—पच्चप्पिणित्तए=प्रत्यर्पण करना, वापस लौटाना। आतावियं=सूर्य के आतप में आतापित [गर्म] करके, विणिद्धुणिय=झाड़कर, यतना पूर्वक हिलाकर।

उच्चार-प्रस्रवण-प्रतिलेखना

४५६. से भिक्खू वा २ समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे [वा] पुव्वामेव पण्णस्स उच्चार-पासवणभूमिं पडिलेहेज्जा।

केवली बूया-आयाणमेयं।

अपडिलेहियाए उच्चार-पासवणभूमीए, भिक्खू वा २ रातो वा वियाले वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेमाणे पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा हत्थं वा पायं वा जाव लूसेज्जा पाणाणि वा ४ जाव ववरोएज्जा।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं पुव्वामेव पण्णस्स उच्चार-पासवणभूमिं पडिलेहेज्जा।

४५६. जो साधु या साध्वी जंघादिबल क्षीण होने के कारण स्थिरवास कर रहा हो, या उपाश्रय में मासकल्पादि से रहा हुआ हो, अथवा ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ उपाश्रय में आकर ठहरा हो, उस प्रज्ञावान् साधु को चाहिए कि वह पहले ही उसके परिपार्श्व में उच्चार-प्रस्रवण-विसर्जन (मल-मूत्र त्याग) की भूमि को अच्छी तरह देखभाल ले।

केवली भगवान् ने कहा है—यह अप्रतिलेखित [बिना देखी भाली] उच्चार-प्रस्रवणभूमि कर्मबन्ध का कारण है।

कारण यह है कि वैसी (अप्रतिलेखित) भूमि में कोई भी साधु या साध्वी रात्रि में या विकाल में मल-मूत्रादि का परिष्ठापन करता (परठता) हुआ फिसल सकता है या गिर सकता है। उसके पैर फिसलने या गिरने पर हाथ, पैर, सिर या शरीर के किसी अवयव को गहरी चोट लग सकती है, अथवा उसके गिर पड़ने से वहाँ स्थित प्राणी, भूत, जीव या सत्व को चोट लग सकती है, ये दब सकते हैं, यहाँ तक कि मर सकते हैं।

इसी [महाहानि की सम्भावना के] कारण तीर्थंकरादि आप्त पुरुषों ने पहले से ही भिक्षुओं के लिए यह प्रतिज्ञा बताई है, यह हेतु, कारण और उपदेश दिया है, कि साधु को उपाश्रय में ठहरने से पहले मल-मूत्र-परिष्ठापन करने हेतु भूमि की आवश्यक प्रतिलेखना कर लेनी चाहिए।

---

१. आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण पृष्ठ २३३

विवेचन—मल-मूत्र-विसर्जनार्थ भूमि प्रतिलेखन-प्रस्तुत सूत्र में उपाश्रय में ठहरने से पूर्व साधु को विसर्जन भूमि को देख-भाल लेने पर जोर दिया है। जो साधु ऐसा नहीं करता, उसे स्व-पर-विराधना की महाहानि का दुष्परिणाम देखना पड़ता है।[1] उत्तराध्ययन सूत्र में ऐसी चेतन स्थण्डिल भूमि में १० विशेषताएँ होनी अनिवार्य बताई है— (१) जहाँ जनता का आवागमन न हो, न किसी की दृष्टि पड़ती हो, (२)—जिस स्थान का उपयोग करने से दूसरे को किसी प्रकार का कष्ट या नुकसान न हो, (३) जो स्थान सम हो, (४) जहाँ घास या पत्ते न हों, (५) चींटी कुंथु आदि जीवजन्तु से रहित हो, (६) वह स्थान बहुत ही संकीर्ण न हो, (७) जिसके नीचे की भूमि अचित्त हो, (८) अपने निवास स्थान-गाँव से दूर हो, (९) जहाँ चूहे आदि के बिल न हों, (१०) जहाँ प्राणी या बीज फैले हुए न हो।[2]

विकाल में उच्चार-प्रस्रवण भूमि की प्रतिलेखना करना, साधु की समाचारी का महत्त्वपूर्ण अंग है, इसकी उपेक्षा करने से जीव हिंसा का दोष लगने की संभावना है।[3]

शय्या-शयनादि विवेक

४६०. [१] से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा सेज्जासंथारगभूमिं पडिलेहित्तए, अण्णत्थ आयरिएण वा उवज्झाएण वा जाव[4] गणावच्छेइएण[5] वा बालेण वा वुड्ढेण वा सेहेण वा गिलाणेण वा आएसेण वा अंतेण वा मज्झेण वा समेण वा विसमेण वा पवाएण वा णिवातेण वा पडिलेहिय २ पमज्जिय २ ततो संजयामेव बहुफासुयं सेज्जासंथारगं संथरेज्जा।

[२] से भिक्खू वा २ बहुफासुयं सेज्जासंथारगं संथरित्ता अभिकंखेज्जा बहुफासुए सेज्जासंथारए दुरुहित्तए। से भिक्खू वा २ बहुफासुए सेज्जासंथारए दुरुहमाणे पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिय २ ततो संजयामेव बहुफासुए सेज्जासंथारए दुरुहेज्जा, दुरुहित्ता ततो संजयामेव बहुफासुए सेज्जासंथारए सएज्जा।

[३] से भिक्खू वा २ बहुफासुए सेज्जासंथारए सयमाणे णो अण्णमण्णस्स हत्थेण हत्थं पादेण पादं काएण कायं आसाएज्जा[6]। से अणासायमाणे ततो संजयामेव बहुफासुए सेज्जासंथारए सएज्जा।

४६१. से भिक्खू वा २ ऊससमाणे वा[7] णीससमाणे वा कासमाणे वा छीयमाणे वा

---

१. आचारांग मूल तथा वृत्ति पत्रांक ३७३ २. उत्तराध्यन सूत्र अ० २४, गा. १६,१७,१८
३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७३
४. यहाँ जाव शब्द से उवज्झाएण वा से लेकर गणावच्छेइएण वा तक का पाठ सूत्र ३६६ के अनुसार समझें।
५. गणावच्छेइएण के स्थान पर गणावच्छेएण पाठान्तर प्राप्त है
६. आसाएज्जा का अर्थ चूर्णिकार ने यो किया है—आसादेति-संघट्टेति।' अर्थात्—आसावेति (आसाएति) का अर्थ है—सघट्टा (स्पर्श) करता है।
७ ऊससमाणे वा णीससमाणे वा के स्थान पर पाठान्तर है—'ऊसासमाणे वा णीसासमाणे वा।'

४६२. संयमशील साधु या साध्वी को किसी समय सम शय्या मिले, किसी समय विषम मिले, कभी हवादार निवास-स्थान प्राप्त हो, कभी निर्वात (बंद हवा वाला) प्राप्त हो, किसी दिन धूल से भरा उपाश्रय मिले, किसी दिन धूल से रहित स्वच्छ मिले, किसी समय डांस-मच्छरों से युक्त मिले, किसी समय डांस-मच्छरों से रहित मिले, इसी तरह कभी जीर्ण-शीर्ण टूटा-फूटा, गिरा हुआ मकान मिले, या कभी नया सुदृढ़ मकान मिले, कदाचित् उपसर्गयुक्त शय्या मिले, कदाचित् उपसर्ग-रहित मिले। इन सब प्रकार की शय्याओं के प्राप्त होने पर जैसी भी सम-विषम आदि शय्या मिली, उसमें समचित्त होकर रहे, मन में जरा भी खेद या ग्लानि का अनुभव न करे।

विवेचन—शय्या के सम्बन्ध में यथालाभ-सन्तोष करे—साधुजीवन में कई उतार-चढ़ाव आते हैं। कभी सुन्दर, सुहावना, हवादार, स्वच्छ, नया, रंग-रोगन किया हुआ मच्छर आदि उपद्रवों से रहित, शान्त, एकान्त स्थान रहने को मिलता है तो कभी किसी गाँव में बिल्कुल रद्दी, टूटा-फूटा, या शर्दी मौसम में चारों ओर से खुला अथवा गर्मी में चारों ओर से बंद, डांस-मच्छरों से परिपूर्ण, जीर्ण-शीर्ण मकान भी कठिनता से ठहरने को मिल पाता है। ऐसे समय में साधु के धैर्य और समभाव की, कष्ट-सहिष्णुता और तितिक्षा की परीक्षा होती है। वह अच्छे या खराब स्थान के मिलने पर हर्ष या शोक न करे, बल्कि शान्ति और समतापूर्वक निवास करे। यही समभाव की शिक्षा, शय्यैषणा अध्ययन के उपसंहार में है।

'वेगया' आदि पदों के अर्थ—वेगया= किसी दिन या कभी, ससरक्खा=धूल से युक्त, सपरिसाडा=जीर्णता से युक्त, गली-सड़ी शय्या। संविज्जमाणेहिं=इन तथा प्रकार की शय्याओं के विद्यमान होने पर भी। पग्गहिततरागं विहारं विहरेज्जा=जैसा भी जो भी कोई निवास स्थान मिल गया है—अच्छा-बुरा, उसी में समचित्त होकर रहे।[1]

गिलाएज्जा या वलाएज्जा? मूल प्रति में गिलाएज्जा पाठ है, जिसका अर्थ होता है—खिन्न या उदास हो। 'वलाएज्जा' पाठ वृत्ति और चूर्णि में है, उसका अर्थ है कुछ भी भला-बुरा न कहे। प्रशस्त शय्या पर राग होने से अंगारदोष और अप्रशस्त पर द्वेष होने से धूमदोष लगता है।[2]

४६३. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहिते सदा जतेज्जासि त्ति बेमि।

४६३. यही (शय्यैषणा विवेक) उस भिक्षु या भिक्षुणी का सम्पूर्ण भिक्षुभाव है, कि वह सब प्रकार से ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप के आचार से युक्त होकर सदा समाहित होकर विचरण करने का प्रयत्न करता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ शय्यैषणा-अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ द्वितीय शय्या-अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

१. [illegible]

२. [illegible]

ईर्या : तृतीय अध्ययन

प्राथमिक

- आचाराग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के तृतीय अध्ययन का नाम 'ईर्या' है।
- ईर्या का अर्थ यहाँ केवल गमन करना नही है। अपनेलिए भोजनादि की तलाश मे तो प्राय. सभी प्राणी गमन करते है, उसे यहाँ 'ईर्या' नही कहा गया है। यहाँ तो साधु के द्वारा किसी विशेष उद्देश्य से कल्प-नियमानुसार संयम भावपूर्वक यतना, एवं विवेक से चर्या (गमनादि) करना ईर्या है।[1]
- इस दृष्टि से यहाँ 'नाम-ईर्या', 'स्थापना-ईर्या' तथा 'अचित्त-मिश्र-द्रव्य-ईर्या' को छोड साधु के द्वारा 'सचित्त-द्रव्य-ईर्या', क्षेत्र-ईर्या, तथा काल-ईर्या से सम्बद्ध भाव-ईर्या विवक्षित है। चरण ईर्या और संयम-ईर्या के भेद से भाव-ईर्या, दो प्रकार की होती है। अत.—स्थान, गमन, निषद्या और शयन इन चारों का समावेश 'ईर्या' में हो जाता है।[2]
- साधु का गमन किस प्रकार से शुद्ध हो? इस प्रकार के भाव रूप गमन (चर्या) का जिस अध्ययन में वर्णन हो, वह ईर्या-अध्ययन है।
- इसी के अन्तर्गत किस द्रव्य के सहारे से, किस क्षेत्र में (कहाँ) और किस समय मे (कब), कैसे एव किस भाव से गमन हो? यह सब प्रतिपादन भी ईर्या-अध्ययन के अन्तर्गत है।[3]
- धर्म और संयम के लिए आधारभूत शरीर की सुरक्षा के लिए पिण्ड और शय्या की तरह ईर्या की भी नितान्त आवश्यकता होती है। इसी कारण जैसे पिछले दो अध्ययनो में क्रमश पिण्ड-विशुद्धि एव शय्या-विशुद्धि का तथा पिण्ड और शय्या के गुण-दोषो का वर्णन किया गया है, वैसे ही इस अध्ययन में 'ईर्या-विशुद्धि' का वर्णन किया गया

---

१. (क) आचा० टीका पत्र ३७४ के आधार पर।
   (ख) आचाराग निर्युक्ति गा० ६०५, ३०६।
२. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० ३०७।
   (ख) आचा० टीका पत्र ३७८।
३. आचा० टीका पत्र ३७४।

है, जो (१) आलम्बन, (२) काल, (३) मार्ग, (४) यतना—इन चारों के विशुद्ध गमन से होती है। यही ईर्या-अध्ययन का उद्देश्य है।[1]

- ईर्या-अध्ययन के तीन उद्देशक है। प्रथम उद्देशक में वर्षा काल में एक स्थान में निवास तथा ऋतुबद्धकाल में विहार के गुण-दोषों का निरूपण है।
- द्वितीय उद्देशक में नौकारोहण-यतना, थोड़े पानी में चलने की यतना तथा अन्य विधि से सम्बन्धित वर्णन है।
- तृतीय उद्देशक में मार्ग में गमन के समय घटित होने वाली—समस्याओं के समय उचित मार्ग-दर्शन प्रतिपादित है।[2]
- सूत्र ४६४ से प्रारम्भ होकर सूत्र ५१६ पर तृतीय ईर्याध्ययन समाप्त होता है।

तईयं अज्झयणं 'इरिया'

पढमो उद्देसओ

ईर्या : तृतीय अध्ययन : प्रथम उद्देशक

ास-विहारचर्या

४६४. अब्भुवगते[1] खलु वासावासे अभिपवुट्ठ, बहवे पाणा अभिसंभूया, बहवे बीया[2] गुब्भिण्णा, अंतरा[3] से मग्गा बहुपाणा बहुबीया जाव[4] संताणगा, अणण्णोकंता[5] पंथा, णो ाया मग्गा, सेवं णच्चा णो गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, ततो संजयामेव वासावासं उवल्लि-ा ।

४६५. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा गामं वा जाव रायहाणिं वा, इमंसि खलु ंसि वा जाव रायहाणिंसि वा णो महती विहारभूमी[1], णो महती वियारभूमी, णो सुलभे

निशीथ चूर्णि के दशवें उद्देशक पृ० १२२ मे इसी विधि का वर्णन चूर्णिकार ने किया है—"आचारांगस्य वितियसुयक्खंधे—जो विधी भणितो,—सो य इमो—अब्भुवगते खलु वासवासे—'''वासावास उवल्लिइज्जा ।" इसका अर्थ मूल पाठ के अनुसार है ।

चूर्णिकार ने 'बीया अहुणुब्भिण्णा' का अर्थ किया है—'अंकुरिता—इत्यर्थः'—अर्थात् बीज अंकुरित हो जाते हैं ।

अंतरा से मग्गा—आदि का भावार्थ चूर्णि मे यों है—अन्तर त्ति वरिसारत्तो जहा 'अंतरघणसामलो भगवं,' अन्तराले वा अतो । अन्तरा का अर्थ—वर्षाऋतु मे जैसे अन्तर घन-श्यामल भगवान् मेघ छाये रहते हैं, अथवा अन्तराल में—बीच मे, अन्दर, मे ।

यहाँ जाव शब्द से 'बहुबीया' से लेकर 'संताणगा' तक का पाठ है ।

अणण्णोकंता की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—अणण्णोकंता लोएणं चरगादीहिं वा अवकंता वि अणक्कंतसरिसा । अर्थात्—'अनन्याक्रान्त' का भावार्थ है—जनता से, वा चरक आदि परिव्राजक द्वारा आक्रान्त मार्ग भी अनन्याक्रान्त सदृश प्रतीत होते हैं ।

णो महती विहारभूमि—आदि पाठ की व्याख्या चूर्णिकार के अनुसार—"वियारभूमी काइयाभूमी णत्थि, विहारभूमि-सज्झायभूमी णत्थि । पीढा कट्ठमया, इहरहा वरिसारित्ते णिसिज्जा कुच्छति, फलगं संथारओ सेज्जा-उवस्सओ, संथारओ-कढिणादी, जहन्नेण चउग्गुणं खेत्त वियार-विहार-वसही-आहारे ।" विचारभूमि=कायिकाभूमि=मलमूत्रोत्सर्ग भूमि नहीं है । विहार भूमि=स्वाध्याय-भूमि नहीं है । पीढा=काष्ठनिर्मित चौकी या बाजोट, वर्षा ऋतु में बैठने की जगह मे वनस्पति, लीलण-फूलण लग जाती है अतः इन पर बैठें । फलगं—पट्टा, पाटिया, तख्त, (संस्तारक), सेज्जा=उपाश्रय, संथारओ=कढिणक आदि तृण, घास आदि । साधु को नीहार, स्वाध्याय, आवास-स्थान एवं आहार के लिए कम से कम चार गुना क्षेत्र अपेक्षित है ।

पीढ-फलग-सेज्जा-संथारए, णो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे, बहवे जत्थ समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा उवागता उवागमिस्संति य, अच्चाइण्णा वित्ती, णो पण्णस्स णिक्खमण जाव[1] चिंताए। सेवं णच्चा तहप्पगारं गामं वा णगरं[2] वा जाव रायहाणिं वा णो वासावासं उवल्लिएज्जा।[3]

४६६. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा गामं वा जाव रायहाणिं वा, इमंसि खलु गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा महती विहारभूमी, महती वियारभूमी, सुलभे जत्थ पीढ-फलग-सेज्जा-संथारए, सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे, णो जत्थ बहवे समण जाव[4] उवागमिस्संति य, अप्पाइण्णा वित्ती[5] जाव रायहाणिं वा ततो संजयामेव वासावासं उवल्लिएज्जा।

४६७. अह पुणेवं जाणेज्जा—चत्तारि मासा वासाणं वीतिक्कंता, हेमंताण य पंच-दसरायकप्पे[6] परिवुसिते, अंतरा से मग्गा बहुपाणा जाव[7] संताणगा, णो जत्थ बहवे समण जाव उवागमिस्संति य, सेवं णच्चा णो गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४६८. अह पुणेवं जाणेज्जा—चत्तारि मासा वासाणं वीतिक्कंता[8], हेमंताण य पंच-दसरायकप्पे परिवुसते अंतरा से मग्गा अप्पंडा जाव संताणगा, बहवे जत्थ समण जाव[9] उवागमिस्संति य। सेवं णच्चा ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४६४. वर्षाकाल आ जाने पर वर्षा हो जाने से बहुत-से प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं, बहुत-से बीज अंकुरित हो जाते हैं, (पृथ्वी, घास आदि से हरी हो जाती है) मार्गों में बहुत-से प्राणी, बहुत-से बीज उत्पन्न हो जाते हैं, बहुत हरियाली हो जाती है, ओस और पानी बहुत स्थानों में भर जाते हैं, पाँच वर्ण की काई लीलण-फूलण आदि स्थान-स्थान पर हो जाती है, बहुत-से स्थानों में कीचड़ या पानी से मिट्टी गीली हो जाती है, कई जगह मकड़ी के जाले हो

---

१. जाव शब्द से निक्खमण से लेकर चिंताए तक का पाठ है।
२. 'णगरं वा' से लेकर 'रायहाणिं वा' तक का पाठ सूत्र ३१८ के अनुसार है।
३. 'उवल्लिएज्जा' के स्थान पर पाठान्तर है—'उवल्लीएज्जा, उवलितेज्जा।' चूर्णिकार इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—'उवल्लिएज्जा = आगच्छेज्जा' = आकर रहे।
४. जाव शब्द से यहाँ 'समण' से लेकर 'उवागमिस्संति' तक का पूर्ण पाठ सूत्र ४६५ के अनुसार समझें।
५. 'वित्ती' से लेकर 'रायहाणि' तक का सम्पूर्ण पाठ सूत्र ४६५ के अनुसार समझने के लिए यहाँ जाव शब्द है।
६. 'पंच-दसरायकप्पे'—के स्थान पर चूर्णिमान्य पाठान्तर है—'दसरायकप्पे'।
७. जाव शब्द से यहाँ 'बहुपाणा' पद से लेकर 'संताणगा' पद तक का समग्र पाठ सू० ४६४ के अनुसार समझें।
८. 'वीतिक्कंता' के स्थान पर पाठान्तर है—वीतिकंता, विधिकंता। अर्थ समान है।
९. यहाँ जाव शब्द से समण से लेकर 'उवागमिस्संति' तक का समग्र पाठ सूत्र ४६५ के अनुसार समझें।

जाते हैं। वर्षा के कारण मार्ग रुक जाते है, मार्ग पर चला नहीं जा सकता, क्योंकि (हरी घास छा जाने से) मार्ग का पता नहीं चलता। इस स्थिति को जानकर साधु को (वर्षाकाल में) एक ग्राम से दूसरे ग्राम विहार नहीं करना चाहिए। अपितु वर्षाकाल में यथावसर प्राप्त वसति में ही संयत रहकर वर्षावास व्यतीत करना चाहिए।

४६५. वर्षावास करने वाले साधु या साध्वी को उस ग्राम, नगर खेड़, कर्बट, मडंब, पट्टण, द्रोणमुख, आकर (खान), निगम, आश्रम, सन्निवेश या राजधानी की स्थिति भलीभाँति जान लेनी चाहिए। जिस ग्राम नगर यावत् राजधानी में एकान्त मे स्वाध्याय करने के लिए विशाल भूमि न हो, (ग्राम आदि के बाहर) मल-मूत्रत्याग के लिए योग्य विशाल भूमि न हो, पीठ (चौकी), फलक (पट्टे), शय्या, एवं संस्तारक की प्राप्ति भी सुलभ न हो, और न प्रासुक, निर्दोष एवं एषणीय आहार-पानी ही सुलभ हो, जहाँ बहुत-से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र और भिखारी लोग (पहले-से) आए हुए हों, और भी दूसरे आने वाले हों, जिससे सभी मार्गों पर जनता की अत्यन्त भीड़ हो, साधु-साध्वी को भिक्षाटन, स्वाध्याय, शौच आदि आवश्यक कार्यों से अपने स्थान से सुखपूर्वक निकलना और प्रवेश करना भी कठिन हो, स्वाध्याय आदि क्रिया भी निरुपद्रव न हो सकती हो, ऐसे ग्राम, नगर आदि में वर्षाकाल प्रारंभ हो जाने पर भी साधु-साध्वी वर्षावास व्यतीत न करे।

४६६. वर्षावास करने वाला साधु या साध्वी यदि ग्राम यावत् राजधानी के सम्बन्ध में यह जाने कि इस ग्राम यावत् राजधानी में स्वाध्याय-योग्य विशाल भूमि है, मल-मूत्र-विसर्जन के लिए विशाल स्थण्डिल भूमि है, यहाँ पीठ, फलक, शय्या एवं संस्तारक की प्राप्ति भी सुलभ है, साथ ही प्रासुक, निर्दोष एवं एषणीय आहार पानी भी सुलभ है, यहाँ बहुत-से श्रमण-ब्राह्मण आदि आए हुए नहीं है और न आएंगे, यहाँ के मार्गों पर जनता की भीड़ भी इतनी नहीं है, जिससे कि साधु-साध्वी को भिक्षाटन, स्वाध्याय, शौच आदि आवश्यक कार्यों के लिए अपने स्थान से निकलना और प्रवेश करना कठिन हो, स्वाध्यायादि क्रिया भी निरुपद्रव हो सके, तो ऐसे ग्राम यावत राजधानी मे साधु या साध्वी संयमपूर्वक वर्षावास व्यतीत करे।

४६७. यदि साधु या साध्वी यह जाने कि वर्षाकाल के चार मास व्यतीत हो चुके है, अत वृष्टि न हो तो (उत्सर्ग-मार्गानुसार) चातुर्मासिक काल समाप्त होते ही दूसरे दिन अन्यत्र विहार कर देना चाहिए। यदि कार्तिक मास में वृष्टि हो जाने से मार्ग-आवागमन के योग्य न रहे तो हेमन्त ऋतु के पाँच या दस दिन व्यतीत हो जाने पर वहाँ से विहार करना चाहिए। (इतने पर भी) यदि मार्ग बीच-बीच में अंडे, बीज, हरियाली, यावत् मकड़ी के जालों से युक्त हों, अथवा वहाँ बहुत-से श्रमण-ब्राह्मण आदि आए हुए न हो, न ही आने वाले हों, तो यह जानकर (सारे मार्गशीर्ष मास तक) साधु ग्रामानुग्राम विहार न करे।

४६८. यदि साधु या साध्वी यह जाने कि वर्षाकाल के चार मास व्यतीत हो चुके है, और वृष्टि हो जाने से मुनि को हेमंत ऋतु के १५ दिन तक वहीं (चातुर्मास स्थल पर) रहने के

पश्चात् अब मार्ग ठीक हो गए हैं, बीच-बीच में अब अंडे यावत् मकड़ी के जाले आदि नहीं हैं, बहुत-से श्रमण-ब्राह्मण आदि भी उन मार्गों पर आने-जाने लगे हैं, या आने वाले भी हैं, तो यह जानकर साधु यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार कर सकता है।

विवेचन—वर्षावास में कहाँ कैसे क्षेत्र में, कब तक रहे?—प्रस्तुत पाँच सूत्रों में साधुवर्ग के लिए वर्षावास से सम्बन्धित ईर्या के नियम बताए हैं। इन नियमों का निर्देश करते हैं, बहुत दीर्घ-दर्शिता संयम-पालन, अहिंसा, एवं अपरिग्रह की साधना तथा साधु वर्ग के प्रति श्रद्धा का दृष्टिकोण रहा है। एक ओर यह भी स्पष्ट बताया है कि वर्षाकाल के बाद साधु एक ही क्षेत्र में स्थिर क्यों रहे? जब कि दूसरी ओर वर्षावास समाप्ति के बाद कोई कारण न हो तो नियमानुसार वह विहार कर दे, ताकि वहाँ की जनता, क्षेत्र आदि से मोह-बन्धन न हो, जनता की भी साधु वर्ग के प्रति अश्रद्धा व अवज्ञा न बढ़े। वृद्धावस्था, अशक्ति, रुग्णता आदि कारण हों तो वह उस क्षेत्र में रह भी सकता है। ये कारण तो न हों, किन्तु वर्षा के कारण मार्ग अवरुद्ध हो गए हों, कीचड़, हरियाली एवं जीव-जन्तुओं से मार्ग भरे हों, तो ऐसी स्थिति में पांच, दस, पन्द्रह दिन या अधिक से अधिक मार्गशीर्ष मास तक वहाँ रुक कर फिर विहार करने का विधान किया है। यदि ये मार्ग खुले हों, साधु लोग उन पर जाने-आने लगे हों, जीव-जन्तुओं से भरे न हों, तो वह एक दिन का भी विलम्ब किये बिना वहाँ से विहार कर दे।

पंच-दसरायकप्पे—इस पद के सम्बन्ध में आचार्यों में तीन मतभेद हैं।

(१) चूर्णिकार ने 'दसरायकप्पे' पाठ ही माना है, और इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—निर्गम (चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् विहार) तीन प्रकार का है—आरे से, पुण्य से और पार से। दुर्भिक्ष, महामारी आदि उपद्रवों के कारण, या आचार्य श्री विहार करने में असमर्थ हों तो विहार का स्थगित हो जाना, आर से निर्गम है कोई भी विघ्न-बाधा न हो, मार्ग सुख-पूर्वक चलने योग्य हो गए हों, तो कार्तिक पूर्णिमा के दूसरे दिन विहार हो जाना—पुण्य से निर्गम है, और दस रात्रि व्यतीत होने पर यतनापूर्वक विहार कर देना—यह पार से निर्गम है। इस आलापक का भावार्थ यह है कि दस रात्रि व्यतीत हो जाने पर भी मार्ग अब भी बहुत से जीव-जन्तुओं से अवरुद्ध है, श्रमणादि उस मार्ग पर अभी तक नहीं गए हैं, तो साधु विहार न करें अन्यथा विहार कर दे।[1]

(२) वृत्तिकार ने 'पंचदसरायकप्पे' पाठ मान कर व्याख्या की है कि हेमंत के पांच या दस दिन व्यतीत होने पर विहार कर देना चाहिए। इसमें भी बीच में मार्ग अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त हो तो सारे मार्गशीर्ष तक वहीं रुक जाना चाहिए।[2]

---

१. णिग्गमो तिविहो—आरेण, पुण्णे, परेण....।—चूर्णि मूलपाठ टिप्पण पृ० १७१

२. आचाराग वृत्ति ३७६ पत्रांक के आधार पर "....हेमन्तस्य पंचसु दशसु वा दिनेषु...."

(३) कई आचार्य पांच और दस दोनों मिला कर १५ दिन व्यतीत होने पर 'ऐसा अर्थ
ा है।'

र्चर्या में दस्यु-अटवी आदि उपद्रव

४६९. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे पुरओ जुगमायं पेहमाणे दट्ठूण तसे
उद्धट्टु पादं रीएज्जा, साहट्टु पादं रीएज्जा[4], वितिरिच्छं वा कट्टु पादं रीएज्
परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा, ततो संजयामेव गामाणु
जेज्जा।

४७०. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे, अंतरा से पाणाणि वा बीयाणि
पाणि वा उदए वा मट्टिया वा अविद्धत्था, सति परक्कमे जाव णो उज्जुयं गच्छेज्जा,
यामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४७१. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे, अंतरा से विरूवरूवाणि पच्चंतिक
ायतणाणि मिलक्खूणि अणारियाणि दुसण्णप्पाणि दुप्पण्णवणिज्जाणि अकालपडिबोहि
लपरिभोईणि, सति लाढे विहाराए संथरमाणेहिं जणवएहिं णो विहारवत्तियाए पवज्जे
ाए।

केवली बूया-आयाणमेयं।

ते णं बाला 'अयं तेणे, अयं उवचरए, अयं ततो आगते' त्ति कट्टु तं भिक्खुं अक्कोसे
जाव उवद्दवेज्ज वा, वत्थं पडिग्गहं कंबलं पादपुंछणं अच्छिदेज्ज वा भिदेज्ज वा[6] अवहरे
रिट्ठवेज्ज[7] वा। अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं तहप्पगाराणि विरूवरूवाणि पच्चंतिय
ायतणाणि[8] जाव विहारवत्तियाए णो पवज्जेज्जा गमणाए। ततो संजयामेव गामाणु
जेज्जा।

(क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टिप्पणी पृ० १७१
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८६
(ग) आचारांग अर्थागम (हिन्दी) पृ० ११६
इसके स्थान पर पाठान्तर है—साहट्टु पायं रीएज्जा, उक्खिप्पपायं रीएज्जा।
'अक्कोसेज्ज वा' से लेकर उवद्दवेज्ज वा तक का पाठ सूत्र ४२२ के अनुसार सूचित करने के लिए
जाव शब्द है।
'अच्छिदेज्ज वा भिदेज्ज वा' के स्थान पर पाठान्तर है—'अच्छिदेज्जा अभिदेज्जा आच्छिदेज्जा आ
देज्जा।' अर्थ समान है।
परिट्ठवेज्ज वा के स्थान पर परिभवेज्ज वा पाठ है, अर्थ होता है—नीचा दिखाए, दबाए।
'जाव' शब्द से यहाँ दसुगायतणाणि से लेकर विहारवत्तियाए तक का पाठ इसी सूत्र के पूर्व पाठ
अनुसार समझें।

४७२. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे, अंतरा से अरामाणि वा जुग्गाणि वा घोरज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा, सति लाढे विहाराए संथरमाणेहिं जणवएहिं णो विहारवत्तियाए पवज्जेज्जा गमणाए। केवली बूया-आयाणमेतं।

ते णं बाला अयं तेणे तं चेव जाव[1] गमणाए। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४७३. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से विहं सिया, से ज्जं पुण विहं जाणेज्जा-एगाहेण वा दुयाहेण वा तियाहेण वा चउयाहेण वा पंचाहेण वा पाउणेज्जा वा णो वा पाउणेज्जा। तहप्पगारं विहं अणेगाहगमणिज्जं सति लाढे जाव[3] गमणाए। केवली बूया-आयाणमेतं। अंतरा से वासे सिया पाणेसु वा पणएसु वा बीएसु वा हरिएसु वा उदएसु वा मट्टियाए वा अविद्धत्थाए। अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं तहप्पगारं विहं अणेगाहगमणिज्जं जाव णो गमणाए। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४६९. साधु या साध्वी एक ग्राम से दूसरे ग्राम विहार करते हुए अपने सामने की युग मात्र (गाड़ी के जुए के बराबर चार हाथ प्रमाण) भूमि को देखते हुए चले, और मार्ग में त्रस जीवों को देखे तो पैर के अग्रभाग को उठा कर चले। यदि दोनों ओर जीव हों तो पैरों को सिकोड़ कर चले अथवा पैरों को तिरछे-टेढ़े रखकर चले। (यह विधि अन्य मार्ग के अभाव में बताई गई है) यदि दूसरा कोई साफ मार्ग हो, तो उसी मार्ग से यतनापूर्वक जाए, किन्तु जीव-जन्तुओं से युक्त सरल (सीधे) मार्ग से न जाए। (निष्कर्ष यह है कि) उसी (जीव-जन्तु रहित) मार्ग से यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करना चाहिए।

४७०. साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए यह जानें कि मार्ग में बहुत से त्रस प्राणी हैं, बीज बिखरे हैं, हरियाली है, सचित्त पानी है या सचित्त मिट्टी है, जिसकी योनि विध्वस्त नहीं हुई है, ऐसी स्थिति में दूसरा निर्दोष मार्ग हो तो साधु साध्वी उसी मार्ग से यतनापूर्वक जाएँ, किन्तु उस (जीवजन्तु आदि से युक्त) सरल (सीधे) मार्ग से न जाएँ। (निष्कर्ष यह है कि) उसी (जीवजन्तु आदि से रहित) मार्ग से साधु-साध्वी को ग्रामानुग्राम विचरण करना चाहिए।

४७१. ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए साधु या साध्वी को मार्ग में विभिन्न देशों की सीमा पर रहने वाले दस्युओं के, म्लेच्छों के या अनार्यों के स्थान मिलें, तथा जिन्हें बड़ी कठि-

---

१. यहाँ जाव शब्द से अयं तेणे से लेकर गमणाए तक का पाठ सूत्र ४७१ के अनुसार समझें।

२. णो वा पाउणेज्जा के स्थान पर पाठान्तर है— णो पाउणेज्ज वा, णो वा पाउणेज्ज वा।

३. यहाँ जाव शब्द से लाढे से लेकर गमणाए तक का पाठ सू० ४७२ के अनुसार समझें।

सता से आर्यों का आचार समझाया जा सकता है, जिन्हें दुःख से धर्म-बोध देकर अनार्यकर्मों से हटाया जा सकता है, ऐसे अकाल (कुसमय) में जागनेवाले, कुसमय में खाने-पीनेवाले मनुष्यों के स्थान मिलें तो अन्य ग्राम आदि में विहार हो सकता हो या अन्य आर्यजनपद विद्यमान हों तो प्रासुक-भोजी साधु उन म्लेच्छादि के स्थानों में विहार करने की दृष्टि से जाने का मन में संकल्प न करे।

केवली भगवान् कहते हैं—वहाँ जाना कर्मबन्ध का कारण है, क्योंकि वे म्लेच्छ अज्ञानी लोग साधु को देखकर—'यह चोर है, यह गुप्तचर है, यह हमारे शत्रु के गाँव से आया है', यों कह कर वे उस भिक्षु को गाली-गलौज करेंगे, कोसेंगे, रस्सों से बाँधेंगे, कोठरी में बंद कर देंगे, डंडों से पीटेंगे, अंगभंग करेंगे, हैरान करेंगे यहां तक कि प्राणों से रहित भी कर सकते हैं. इसके अतिरिक्त वे दुष्ट उसके वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद पोंछन आदि उपकरणों को तोड़-फोड़ डालेंगे, अपहरण कर लेंगे या उन्हें कहीं दूर फेंक देंगे. (क्योंकि ऐसे स्थानों में यह सब सम्भव है।) इसीलिए तीर्थंकर आदि आप्त पुरुषों द्वारा भिक्षुओं के लिए पहले से ही निर्दिष्ट यह प्रतिज्ञा, हेतु, कारण और उपदेश है कि भिक्षु उन सीमा-प्रदेशवर्ती दस्यु स्थानों तथा म्लेच्छ, अनार्य, दुर्बोध्य आदि लोगों के स्थानों में, अन्य आर्यजनपदों तथा आर्य ग्रामों के होते विहार की दृष्टि से जाने का संकल्प भी न करे। अतः इन स्थानों को छोड़ कर संयमी साधु यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करे।

४७२. साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग में यह जानें कि ये अराजक (राजा से रहित) प्रदेश हैं, या यहाँ केवल युवराज का शासन है, जो कि अभी राजा नहीं बना है, अथवा दो राजाओं का शासन है, या परस्पर शत्रु दो राजाओं का राज्याधिकार है, या धर्मादि-विरोधी राजा का शासन है, ऐसी स्थिति में विहार के योग्य अन्य आर्य जनपदों के होते, इस प्रकार के अराजक आदि प्रदेशों में विहार करने की दृष्टि से गमन करने का विचार न करे।

केवली भगवान् ने कहा है—ऐसे अराजक आदि प्रदेशों में जाना कर्मबन्ध का कारण है। क्योंकि वे अज्ञानीजन साधु के प्रति शंका कर सकते हैं कि "यह चोर है, यह गुप्तचर है, यह हमारे शत्रु राजा के देश से आया है," तथा इस प्रकार की कुशंका से ग्रस्त होकर वे साधु को अपशब्द कह सकते हैं, मार-पीट सकते हैं, उसे हैरान कर सकते हैं, यहाँ तक कि उसे जान से भी मार सकते हैं। इसके अतिरिक्त उसके वस्त्र, पात्र, कंबल पाद-प्रोंछन आदि उपकरणों को तोड़फोड़ सकते हैं, लूट सकते हैं, और दूर फेंक सकते हैं। इन सब आपत्तियों की सम्भावना से तीर्थंकर आदि आप्त पुरुषों द्वारा साधुओं के लिए पहले से ही यह प्रतिज्ञा, हेतु, कारण और उपदेश निर्दिष्ट हैं कि साधु इस प्रकार के अराजक आदि प्रदेशों में विहार की दृष्टि से जाने का संकल्प न करे।" अतः साधु को इन अराजक आदि प्रदेशों को छोड़कर यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करना चाहिए।

४७३. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु या साध्वी यह जाने कि आगे लम्बा अटवी-[illegible] । यदि उस अटवी मार्ग के विषय में वह यह जाने कि यह एक दिन में, दो दिन में, [illegible] दिनों में, चार दिनों में या पांच दिनों में पार किया जा सकता है, अथवा पार नहीं [illegible] जा सकता, तो विहार के योग्य अन्य मार्ग होते, उस अनेक दिनों में पार किये जा सकने [illegible] भयंकर अटवी मार्ग से विहार करके जाने का विचार न करे। केवली भगवान् कहते हैं—[illegible] करना कर्मबन्ध का कारण है, क्योंकि मार्ग में वर्षा हो जाने से द्वीन्द्रिय आदि जीवों की [illegible]त हो जाने पर, मार्ग में काई लीलन-फूलन, बीज, हरियाली, सचित्त पानी और अचि-[illegible] मिट्टी आदि के होने से संयम की विराधना होनी सम्भव है। इसीलिए भिक्षुओं के लिए [illegible]करादि ने पहले से इस प्रतिज्ञा हेतु, कारण और उपदेश का निर्देश किया है कि वह साधु [illegible] साफ और एकाध दिन में ही पार किया जा सके ऐसे मार्ग के रहते इस प्रकार के अनेक [illegible] में पार किये जासकनेवाले भयकर अटवी-मार्ग से विहार करके जाने का संकल्प न करे। [illegible] साधु को परिचित और साफ मार्ग से ही यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करना चाहिए।

विवेचन—ग्रामानुग्राम-विहार : विधि, खतरे और सावधानी—वर्षावास के सिवाय शेष [illegible] में साधु साध्वियों के लिए ग्रामानुग्रामविहार करने की भगवदाज्ञा है। सूत्र ४६९ से [illegible]नुग्राम विहार करने की यह भगवदाज्ञा प्रत्येक सूत्र में दोहराई गई है, साथ ही खतरे [illegible]पर उनसे सावधान रहने का भी निर्देश किया है, परन्तु ग्रामानुग्रामविहार में आने [illegible] खतरों से डर कर या परीषहों एवं उपसर्गों से घबरा कर साधु वर्ग निराश—खिन्न और [illegible] होकर एक ही स्थान में न जम जाए, स्थिरवास न करले, इस दृष्टि से बार-बार [illegible]नुग्राम-विचरण करने के लिए प्रेरित किया है। हाँ, अविधिपूर्वक विहार करने से या [illegible]बूझ कर पूर्वोक्त खतरों में पड़ने से साधु की संयम-विराधना एवं आत्म-विराधना होने [illegible] सम्भावना है।

विहार की सामान्य विधि यह है कि साधु-साध्वी अपने शरीर के सामने की लगभग [illegible] हाथ (गाड़ी के जुए के बराबर) भूमि के देखते हुए (दिन में ही) चलें। जहाँ तक हो सके [illegible] मार्ग से गमन करे, जो साफ, सम, और जीव-जन्तुओं, कीचड़, हरियाली, पानी आदि [illegible]रहित हो। इतना होने पर भी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए पाँच प्रकार के विघ्नों—खतरों [illegible] बचने के उपाय शास्त्रकार ने व्यक्त किये हैं—

(१) त्रस जीवों से मार्ग भरा हो, (२) त्रस प्राणी, बीज, हरित, उदक और सचित्त [illegible] आदि मार्ग में हो, (३) अनेक देशों के सीमावर्ती दस्युओं, म्लेच्छों, अनार्यों, दुर्बोध्य एवं [illegible] लोगों के स्थान उस मार्ग में पड़ते हों, (४) अराजक, दुःशासक, या विरोधी शासक [illegible] देश आदि मार्ग में पड़ते हों, (५) अनेक दिनों में पार किया जा सके, ऐसा लम्बा बर्बर [illegible] मार्ग रास्ते में पड़ता

इस दो प्रकार के [illegible] के अनायास आ पड़ने पर उन पर यतना पूर्वक चले

विधि भी बताई है। अन्त के तीन खतरों वाले मार्गों को छोड़कर दूसरे सरल, साफ, खतरो रहित मार्ग से विहार करने का निर्देश किया है।

यतना चार प्रकार की होती है—(१) जीव-जन्तुओं को देखकर चलना, द्रव्य यतना है,) युग मात्र भूमि को देखकर चलना, क्षेत्र-यतना है। (३) अमुक काल में (वर्षा काल को ड़कर) चलना, काल-यतना है और (४) संयम और साधना के भाव से उपयोगपूर्वक चलना व-यतना है।[1]

युग का अर्थ गाड़ी का जुआ होता है, जो आगे से संकड़ा व पीछे से चौड़ा लगभग ढे तीन हाथ का होता है। ईर्या-समितिपूर्वक चलने पर दृष्टि का आकार भी लगभग इसी कार का बनता है; शरीर भी अपने हाथ से लगभग इतना ही होता है, इसलिए चूर्णिकार नदासमहत्तर ने युग का अर्थ शरीर भी किया है।[2]

'उद्दट्टु' आदि पदों के अर्थ—'उद्दट्टु'=पैर को उठाकर, पैर के अगले तल से पैर के वने के प्रदेश को लाँघकर।[3] साहट्टु=सिकोड़कर, पैरों को शरीर की ओर खींचकर या आगे भाग को उठाकर एड़ी से चले। वितिरिच्छं कट्टु=पैर को तिरछा करके चले। जीव-जन्तु देखकर, उसे लाँघकर चले, या दूसरा मार्ग हो तो उसी मार्ग से जाए, सीधे मार्ग से नहीं। दसुगायतणाणि=दस्युओं—लुटेरों या डाकुओं के स्थान, पच्चंतिकाणि=प्रत्यन्त=सीमान्त-र्ती। मिलक्खूणि=बर्बर, शबर, पुलिन्द आदि म्लेच्छप्रधान स्थान, दुस्सण्णप्पाणि=जिन्हे ठिनता से आर्य-आचार समझाया जा सकें, ऐसे लोगों के स्थान, दुप्पण्णवणिज्जाणि=दु:ख से र्निबोध दिया जा सके और अनार्य-आचार छुड़ाया जा सकें, ऐसे लोगों के स्थान, अकालपडि-होणि=कुसमय में जागने वाले लोगों के स्थान।

'लाढे' शब्द की व्याख्या—शीलांकाचार्य ने इस प्रकार की है—"येन, केनचित् प्रासुकाहारोप णादिना—गतेन विधिनाऽऽत्मानं यापयति लालयतीति लाढः।" अर्थात्—जिस किसी प्रकार से प्रासुक हार, उपकरण आदि की विधि से जो अपना जीवन-यापन करता है, आत्मरक्षा करता है, ह लाढ है। यहाँ पर 'लाढ' विहार योग्य आर्यदेश का विशेषण प्रतीत होता है।[4]

अरायाणि आदि पदों की व्याख्या चूर्णिकार के अनुसार इस प्रकार है—अरायाणि=जहाँ राजा मर गया है, कोई राजा नहीं है। जुवरायाणि=जब तक राज्याभिषेक न किया जाए,

---

1. आचारांग मूल तथा वृत्ति पत्रांक ३७७ के आधार पर।
2. (क) उत्तराध्ययन सूत्र अ० २४ गा० ६, ७ बृहद्वृत्ति।
(ख) "तावमेत्त' पुरओ अतो सकुडाए बाहिं वित्थडाए सगडुद्धि संठिताए दिट्ठीए।—
—दशवैकालिक जिन० चूर्णि पृ० १६८-अ० ५।१।३
3. (क) 'उद्दट्टु त्ति उक्खिविस्तु अतिक्कमित्तु वा, साहट्टु परिसाहरति नियत्तंयतीत्यर्थ'। वितिरिच्छं=पस्सेणं अतिक्कमति सति विज्जमाने अन्यत्र गच्छेत् ण उज्जुग।'
—आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण पृष्ठ १७२।
4. (क) सूत्रकृतांग, शीलांक वृत्ति १०।१।३ (ख) निशीथ सूत्र उद्दे० १६

तब तक वह युवराज कहलाता है। वोरज्जाणि=जहां एक राज्य के अभिलाषी दो दावेदार है, दोनों कटिबद्ध होकर लड़ते है, वह द्विराज्य कहलाता है, वेरज्जाणि=शत्रु राजा ने आकर जिस राज्य को हड़प लिया है, वह वैर-राज्य है। विरुद्धरज्जाणि=जहाँ का राजा धर्म और साधुओं आदि के प्रति विरोधी है, उसका राज्य विरुद्ध-राज्य कहलाता है, अथवा जिस राज्य में साधु भ्रान्ति से विरुद्ध (विपरीत) गमन कर रहा है, वह भी विरुद्ध राज्य है।[1] विह=कई दिनों में पार हो सके, ऐसा अटवीमार्ग।[2]

नौकारोहण-विधि

४७४. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से णावासंतारिमे उदए सिया, से ज्जं पुण णावं जाणेज्जा-असंजते भिक्खुपडियाए किणेज्ज[3] वा, पामिच्चेज्ज वा, णावाए वा णावपरिणामं कट्टु, थलातो वा णावं जलंसि ओगाहेज्जा, जलातो वा णावं थलंसि उक्कसेज्जा पुण्णं वा णावं उस्सिचेज्जा, सण्णं वा णावं उप्पीलावेज्जा, तहप्पगारं णावं उड्ढगामिणि वा अहेगामिणि वा तिरियगामिणि वा परं जोयणमेराए अद्धजोयणमेराए वा अप्पतरे वा भुज्जतरे वा णो दुरुहेज्जा गमणाए।

१ (क) "अणरायं—राया मतो, जुवराय—जुवराया अत्थि [illegible] वा दाव अभिसिच्चति। दोरज्जं—दे दाइया भवति, वेरज्जं—जत्थ वेरं अण्णेण रज्जेण राएण वा सद्धिं। विरुद्ध गमणं [illegible] साधुस्स वा विरुद्धरज्जं।" —आचारांग चूर्णि

(ख) "मत रायाणं जाव युवराया जुवराया य दो वि [illegible] अणभिसित्ता ताव अणराय भवति।" —निशीथ चूर्णि उ० १२ में अन्य भी इसी प्रकार के अर्थ मिलते हैं।

(ग) बृहत्कल्प भाष्य १.२७६४-६५ में वैराज्य-प्रकरण विस्तारपूर्वक बताया गया है।

(घ) उत्तराध्ययन २, टीका पत्र ६० में बताया है—एकल विहारी श्रावस्ती के राजकुमार [illegible] वैराज्य में गुप्तचर समझकर पकड़ लिया था। उसे अनार्यों ने बाधकर शरीर में [illegible] का प्रवेश कर अत्यन्त वेदना पहुँचाई।

२. 'पाइअ सद्दमहण्णवो' पृ० ८०८—'विह' शब्द देखें।

३ 'किणेज्ज वा' आदि पदों का अर्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार किया है—किणेज्ज- [illegible] [illegible] (अद्धाणु या आउ=धावक) [illegible] दिणे मग्गितओ [illegible] [illegible] है। "पामिच्चं"=उच्छिदति उधार लेता है। 'परिणामो [illegible]' [illegible] नौका की अदला बदली [illegible] है, [illegible] सुन्दर नौका है, वह मोलकर बदल लेता है। [illegible] कीचड़ में फँसी हुई :—उड्ढगामिणी [illegible] तिरिच्छं=तिरियगामिणी—तिरछी [illegible] अद्धजोयण मात्र, [illegible] (अप्पतरं) है, जो केवल [illegible] [illegible]

४७५. से भिक्खू वा २ पुव्वामेव तिरिच्छसंपातिमं णावं जाणेज्जा, जाणित्ता से तमा- एगंतमवक्कमेज्जा, २ [त्ता] भंडगं पडिलेहेज्जा, २ [त्ता] एगाभोयं भंडगं करेज्जा, २] ससीसोवरियं कायं पाए [य] पमज्जेज्जा, २ [त्ता] सागारं भत्तं पच्चक्खाएज्जा, २ [त्ता] पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा ततो संजयामेव णावं दुरुहेज्जा।

४७६. से भिक्खू वा २ णावं दुरुहमाणे णो णावातो पुरतो दुरुहेज्जा, णो णावाओ' तो दुरुहेज्जा, णो णावातो मज्झतो दुरुहेज्जा, णो बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलियाए उद्दि- २ ओणमिय २ उण्णमिय २ णिज्झाएज्जा।

४७७. से णं परो णावागतो णावागयं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! एतं ता तुमं णावं साहि वा वोक्कसाहि वा खिवाहि वा रज्जूए वा गहाय आकसाहि। णो से तं परिण्णं' जाणेज्जा, तुसिणीओ उवेहेज्जा।

४७८. से णं परो णावागतो णावागतं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! णो संचाएसि णावं उक्कसित्तए वा वोक्कसित्तए वा खिवित्तए वा रज्जूए वा गहाय आकसित्तए. आहर णावाए रज्जुयं, सयं चेवं णं वयं णावं उक्कसिस्सामो वा' जाव रज्जूए वा गहाय आक- सामो। णो से तं परिण्णं परिजाणेज्जा, तुसिणीओ उवेहेज्जा।

४७९. से णं परो णावागतो णावागयं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! एतं ता तुमं णावं लित्तेण वा पिट्टेण वा वंसेण वा वलएण वा अवल्लएण वा वाहेहि।[४] णो से तं परिण्णं जाव हेज्जा।

४८०. से णं परो णावागतो णावागयं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! एतं ता तुमं णावाए यं हत्थेण वा पाएण वा मत्तेण वा पडिग्गहएण वा णावाउस्सिचणएण वा उस्सिचाहि। से तं परिण्णं परिजाणेज्जा [०][५]।

४८१ से णं परो णावागतो णावागयं वएज्जा—आउसंतो समणा ! एतं ता तुमं

'णावातो' के स्थान पर 'णावाए' पाठान्तर है। अर्थ है—नाव पर।
चूर्णिकार—'णो से तं परिण्ण परिजाणेज्जा'—का तात्पर्य समझाते हैं—'ण तस्स तप्पतिञ्ज' 'परिया- णेज्जा' आढाएज्जा करिज्ज वा। तुसिणीओ 'उवेहेज्जा अच्छिज्जा।'—उसकी उस प्रतिज्ञा-प्रार्थना को आदर न दे, न माने न करे। मौन रहे, उपेक्षाभाव रखे।
यहाँ जाव शब्द सूत्र ४७७ के अनुसार उक्कसिस्सामो से लेकर रज्जूए तक के पाठ का सूचक है।
तुलना कीजिए—'जे भिक्खू णावं अलित्तेण वा पिट्टेण (पण्फिडएण) वा वंसेण वा वलएण वा वाहेइ, वाहेंतं वा सातिज्जति......।' —निशीथ चूर्णि १८/१७.
[०] ऐसा चिन्ह जहाँ-जहाँ है, वहाँ-वहाँ उसका अवशिष्ट सारा पाठ समझ लेना चाहिए।

पूर्ण हो रही है।" इस प्रकार से मन एवं वचन को आगे-पीछे न करके साधु-विचरण
शरीर और उपकरणादि पर मूर्च्छा न करके तथा अपनी लेश्या को संयमबाह्य प्र
लगाता हुआ अपनी आत्मा को एकत्व भाव में लीन करके समाधि में स्थित अपने श
करण आदि का व्युत्सर्ग करे।

इस प्रकार नौका के द्वारा पार करने योग्य जल को पार करने के बाद जि
तीर्थंकरों ने विधि बताई है उस विधि का विशिष्ट अध्यवसायपूर्वक पालन क
विचरण करे।

विवेचन—नौकारोहण . विघ्न-बाधाएं और समाधान—जहाँ इतना जल हो कि पै
कर मार्ग पार नहीं किया जा सकता, वहाँ साधु को जलयान में बैठकर उस मार्ग को
का शास्त्रकार ने विधान किया है। साथ ही यह भी बताया है कि साधु किस प्रकार
में, किस विधि से चढ़े ? नौका में बैठने के बाद नाविक द्वारा नौका को रस्सी से बां
आदि से चलाने, नौका में भरे हुए पानी को बाहर निकालने, छिद्र बंद करने आ
कार्यों के करने का कहे जाने पर साधु न उन्हें स्वीकार करे, और न ही तेजी से प्र
हुए जल से डूबती-उतराती नौका को देखकर नाविक को सावधान करे।

निष्कर्ष यह है कि शास्त्रकार ने नौकारोहण के सम्बन्ध में साधु को इन १
विशेषतया ४ बातों का विवेक बताया है— (१) नौका में चढ़ने से पूर्व, (२) नौका
समय, (३) नौका में बैठने के बाद और (४) नदी पार करके नौका से उतरने के बाद

सूत्र ४८२ द्वारा एक बात स्पष्ट ध्वनित होती है, जिसका संकेत 'एतप्पगारं मणं
भेज्ज समाधीए' इन दो पंक्तियों द्वारा शास्त्रकार ने कर दिया है। जिस समय नौका में
पानी बढ़ जाए और वह डूबने लगे, उस समय साधु क्या करे ? वह मन में आर्तध्यान
न लाए, न ही शरीर और उपकरणादि के प्रति आसक्ति रखे। एक मात्र आत्मैकत्व
लीन होकर शुद्ध आत्मा का स्मरण करता हुआ समाधिभाव में अचल रहे। जल-सम
का अवसर आए तो शरीरादि का विसर्जन करने में तनिक भी न घबराए। और यदि
से नौका डूबने बच जाए, और सुरक्षितरूप से साधु नौका से जलमार्ग पार कर
वह तीर्थंकरोक्त विधि का पालन करके फिर आगे बढ़े।[३]

'उंसिचेज्जा' आदि पदों के अर्थ—उंसिचेज्जा—नाव में भरे हुए पानी को उ
बाहर निकाले, सन्न—कीचड़ में फंसी हुई उप्पीलावेज्जा—बाहर निकाले। उड्ढ
उड्ढंगामिनी = अनुस्रोतगामिनी, अहेगामिणि = अधोगामिनी—प्रतिस्रोतगामिनी,
तिरिच्छ = तिरछी (आड़ी) गमन करने वाली, नदी के इस पार से उस पार तक जाने वा

---

१ टीका पत्र १३८ के आधार पर।
३ आचारांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पणी पृ० १३८। २. आचारांग चूर्णि, मूल पाठ टिप्पणी पृ० १३

एगाभोय भंडगं करेज्जा का भावार्थ है—पात्रों को इकट्ठे बांध कर उन पर उपधि को अच्छी तरह जमा देता है। इस प्रकार सब उपकरणों को इकट्ठा करले।

निशीथचूर्णि में इस प्रकार उपकरणों को एकत्रित करके बांधने का कारण बताया है कि "कदाचित कोई द्वेषी या विरोधी नौकारूढ साधु को जल में फेंक दे तो वह मगरमच्छ के भय से एकत्रित किए हुए पात्रों पर चढ़ सकता है, पात्र एकत्रित होंगे तो उनको छाती से बांधकर वह तर भी सकता है। नौका विनष्ट हो जाने पर भी साधु एकत्रित किए हुए पात्रादि से पानी पर तैर सकता है।"[1]

'णो णावातो पुरतो दुरुहेज्जा' आदि पदों की व्याख्या—नौका के अग्रभाग में नहीं चढ़ना (बैठना) चाहिए, *अग्रभाग में नौका का सिर है, वहाँ नहीं बैठना चाहिए—क्योंकि वह देवता का* स्थान माना जाता है, तथा निर्यामकों के द्वारा उपद्रव की भी सम्भावना है, वहाँ बैठने से, एवं नौकारोहियों के आगे बैठने से प्रवृत्ति का झगडा बढने की सम्भावना है। नौका के पृष्ठ भाग में भी नहीं बैठना चाहिए, वहाँ तेजी से बहते हुए जल को देखकर गिर पड़ने का भय रहता है। पृष्ठ भाग में निर्यामक—तोरण का स्थान माना जाता है। और मध्य में भी बैठने का निषेध है, क्योंकि वहाँ कूपकस्थान माना जाता है। वहाँ आने-जाने का मार्ग रहता है।[2]

बृहत्कल्पसूत्र वृत्ति में बताया गया है कि मध्य में—कूपकस्थान को छोड़कर बैठना

---

१. (क) बृहकल्प सूत्र वृत्ति पृ० १४६८

(ख) एगाभोगो उवही कज्जो, किं कारणं ? कयाइ पडिणीएहिं उदगे छुब्भेज्ज, तत्थ मगरभया एगाभोगकएसु पादेसु आरुभइ, एगाभोगकएसु वा बुज्झइ, तरतीत्यर्थ.। नावाए वा विणट्ठाए एगाओगकते दग तरतीत्यर्थ ...भायणे य एगाभोगे बंधित्ता तेसिं उवरि उवहिं सुनियमितं करेइ, भायणमुवहिं च एगट्ठा करोतीत्यर्थं।'—निशीथ चूर्णि उद्दे० १२ पृ० ३७४

(ग) आचारांग चूर्णि में इसकी व्याख्या यों की गई है—"एगायत भंडग, तिन्नि हेट्ठामुहे भातरो करेति, उवरि भंडगए पडिग्गह एग जुयग करेति—" एकत्रित भंडोपकरण को एकायत कहते हैं। तीन भाजन अधोमुख रखे, ऊपर भंडक, उस पर एक पात्र, उसके साथ एकजुट करे।

२. णो णावातो पुरतो'''आदि पदों की व्याख्या निशीथचूर्णि में इस प्रकार की गई है—"ठाणतिय मोत्तूण ठानि तत्थऽणाबाहे''''''॥१९६॥ देवताट्ठाण- कूयट्ठाण निज्जामगट्ठाण। अहवा पुरतो मज्झे पिट्ठओ, पुरओ देवयट्ठाण, मज्झे सिवट्ठाण, पच्छा तोरणट्ठाण, एते वज्जिय तत्थ णावाए अणाबाहे ट्ठाणे ट्ठायति। उवउत्तो [illegible]

विधि बताते हुए कह[illegible]
तीन स्थान ये हैं—१. देव[illegible]
पर देवता स्थान है, वह[illegible]
है, वहाँ भी न ठहरना [illegible]
है। इन तीनों स्थानों क[illegible]
अर्थ है—नमस्कार मंत्र[illegible]

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

नौकारोहण में उपसर्ग आने पर : जल-तरण

४८४. से णं परो णावागतो णावागयं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! एतं ता तुमं छत्तगं वा जाव चम्मछेदणगं वा गेण्हाहि, एताणि ता तुमं विरूवरूवाणि सत्थजायाणि धारेहि, एयं ता तुमं दारगं वा दारिगं वा पज्जेहि,[1] णो से तं परिण्णं परिजाणेज्जा, तुसिणीओ उवेहेज्जा

४८५. से णं परो णावागते णावागतं वदेज्जा[2]—आउसंतो ! एस णं समणे णावाए मंडभारिए[3] भवति, से णं बाहाए गहाय णावाओ उदगंसि पक्खिवेज्जा। एतप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म से य चीवरधारी सिया खिप्पामेव चीवराणि उव्वेढेज्ज[4] वा णिव्वेढेज्ज वा, उप्फेसं वा करेज्जा।

४८६ अह पुणेवं जाणेज्जा-अभिक्कंतकूरकम्मा खलु बाला बाहाहिं गहाय णावाओ उदगंसि पक्खिवेज्जा। से पुव्वामेव वदेज्जा—आउसंतो गाहावती ! मा मेत्तो बाहाए गहाय णावातो उदगंसि पक्खिवह, सयं चेव णं अहं णावातो उदगंसि ओगाहिस्सामि।

से णेवं वदंतं परो सहसा बलसा बाहाहिं गहाय णावातो उदगंसि पक्खिवेज्जा, तं णो सुमणे सिया[5], णो दुम्मणे सिया, णो उच्चावयं मणं णियच्छेज्जा, णो तेसिं बालाणं घाताए

---

१. 'पज्जेहि' का तात्पर्य चूर्णिकार के शब्दों में "दारग वा दारिग वा पज्जेहि त्ति, भुंजावेहि धरेहि वा णेज्जा, अम्हे णावाए कम्मकरे।' अर्थात् बालक या बालिका को पानी पिलाओ, खिलाओ, पकड़े रखो, ले जाओ, हम नौका पर काम करेंगे।

२ "परो णावागते णावागत वदेज्जा' का अर्थ वृत्तिकार के शब्दों में—"नौगतस्तत्स्थ साधुमुद्दिश्यापरमेवं ब्रूयात्।" अर्थात्—"नौका में बैठा हुआ व्यक्ति नौका में स्थित साधु को उद्देश्य करके दूसरे नौकारोही से ऐसा कहे·········।"

३. 'मंडभारिए' के स्थान पर 'मंडभारिते' पाठान्तर मानकर चूर्णिकार ने व्याख्या की है—"मंडभारिते जहा मडभारिय ण वा किंचि करेति।" अर्थात्—भाण्ड—वस्तुएँ निर्जीव-निश्चेष्ट होने के कारण केवल भारभूत होती हैं, वे कुछ करती नहीं, वैसे ही यह (साधु) है।

४. उव्वेढेज्जा वा णिव्वेढेज्ज वा के स्थान पर पाठान्तर है—"उवेहेज्जवा णिवेहेज्ज वा', उवट्टे वा निविट्टिज्ज वा।" अर्थ क्रमशः यों है—(१) उपेक्षा करे, निःस्पृह हो जाए, (२) उलट दे, निकाल दे। इन पदों का आशय चूर्णिकार के शब्दों में देखिए—"थेरा उव्वेढेंति, जिणकप्पितो उप्फेंसि करेति। उप्फेसो नाम कुडियढी सीसकरण।" अर्थात् स्थविरकल्पिक मुनि कपड़े लपेट लेते हैं, जिनकल्पिक मुनि उप्फेसीकरण करते हैं। उप्फेस कहते हैं—बौने की तरह सिर को सिकोड़ लेना।

५. 'णो सुमणे सिया' का भावार्थ चूर्णिकार ने दिया है—'मुक्कोमि पंतोवहिस्स'—उस समय मन में अप्रसन्न न हो, इसका आशय यह है कि "साधु मन में यह न सोचे कि चलो, खराब उपधि से छुटकारा मिला, (अब नयी उपधि भक्तों से मिलेगी।")

बहाए गमुद्देज्जा । अप्पुस्सुए जाव समाहीए । तओ संजयामेव उदगंसि पवे (पवे) ज्जा ।

४८७ से भिक्खू वा २ उदगंसि पवमाणे णो हत्थेण हत्थं पाएण पायं काएण कायं आसादेज्जा । से अणासादए अणासायमाणे ततो संजयामेव उदगंसि पवेज्जा ।

४८८ से भिक्खू वा २ उदगंसि पवमाणे णो उम्मुग्ग-णिमुग्गियं करेज्जा, मा मेयं उदयं कण्णेसु वा अच्छीसु वा णक्कंसि वा मुहंसि वा परियावज्जेज्जा, ततो संजयामेव उदगंसि पवेज्जा ।

४८९ से भिक्खू वा २ उदगंसि पवमाणे[1] दोब्बलियं पाउणेज्जा, खिप्पामेव उवधिं विगिंचेज्ज वा विसोहेज्ज वा, णो चेव णं सातिज्जेज्जा ।

४९०. अह पुणेवं जाणेज्जा-पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए । ततो संजयामेव उदउल्लेण वा ससणिद्धेण वा काएण दगतीरए चिट्ठेज्जा ।

४९१. से भिक्खू वा २ उदउल्लं वा ससणिद्धं वा कायं णो आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा संलिहेज्ज वा णिल्लिहेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा आतावेज्ज वा पयावेज्ज वा ।

अह पुणेवं जाणेज्जा-विगतोदए मे काए छिण्णसिणेहे । तहप्पगारं कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा जाव पयावेज्ज वा । ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ।

४८४. नौका में बैठे हुए गृहस्थ आदि यदि नौकारूढ़ मुनि से यह कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! तुम जरा हमारे छत्र, भाजन बर्तन, दण्ड, लाठी, योगासन, नलिका, वस्त्र, यवनिका मृगचर्म, चमड़े की थैली, अथवा चर्म-छेदनक शस्त्र को तो पकड़े रखो; इन विविध शस्त्रों को तो धारण करो, अथवा इस बालक या बालिका को पानी पिला दो; तो वह साधु उसके उक्त वचन को सुनकर स्वीकार न करे, किन्तु मौन धारण करके बैठा रहे ।

४८५. यदि कोई नौकारूढ़ व्यक्ति नौका पर बैठे हुए किसी अन्य गृहस्थ से इस प्रकार कहे—आयुष्मन् गृहस्थ ! यह श्रमण जड़ वस्तुओं की तरह नौका पर केवल भारभूत है, (न यह कुछ सुनता है, न कोई काम ही करता है ।) अत. इसकी बाँहें पकड़ कर नौका से बाहर जल में फेंक दो ।' इस प्रकार की बात सुनकर और हृदय में धारण करके यदि वह मुनि वस्त्रधारी है तो शीघ्र ही फटे-पुराने वस्त्रों को खोल कर अलग कर दे और अच्छे वस्त्रों को अपने शरीर पर अच्छी तरह बाँध कर लपेट ले, तथा कुछ वस्त्र अपने सिर के चारों ओर लपेट ले ।

४८६. यदि वह साधु यह जाने कि ये अत्यन्त क्रूरकर्मा अज्ञानी जन अवश्य ही मुझे बाँहें पकड़ नाव से बाहर पानी में फेंकेंगे । तब वह फेंके जाने से पूर्व ही उन गृहस्थों को सम्बो-

१. पवमाणे के स्थान पर पाठान्तर है—पवडमाणे । अर्थ है=गिरता हुआ ।

४६२. साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए गृहस्थों के साथ बहुत अधिक वार्तालाप करते न चलें, किन्तु ईर्यासमिति का यथाविधि पालन करते हुए ग्रामानुग्राम विहार करें।

विवेचन—विहार के समय ईर्यासमिति का ध्यान रहे—इस सूत्र में मुनि को विहार करते हुए गृहस्थों के साथ लम्बी-चौड़ी गप्पें मारते हुए चलने का निषेध किया है, क्योंकि बातें करने से ध्यान ईर्या से हट जाता है, ईर्याशुद्धि ठीक तरह से नहीं हो सकती, जीवहिंसा की संभावना है। 'परिजविय' का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—अत्यधिक वार्तालाप करता-करता।[1]

जंघाप्रमाण-जल-संतरण-विधि

४६३. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से जंघासंतारिमे उदगे सिया, से पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जेज्जा, से पुव्वामेव [ससीसोवरियं कायं पाए य] पमज्जेत्ता एगं पादं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा ततो संजयामेव जंघासंतारिमे उदगे अहारियं[2] रीएज्जा।

४६४. से भिक्खू वा २ जंघासंतारिमे उदगे अहारियं रीयमाणे णो हत्थेण हत्थं जाव[3] अणासायमाणे ततो संजयामेव जंघासंतारिमे उदगे अहारियं रीएज्जा।

४६५. से भिक्खू वा २ जंघासंतारिमे उदए अहारियं[4] रीयमाणे णो सायपडियाए[5] णो परिदाहपडियाए महतिमहालयंसि उदगंसि कायं विओसेज्जा[6]। ततो संजयामेव जंघासंतारिमेव उदए अहारियं रीएज्जा।

४६६. अह पुणेवं जाणेज्जा-पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए। ततो संजयामेव उदउल्लेण वा ससणिद्धेण वा काएण दगतीरए चिट्ठेज्जा।

४६७. से भिक्खू वा २ उदउल्लं वा कायं ससणिद्धं वा कायं णो आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा [०][7]।

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८०
२. 'अहारियं रीएज्जा' का भावार्थ वृत्तिकार के शब्दों में यों है—'अहारियं रीएज्जा' त्ति यथा ऋजु भवति तथा गच्छेत् नार्विवर्तं विकारं वा कुर्वन् गच्छेत्।—अर्थात्—अहारियं का भावार्थ है—जैसे ऋजु (सरल) हो, वैसे चले, आड़ा टेढ़ा विकृत करता हुआ न चले।
३. यहाँ जाव शब्द सू० ४८७ अनुसार हत्थं से लेकर आणासायमाणे तक के पाठ का सूचक है।
४. इसके स्थान पर पाठान्तर हैं—आहारीय, अहारीयं अहारीयमाणे।
५. सायपडियाए के स्थान पर सायवडियाए पाठान्तर है।
६. वियोसेज्जा के स्थान पर विलोसेज्जा का पाठान्तर है।
७. [०] इस चिन्ह से 'पमज्जेज्ज वा' से लेकर 'दूइज्जेज्जा' तक का समग्र पाठ समझें।

४९२. साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए गृहस्थों के साथ बहुत अधिक वार्तालाप करते न चलें, किन्तु ईर्यासमिति का यथाविधि पालन करते हुए ग्रामानुग्राम विहार करें।

विवेचन—विहार के समय ईर्यासमिति का ध्यान रहे—इस सूत्र में मुनि को विहार करते हुए गृहस्थों के साथ लम्बी-चौड़ी गप्पें मारते हुए चलने का निषेध किया है, क्योंकि बातें करने से ध्यान ईर्या से हट जाता है, ईर्याशुद्धि ठीक तरह से नहीं हो सकती, जीवहिंसा की संभावना है। 'परिजविय' का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—अत्यधिक वार्तालाप करता-करता।[1]

जंघाप्रमाण-जल-संतरण-विधि

४९३. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से जंघासंतारिमे उदगे सिया, से पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जेज्जा, से पुव्वामेव [ससीसोवरियं कायं पाए य] पमज्जेत्ता एगं पादं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा ततो संजयामेव जंघासंतारिमे उदगे अहारियं[2] रीएज्जा।

४९४. से भिक्खू वा २ जंघासंतारिमे उदगे अहारियं रीयमाणे णो हत्थेण हत्थं जाव[3] अणासायमाणे ततो संजयामेव जंघासंतारिमे उदगे अहारियं रीएज्जा।

४९५. से भिक्खू वा २ जंघासंतारिमे उदए अहारियं[4] रीयमाणे णो सायपडियाए[5] णो परिदाहपडियाए महतिमहालयंसि उदगंसि कायं विओसेज्जा[6]। ततो संजयामेव जंघासंतारिमेव उदए अहारियं रीएज्जा।

४९६. अह पुणेवं जाणेज्जा-पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए। ततो संजयामेव उदउल्लेण वा ससणिद्धेण वा काएण दगतीरए चिट्ठेज्जा।

४९७. से भिक्खू वा २ उदउल्लं वा कायं ससणिद्धं वा कायं णो आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा [०][7]।

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८०

२. 'अहारियं रीएज्जा' का भावार्थ वृत्तिकार के शब्दों में यों है—'अहारियं रीएज्जा' त्ति यथा ऋजु भवति तथा गच्छेत् नार्ववितर्दं विकारं वा कुर्वन् गच्छेत्।—अर्थात्—अहारियं का भावार्थ है—जैसे ऋजु (सरल) हो, वैसे चले, आडा टेढा विकृत करता हुआ न चले।

३ यहाँ जाव शब्द सू० ४८७ अनुसार हत्थं से लेकर अणासायमाणे तक के पाठ का सूचक है।

४. इसके स्थान पर पाठान्तर हैं—आहारीय, अहारीयं अहारीयमाणे।

५ सायपडियाए के स्थान पर सायवडियाए पाठान्तर है।

६. वियोसेज्जा के स्थान पर वितोसेज्जा का पाठान्तर है।

७. [०] इस चिन्ह से 'पमज्जेज्ज वा' से लेकर 'दूईज्जेज्जा' तक का समग्र पाठ समझें।

अह पुणेवं जाणेज्जा–विगतोदए मे काए छिण्णसिणेहे। तहप्पगारं कायं आमज्जेज्ज वा[1] जाव पयावेज्ज वा। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४९३. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु या साध्वी को मार्ग में जंघा-प्रमाण (जंघा से पार करने योग्य) जल (जलाशय या नदी) पड़ता हो तो उसे पार करने के लिए वह पहले सिर-सहित शरीर के ऊपरी भाग से लेकर पैर तक प्रमार्जन करे। इस प्रकार सिर से पैर तक का प्रमार्जन करके वह एक पैर को जल में और एक पैर को स्थल में रखकर यतनापूर्वक जंघा से तरणीय जल को, भगवान् के द्वारा कथित ईर्या समिति की विधि के अनुसार पार करे।

४९४. साधु या साध्वी जंघा से तरणीय जल को शास्त्रोक्तविधि के अनुसार पार करते हुए हाथ से हाथ का, पैर से पैर का तथा शरीर के विविध अवयवों का परस्पर स्पर्श न करे। इस प्रकार वह शरीर के विविध अंगों का परस्पर स्पर्श न करते हुए भगवान् द्वारा प्रतिपादित ईर्यासमिति की विधि के अनुसार यतनापूर्वक उस जंघातरणीय जल को पार करे।

४९५. साधु या साध्वी जंघा-प्रमाण जल में शास्त्रोक्तविधि के अनुसार चलते हुए शारीरिक सुख-शान्ति की अपेक्षा से या दाह उपशान्त करने के लिए गहरे और विस्तृत जल में प्रवेश न करे और जब उसे यह अनुभव होने लगे कि मैं उपकरणादि-सहित जल से पार नहीं हो सकता, तो वह उनका त्याग कर दे, शरीर-उपकरण आदि के ऊपर से ममता विसर्जन कर दे। उसके पश्चात् वह यतनापूर्वक शास्त्रोक्तविधि से उस जंघा-प्रमाण जल को पार करे।

४९६. यदि वह यह जाने कि मैं उपधि-सहित ही जल से पार हो सकता हूँ तो उपकरण सहित पार हो जाए। परन्तु किनारे पर आने के बाद जब तक उसके शरीर से पानी की बूँद टपकती हो, जब तक उसका शरीर जरा-सा भी भीगा है, तब तक वह (नदी) के किनारे ही खड़ा रहे।

४९७ वह साधु या साध्वी जल टपकते हुए या जल से भीगे हुए शरीर को एक बार या बार-बार हाथ से स्पर्श न करे, न उसे एक या अधिक बार घिसे, न उस पर मालिश और न ही उबटन की तरह उस शरीर से मैल उतारे। वह भीगे हुए शरीर और उपधि सुखाने के लिए धूप में थोड़ा या अधिक गर्म भी न करे।

जब वह यह जान ले कि अब मेरा शरीर पूरी तरह सूख गया है, उस पर जल की बूँद या जल का लेप भी नहीं रहा है, तभी अपने हाथ से उस शरीर का स्पर्श करे, सहलाए, रगड़े, मर्दन करे यावत् धूप में खड़ा रह कर उसे थोड़ा या अधिक गर्म करे। तत्पश्चात् वह संयमी साधु यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करे।

---

१. 'जाव' शब्द यहाँ 'आमज्जेज्ज वा' से लेकर 'पयावेज्जा' तक का पाठ ग्रहण सूचित किया है।

विवेचन—जंघाप्रमाण जल-संतरण विधि—विगत पाच सूत्रों में शास्त्रकार ने उस जल को पैरों से ही पार करने की आज्ञा दी है, जो जंघा-बल से चलकर पार किया जा सके। इसका तात्पर्य यह है कि जो पानी साधक के वक्षस्थल तक गहरा हो, वह जघा-बल से पार किया जा सकता है, जिस पानी में मस्तक भी डूब जाए, वह पानी जंघाबल से संतरणीय नहीं होता, क्योंकि उतने गहरे पानी में जघा-बल स्थिर नहीं रहता। इन पाच सूत्रों में ६ विधियाँ प्रतिपादित की हैं—(१) सिर से पैर तक प्रमार्जन करे, फिर एक पैर जल में और एक पैर स्थल में रखकर सावधानी से चले, (२) उस समय शरीर के अंगोपांगों का परस्पर स्पर्श न करे, (३) शरीर की गर्मी शान्त करने या सुखसाता के उद्देश्य से गहरे जल में प्रविष्ट न हो, (४) उपकरण-सहित पार करने की क्षमता न रहे तो उपकरणों का त्याग कर दे, क्षमता हो तो उपकरण सहित पार कर ले। (५) शरीर पर जब तक पानी का जरा-सा भी अंश रहे, तब तक वह नदी के किनारे ही ठहरे। (६) शरीर पर से पानी जब तक बिलकुल सूख न जाए, तब तक उसके हाथ न लगाए, न मिले, न मालिश करे, न धूप से गर्म करे; जब पानी बिलकुल सूख जाए, तब ईर्यापथ-प्रतिक्रमण करके ये सभी उपचार करे।[1]

आहारियं की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार कहते है—वह भिक्षु यथोक्तविधि से जल में चलते समय विशाल जलवाला जलस्रोत हो, जो कि वक्ष:स्थलादि प्रमाण हो, जंघा से संतरणीय नदी, ह्रद आदि हो तो पूर्व विधि से ही उसमें शरीर को प्रवेश कराए।[2]

सायपडियाए णो परिदाहपडियाए का अर्थ है—शारीरिक सुखसाता की दृष्टि से या शरीर की जलन को शान्त करने के उद्देश्य से नही।[3]

विषम-मार्गादि से गमन-निषेध

४९८. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो मट्टियागतेहिं पाएहिं हरियाणि छिंदिय[4] २ विकुज्जिय २ विफालिय २ उम्मग्गेण हरियवधाए गच्छेज्जा 'जहेयं पाएहिं मट्टिय खिप्पामेव हरियाणि अवहरंतु'। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा। से पुव्वामेव अप्पहरियं मग्गं पडिलेहेज्जा, २ [त्ता] ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४९९. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा तोरणाणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपासगाणि वा गड्डाओ वा दरीओ वा सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा। केवली बूया—आयाणमेयं।

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८० के आधार पर।

२. वही, पत्रांक ३८०। ३. वही, पत्रांक ३८०।

४. छिंदिय आदि पदो के आगे जहाँ-जहाँ '२' का चिन्ह है, वहाँ वह सर्वत्र उसी पद की पुनरावृत्ति का सूचक है।

४६६. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु या साध्वी के मार्ग में यदि टेकरे (उन्नत भू भाग) हों, खाइयाँ, या नगर के चारों ओर नहरें हो, किले हो, या नगर के मुख्य द्वार हो, अर्गलाएं (आगल) हों, आगल दिये जानेवाले स्थान (अर्गलापाशक) हो, गड्ढे हों, गुफाएं हो या भूगर्भ-मार्ग हो तो अन्य मार्ग के होने पर उसी अन्य मार्ग से यतनापूर्वक गमन करे, लेकिन ऐसे सीधे- किन्तु विषम मार्ग से गमन न करे। केवली भगवान् कहते हैं है—यह मार्ग *(निरापद न होने से) कर्म-बन्ध का कारण है।*

ऐसे विषममार्ग से जाने से साधु-साध्वी का पैर आदि फिसल सकता है वह गिर सकता है। [पैर आदि के फिसलने या गिर पड़ने से] शरीर के किसी अंग-उपांग को चोट लग सकती है, वहा जो भी त्रसजीव हो तो, उनकी भी विराधना हो सकती है, कदाचित् सचित्त वृक्ष आदि का अवलम्बन ले तो भी अनुचित है।]

[यदि स्थविरकल्पी साधु को कारणवश उसी मार्ग से जाना पड़े और कदाचित् उसका पैर आदि फिसलने लगे या वह गिरने लगे तो] वहाँ जो भी वृक्ष, गुच्छ (पत्तो का समूह या फलों का गुच्छा), झाड़ियाँ, लताएं (यष्टि के आकार की बेलें), बेलें, तृण अथवा गहन (वृक्षों के कोटर या वृक्षलताओं का झुंड) आदि हो, उनका हरितकाय को सहारा ले ले कर चले या उतरे अथवा वहाँ (सामने से) जो पथिक आ रहे हों, उनका हाथ (हाथ का सहारा) मांगे (याचना करे) उनके हाथ का सहारा मिलने पर उसे पकड़ कर यतनापूर्वक चले या उतरे। इस प्रकार साधु या साध्वी को सयमपूर्वक ही ग्रामानुग्राम विहार करना चाहिए।

५००. साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार कर रहे हो, मार्ग में यदि जौ, गेहूं आदि धान्यों के ढेर हों, बैलगाड़ियाँ या रथ पड़े हों, स्वदेश-शासक या परदेश-शासक की सेना के नाना प्रकार के पड़ाव (छावनी के रूप में) पड़े हो, तो उन्हे देखकर यदि कोई दूसरा (निरापद) मार्ग हो तो उसी मार्ग से यतनापूर्वक जाए, किन्तु उस सीधे, (किन्तु दोषापत्तियुक्त) मार्ग से न जाए।

५०१. [यदि साधु सेना के पड़ाव वाले मार्ग से जाएगा, तो सम्भव है,] उसे देखकर कोई सैनिक किसी दूसरे सैनिक से कहे—"आयुष्मान्! यह श्रमण हमारी सेना का गुप्त भेद ले रहा है, अतः इस की बाहें पकड़ कर खींचो। अथवा उसे घसीटो।" इस पर वह सैनिक साधु को बाहें पकड़ कर खीचने या घसीटने लगे, उस समय साधु को अपने मन में न हर्षित होना चाहिए, न रुष्ट, बल्कि उसे समभाव एवं समाधिपूर्वक सह लेना चाहिए। इस प्रकार उसे यतनापूर्वक एक ग्राम से दूसरे ग्राम विचरण करते रहना चाहिए।

५०२ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु या साध्वी को मार्ग में सामने से आते हुए पथिक मिलें और वे साधु से यों पूछे—"आयुष्मान् श्रमण! यह गाँव कितना बड़ा या कैसा है? यावत् यह राजधानी कैसी है? यहाँ पर कितने घोड़े, हाथी तथा भिखारी है, कितने मनुष्य निवास करते हैं? क्या इस गाँव यावत् राजधानी में प्रचुर आहार, पानी, मनुष्य एवं धान्य हैं, अथवा थोड़े ही आहार, पानी मनुष्य एव धान्य हैं? इस प्रकार के प्रश्न पूछे जाने पर

४९९. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु या साध्वी के मार्ग में यदि टेकरे (उन्नत भू भाग) हों, खाइयाँ, या नगर के चारों ओर नहरें हों, किले हों, या नगर के मुख्य द्वार हों, अर्गलाएँ (आगल) हों, आगल दिये जानेवाले स्थान (अर्गलापाशक) हों, गड्ढे हो, गुफाएँ हो या भूगर्भ-मार्ग हों तो अन्य मार्ग के होने पर उसी अन्य मार्ग से यतनापूर्वक गमन करे, लेकिन ऐसे सीधे- किन्तु विषम मार्ग से गमन न करे। केवली भगवान् कहते हैं है—यह मार्ग (निरापद न होने से) कर्म-बन्ध का कारण है।

ऐसे विषममार्ग से जाने से साधु-साध्वी का पैर आदि फिसल सकता है वह गिर सकता है। [पैर आदि के फिसलने या गिर पड़ने में] शरीर के किसी अंग-उपांग को चोट लग सकती है, वहा जो भी त्रसजीव हों तो, उनकी भी विराधना हो सकती है, कदाचित् सचित्त वृक्ष आदि का अवलम्बन ले तो भी अनुचित है।]

[यदि स्थविरकल्पी साधु को कारणवश उसी मार्ग से जाना पड़े और कदाचित् उसका पैर आदि फिसलने लगे या वह गिरने लगे तो] वहाँ जो भी वृक्ष, गुच्छ (पत्तों का समूह या फलों का गुच्छा), झाड़ियाँ, लताएं (यष्टि के आकार की बेलें), बेलें, तृण अथवा गहन (वृक्षों के कोटर या वृक्षलताओं का झुंड) आदि हो, उनका हरितकाय को सहारा ले ले कर चले या उतरे अथवा वहाँ (सामने से) जो पथिक आ रहे हों, उनका हाथ (हाथ का सहारा) मागे (याचना करे) उनके हाथ का सहारा मिलने पर उसे पकड़ कर यतनापूर्वक चले या उतरे। इस प्रकार साधु या साध्वी को सयमपूर्वक ही ग्रामानुग्राम विहार करना चाहिए।

५०० साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार कर रहे हों, मार्ग में यदि जौ, गेहूं आदि धान्यों के ढेर हों, बेलगाडियाँ या रथ पड़े हों, स्वदेश-शासक या परदेश-शासक की सेना के नाना प्रकार के पड़ाव (छावनी के रूप में) पड़े हों, तो उन्हें देखकर यदि कोई दूसरा (निरापद) मार्ग हो तो उसी मार्ग से यतनापूर्वक जाए, किन्तु उस सीधे, (किन्तु दोषापत्तियुक्त) मार्ग मे न जाए।

५०१. [यदि साधु सेना के पड़ाव वाले मार्ग से जाएगा, तो सम्भव है,] उसे देखकर कोई सैनिक किसी दूसरे सैनिक से कहे—"आयुष्मान्! यह श्रमण हमारी सेना का गुप्त भेद ले रहा है, अतः इस की बाहें पकड़ कर खींचो। अथवा उसे घसीटो।" इस पर वह सैनिक साधु को बाहें पकड़ कर खींचने या घसीटने लगे, उस समय साधु को अपने मन में न हर्षित होना चाहिए, न रुष्ट; बल्कि उसे समभाव एवं समाधिपूर्वक सह लेना चाहिए। इस प्रकार उसे यतनापूर्वक एक ग्राम से दूसरे ग्राम विचरण करते रहना चाहिए।

५०२. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु या साध्वी को मार्ग में सामने से आते हुए पथिक मिलें और वे साधु से यों पूछें—"आयुष्मान् श्रमण! यह गाँव कितना बड़ा या कैसा है? यावत् यह राजधानी कैसी है? यहाँ पर कितने घोड़े, हाथी तथा भिखारी है, कितने मनुष्य निवास करते हैं? क्या इस गाँव यावत् राजधानी में प्रचुर आहार, पानी, मनुष्य एवं धान्य हैं, अथवा थोड़े ही आहार, पानी मनुष्य एवं धान्य हैं? इस प्रकार के प्रश्न पूछे जाने पर

घसीटो, जवसाणि—जौ, गेहूं आदि धान्य। संनिविट्ठं=पड़ाव डालकर पड़ा हुआ। गामपिंडोलगा—ग्राम में भीख मांग कर जीविका चलाने वाले; पसिणाणि=प्रश्न, आसा=अश्व।[1]

५०३. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं [समिते सहिते सदा जएज्जासि त्ति बेमि]।

५०३. यही (संयम पूर्वक विहारचर्या) उस भिक्षु या भिक्षुणी की साधुता की सर्वांगपूर्णता है; जिसके लिए सभी ज्ञानादि आचाररूप अर्थों से समित और ज्ञानादि सहित होकर साधु सदा प्रयत्नशील रहे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

मार्ग में वप्र आदि अवलोकन-निषेध

५०४. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि[2] वा फलिहाणि वा पागाराणि वा[3] जाव दरीओ वा कूडागाराणि वा पासादाणि वा णूमगिहाणि वा रुक्खगिहाणि वा पव्वतगिहाणि वा रुक्खं वा चेतियकडं थूभं वा चेतियकडं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा णो बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलियाए उद्दिसिय २ ओणमिय २ उण्णमिय २ णिज्झाएज्जा। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५०५. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे, अंतरा से कच्छाणि[4] वा दवियाणि

---

१. (क) पाइअ सद्दमहण्णवो (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८१

२. अंतरा से वप्पाणि वा ....' आदि कुछ पदों का विशेष अर्थ चूर्णिकार के शब्दों में—'वप्पाणि ते चेव, कूडागारं—रहसट्ठितं, पासाता=सोलसविहा, णूमगिहा=भूमिगिहा, भूमीघरा, रुक्खगिह=जालीसछन्नं, पव्वयगिहा=दरीलेणं वा, रुक्ख वा चेइयकडं—वाणमंतरठवियगं पेढं वा चिते, एवं थूभं वि। ....' —अर्थात् वप्र=का अर्थ पूर्ववत् समझें। कूडागारं=एकान्त रहस्य संस्थान, पासाता=सोलह प्रकार के प्रासाद, णूमगिहा=भूमिगृह, रुक्खगिह=जाली से ढका हुआ वृक्षगृह, पव्वयगिह=गुफा या पर्वतालय, रुक्खं वा चेइयकडं=चैत्यकृत वृक्ष, जिसमें कि वाणव्यन्तर देव की स्थापना की होती है। इसी प्रकार चैत्यकृत स्तूप भी समझ लेना चाहिए।

३. यहाँ जाव शब्द में पागाराणि वा से लेकर दरीओ वा तक का पाठ है।

४. 'कच्छाणि वा' आदि पदों का चूर्णिकारकृत अर्थ—'कच्छाणि वा=जहा णदीकच्छा, दवियं=सुवण्णारावणो वीयं वा, वलयं=णदिकोप्परो, णूम=भूमिघर, गहणं=गंभीरं, जत्थ चक्कमंतस्स कंटगा

वा णूमाणि वा वलयाणि वा गहणाणि वा गहणविदुग्गाणि वा वणाणि वा वणविदुग्गाणि वा पव्वताणि वा पव्वतविदुग्गाणि वा अगडाणि वा तलागाणि वा दहाणि वा णदीओ वा वावीओ वा पोक्खरणीओ वा दीहियाओ वा गुंजालियाओ वा सराणि वा सरपंतियाणि वा ; सरसरपंतियाणि वा णो बाहाओ पगिज्झिय २ जाव णिज्झाएज्जा । केवली बूया—आयाणमेयं ।

जे तत्थ मिगा वा पसुया[1] वा पक्खी वा सरीसिवा वा सीहा वा जलचरा वा थलचरा वा खहचरा[2] वा सत्ता ते उत्तसेज्ज[3] वा, वित्तसेज्ज वा, वाडं वा सरणं वा कंखेज्जा, चारे ति मे अयं समणे ।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं णो बाहाओ पगिज्झिय २ जाव[4] णिज्झाएज्जा । ततो संजयामेव आयरिय-उवज्झाएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ।

५०४ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भिक्षु या भिक्षुणी मार्ग में आने वाले उन्नत भू-

---

गाहानो य सगानि, वण = एगरुक्खजातीय वा, वणदुग्गं = नाणाजातीहिं रुक्खेहिं, पव्वतो = एग पव्वतो पव्वयाणि वा (मागधभासाए णपुंसगवतणयं) पुव्वयदुग्गाइं = बहू पव्वता, अगड-तलाग-दहा अणेगसंठाण णदी = पउरपाणिया, वावी = वट्टा मत्तलगमूसा व, पुक्खरिणी = चउरंसा, सरपंतिया = पंतिया [illegible] सरसरपंतिया-पाणियस्स दुसम्मि भरिते इमा वि भरिज्जति, परिवाडीए पाणियं गच्छति ।'—अर्थात् कच्छाणि = जैसे नदी के नीचे भाग कच्छ होते हैं, दविय = स्वर्ण के चक्रों से युक्त गृह, वलय = नदी से वेष्टित नगर, णूम = भूमिगृह, गहण = गभीर-गह्वर जिसमें चक्रवर्ती की सेना ऊपर तक छुपा जाए। वन = जिसमें एक जाति के वृक्ष हों, वणदुग्ग = वह, जिसमें नाना जाति के वृक्ष हों, पव्वयाणि वा = पर्वत शब्द का बहुवचन (मागधी भाषा में नपुंसक लिंग हो जाता है) पव्वयदुग्गाइं = बहुत से पर्वतों के कारण दुर्गम, अगड-तलाग-दहा = कूआ, तालाब झील—ये विभिन्न आकार वाले जलाशय हैं। नदी—जिसमें प्रचुर पानी हो, वावी = गोलाकार वापी अथवा सकोरे का आकार जिसके मूल में हो, पुष्करिणी = चौकोन बावड़ी, सरपंतिया = पंक्तिबद्ध सरोवर, सरसरपंतिया = एक के बाद एक, अनेक सरोवरों की पंक्तियां, एक के भर जाने पर दूसरा भी भर जाता है, अनुक्रम से पानी एक से दूसरे में जाता है।

१ 'पसुया वा' के स्थान पर पाठान्तर है—'पसू वा', 'पसूयाणि वा'। अर्थ एक-सा है।

२ 'खहचरा' के स्थान पर पाठान्तर है—'खचरा' अर्थ समान है।

३. उत्तसेज्ज वा वित्तसेज्ज वा आदि पदों का भावार्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार दिया है—'उत्तसेज्ज ईषत्, वित्तसण अणेगप्पकार, वाडं सरणं ति, सरणं मातापितिमूलं गच्छति जं वा जस्स सरणं [illegible] [illegible] [illegible] दिसा व सरणं, पक्खीण आगासं मिरिगवाण बिलं । अंतराइयं [illegible] [illegible]'—अर्थात्—उत्तसण = थोड़ा त्रास, वित्तसण = अनेक प्रकार का त्रास, वाड = [illegible] देते हैं। सरण = माता-पिता का मूल शरण होता है, अथवा जिसमें जिसका जन्म होता है [illegible] उसका शरण होता है। उसी की शरण में वह जाता है। जैसे—हरिणों का शरण [illegible] [illegible] है, पक्षियों का आकाश है सांपों का शरण बिल है। अंतराइयं = जो [illegible] के कारण होता है।

४. यहाँ जाव शब्द सू० ३०४ के अनुसार 'पगिज्झिय' से लेकर 'णिज्झाएज्जा' तक के पाठ का सूचक है।

भाग या टेकरे, खाइयां, नगर को चारों ओर से वेष्टित करनेवाली नहरें, किले, नगर के मुख्य द्वार, अर्गला, अर्गलापाशक, गड्ढे, गुफाएँ या भूगर्भ मार्ग, तथा कूटागार (पर्वत पर बने घर), प्रासाद, भूमिगृह, वृक्षों को काटछांट कर बनाए हुए गृह, पर्वतीय गुफा, वृक्ष के नीचे बना हुआ व्यन्तरादि चैत्यस्थल, चैत्यमय स्तूप, लोहकार आदि की शाला, आयतन, देवालय, सभा, प्याऊ, दूकान, गोदाम, यानगृह, यानशाला, चूने का, दर्भकर्म का, घास की चटाइयों आदि का, चर्मकर्म का, कोयले बनाने का और काष्ठकर्म का कारखाना, तथा श्मशान, पर्वत, गुफा आदि में बने हुए गृह, शान्तिकर्म गृह, पाषाणमण्डप एवं भवनगृह आदि को बाँहें बार-बार ऊपर उठाकर, अंगुलियों से निर्देश करके, शरीर को ऊंचा-नीचा करके ताक-ताक कर न देखे, किन्तु यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करने में प्रवृत्त रहे।

५०५. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु-साध्वियों के मार्ग में यदि कच्छ (नदी के निकटवर्ती नीचे प्रदेश), घास के संग्रहार्थ राजकीय त्यक्त भूमि, भूमिगृह, नदी आदि से वेष्टित भूभाग, गम्भीर, निर्जल प्रदेश का अरण्य, गहन दुर्गम वन, गहन दुर्गम पर्वत, पर्वत पर भी दुर्गम स्थान, कूप, तालाब, द्रह (झीलें) नदियाँ, बावडियाँ, पुष्करिणियां, दीर्घिकाएं (लम्बी बावडियाँ) गहरे और टेढ़े-मेढ़े जलाशय, बिना खोदे तालाब, सरोवर, सरोवर की पंक्तियां और बहुत से मिले हुए तालाब हों तो अपनी भुजाएं ऊंची उठाकर, अंगुलियों से संकेत करके तथा शरीर को ऊंचा-नीचा करके ताक-ताक कर न देखे। केवली भगवान कहते हैं—यह कर्मबन्ध का कारण है; (क्योंकि) ऐसा करने से जो इन स्थानों में मृग, पशु, पक्षी, साँप, सिंह, जलचर, स्थलचर, खेचर, जीव रहते हैं, वे साधु की इन असंयम मूलक चेष्टाओं को देखकर त्रास पायेंगे, वित्रस्त होंगे, किसी वाड़ की शरण चाहेंगे, वहाँ रहने वालों को साधु के विषय में शंका होगी। यह साधु हमें हटा रहा है, इस प्रकार का विचार करेंगे।

इसीलिए तीर्थंकरादि आप्तपुरुषों ने भिक्षुओं के लिए पहले से ही ऐसी प्रतिज्ञा, हेतु, कारण और उपदेश का निर्देश किया है कि बाँहे ऊंची उठा कर या अंगुलियों से निर्देश करके या शरीर को ऊंचा-नीचा करके साधु ताक-ताककर न देखे। अपितु यतनापूर्वक आचार्य और उपाध्याय के साथ ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ संयम का पालन करे।

विवेचन—विहारचर्या और संयम—इन दो सूत्रों में साधु की विहारचर्या में संयम के विषय में निर्देश किया गया है। साधु-जीवन में प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे प्रेक्षा-संयम, इन्द्रिय-संयम एवं अंगोपांग संयम की बात को बराबर दुहराया गया है। प्रस्तुत सूत्रद्वय में भी साधु को विहार करते समय अपनी आँखों पर, अपनी अंगुलियों पर, अपने हाथ-पैरों पर एवं अपने सारे शरीर पर नियंत्रण रखने की प्रेरणा दी है, साधु का ध्यान केवल अपने विहार या मार्ग की ओर हो। साधु के द्वारा उसके असंयम से होने वाली हानियों की सम्भावना प्रगट करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—इस प्रकार के असंयम से साधु के सम्बन्ध में वहाँ के निवासी लोगों को शंका-कुशंका पैदा हो सकती है, कि यह चोर है, गुप्तचर है। यह साधु वेश में अजितेन्द्रिय है।

इसके अतिरिक्त मूलपाठ में भी यह बताया गया है कि वहाँ रहने वाले पशु पक्षी डरेंगे, एक या अनेक प्रकार से त्रस्त होकर इधर-उधर भागेंगे शरण ढूँढेंगे। भागते हुए पशु पक्षियों को कोई पकड़ कर मार भी सकता है।

चूर्णिकार कहते है 'चक्षु-लोलुपता के कारण साधु के ईर्यापथ-संयम में विघ्न पड़ेगा। वहाँ चरते हुए पशु-पक्षियो के चरने में भी अन्तराय पड़ेगा।

निशीथचूर्णि में भी बताया गया है दो प्रकार के शरीसृप और तीन प्रकार के जलचर स्थलचर, खेचर जीव अपने-अपने योग्य शरण ढूँढेंगे, जैसे जलचर जल में, स्थलचर बिल पर्वत आदि में, साधु उन्हें अपनी भुजा, अंगुली आदि से डरा देता है जिससे वे अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र भागते है, उनके चारा दाना आदि में अन्तराय पड़ती है।'[1]

कूडागाराणि आदि पदों के अर्थ—कूडागाराणि=रहस्यमय गुप्तस्थान, अथवा पर्वत के कूट (शिखर) पर बने हुए गृह, दवियाणि=अटवी में घास के संग्रह के लिए बने हुए मकान, णूमाणि=भूमिगृह, वलयाणि=नदी आदि से वेष्टित भूभाग, गहणाणि=निर्जल प्रदेश, रण गहणविदुग्गाणि=रन में सेना के छिपने के स्थान के कारण दुर्गम, वणविदुग्गाणि=नाना जाति के वृक्षों के कारण दुर्गम स्थल, पव्वयदुग्गाणि=अनेक पर्वतों के कारण दुर्गम प्रदेश, सरसरपंतियाओ=एक के बाद एक, यों अनेक सरोवरों की पंक्तियां। गुंजालियाओ=लम्बी गम्भीर टेढ़ीमेढ़ी जल की वापिकाएं।

णिज्झाएज्जा=बार-बार या लगातार ताक-ताककर देखे। उत्तसेज्ज वित्तसेज्ज=थोड़ा त्रास दे, अनेक बार त्रास दे।[2]

आचार्यादि के साथ विहार में विनयविधि

५०६. से[3] भिक्खू वा २ आयरिय-उवज्झाएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो आ

---

१. (क) आचा० टीका पत्र ३८२

(ख) निशीथ चूर्णि मे एक गाथा इस सम्बन्ध मे मिलती है—

दुविधा तिविधा य तसा भीता वाडसरणाणि कंखेज्जा।
णोलेज्ज व तं वऽण्णं, अन्तराए य जं सऽण्णं ॥४१२३॥
—निशीथ चूर्णि उ० १२ पृ० ३

—त्रस दो या तीन प्रकार के होते हैं। वे भयभीत होकर वाड या शरण चाहेंगे। उन्हे अन्य दिशा मे प्रेरित न करे। ऐसा करके साधु चरते हुए पशु-पक्षियो के चारा-दाना में अन्तराय डालता है। इसके अतिरिक्त वे भागते हुए जो कुछ करते हैं, इसका कोई ठिकाना नहीं है।

२. आचा० टीका पत्र ३८२

३. चूर्णि मे इस सूत्र का भावार्थ यो दिया है—'से भिक्खू वा २ आयरिय-उवज्झाएहिं समगं पच्छा हत्थादि संघट्टेति।' अर्थात्—साधु आचार्य-उपाध्यायों के साथ विहार करते हुए उनके हाथ आदि स्पर्श न करे।

रिय-उवज्झायस्स हत्थेण हत्थं[1] जाव अणासायमाणे तओ संजयामेव आयरिय-उवज्झाएहिं सद्धिं[2] जाव दूइज्जेज्जा ।

५०७. से भिक्खू वा २ आयरिय-उवज्झाएहिं सद्धिं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिपहिया उवागच्छेज्जा, ते णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! के तुब्भे, कओ वा एह, कहिं वा गच्छिहिह ?

जे तत्थ आयरिए वा उवज्झाए वा से भासेज्ज वा वियागरेज्ज वा आयरिय-उवज्झायस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा णो अंतरा भासं करेज्जा, तओ संजयामेव आहाराइणियाए[3] दूइज्जेज्जा ।

५०८. से भिक्खू वा २ आहाराइणियं गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो राइणियस्स हत्थेण हत्थं जाव अणासायमाणे तओ संजयामेव आहाराइणियं गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ।

५०९. से भिक्खू वा २ आहाराइणियं [गामाणुगामं] दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिपहिया उवागच्छेज्जा, ते णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! के तुब्भे ?

जे तत्थ सव्वराइणिए से भासेज्ज वा वियागरेज्ज वा, राइणियस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा णो अंतरा भासं भासेज्जा । तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ।

५०६. आचार्य और उपाध्याय के साथ ग्रामानुग्राम विहार करने वाले साधु अपने हाथ से उनके हाथ का, पैर से उनके पैर का तथा अपने शरीर से उनके शरीर का (अविनय अविवेकपूर्ण रीति से) स्पर्श न करे । उनकी आशातना न करता हुआ साधु ईर्यासमिति पूर्वक उनके साथ ग्रामानुग्राम विहार करे ।

५०७. आचार्य और उपाध्याय के साथ ग्रामानुग्राम विहार करनेवाले साधु को मार्ग में यदि सामने से आते हुए कुछ यात्री मिलें, और वे पूछें कि—"आयुष्मन् श्रमण ! आप कौन हैं ? कहाँ से आए हैं ? कहाँ जाएँगे ?"

(इस प्रश्न पर) जो आचार्य या उपाध्याय साथ में हैं, वे उन्हें सामान्य या विशेष रूप से उत्तर देंगे । आचार्य या उपाध्याय सामान्य या विशेष रूप से उनके प्रश्नों का उत्तर दे रहे हों, तब वह साधु बीच में न बोले । किन्तु मौन रह कर ईर्यासमिति का ध्यान रखता हुआ रत्नाधिक क्रम से उनके साथ ग्रामानुग्राम विचरण करे ।

५०८. रत्नाधिक (अपने से दीक्षा में बड़े) साधु के साथ ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ मुनि अपने हाथ से रत्नाधिक साधु के हाथ को, अपने पैर से उनके पैर को तथा अपने

---

१. यहाँ जाव शब्द 'हत्थं' से लेकर 'अणासायमाणे' तक के पाठ का सूचक है सूत्र ४८७ के अनुसार ।
२. यहाँ जाव शब्द से 'सद्धिं' से लेकर दूइज्जेज्जा तक का पाठ सू० ५०५ के अनुसार समझें ।
३. आहाराइणियाए के स्थान पर पाठान्तर है—आहारायणिए, अहारायणिए, अहारायइणियाए, आधा-राईणियाए आदि ।

शरीर से उनके शरीर का (अविधिपूर्वक) स्पर्श न करे। उनकी आशातना न करता हुआ साधु ईर्यासमिति पूर्वक उनके साथ ग्रामानुग्राम विहार करे।

५०९. रत्नाधिक साधुओं के साथ ग्रामानुग्राम विहार करने वाले साधु को मार्ग में यदि सामने से आते हुए कुछ प्रातिपथिक (यात्री) मिलें और वे यों पूछें कि "आयुष्मन् श्रमण ! आप कौन हैं ? कहाँ से आए हैं ? और कहाँ जाएँगे ?"

(ऐसा पूछने पर) जो उन साधुओं में सबसे रत्नाधिक (दीक्षा में बड़ा) है, वे उनको सामान्य या विशेष रूप से उत्तर देंगे। जब रत्नाधिक सामान्य या विशेष रूप से उन्हें उत्तर दे रहे हों, तब वह साधु बीच में न बोले। किन्तु मौन रहकर ईर्यासमिति का ध्यान रखता हुआ उनके साथ ग्रामानुग्राम विहार करे।

विवेचन—दीक्षा-ज्येष्ठ साधुओं के साथ विहार करने में संयम—साधु-जीवन विनय-मूल धर्म से ओतप्रोत होना चाहिए। इसलिए आचार्य, उपाध्याय या रत्नाधिक साधु के साथ विहार करते समय उनकी किसी भी प्रकार से अविनय-आशातना, अभक्ति, आदि न हो, व्यवहार में उनका सम्मान व आदर रहे इसका ध्यान रखना आवश्यक है। यही बात इन चार सूत्रों में स्पष्ट व्यक्त की गई है।[1]

हिंसा-जनक प्रश्नों में मौन एवं भाषा विवेक

५१०. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिपहिया आगच्छेज्जा, ते णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! अवियाइं एत्तो पडिपहे[2] पासह मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा पसुं वा पक्खिं वा सरीसवं वा जलचरं वा, से त्तं मे आइक्खह, दंसेह। णो आइक्खेज्जा, णो दंसेज्जा, णो तस्स तं परिजाणेज्जा,[3] तुसिणीए उवेहेज्जा, जाणं वा णो जाणं ति वदेज्जा। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५११. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं [दूइज्जमाणे] अंतरा से पाडिपहिया उवागच्छेज्जा, ते णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा-आउसंतो समणा ! अवियाइं एत्तो पडिपहे पासह उवगपसूतार्णि[4]

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८३।

२. 'पडिपहे पासह…' आदि पंक्ति का सारांश चूर्णिकार ने यों दिया है—पडिपहे गोणमादी आइक्खह (प्र)=दूरगत, दसेह=अब्भासत्थ।'—प्रतिपथ में—मार्ग में वृषभ आदि देखा है ? आइक्खह (प्र)=दूर वस्तु के विषय में और दसेह=निकटस्थ वस्तु के विषय में प्रयुक्त हुआ है। दोनों का अर्थ है—लाओ, कहो-दिखाओ।

३. 'परिजाणेज्जा' के स्थान पर 'परिजाणेज्ज' पाठ मानकर चूर्णिकार अर्थ करते हैं—परिजाणेज्ज 'कहिज्ज'। परिजाणेज्ज का अर्थ है—कहे।

४. 'उगदगपसूयाणि' पाठान्तर मानकर चूर्णिकार प्रश्नकर्त्ता का आशय बताते हैं—'पुच्छति छुहितो कंदादि निमित्तं उदग पिविउकामो दधेउकामो, सीयाइतो वा अग्गी।' अर्थात् भूखा कंद आदि के लिए पूछता है, जो पानी पीना चाहता है, वह प्यासा पानी के विषय में पूछता है, जो भोजन पकाना चाहता है, वह आग के विषय में पूछता है।

कंदाणि वा मूलाणि वा तयाणि[1] वा पत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा बीयाणि वा हरिताणि वा उदयं वा संणिहियं अगणिं वा संणिक्खित्तं, से आइक्खह[2] जाव दूइज्जेज्जा।

५१२. से भिक्खू वा गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से पाडिपहिया उवागच्छेज्जा, ते णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा! अवियाइं एत्तो पडिपहे पासह जवसाणि वा[3] जाव सेणं वा विरूवरूवं संणिविट्ठं, से आइक्खह जाव दूइज्जेज्जा।

५१३. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिपहिया जाव आउसंतो समणा! केवतिए एत्तो गामे वा जाव रायहाणिं (णी) वा ?—से आइक्खह जाव दूइज्जेज्जा।

५१४. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से पाडिपहिया जाव आउसंतो समणा! केवइए एत्तो गामस्स वा नगरस्स वा जाव रायहाणीए वा मग्गे? से आइक्खह तहेव जाव दूइज्जेज्जा।

५१०. संयमशील साधु या साध्वी को ग्रामानुग्राम विहार करते हुए रास्ते में सामने से कुछ पथिक निकट आ जाएं और वे यों पूछें—आयुष्मन् श्रमण! क्या आपने इस मार्ग मे किसी मनुष्य को, मृग को, भैंसे को, पशु या पक्षी को, सर्प को या किसी जलचर जन्तु को जाते हुए देखा है? यदि देखा हो तो हमें बतलाओ कि वे किस ओर गए हैं, हमें दिखाओ।" ऐसा कहने पर साधु न तो उन्हें कुछ बतलाए, न मार्गदर्शन करे, न ही उनकी बात को स्वीकार करे, बल्कि कोई उत्तर न देकर उदासीनतापूर्वक मौन रहे। अथवा जानता हुआ भी (उपेक्षा भाव से) मैं नहीं जानता ऐसा कहे।[4] फिर यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करे।

५११. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु को मार्ग में सामने से कुछ पथिक निकट आ जाएं और वे साधु से यो पूछें—आयुष्मन् श्रमण! क्या आपने इस मार्ग में जल में पैदा होने वाले कन्द, या मूल, अथवा छाल, पत्ते, फूल, फल, बीज, हरित अथवा संग्रह किया हुआ पेय जल या निकटवर्ती जल का स्थान, अथवा एक जगह रखी हुई अग्नि देखी है? अगर देखी हो तो हमें बताओ, दिखाओ, कहाँ है?" ऐसा कहने पर साधु न तो उन्हें कुछ बताए, (न दिखाए, और न ही वह उनकी बात स्वीकार करे, अपितु मौन रहे। अथवा जानता हुआ भी (उपेक्षा भाव से) नहीं जानता, ऐसा कहे।) तत्पश्चात् यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करे।

५१२. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु-साध्वी को मार्ग में सामने से आते हुए

---

१ तया, पत्ता, पुप्फा, फला, बीया, हरिया—ये पाठान्तर भी हैं।

२. 'जाव' शब्द से यहाँ 'आइक्खह' से लेकर 'दूइज्जेज्जा' तक का सारा पाठ। सूत्र ५१० के अनुसार समझें।

३. जाव शब्द से यहाँ जवसाणि वा से लेकर सेणं वा तक का सारा पाठ सूत्र ५०० के अनुसार समझें।

४. वैकल्पिक अर्थ—जानता हुआ भी 'जानता हूँ' ऐसा न कहे।

शरीर से उनके शरीर का (अविधिपूर्वक) स्पर्श न करे। उनकी आशातना न करता हुआ साधु ईर्यासमिति पूर्वक उनके साथ ग्रामानुग्राम विहार करे।

५०९. रत्नाधिक साधुओं के साथ ग्रामानुग्राम विहार करने वाले साधु को मार्ग में यदि सामने से आते हुए कुछ प्रातिपथिक (यात्री) मिलें और वे यों पूछें कि "आयुष्मन श्रमण! आप कौन हैं? कहाँ से आए हैं? और कहाँ जाएँगे?"

(ऐसा पूछने पर) जो उन साधुओं में सबसे रत्नाधिक (दीक्षा में बड़ा) है, वे उनको सामान्य या विशेष रूप से उत्तर देंगे। जब रत्नाधिक सामान्य या विशेष रूप से उन्हें उत्तर दे रहे हों, तब वह साधु बीच में न बोले। किन्तु मौन रहकर ईर्यासमिति का ध्यान रखता हुआ उनके साथ ग्रामानुग्राम विहार करे।

विवेचन—दीक्षा-ज्येष्ठ साधुओं के साथ विहार करने में सयम—साधु-जीवन विनय-मूल धर्म से ओतप्रोत होना चाहिए। इसलिए आचार्य, उपाध्याय या रत्नाधिक साधु के साथ विहार करते समय उनकी किसी भी प्रकार से अविनय-आशातना, अभक्ति, आदि न हो व्यवहार में उनका सम्मान व आदर रहे इसका ध्यान रखना आवश्यक है। यही बात इन चार सूत्रों में स्पष्ट व्यक्त की गई है।[1]

हिंसा-जनक प्रश्नों में मौन एवं भाषा-विवेक

५१०. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिपहिया आगच्छेज्जा, ते णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा! अवियाइं एत्तो पडिपहे[2] पासह मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा पसुं वा पक्खि वा सरीसवं वा जलचरं वा, से तं मे आइक्खह, दंसेह। तं णो आइक्खेज्जा, णो दंसेज्जा, णो तस्स तं परिजाणेज्जा,[3] तुसिणीए उवेहेज्जा, जाणं वा णो जाणं ति वदेज्जा। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५११. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं [दूइज्जमाणे] अंतरा से पाडिपहिया उवागच्छेज्जा, ते णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा-आउसंतो समणा! अवियाइं एत्तो पडिपहे पासह उदगपसूताणि[4]

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८३।

२. 'पडिपहे पासह...' आदि पंक्ति का सारांश चूर्णिकार ने यों दिया है—पडिपहे गोणमादी आइक्खह=दूरगत, दंसेह=अब्भासत्थ।'—प्रतिपथ में—मार्ग में वृषभ आदि देखा है? आइक्खह (ध)=दूरस्थ वस्तु के विषय में और दंसेह=निकटस्थ वस्तु के विषय में प्रयुक्त हुआ है। दोनों का अर्थ है—बताओ, कहो-दिखाओ।

३. 'परिजाणेज्जा' के स्थान पर 'परिजाणेज्ज' पाठ मानकर चूर्णिकार अर्थ करते हैं—परिजाणेज्ज='कहिज्ज'। परिजाणेज्ज का अर्थ है—कहे।

४. 'उदगपसूयाणि' पाठान्तर मानकर चूर्णिकार प्रश्नकर्त्ता का आशय बताते हैं—'पुच्छति छुहाए निमित्तं उदग पिविउकामो रधेउकामो, सीयाइतो वा अग्गी।' अर्थात् भूखा कंद आदि के विषय में पूछता है, जो पानी पीना चाहता है, वह प्यासा पानी के विषय में पूछता है, जो भोजन ... चाहता है, वह आग के विषय में पूछता है।

जाणं वा णो जाणं ति वएज्जा—"जानता हुआ भी मैं नही जानता।" इस प्रकार (उपेक्षा-भाव) से कहे। साधु को सत्यमहाव्रत भी रखना है और अहिंसा-महाव्रत भी, परन्तु अहिंसा से विरहित सत्य, सत्य नहीं होता, किन्तु अहिंसा से युक्त सत्य ही सद्भ्योहितं सत्यम्—प्राणि-मात्र के लिए हितकर सत्य वास्तविक सत्य कहलाता है। इसलिए साधु जानता हुआ भी उन विशिष्ट पशुओ का नाम लेकर न कहे, बल्कि सामान्य रूप से और उपेक्षाभाव से कहे कि "मैं नहीं जानता।" वास्तव में साधु सब प्राणियों के विषय में जानता भी नही, इसलिए सामान्य रूप से "मैं नहीं जानता।" कहने में उसका सत्य भी भंग नहीं होता और अहिंसाव्रत भी सुरक्षित रहेगा।[1]

'जाणं वा णो०'—इसका एक वैकल्पिक अर्थ यह भी है कि जानता हुआ भी यह न कहे कि "मैं जानता हूं।" 'जानता हुआ भी ऐसा कहे कि मैं नही जानता' यह अपवाद मार्ग है, 'जानता हुआ भी मैं, जानता हूं ऐसा न कहे' यह उत्सर्ग मार्ग है। अथवा अन्य प्रकार से कोई ऐसा उत्तर दे कि—प्रश्नकर्ता क्रुद्ध भी न हो एवं मुनि का सत्य एवं अहिंसा महाव्रत भी खण्डित न हो।

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार ऐसा उत्तर दिया जाता है—"जो (मन) जानता है, वह देखता नही, जो (चक्षु) देखता है, वह बोलता नहीं, जो (जिह्वा) बोलता है, वह न जानता है, न देखता है। फिर क्या कहा जाय?" ऐसे उत्तर से सम्भव है प्रश्नकर्ता उकताकर, मुनि को विक्षिप्त आदि समझकर आगे चला जाय, और यह समस्या हल हो जाय।

सू० ५१२, ५१३ एवं ५१४ की बातें पहले सूत्र ५०० एवं ५०२ में आ चुकी हैं, उन्हीं बातों को पुन ईर्या और भाषा के सन्दर्भ में यहाँ दोहराया गया है। साधु को यहाँ मौन रहने से काम न चलता हो तो जानने पर भी नही जानने का कथन करने का निर्देश किया है। उसका कारण भी पहले बताया जा चुका है।[2]

५१५. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से गोणं वियालं पडिपहे पेहाए जाव[3] चित्ताचेल्लडयं[4] वियालं पडिपहे पेहाए णो तेसिं भीतो उम्मग्गेणं गच्छेज्जा, णो मग्गातो मग्गं संकमेज्जा, णो गहणं वा वणं वा दुग्गं वा अणुपविसेज्जा, णो रुक्खंसि दुरुहेज्जा, णो

---

1. (अ) टीका पत्र ३८३ के आधार पर
(आ) आचारांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० १८५-१८६।
2. आचारांग चूर्णि मूलपाठ एवं वृत्ति पत्रांक ३८३ के आधार पर
3. यहाँ जाव शब्द से 'गोणं वियालं पडिपहे पेहाए' से लेकर 'चित्ताचेल्लडयं' तक का समग्र पाठ सूत्र ३५४ के अनुसार समझें।
4. 'चित्ताचेल्लडयं' के स्थान पर पाठान्तर हैं—"चित्ताचिल्लडय चित्ताचिल्लड, आदि। वृत्तिकार इसका अर्थ करते हैं—'चित्रक तदपत्यं वा व्याघ्र क्रूरं—दृष्ट्वा"—चीता या उसका बच्चा जो क्रूर (व्याल) है, उसे देखकर।

महतिमहालयंसि उदयंसि कायं विओसेज्जा, णो वाडं वा सरणं वा सेणं वा सत्यं वा कंखेज्जा, अप्पुस्सुए[1] जाव समाहीए, ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५१६. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से विहं सिया, से ज्जं पुण विहं जाणेज्जा, इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा उवकरणपडियाए संपडिया (ऽ) गच्छेज्जा, णो तेसिं भीओ उम्मग्गं चेव गच्छेज्जा[2] जाव समाहीए। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५१७. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से आमोसगा संपडिया(ऽ) गच्छेज्जा, ते णं आमोसगा एवं वदेज्जा-आउसंतो समणा! आहर एयं वत्थं वा[3] ४, देहि, णिक्खिवाहि, तं णो देज्जा, णिक्खिवेज्जा, णो वंदिय जाएज्जा, णो अंजलिं कट्टु जाएज्जा, णो कलुणपडियाए जाएज्जा, धम्मियाए जायणाए[4] जाएज्जा, तुसिणीयभावेण वा (उवेहेज्जा)।

५१८. ते णं आमोसगा सयं करणिज्जं[5] ति कट्टु अक्कोसंति वा जाव उद्दवेंति वा, वत्थं वा ४ अच्छिंदेज्ज वा[6] जाव परिट्ठवेज्ज वा, तं णो गामसंसारियं कुज्जा, णो रायसंसारियं कुज्जा, णो परं उवसंकमित्तु बूया—आउसंतो गाहावती! एते खलु आमोसगा उवकरणपडियाए सयं करणिज्जं ति कट्टु अक्कोसंति वा जाव[7] परिट्ठवेंति वा। एतप्पगारं मणं वा वइं वा णो पुरतो कट्टु विहरेज्जा। अप्पुस्सुए जाव समाहीए ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५१९. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिते सहिते सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

---

१. यहाँ 'जाव' से 'अप्पुस्सुए' से 'समाहीए' तक का समग्र पाठ ४८२ सूत्रवत् समझें।
२. जाव शब्द से यहाँ 'गच्छेज्जा' से लेकर 'समाहीए' तक का समग्र पाठ सू० ५१५ के अनुसार समझें।
३. 'वत्थं वा' के आगे '४' का चिन्ह सूत्र ४७१ के अनुसार शेष तीन उपकरणों (पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा) का सूचक है।
४. 'धम्मियाए जायणाए' की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में—'धम्मियजायणा थेराण तुम्भच्चेहिं वा दिण्णाइं, जिणकप्पिओ तुसिणीओ चेव।' अर्थात्—धार्मिक याचना स्थविरकल्पिक मुनियों की ऐसी हो—'तुम जैसों ने ही हमें (ये उपकरण) दिए हैं। जिनकल्पिक तो मौन ही रहें।'
५. 'सयं करणिज्जं' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—सयं करणिज्जं ति जण्हं रुच्चति, तं करेंति, अक्कोसादी।' इस वाक्य का भावार्थ है—जो उन्हें अच्छा लगता है, वह वे करते हैं, आक्रोश आदि।
६. जाव शब्द से यहाँ 'अच्छिंदेज्ज वा' से लेकर 'परिट्ठवेज्ज वा' तक का समग्र पाठ सूत्र ४९१ के अनुसार समझें।
७. जाव शब्द से यहाँ 'अक्कोसंति' से लेकर 'उद्दवेंति' तक का सारा पाठ सू० ४२२ के अनुसार समझें।

५१५. ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए साधु या साध्वी को यदि मार्ग में मदोन्मत्त सांड, विषैला सांप, यावत् चीते आदि हिंसक पशुओं को सम्मुख-पथ से आते देखकर उनसे भयभीत होकर उन्मार्ग से नहीं जाना चाहिए, और न ही एक मार्ग से दूसरे मार्ग पर संक्रमण करना चाहिए, न तो गहन वन एवं दुर्गम स्थान में प्रवेश करना चाहिए, न ही वृक्ष पर चढ़ना चाहिए, और न ही उसे गहरे और विस्तृत जल में प्रवेश करना चाहिए। वह ऐसे अवसर पर सुरक्षा के लिए किसी बाड़ की, शरण की, सेना की या शस्त्र की आकांक्षा न करे, अपितु शरीर और उपकरणों के प्रति राग-द्वेषरहित होकर काया का व्युत्सर्ग करे, आत्मैकत्वभाव में लीन हो जाए और समाधिभाव में स्थिर रहे। तत्पश्चात् वह यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करे।

५१६. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु-साध्वी जाने कि मार्ग में अनेक दिनों में पार करने योग्य अटवी-मार्ग है। यदि उस अनेक दिनों में पार करने योग्य अटवी मार्ग के विषय में वह यह जाने कि इस अटवी-मार्ग में अनेक चोर (लुटेरे) इकट्ठे होकर साधु के उपकरण छीनने की दृष्टि से आ जाते हैं, यदि सचमुच उस अटवीमार्ग में वे चोर इकट्ठे होकर आ जाएं तो साधु उनसे भयभीत होकर उन्मार्ग में न जाए, न एक मार्ग से दूसरे मार्ग पर संक्रमण करे, न गहन वन, या किसी दुर्गम स्थान में प्रवेश करे, न वृक्ष पर चढ़े, न गहरे एवं विस्तृत जल में प्रवेश करे। ऐसे विकट अवसर पर सुरक्षा के लिए वह किसी बाड़ की, शरण की, सेना या शस्त्र की आकांक्षा न करे, बल्कि निर्भय, निर्द्वन्द्व और शरीर के प्रति अनासक्त होकर, शरीर और उपकरणों का व्युत्सर्ग करे और एकात्मभाव में लीन एवं राग-द्वेष से रहित होकर समाधि भाव में स्थिर रहे। तत्पश्चात् यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करे।

५१७. ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए साधु के पास यदि मार्ग में चोर (लुटेरे) संगठित होकर आ जाएं और वे उससे कहें कि 'आयुष्मन् श्रमण! ये वस्त्र, पात्र, कंबल, और पाद-प्रोंछन आदि लाओ, हमें दे दो, या यहाँ पर रख दो।' इस प्रकार कहने पर साधु उन्हें वे (उपकरण) न दे, और न निकाल कर भूमि पर रखे। अगर वे बलपूर्वक लेने लगें तो उन्हें पुनः लेने के लिए उनकी स्तुति (प्रशंसा) करके हाथ जोड़कर या दीन-वचन कह (गिड़गिड़ा) कर याचना न करे। अर्थात् उन्हें इस प्रकार से वापस देने का न कहे। यदि मांगना हो तो उन्हें धर्म-वचन कहकर-समझा कर मांगे, अथवा मौनभाव धारण करके उपेक्षाभाव से रहे।

५१८. यदि वे चोर अपना कर्तव्य (जो करना है) जानकर साधु को गाली-गलौज करें, अपशब्द कहें, मारें-पीटें, हैरान करें, यहाँ तक कि उसका वध करने का प्रयत्न करें, और उसके वस्त्रादि को फाड़ डालें, तोड़फोड़ कर दूर फेंक दें, तो भी वह साधु ग्राम में जाकर लोगों से उस बात को न कहे, न ही राजा या सरकार के आगे फरियाद करे, न ही किसी गृहस्थ के पास जाकर कहे कि 'आयुष्मान् गृहस्थ' इन चोरों (लुटेरों) ने हमारे उपकरण छीनने के लिए अथवा करणीय कृत्य जानकर हमें कोसा है, मारा-पीटा है, हमें हैरान किया है, हमारे उप-करणादि नष्ट करके दूर फेंक दिये हैं।' ऐसे कुविचारों को साधु मन में भी न लाए और न

वचन से व्यक्त करे। किन्तु निर्भय, निर्द्वन्द्व और अनासक्त होकर आत्म-भाव में लीन होकर शरीर और उपकरणों का व्युत्सर्ग कर दे और राग-द्वेष रहित होकर समाधिभाव में विचरण करे।

५१६. यही उस साधु या साध्वी के भिक्षु जीवन की समग्रता सर्वांगपूर्णता है, कि वह सभी अर्थों में सम्यक् प्रवृत्तियुक्त, ज्ञानादिसहित होकर संयम पालन में सदा प्रयत्नशील रहे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—विहारचर्या में साधु की निर्भयता और अनासक्ति की कसौटी—पिछले ६ सूत्रों में साधु की साधुता की अग्निपरीक्षा का निर्देश किया गया है। वास्तव में प्राचीनकाल में यातायात के साधन सुलभ न होने से अनुयायी लोगों को साधु के विहार की कुछ भी जानकारी नहीं मिल पाती थी। उस समय के विहार बड़े कष्टप्रद होते थे, रास्ते में हिंस्र पशुओं का और चोर-डाकुओं का बड़ा डर रहता था, बड़ी भयानक अटवियाँ होती थी, लंबी-लंबी। रास्ते में कहीं भी पड़ाव करना खतरे से खाली नहीं था। ऐसी विकट परिस्थिति में शास्त्रकार ने साधु वर्ग को उनकी साधुता के अनुरूप निर्भयता, निर्द्वन्द्वता, अनासक्ति और शरीर तथा उपकरणों के व्युत्सर्ग का आदेश दिया है। इन अवसरों पर साधु की निर्भयता और अनासक्ति की पूर्ण कसौटी हो जाती थी। न कोई सेना उसे रक्षा के लिए अपेक्षित थी, न वह शस्त्रास्त्र, खाद्य सुरक्षा के लिए कहीं आश्रय ढूँढ़ता था।

चोर उसके वस्त्रादि छीन लेते या उसे मारते-पीटते तो भी न तो चोरों के प्रति प्रतिशोध की भावना रखता था, न उनसे दीनतापूर्वक वापस देने की याचना करता था, और न कहीं उसकी फरियाद करता था। शान्ति से, समाधिपूर्वक उस उपसर्ग को सह लेता था।[1]

'गामसंसारियं' आदि पदों का अर्थ—गामसंसारियं—ग्राम में जाकर लोगों में उस बात का प्रचार करना, रायससारियं—राजा आदि से जाकर उसकी फरियाद करना।[2]

॥ तृतीय ईर्या-अध्ययन समाप्त ॥

---

१. बृहत्कल्पसूत्र के भाष्य तथा निशीथ चूर्णिकार आदि के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उस युग में श्रमणों को इस प्रकार के उपद्रवों का काफी सामना करना पड़ता था। कभी बोधिक चोर (म्लेच्छ) किसी आचार्य या गच्छ का वध कर डालते, संयतियों का अपहरण कर ले जाते तथा उनकी सामग्री नष्ट कर डालते—(निशीथ चूर्णि पीठिका २८६) इस प्रकार के प्रसंग उपस्थित होने पर अपने आचार्य की रक्षा के लिए कोई वयोवृद्ध साधु गण का नेता बन जाता और गण का आचार्य सामान्य भिक्षु का वेष धारण कर लेता—(बृहत्कल्प भाष्य १,३००५-६ तथा निशीथभाष्य पीठिका ३२१) कभी ऐसा भी होता कि आक्रान्तिक चोर चुराये हुए वस्त्र को दिन में ही साधुओं को वापिस कर जाते किंतु अनाक्रान्तिक चोर रात्रि के समय उपाश्रय के बाहर प्रस्रवणभूमि में डालकर भाग जाते। —(बृह० भाष्य १.३०११) यदि कभी कोई चोर सेनापति उपधि के लोभ के कारण आचार्य की हत्या करने के लिए उद्यत होता तो धनुर्वेद का अभ्यासी कोई साधु अपने भुजाबल से, अथवा धर्मोपदेश देकर या मन्त्र, विद्या, चूर्ण और निमित्त आदि का प्रयोग कर उसे शान्त करता। —(वही १.३०१४)।

—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृष्ठ ३५७

२. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८४ के आधार पर (ख) आचारांग चूर्णि, मू० पा० टिप्पणी पृ० १८७

भाषाजात : चतुर्थ अध्ययन

प्राथमिक

✡ आचारांग सूत्र (द्वि० श्रुतस्कन्ध) के चतुर्थ अध्ययन का नाम 'भाषाजात' है।

✡ भाषा का लक्षण है—जिसके द्वारा दूसरे को अपना अभिप्राय समझाया जाए, जिसके माध्यम से अपने मन में उद्भूत विचार दूसरों के समक्ष प्रकट किया जाए, तथा दूसरे के दृष्टिकोण, मनोभाव या अभिप्राय को समझा जाए।

✡ 'जात' शब्द के विभिन्न अर्थ मिलते है, जैसे—उत्पन्न, जन्म, उत्पत्ति, समूह, संघात, प्रकार, भेद, प्रवृत्त। जात=प्राप्त, गमन, गति, गीतार्थ—विद्वान् साधु आदि।[1]

✡ इस दृष्टि से भाषाजात के अर्थ हुए—भाषा की उत्पत्ति, भाषा का जन्म, भाषा जो उत्पन्न हुई है वह, भाषा का समूह, भाषा के प्रकार, भाषा की प्रवृत्तियाँ, प्रयोग, भाषा की प्राप्ति—(ग्रहण), भाषा-प्रयोग में गीतार्थ साधु आदि।

✡ इन सभी अर्थों के सन्दर्भ में वृत्तिकार ने 'भाषाजात' के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये ६ निक्षेप करके प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्य-भाषाजात का प्रतिपादन अभीष्ट माना है।

✡ *'जात' शब्द के पूर्वोक्त अर्थों को दृष्टिगत रखकर द्रव्य-भाषाजात के चार प्रकार बताए हैं*—१. उत्पत्तिजात, २. पर्यवजात, ३. अन्तर्जात और ४ ग्रहणजात।

✡ (१) काययोग द्वारा गृहीत भाषावर्गणान्तर्गत द्रव्य जो वाग्योग से निकल कर भाषा रूप में उत्पन्न होते हैं, वे उत्पत्तिजात है।

✡ (२) उन्हीं वाग्योग-निःसृत भाषा द्रव्यों के साथ विश्रेणि में स्थित भाषावर्गणा के अन्तर्गत द्रव्य टकरा कर भाषापर्याय के रूप में उत्पन्न होते है, वे पर्यवजात हैं।

✡ (३) जो अन्तराल में, समश्रेणि में स्थित भाषा-वर्गणा के पुद्गल,वर्गणा द्वारा छोड़े गये भाषा द्रव्यों के संसर्ग से भाषा रूप में परिणमत हो जाते हैं, वे अन्तरजात हैं।

✡ (४) जो समश्रेणि-विश्रेणिस्थ द्रव्य भाषा रूप में परिणत तथा अनन्त-प्रदेशिक कर्ण-कुहरों में प्रविष्ट होकर ग्रहण किये जाते है, वे ग्रहणजात कहलाते है।

---

१. पाइअ-सद्दमहण्णवो पृ० ३५४।

☆ भावत 'भाषाजात' तब होता है, जब पूर्वोक्त उत्पत्ति आदि चतुर्विध द्रव्य भाषाजा[illegible] कान में पड़कर 'यह शब्द है' इस प्रकार की बुद्धि पैदा करते हैं।[1]

☆ साधु-साध्वियों के लिए पूर्वोक्त भाषाजात का निरूपण होने से इस अध्ययन का नाम 'भाषाजात अध्ययन' रखा गया है।

☆ इसके दो उद्देशक है। यद्यपि दोनो का उद्देश्य साधु वर्ग को वचन-शुद्धि का विवे[illegible] बताना है, तथापि दोनों में से प्रथम उद्देशक में १६ प्रकार की वचन-विभक्ति बताकर भाषा-प्रयोग के सम्बन्ध में विधि-निषेध बताया गया है।

☆ दूसरे उद्देशक में भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में क्रोधादि समुत्पन्न भाषा को छोड़कर निर्दोष-वचन बोलने का विधान किया गया है।[2]

☆ यह अध्ययन सूत्र ५२० से प्रारम्भ होकर ५५२ पर समाप्त होता है।

□

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८५।
(ख) पाइअ-सद्दमहण्णवो पृ० ३५४।

२. (क) आचारांग निर्युक्ति गाथा ३१४।
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८५।

चउत्थं अज्झयणं 'भासज्जाया'

[पढमो उद्देसओ]

भाषाजात : चतुर्थ अध्ययन : प्रथम उद्देशक

भाषागत आचार-अनाचार विवेक

५२०. से भिक्खू वा २ इमाइं वइ-आयाराइं[1] सोच्चा णिसम्म इमाइं अणायाराइं अणायरियपुव्वाइं जाणेज्जा—जे कोहा वा वायं विउंजंति, जे[2] माणा वा वायं विउंजंति, जे मायाए[3] वा वायं विउंजंति, जे लोभा वा वायं विउंजंति, जाणतो वा फरुसं वदंति, अजाणतो वा फरुसं वयंति। सव्वं चेयं सावज्जं वज्जेज्जा विवेगमायाए—धुवं[4] चेयं जाणेज्जा, अधुवं चेयं जाणेज्जा, असणं वा ४ लभिय, णो लभिय, भुंजिय, णो भुंजिय, अदुवा आगतो अदुवा णो आगतो, अदुवा एति, अदुवा णो एति, अदुवा एहिति, अदुवा णो एहिति, एत्थ वि आगते,[5] एत्थ वि णो आगते एत्थ वि एति, एत्थ वि णो एति, एत्थ वि एहिति, एत्थ वि णो एहिति।

५२०. संयमशील साधु या साध्वी इन वचन (भाषा) के आचारों को सुनकर, हृदयंगम करके, पूर्व-मुनियों द्वारा अनाचरित भाषा-सम्बन्धी अनाचारों को जाने। (जैसे कि) जो क्रोध से वाणी का प्रयोग करते हैं, जो अभिमानपूर्वक वाणी का प्रयोग करते है, जो छल-कपट सहित भाषा बोलते है, अथवा जो लोभ से प्रेरित होकर वाणी का प्रयोग करते हैं, जानबूझ कर कठोर बोलते है, या अनजाने मे कठोर वचन कह देते हैं—ये सब भाषाएं सावद्य (स-पाप,) है,

---

१. 'वइ-आयाराइं' के बदले पाठान्तर हैं—वयिआयाराइं, वइयायाराइं, वयायाराइं आदि। अर्थ समान है।
२. 'जे माणा वा वायं विउंजंति' आदि पाठ के बदले पाठान्तर हैं—'जे माणा वा वएज्जा, जे मायाए वा,......माया वा, जं माणा वा जे मायाए वा....। अर्थ समान हैं।
३. माया आदि का तात्पर्य चूर्णिकार के शब्दों मे—माया—'गिलाणो ह', लोभा—वाणिज्जं करेमाणे। अर्थात्—माया से बोलना—जैसे—'मैं बीमार हूँ।' लोभ से बोलना—वाणिज्य (सौदेबाजी, अदला-बदली) करता हुआ।
४. धुवं चेयं जाणेज्जा—का तात्पर्य वृत्तिकार के शब्दो मे—'ध्रुवमेतद् निश्चित' वृष्ट्यादिक भविष्यतीत्येवं जानीयात्।' अर्थात्—यह निश्चित है कि वृष्टि आदि होगी ही; इस प्रकार जाने या शर्त लगाए।
५. 'एत्थ वि आगते' का तात्पर्य चूर्णिकार के शब्दो मे—'अस्मिन् एत्थ ग्रामे संखडीए वा' इस गाँव मे या इस संखडी (प्रीतिभोज) मे।

साधु के लिए वर्जनीय है। विवेक अपनाकर साधु इसप्रकार की सावद्य एवं अनाचरणीय भाषाओं का त्याग करे। वह साधु या साध्वी ध्रुव (भविष्यत्कालीन वृष्टि आदि के विषय में निश्चयात्मक) भाषा को जान कर उसका त्याग करे, अध्रुव (अनिश्चयात्मक) भाषा को भी जान कर उसका त्याग करे। 'वह अशनादि चतुर्विध आहार लेकर ही आएगा, या आहार लिए बिना ही आएगा, वह आहार करके ही आएगा, या आहार किये बिना ही आ जाएगा, अथवा वह अवश्य आया था या नहीं आया था, वह आता है, अथवा नहीं आता है, वह अवश्य आएगा, अथवा नहीं आएगा; वह यहां भी आया था, अथवा वह यहाँ नहीं आया था, वह यहाँ अवश्य आता है, अथवा कभी नहीं आता, अथवा वह यहाँ अवश्य आएगा या कभी नहीं आएगा, (इस प्रकार की एकान्त निश्चयात्मक भाषा का प्रयोग साधु-साध्वी न करे)।

विवेचन—भाषागत आचार-अनाचार का विवेक—प्रस्तुत सूत्र में भाषा के विहित एवं निषिद्ध प्रयोगों का रूप बताया है। इसमें मुख्यतया ६ प्रकार की सावद्यभाषा का प्रयोग निषिद्ध बताया है—(१) क्रोध से, (२) अभिमान से, (३) माया-कपट से, (४) लोभ से (५) जानते-अजानते कठोरतापूर्वक, और (६) सर्वकाल सम्बन्धी, तथा सर्वक्षेत्र सम्बन्धी निश्चयात्मक रूप में।

उदाहरणार्थ—क्रोध के वश में होकर किसी को कह देना—तू चोर है, बदमाश है, अथवा धमकी दे देना, झिड़क देना, मिथ्यारोप लगा देना आदि। अभिमानवश—किसी से कहना—मैं उच्च जाति का हूं, तू तो नीची जाति का है, मैं विद्वान् हूं, तू मूर्ख है, आदि। मायावश—मैं बीमार हूँ, मैं इस समय संकट में हूं, इसप्रकार कपट करके कार्य से या मिलने आदि से किनाराकसी करना। लोभवश—किसी से अच्छा खान-पान, सम्मान या वस्त्रादि पाने के लोभ से उसकी मिथ्या-प्रशंसा करना या सौदेबाजी करना आदि। कठोरतावश—जानते-अजानते किसी को मर्मस्पर्शी वचन बोलना, किसी की गुप्त बात को प्रकट करना आदि। इसीप्रकार सर्वकाल-क्षेत्र सम्बन्धी निश्चयात्मक भाषा-प्रयोग के कुछ उदाहरण सूत्र में दे दिये हैं।

विवंजति की व्याख्या—विविध प्रकार से भाषा प्रयोग करते हैं।[1]

षोडश वचन एवं संयत भाषा-प्रयोग

५२१. अणुवीयि णिट्ठाभासी[2] समिताए संजते भासं भासेज्जा, तंजहा—

एगवयणं १, दुवयणं २, बहुवयणं ३, इत्थीवयणं ४, पुरिसवयणं ५, णपुंसगवयणं

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८६।

२. 'णिट्ठाभासी' के बदले चूर्णिकार—'णिट्ठभासी' पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—'णिट्ठभासी, सम्यक् सम्यक् भावेन, संकित- मण्णे त्ति, ण वा जाणामि।'' णिट्ठभासी=निश्चय-भासी निश्चित हो जाने पर ही कहने वाला। संयमी साधु सम्यक् कहे। शंकित व्यक्ति निश्चित नहीं होगा। शंकित—अर्थात् जानता हूँ या नहीं जानता। इस प्रकार की शंका से दूर।

अज्झत्थवयणं ७, उवणीयवयणं ८, अवणीयवयणं ९, उवणीतअवणीतवयणं १०, अवणीत-उवणीतवयणं ११, तीयवयणं १२, पडुप्पण्णवयणं १३, अणागयवयणं १४, पच्चक्खवयणं १५, परोक्खवयणं १६।

से एगवयणं वदिस्सामीति एगवयणं वदेज्जा, जाव परोक्खवयणं वदिस्सामीति परोक्ख-वयणं वदेज्जा। इत्थी[1] वेस, पुमं वेस, णपुंसगं वेस, एवं वा चेयं, अण्णं वा चेयं, अणुवीयि णिट्ठाभासी समियाए संजते भासं भासेज्जा।

५२१. संयमी साधु या साध्वी विचारपूर्वक भाषा समिति से युक्त निश्चितभाषी एवं संयत होकर भाषा का प्रयोग करे।

जैसे कि (ये १६ प्रकार के वचन हैं—) (१) एकवचन, (२) द्विवचन, (३) बहुवचन, (४) स्त्रीलिंग-कथन, (५) पुल्लिंग-कथन, (६) नपुंसक-लिंग कथन, (७) अध्यात्म-कथन, (८) उपनीत—(प्रशंसात्मक) कथन, (९) अपनीत—(निन्दात्मक) कथन, (१०) उपनीताऽप-नीत—(प्रशंसा-पूर्वक निन्दा-वचन) कथन, (११) अपनीतोपनीत—(निन्दापूर्वक प्रशंसा) कथन, (१२) अतीतवचन, (१३) वर्तमानवचन, (१४) अनागत—(भविष्यत्) वचन, (१५) प्रत्यक्षवचन और (१६) परोक्षवचन।

यदि उसे 'एकवचन' बोलना हो तो वह एकवचन ही बोले, यावत् परोक्षवचन पर्यन्त जिस किसी वचन को बोलना हो, तो उसी वचन का प्रयोग करें। जैसे—यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह नपुंसक है, यह वही है या यह कोई अन्य है, इस प्रकार जब विचारपूर्वक निश्चय हो जाए, तभी निश्चयभाषी हो तथा भाषा-समिति से युक्त हो कर संयत भाषा में बोले।

विवेचन—भाषाप्रयोग के समय सोलह वचनों का विवेक— प्रस्तुत सूत्र में १६ प्रकार के वचनों का उल्लेख करके उनके प्रयोग का विवेक बताया है, साधु को जिस किसी प्रकार का कथन करना हो, पहले उस विषय में तदनुरूप सम्यक् छानबीन करले कि मैं जिस वचन का वास्तव में प्रयोग करना चाहता हूँ, वह उस प्रकार का है या नहीं? यह निश्चित हो जाने के बाद ही भाषा-समिति का ध्यान रखता हुआ, संयत होकर स्पष्ट वचन कहे। इन १६ वचनों के प्रयोग में ४ बातों का विवेक बताया गया है—(१) भलीभांति छानबीन करना, (२) स्पष्ट निश्चय करना, (३) भाषा-समिति का ध्यान रखना, और (४) यतनापूर्वक स्पष्ट कहना।

इस सूत्र में ये ८ प्रकार के वचन निषिद्ध फलित होते हैं—(१) अस्पष्ट, (२) संदिग्ध, (३) केवल अनुमित, (४) केवल सुनी-सुनाई बात, (५) प्रत्यक्ष देखी, परन्तु छानबीन न की हुई,

---

१. 'इत्थीवेस पुम वेस णपुंसग वेस' के बदले पाठान्तर है—इत्थी वेम पुम वेम णपुंसग वेसं', 'इत्थीवेसा पुरिसे णपुंसगं वेसं' एवं इत्थीवेसं पुरिसवेसं णपुंसगवेसं।' चूर्णिकार सम्मत पाठ अन्तिम है। चूर्णि-कृत व्याख्या इस प्रकार है—इत्थि पुरिसणेवच्छित ण वदिज्जा—एसो पुरिसो गच्छति एवोऽण्येवं।

कहकर 'पुरुष-वेषधारी' कहना चाहिए। इसी प्रकार स्त्री वेषधारी को स्त्री न कहकर 'स्त्री-वेषधारी' कहना चाहिए ; ताकि शंकित व असत्य-दोष से भाषा दूषित न हो।

एवं वा चेयं, अण्णं वा चेयं का तात्पर्य वृत्तिकार के अनुसार है—यह ऐसा है, या यह दूसरे प्रकार का है। किन्तु चूर्णिकार इसका तात्पर्य निषेधात्मक बताते हैं—यह ऐसा ही है, इस प्रकार संदिग्ध अथवा यह अन्यथा (दूसरी तरह का) है, इसप्रकार का असंदिग्धवचन नहीं बोलना चाहिए।[1]

चार प्रकार की भाषा : विहित-अविहित

५२२. इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा चत्तारि भासज्जायाइं, तंजहा—सच्चमेगं[2] पढमं भासज्जातं, बीयं मोसं, ततियं सच्चामोसं, जं णेव सच्चं णेव मोसं णेव सच्चामोसं णाम तं चउत्थं भासज्जातं।

से बेमि—जे य अतीता, जे य पडुप्पण्णा जे य अणागया अरहंता भगवंतो सव्वे ते एताणि चेव चत्तारि भासज्जाताइं भासिंसु वा भासिंति वा भासिस्संति वा, पण्णविंसु वा ३।[3]

सव्वाइं च णं एयाणि अचित्ताणि वण्णमंताणि गंधमंताणि[4] रसमंताणि फासमंताणि चयोवचइयाइं[5] विप्परिणामधम्माइं भवंति त्ति अक्खाताइं।

५२३. से भिक्खू वा २ [से ज्जं पुण जाणेज्जा—] पुव्विं भासा अभासा, भासिज्जमाणी भासा भासा, भासासमयवीइकंतं च णं भासिता भासा अभासा।

५२४. से भिक्खू वा २ जा य भासा सच्चा, जा य भासा मोसा, जा य भासा सच्चामोसा

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८६, (ख) आचा चूर्णि मू पा पृ० १६०
२. 'सच्चमेगं' के बदले पाठान्तर हैं—सच्चमेत, सच्चमेय, सच्चमेम।
३. 'पण्णविंसु वा' के आगे ३ का अंक शेष (पण्णवेंति वा पण्णविस्सति वा) पाठ का सूचक है।
४. 'रसमताणि फासमंताणि' के बदले पाठान्तर है—'रसवंताणि फासवंताणि'।
५. 'चयोवचइयाइं' के बदले चूर्णिकार 'चयोवचयाइ' पाठान्तर मानकर व्याख्या करते हैं—चयोवचयाइं अनित्यो (शब्द)—वैशेषिका, वैदिका—नित्य शब्द—यथा वायुर्वीजनादिभिरभिव्यज्यते, एवं शब्द, ण च एवमारहताना. यथा पट चीयते अवचीयते च, एवं विप्परिणामसभावाणि, 'ते चेव णं—ते भंते! सुब्भिसद्दा पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा वि पोग्गला सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति।' अर्थात्—वैशेषिक कहते हैं—शब्द अनित्य है, वैदिक कहते हैं—शब्द नित्य है, जैसे वायु पंखे आदि *के द्वारा अभिव्यक्त होती है, वैसे ही शब्द है। आर्हतमतानुसार ऐसा नहीं है, वहाँ शब्द आदि* पुद्गल है, जो परिणामी हैं। जैसे वस्त्र का चय-अपचय होता है, इसीप्रकार सभी पुद्गल परिणमनस्वभाव वाले होते हैं। जैसे कि शास्त्र में कहा है—"ते चेव भंते!" ये सुशब्द के पुद्गल दुःशब्द के रूप में परिणत होते हैं, दुःशब्द के पुद्गल भी सुशब्द के रूप में परिणत होते हैं।

५२२. इन पूर्वोक्त भाषागत दोष-स्थानों का अतिक्रमण (त्याग) करके (भाषा का प्रयोग करना चाहिए)। साधु को भाषा के चार प्रकारों को जान लेना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१. सत्या २. मृषा, ३. सत्यामृषा और जो न सत्या है, न असत्या है और न ही सत्यामृषा है यह ४. असत्यामृषा—(व्यवहारभाषा) नाम का चौथा भाषाजात है।

जो मैं यह कहता हूँ उसे—भूतकाल में जितने भी तीर्थंकर भगवान हो चुके हैं, वर्तमान में जो भी तीर्थंकर भगवान् हैं और भविष्य में जो भी तीर्थंकर भगवान् होंगे, उन सबने इन्हीं चार प्रकार की भाषाओं का प्रतिपादन किया है, प्रतिपादन करते हैं और प्रतिपादन करेंगे अथवा उन्होंने प्ररूपण किया है, प्ररूपण करते हैं और प्ररूपण करेंगे। तथा यह भी उन्होंने प्रतिपादन किया है कि ये सब भाषाद्रव्य (भाषा के पुद्गल) अचित्त हैं, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाले हैं, तथा चय-उपचय (वृद्धि-ह्रास अथवा मिलने-बिछुड़ने) वाले एवं विविध प्रकार के परिणमन धर्मवाले हैं।

५२३. संयमशील साधु-साध्वी को भाषा के सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिए कि बोलने से पूर्व भाषा (भाषावर्गणा के पुद्गल) अभाषा होती है, बोलते (भाषण करते) समय भाषा भाषा कहलाती है बोलने के पश्चात् (बोलने का समय बीत जाने पर) बोली हुई भाषा अभाषा हो जाती है।

५२४. जो भाषा सत्या है, जो भाषा मृषा है, जो भाषा सत्यामृषा है, अथवा जो भाषा असत्यामृषा है, इन चारों भाषाओं में से (जो मृषा-असत्या और मिश्रभाषा है, उसका व्यवहार साधु-साध्वी के लिए सर्वथा वर्जित है। केवल सत्या और असत्यामृषा—(व्यवहारभाषा का प्रयोग ही उसके लिए आचरणीय है।) उसमें भी यदि सत्यभाषा सावद्य, अनर्थदण्डक्रिया युक्त, कर्कश, कटुक, निष्ठुर, कठोर, कर्मों की आस्रवकारिणी तथा छेदनकारी, भेदनकारी, परितापकारिणी, उपद्रवकारिणी एवं प्राणियों का विघात करनेवाली हो तो विचारशील साधु को मन से विचार करके ऐसी सत्यभाषा का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए।

५२५. जो भाषा सूक्ष्म (कुशाग्रबुद्धि से पर्यालोचित होने पर) सत्य सिद्ध हो, तथा जो असत्यामृषा भाषा हो, साथ ही ऐसी दोनों भाषाएँ असावद्य, अक्रिय यावत् जीवों के लिए अघातक हों तो संयमशील साधु मन में पहले पर्यालोचन करके इन्हीं दोनों भाषाओं का प्रयोग करे।

५२६. साधु या साध्वी किसी पुरुष को आमन्त्रित (सम्बोधित) कर रहे हों, और आमन्त्रित करने पर भी वह न सुने तो उसे इस प्रकार न कहे—"अरे होल (मूर्ख) रे गोले ! या हे गोल अय वृषल (शूद्र) ! हे कुपक्ष (दास, या निम्नकुलीन) अरे घटदास (दासीपुत्र) ! या ओ कुत्ते ! ओ चोर ! अरे गुप्तचर ! अरे झूठे ! ऐसे (पूर्वोक्त प्रकार के) ही तुम हो, ऐसे (पूर्वोक्त प्रकार के) ही तुम्हारे माता-पिता हैं।" विचारशील साधु इस प्रकार की सावद्य, सक्रिय यावत् जीवोपघातिनी भाषा न बोले।

कहलाती । अतः साधक द्वारा जो बोली नहीं गई है, या बोली जाने पर भी नष्ट हो चुकी, वह भाषा की संज्ञा प्राप्त नहीं करेगी, वर्तमान में प्रयुक्त भाषा ही 'भाषा संज्ञा' प्राप्त करती है ।[1]

चार भाषाएँ—१. सत्या (जो भाव, करण, योग तीनों से यथार्थ हो, जैसा देखा, सुना, सोचा, समझा, अनुमान किया, वैसा ही दूसरों के प्रति प्रगट करना), २ मृषा (झूठी), ३. सत्यामृषा (जिसमें कुछ सच हो, कुछ झूठ हो) और ४ असत्यामृषा (जो न सत्य है, न असत्य, ऐसी व्यवहारभाषा) । इनमें से मृषा और सत्यामृषा त्याज्य हैं ।[2]

'अभिकंख' का अर्थ पहले बुद्धि से पर्यालोचन करके फिर बोले ।[3]

सत्याभाषा भी १२ दोषों से युक्त हो तो अभाषणीय—सूत्र ५२४ में यह स्पष्ट कर दिया है कि 'सत्य' कही जाने वाली भाषा भी १२ दोषों से युक्त हो तो असत्य और अवाच्य हो जाती है । १२ दोष ये हैं—(१) सावद्या (पापसहित), २ सक्रिया (अनर्थदण्डप्रवृत्तिरूप क्रिया से युक्त) (३) कर्कशा (क्लेशकारिणी, दर्पित अक्षरवाली), (४) निष्ठुरा (हक्काप्रधान, जकार-सकार-युक्त, निर्दयतापूर्वक डाँट-डपट)(५) परुषा (कठोर, स्नेहरहित, मर्मोद्घाटनपरकवचन),(६) कटुका (कड़वी, चित्त में उद्वेग पैदा करनेवाली) (७) आस्रवजनक, (८) छेदकारिणी (प्रीतिछेद करने वाली), (९) भेदकारिणी (फूट डालनेवाली, स्वजनों में भेद पैदा करनेवाली), (१०) परितापकरी, (११) उपद्रवकरी (तूफान दंगे या उपद्रव करनेवाली, भयभीत करनेवाली), (१२) भूतोपघातिनी (जिससे प्राणियों का घात हो) । वस्तुतः अहिंसात्मक वाणी ही भाव-शुद्धि का निमित्त बनती है ।[4]

सम्बोधन में भाषा-विवेक—४ सूत्रों (५२६ से ५२९) द्वारा शास्त्रकार ने स्त्री-पुरुषों को सम्बोधन में निषिद्ध और विहित भाषा-प्रयोग का विवेक बताया है ।[5]

होलेत्ति वा गोलेत्ति वा—होल-गोल आदि शब्द प्राचीन समय में निष्ठुरवचन के रूप में प्रयुक्त होते थे ।[6] इसप्रकार के शब्द सुननेवाले का हृदय दुखी व क्षुब्ध हो जाता था अतः शास्त्रों में अनेक स्थानों पर इसप्रकार के सम्बोधनों का निषेध है ।[7]

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८७

२. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८३ (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टिप्पणी १७५ पृ०
(ग) देखिये दशवै० अ० ७ गा० ३ की व्याख्या

३. (अ) आचारांग वृत्ति ३८७ पत्रांक
(आ) पुव्वं बुद्धीइ पेहित्ता पच्छावयमुदाहरे
अचक्खुओ व नेतारं बुद्धिमन्नेउ ते गिरा ॥ —दशवै० निर्युक्ति गा० २९३

४ आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८७

५. (क) आचारांग वृत्ति ३८७ (ख) दशवै० अ०७ गा०११ से २० तक तुलना के लिए देखें

६. होलादिशब्दास्तत्तदेश-प्रसिद्धितो नैष्ठुर्यादि वाचकाः । —दशवै० हारि० टीका पत्र २१५

७ दशवै० ७/१४ में, तथा सूत्रकृतांग (१/९/२७) में— 'होलावायं सहीवायं गोयावायं च नो वदे' आदि सूत्रों द्वारा सूचित किया गया है ।

जैन शास्त्रानुसार वे देव नहीं, पुद्गलादि द्रव्य हैं या प्राकृतिक उपहार हैं। सचित्त अग्नि, जल, वनस्पति, पृथ्वी, वायु आदि में जीव हैं।[1]

निरवद्य और यथातथ्य भाषा का प्रयोग करनेवाले जैन साधु को इस मिथ्यावाद से बचने-बचाने के लिए यह विवेक बताया है, वह आकाश, मेघ, विद्युत् आदि प्राकृतिक पदार्थों को देव न कहकर उनके वास्तविक नाम से ही उनका कथन करें, अन्यथा लोगों में मिथ्या धारणा फैलेगी।[2]

इसी सूत्र के उत्तरार्द्ध में वर्षा-वर्णन, धान्योत्पादन, रात्रि का आगमन, सूर्य का उदय, राजा की जय हो या न हो, इस विषय में साधु को तटस्थ रहना चाहिए, क्योंकि वर्षा-वर्णन आदि के कहने से सचित्त जीव विराधना का दोष लगेगा, अथवा वर्षा आदि के सम्बन्ध में भविष्य कथन करने से असत्य का दोष लगने की संभावना है, अमुक राजा की जय हो, अमुक की नहीं या अमुक की जय होगी, अमुक की पराजय, ऐसा कहने से युद्ध का अनुमोदन-दोष तथा साधु के प्रति एक को मोह, दूसरे को द्वेष पैदा होगा।[3] इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में वायु, वृष्टि, सर्दी-गर्मी, क्षेम, सुभिक्ष, शिव आदि कब होंगे, या न हों, इस प्रकार की भाषा बोलने का तथा मेघ, आकाश और मानव के लिए देव शब्द का प्रयोग करने का निषेध किया है, इसके सम्बन्ध में क्या कहा जाए यह भी स्पष्ट निर्देश किया गया है।[4]

'समुच्छिते' आदि पदों के अर्थ—समुच्छिते=संमूच्छित हो रहा है—उमड़ रहा है, अथवा उन्नत हो रहा है, निवइए=झुक रहा है, या बरस रहा है। वुट्ट बलाहगे=मेघ बरस पड़ा है।[5]

१३२. एयं खलु भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहिएहिं (समा जए) जएज्जासि त्ति बेमि।

१३२ यही (भाषाजात को सम्यक् जान कर भाषाप्रयोग का सम्यक् आचार ही) उस साधु और साध्वी की साधुता की समग्रता है कि वह ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप अर्थों से तथा पाँच समितियों से युक्त होकर सदा इसमें प्रयत्न करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) 'पृथिव्यम्बुवनस्पतित्रसाः स्थावराः', धर्माधर्माकाशपुद्गलाः द्रव्याणि'।
—तत्त्वार्थ अ० ५ (ख) उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३६, गा० ८, ७

२. (क) दशवै० अ० ७ गा० ५२, हारि० टीका०—'मिथ्यावादलाघवादिप्रसंगात्'।
(ख) आचारांग चूर्णि पत्रांक १८८।

३. धर्मरत्न प्रकरण टीका (१/सूत्र ४) में वारत्त मुनि का उदाहरण दिया गया है कि चण्डप्रद्योत के आक्रमण के समय उन्होंने निमित्त कथन किया, जिससे बहुत अनर्थ हो गया।

४. (अ) तुलना के लिए देखिए—दशवै० अ० ७ गा० ५०, ५१, ५२, ५३ तथा टिप्पण पृ० ३६४-६५
(आ) आचारांग वृत्ति पत्रांक १८८।

५. (क) आचारांग चूर्णि पृ० १८८। (ख) दशवै० (मुनिश्रमलजी) अ० ७/५२ विवेचन पृ० ३६४।

वा, धेणू ति वा, रसवती ति वा, महव्वए[1] ति वा, संवहणे ति वा। एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासेज्जा।

५४३. से भिक्खू वा २ तहेव गंतुमुज्जाणाइं[2] पव्वयाइं वणाणि वा रुक्खा महल्ला पेहाए णो एवं वदेज्जा, तंजहा-पासायजोग्गा[3] ति वा, तोरणजोग्गा ति वा, गिहजोग्गा ति वा, फलिहजोग्गा ति वा, अग्गलजोग्गा ति वा, णावाजोग्गा ति वा, उदगदोणिजोग्गा ति वा, पीढ-चंगबेर-णंगल-कुलिय-जंतलट्ठी-णाभि-गंडी-आसणजोग्गा ति वा, सयण-जाण-उवस्सयजोग्गा ति वा। एतप्पगार भासं [सावज्जं] जाव णो भासेज्जा।[4]

५४४. से भिक्खू वा २ तहेव गंतुमुज्जाणाइं पव्वताणि वणाणि य रुक्खा महल्ल पेहाए एवं वदेज्जा, तंजहा-जातिमंता ति वा, दीहवट्टा ति वा, महालया ति वा, पयातसाला ति वा, विडिमसाला ति वा, पासादिया[5] ति वा ४। एतप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासेज्जा।

५४५. से भिक्खू वा २ बहुसंभूता वणफला पेहाए तहा वि ते णो एवं वदेज्जा, तंजहा-पक्काइं वा, पायखज्जाइं वा, वेलोतियाइं वा, टालाइं वा, वेहियाइं[6] वा। एतप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा।

शीघ्रगामी जुआ आदि वहन करने वाले भी रथ-योग्य होते हैं, वे मद को प्राप्त नहीं हुए छोटे छोटे वृषभ भी हो सकते हैं। वाहिमा=हल चलाने आदि सब कार्यों मे समर्थ।

—अग० चूर्णि पृ० १७०-७१

१ 'महव्वए' के बदले पाठान्तर हैं—'महल्लए', कहीं कहीं—'हस्सेति वा महल्लए ति वा' हस्सेति महल्लए वा महव्वए ति वा। 'हस्से' का अर्थ है—छोटा, महल्लए=बड़ा।

२. 'गंतुमुज्जाणाइ' आदि पदों की व्याख्या दशवैकालिक चूर्णि में—'क्रीड़ानिमित्तं वावियो रुक्खसमुदायो उज्जाणं। उम्मितो सिलासमुदायो पव्वतो। अडवीसु सयं जातं रुक्खगहणं वणं। एताणि उज्जाणा-दीणि जातिच्छया पयोयणतो वा गतूण तत्थ य रुक्खे अज्जुणादयो महल्ले पेहाए—पेक्खिऊण......'—"क्रीड़ा या मनोरंजन के लिए लगाये हुए वृक्षों का समूह उद्यान है। ऊँचा शिला—समूह पर्वत है, जंगलों में स्वयं पैदा हुए वृक्षों से जो गहन हो, वह वन है। इन उद्यान आदि में सहजभाव से या किसी प्रयोजनवश जा कर, वहाँ अर्जुन आदि विशाल वृक्षों को देखकर......।

३. 'पासायजोग्गा' आदि क्रम में किसी-किसी प्रति में 'गिहजोग्गा' पाठ नहीं है। और किसी प्रति में 'अग्गला-नावा-उदगदोणि-पीढ' आदि समस्त पद है, तथा आगे 'आसण-सयण-जाण-उवस्सयजोग्गा ति' भी समस्त पद है।

४. दशवैकालिक सूत्र अ० ७ गा० २६, २७, २८, ३०, ३१ से तुलना कीजिए।

५. पासादीया ति वा के आगे '४' का अंक 'दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा' पाठ का सूचक है।

६. वेहियाइं' का संस्कृत रूपान्तर 'द्वैधिकानी' करके वृत्तिकार अर्थ करते हैं—पेशीसम्पादनेन द्वैधीभाव-करणयोग्यानि।—इसकी फांके बनाकर दो टुकड़े करने योग्य हैं। आम आदि का अचार डालने के लिए कच्चे आम आदि के टुकड़े चीरकर उसमें मसाला भरा जाता है।

५४६. से भिक्खू वा २ बहुसंभूया[1] वणफला पेहाए एवं वदेज्जा, तंजहा-असंथडा[2] ति वा, बहुणिव्वट्टिमफला ति वा, बहुसंभूया ति वा, भूतरूवा ति वा। एतप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासेज्जा।[3]

५४७. से भिक्खू वा २ बहुसंभूताओ ओसधीओ पेहाए तहा वि ताओ णो एवं वदेज्जा, तंजहा—पक्का ति वा, णीलिया ति वा, छवीया ति वा, लाइमा ति वा, भज्जिमाति वा, बहुखज्जा ति वा। एतप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा।

५४८. से भिक्खू वा २ बहुसंभूताओ ओसहीओ पेहाए तहा वि एवं वदेज्जा, तंजहा-रूढा ति वा बहुसंभूयाति वा, थिरा ति वा, ऊसढा ति वा, गब्भिया ति वा, पसूया ति वा, ससारा ति वा। एतप्पगारं [भासं] असावज्जं जाव भासेज्जा।

५३३. संयमशील साधु या साध्वी यद्यपि अनेक रूपों को देखते हैं तथापि उन्हें देखकर इस प्रकार (ज्यों के त्यों) न कहे। जैसे कि गण्डी (गण्ड (कण्ठ) माला रोग से ग्रस्त या जिसका पैर सूज गया हो,) को गण्डी, कुष्ठ-रोग से पीड़ित को कोढ़िया, यावत् मधुमेह से पीड़ित रोगी को मधुमेही कहकर पुकारना, अथवा जिसका हाथ कटा हुआ है, उसे हाथकटा, पैरकटे को पैरकटा, नाक कटा हुआ हो, उसे नकटा, कान कट गया हो, उसे कनकटा और ओठ कटा हुआ हो, उसे ओठकटा कहना। ये और अन्य जितने भी इसप्रकार के हों, उन्हें इस प्रकार की (आघातजनक) भाषाओं से सम्बोधित करने पर वे व्यक्ति दुखी या कुपित हो जाते हैं। अतः ऐसा विचार करके उसप्रकार के उन लोगों को उन्हीं (जैसे हों वैसी) भाषा से सम्बोधित न करे।

५३४. साधु या साध्वी यद्यपि कितने ही रूपों को देखते हैं तथापि वे उनके विषय में (संयमी भाषा में) इस प्रकार कहे। जैसेकि—ओजस्वी को ओजस्वी, तेजस् युक्त को तेजस्वी, वर्चस्वी—दीप्तिमान, उपादेयवचनी या लब्धियुक्त हो, उसे वर्चस्वी कहे। जिसकी यशःकीर्ति फैली हुई हो, उसे यशस्वी, जो रूपवान् हो, उसे अभिरूप, जो प्रतिरूप हो, उसे प्रतिरूप, प्रासाद—(प्रसन्नता) गुण से युक्त हो, उसे प्रासादीय, जो दर्शनीय हो, उसे दर्शनीय कहकर

---

१. 'बहुसभूया वणफला पेहाए' के बदले पाठान्तर है—'बहुसंभूयफला अंबा (अंब) पेहाए'—अर्थात् जिसमें बहुत-से फल आए हैं, ऐसे आम के पेड़ों को देखकर।

२. 'असंथडा' का वृत्तिकार 'असमर्थाः' संस्कृत रूपान्तर मानकर अर्थ करते हैं 'अतिभरेण न शक्नुवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थः।'—अत्यन्त भार के कारण अब फल-धारण करने में समर्थ नहीं है, अर्थात् फल टूट पड़ने वाले हैं।

३. वृत्तिकार दशवैकालिक की तरह आचारांग में भी इस सूत्र के अन्तर्गत सामान्य फलवान् वृक्ष न मानकर आम्रवृक्षपरक मानते हैं। 'आम्रग्रहणं प्रधानोपलक्षणं'—प्रधानरूप से यहाँ आम्रग्रहण किया है, वह उपलक्षण से सभी वृक्षों का सूचक है।

सम्बोधित करे। ये और जितने भी इसप्रकार के अन्य व्यक्ति हों, उन्हें इसप्रकार की (सौम्य) भाषाओं से सम्बोधित करने पर वे कुपित नहीं होते। अतः इसप्रकार की निरवद्य सौम्य भाषाओं का विचार करके साधु-साध्वी निर्दोष भाषा बोले।

५३५. साधु या साध्वी यद्यपि कई रूपों को देखते है, जैसे कि उन्नतस्थान या खेतों की क्यारियाँ, खाइयाँ या नगर के चारों ओर बनी नहरें, प्राकार (कोट), नगर के मुख्य द्वार (तोरण), अर्गलाएँ, आगल फसाने के स्थान, गड्ढे, गुफाएँ, कूटागार, प्रासाद, भूमिगृह (तहखाने), वृक्षागार, पर्वतगृह, चैत्ययुक्त वृक्ष, चैत्ययुक्त स्तूप, लोहा आदि के कारखाने, आयतन, देवालय, सभाएँ, प्याऊ, दूकानें, मालगोदाम, यानगृह, धर्मशालाएँ, चूने, दर्भ, वल्क के कारखाने, वन कर्मालय, कोयले, काष्ठ आदि के कारखाने, श्मशान-गृह, शान्तिकर्मगृह, गिरिगृह, गुहागृह, पर्वत शिखर पर बने भवन आदि, इनके विषय में ऐसा न कहे; जैसे कि यह अच्छा बना है, भलीभाँति तैयार किया गया है, सुन्दर बना है, यह कल्याणकारी है, यह करने योग्य है; इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातक भाषा न बोले।

५३६ साधु या साध्वी यद्यपि कई रूपों को देखते हैं, जैसे कि खेतों की क्यारियाँ या भवनगृह; तथापि (कहने का प्रयोजन हो तो) इस प्रकार कहें—जैसे कि यह आरम्भ से बना है, सावद्यकृत है, या यह प्रयत्न-साध्य है, इसीप्रकार जो प्रसादगुण से युक्त हो, उसे प्रासादीय, जो देखने योग्य हो, उसे दर्शनीय, जो रूपवान हो उसे अभिरूप, जो प्रतिरूप हो, उसे प्रतिरूप कहें। इस प्रकार विचारपूर्वक असावद्य यावत् जीवोपघात से रहित भाषा का प्रयोग करे।

५३७. साधु या साध्वी अशनादि चतुर्विध आहार को देखकर भी इस प्रकार न कहे, जैसे कि यह आहारादि पदार्थ अच्छा बना है, या सुन्दर बना है, अच्छी तरह तैयार किया गया है, या कल्याणकारी है और अवश्य करने योग्य है। इसप्रकार की भाषा साधु या साध्वी सावद्य यावत् जीवोपघातक जानकर न बोले।

५३८. साधु या साध्वी मसालों आदि से तैयार किये हुए सुसंस्कृत आहार को देखकर इसप्रकार कह सकते हैं, जैसे कि यह आहारादि पदार्थ आरम्भ से बना है, सावद्यकृत है, प्रयत्नसाध्य है या भद्र अर्थात् आहार में प्रधान है, उत्कृष्ट है, रसिक (सरस) है, या मनोज्ञ है; इस प्रकार की असावद्य यावत् जीवोपघात से रहित भाषा का प्रयोग करे।

५३९. वह साधु या साध्वी परिपुष्ट शरीर वाले किसी मनुष्य, साड, भैंसे, मृग, या पशु, पक्षी, सर्प या जलचर अथवा किसी प्राणी को देखकर ऐसा न कहे कि यह स्थूल (मोटा) है, इसके शरीर में बहुत चर्बी—मेद है, यह गोलमटोल है, यह वध या वहन करने (बोझा ढोने) योग्य है, यह पकाने योग्य है। इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवघातक भाषा का प्रयोग न करे।

५४०. संयमशील साधु या साध्वी परिपुष्ट शरीर वाले किसी मनुष्य, बैल, यावत् किसी भी विशालकाय प्राणी को देखकर ऐसे कह सकता है कि यह पुष्ट शरीरवाला है, उपचित

है, दृढ़ संहननवाला है, या इसके शरीर में रक्त-मांस संचित हो गया है, इसकी सभी
परिपूर्ण है। इस प्रकार की असावद्य यावत् जीवोपघात से रहित भाषा बोले।

५४१. साधु या साध्वी नाना प्रकार की गायों तथा गोजाति के पशुओं को देख
न कहे, कि ये गायें दूहने योग्य हैं अथवा इनको दूहने का समय हो रहा है, तथा यह बै
करने योग्य है, यह वृषभ छोटा है, या यह वहन करने योग्य है, यह रथ में जोतने
इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातक भाषा का प्रयोग न करे।

५४२. वह साधु या साध्वी नाना प्रकार की गायों तथा गोजाति के पशुओं को
इस प्रकार कह सकता है, जैसे कि—यह वृषभ जवान है यह गाय प्रौढ़ है, दुधारू है,
बड़ा है, यह संवहन योग्य है। इसप्रकार की असावद्य यावत् जीवोपघात से रहित
विचारपूर्वक प्रयोग करे।

५४३. संयमी साधु या साध्वी किसी प्रयोजनवश किन्ही बगीचों में पर्वतों पर
में जाकर वहाँ बड़े-बड़े वृक्षों को देखकर ऐसे न कहे, कि—यह वृक्ष (काटकर) मकान
लगाने योग्य है, यह तोरण नगर का मुख्य द्वार बनाने योग्य है, यह घर बनाने योग्य
फलक (तख्त) बनाने योग्य है, इसकी अर्गला बन सकती है, या नाव बन सकती है,
बड़ी कूंडी अथवा छोटी नौका बन सकती है, अथवा यह वृक्ष चौकी (पीठ) काष्ठमयी
हल, कुलिक, यंत्रयष्टी (कोल्हू) नाभि काष्ठमय अहरन, काष्ठ का आसन आदि ब
योग्य है अथवा काष्ठशय्या (पलंग) रथ आदि यान उपाश्रय आदि के निर्माण के यो
इसप्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातिनी भाषा साधु न बोले।

५४४. संयमी साधु-साध्वी किसी प्रयोजनवश उद्यानों, पर्वतों या वनों में जा
विशाल वृक्षों को देखकर इस प्रकार कह सकते है—कि ये वृक्ष उत्तम जाति के है, दीर्घ
है, वृत्त [गोल] है, ये महालय है, इनके शाखाएं फट गई है, इनकी प्रशाखाएं दूर त
हुई है, ये वृक्ष मन को प्रसन्न करने वाले हैं, दर्शनीय है, अभिरूप है, प्रतिरूप हैं। इस
की असावद्य यावत् जीवोपघात—रहित भाषा का विचारपूर्वक प्रयोग करे।

५४५. साधु या साध्वी प्रचुर मात्रा में लगे हुए वन फलों को देखकर इस प्रकार
जैसे कि—ये फल पक गए है, या पराल आदि में पकाकर खाने योग्य हैं, ये पक जाने से
कालोचित फल है, अभी ये फल बहुत कोमल है, क्योंकि इनमें अभी गुठली नहीं पड़ी
फल तोड़ने योग्य या दो टुकड़े करने योग्य है। इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघा
भाषा न बोले।

५४६. साधु या साध्वी अतिमात्रा में लगे हुए वनफलों को देखकर इसप्रका

भूतरूप—कोमल फल है। इस प्रकार की असावद्य यावत् जीवोपघात रहित भाषा विचारपूर्वक बोले।

५४७. साधु या साध्वी बहुत मात्रा में पैदा हुई औषधियों (गेहूं, चावल आदि के लहलहाते पौधों) को देखकर यों न कहे, कि ये पक गई है, या ये अभी कच्ची या हरी है, ये छवि (फली) वाली हैं, ये अब काटने योग्य हैं, ये भूनने या सेकने योग्य है, इनमें बहुत-सी खाने योग्य है, या चिवड़ा बना कर खाने योग्य हैं। इसप्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातिनी भाषा साधु न बोले।

५४८. साधु या साध्वी बहुत मात्रा में पैदा हुई औषधियों को देखकर (प्रयोजनवश) इस प्रकार कह सकता है, कि इनमें बीज अंकुरित हो गए हैं, ये अब जम गई हैं, सुविकसित या निष्पन्न प्राय हो गई है, या अब ये स्थिर (उपघातादि से मुक्त) हो गई हैं, ये ऊपर उठ गई हैं, ये भुट्टों, सिरों या बालियों से रहित हैं, अब ये भुट्टों आदि से युक्त हैं, या धान्य कणयुक्त हैं। साधु या साध्वी इसप्रकार की निरवद्य यावत् जीवोपघात से रहित भाषा विचारपूर्वक बोले।

विवेचन—दृश्यमान वस्तुओं को देखकर निरवद्य भाषा बोले, सावद्य नहीं—सू० ५३३ से ५४८ तक में आँखों से दृश्यमान वस्तुओं के विविध रूपों को देखकर बोलने का विवेक बताया है। साधु-साध्वी संयमी है, पूर्ण अहिंसाव्रती है और भाषा-समिति-पालक हैं, उन्हें सांसारिक लोगों की तरह ऐसी भाषा नहीं बोलनी चाहिए, जिससे दूसरे व्यक्ति हिंसादि पाप में प्रवृत्त हों, जीवों को पीड़ा, भीति एवं मृत्यु का दुःख प्राप्त हो, छेदन-भेदन करने की प्रेरणा मिले तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु को देखकर बोलने से पहले उसके भावी परिणाम को तौलना चाहिए।

एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के किसी भी जीव की विराधना उसके बोलने से होती हो तो वैसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इन सोलह सूत्रों में निम्नोक्त दृश्यमान वस्तुओं को देखकर सावद्य आदि भाषा बोलने का निषेध और निरवद्य भाषा-प्रयोग का विधान है।

(१) गण्डी, कुष्ठी आदि को देखकर गण्डी, कुष्ठी आदि चित्तोपघातक शब्दों का प्रयोग न करे, किन्तु सभ्य, मधुर गुणसूचक भाषा का प्रयोग करे।

(२) क्यारियाँ, खाइयाँ आदि देखकर 'अच्छी बनी है', आदि सावद्य भाषा का प्रयोग न करे, किन्तु निरवद्य, गुणसूचक भाषा-प्रयोग करे।

(३) मसालों आदि से सुसंस्कृत भोजन को देखकर बहुत बढ़िया बना है, आदि सावद्य व स्वाद-लोलुपता सूचक भाषा का प्रयोग न करे, किन्तु आरम्भजनित है, आदि निरवद्य—यथार्थ भाषका प्रयोग करे।

(४) परिपुष्ट शरीर वाले पशु-पक्षियों या मनुष्यों को देखकर यह स्थूल है, वध्य है,

चर्बी वाला है या पकाने योग्य है आदि असभ्य सावद्यभाषा का प्रयोग न करे, किन्तु सौम्य, निरवद्य, गुणसूचक-भाषा प्रयोग करे।

(५) गायों, बैलों आदि को देखकर यह गाय दुहने योग्य है, यह बैल बधिया करने योग्य है आदि सावद्य भाषा न बोलके निरवद्य गुणसूचक भाषा-प्रयोग करे।

(६) विशाल वृक्षों को देखकर ये काटने योग्य हैं या इनकी अमुक वस्तु बनाई जा सकती है आदि हिंसा-प्रेरक सावद्य भाषा का प्रयोग न करे।

(७) वनफलों को देखकर ये खाने योग्य, तोड़ने योग्य या टुकड़े करने योग्य आदि हैं, ऐसी सावद्य भाषा न बोले।

(८) खेतों में लहलहाते धान्य के पौधों को देखकर ये पक गए हैं, हरे हैं, काटने, भूनने योग्य है आदि सावद्यभाषा का प्रयोग न करे, किन्तु संवृद्धित, विकसित, स्थिर है आदि निरवद्य गुणसूचक भाषा-प्रयोग करना चाहिए।[1]

इन आठ प्रकार की दृश्यमान वस्तुओं पर से शास्त्रकार ने ध्वनित कर दिया है कि सारे संसार की जो भी वस्तुएँ साधु के दृष्टिपथ में आएँ, उनके विषय में कुछ कहने या अपना अभिप्राय सूचित करते समय बहुत ही सावधानी तथा विवेक के साथ परिणाम का विचार करके निरवद्य निर्दोष, गुणसूचक, जीवोपघात से रहित, हृदय को आघात न पहुँचाने वाली भाषा का प्रयोग करे, किन्तु कभी किसी भी स्थिति में सावद्य, सदोष, विवादास्पद, जीवोपघातक आदि भाषा का प्रयोग न करे।[2]

'गंडी' आदि पदों के अर्थ—'गंडी' के दो अर्थ बताए गए हैं—गण्ड (कण्ठ) माला के रोग से ग्रस्त अथवा जिसके पैर और पिण्डलियों में सूजन आ गई हो, तेयंसी = ओजवान। वच्चंसी = दीप्तिमान। पडिरूव = गुण में प्रतिरूप—सुन्दर। पासादियं = प्रसन्नता उत्पन्न करनेवाला। उवक्खडियं = मसाले आदि देकर संस्कारयुक्त पकाया हुआ भोजन। पईय = प्रधान-मुख्य। ऊसढं = उत्कृष्ट या उच्छ्रित-वर्ण-गन्धादि से युक्त। परिवुड्ढकायं = पुष्ट शरीरवाले। पमेइले = गाढ़ी चर्बी (मेद) वाला। वज्झ = वध या वहने योग्य। पाइम = पकाने योग्य या देवता आदि को चढ़ाने योग्य। दोज्झा = दुहने योग्य। दम्मा = दमन (बधिया) करने योग्य। गोरहगा = हल में जोतने योग्य, वाहिमा = हल, धुरा आदि वहन करने में समर्थ। जुवं गवेति = युवा बैल। 'महल्लए' का 'महव्वए' = बड़ा। उदगदोणिजोग्गा = जल का कुण्ड बनाने योग्य, चंगबेर = काष्ठमयी पात्री। नंगल = हल। कुलिय = खेत में घास काटने का छोटा काष्ठ का उपकरण। जंतलट्ठी = कोल्हू या कोल्हू का लट्ठ। णाभि = गाड़ी के पहिए का मध्य भाग। गंडी = गंडिका अहरन या काष्ठफलक, महालया = अत्यन्त विस्तृत वृक्ष। पयायसाला (इ) = जिनकी शाखाएँ फूट गई हैं, विडिमसाला (इ) = जिनमें प्रशाखाएँ फूट गई हैं। पायखज्जाइं = पराल आदि में कृत्रिम ढंग से पका कर खाने

---

१. आचारांग चूर्णि पत्रांक १८९, १९० के आधार पर

२. वही, पत्रांक ३८१ के आधार पर, [ख] दसवै० ७।१७, २८, ३१

योग्य । वेलोतियाइं=अत्यन्त पकने से तोड़ लेने योग्य । टालाइं=कोमल फल, जिनमें न आई हो, । वेहियाइं=दो टुकड़े करने योग्य, वेध्य । णीलियाओ=हरी, कच्ची या अ असंथडा=फलों का अतिभार धारण करने में असमर्थ । भूतरूवा=पूर्वरूप-कोमल । छ फलियाँ, छीमियाँ । लाइमा=लाई या मुढी आदि बनाने योग्य अथवा काटने योग्य । भ =भूंजने-सेकने योग्य, बहुखज्जा (पहुखज्जा)=चिउड़ा बनाकर खाने योग्य ।[1]

वनस्पति की रूढ आदि सात अवस्थाएं भाषणीय—औषधियों के विषय में साधु को प्र वश कुछ कहना हो तो वनस्पति की इन सात अवस्थाओं में से किसी भी एक अवस्था के कह सकता है ।

(१) रूढा—बीज बोने के बाद अंकुर फूटना,

(२) बहुसंभूता—बीजपत्र का हरा और विकसित पत्तों के रूप में हो जाना,

(३) स्थिरा—उपघात से मुक्त होकर बीजांकुर का स्थिर हो जाना,

(४) उत्सृता—संवर्धित स्तम्भ के रूप में आगे बढ़ना,

(५) गर्भिता—आरोह पूर्ण होकर भुट्टा, सिरा या बाली न निकलने तक की अवस्था

(६) प्रसूता—भुट्टा निकलने पर,

(७) ससारा—दाने पड़ जाने पर ।[2]

शब्दादि-विषयक-भाषा-विवेक

५४९. से भिक्खू[3] वा २ जहा वेगतियाइं सद्दाइं सुणेज्जा तहा वि ताइं णो एवं वदेज्ज तंजहा-सुसद्दे ति वा, दुसद्दे ति वा । एतप्पगारं [भासं] सावज्जं जाव णो भासेज्जा ।

५५०. [से भिक्खू वा २ जहा वेगतियाइं सद्दाइं सुणेज्जा] तहा वि ताइं एवं वदेज्ज तंजहा-सुसद्दं[4] सुसद्दे ति वा, दुसद्दं दुसद्दे ति वा । एतप्पगारं [भासं]असावज्जं जाव भासेज्जा

एवं रूवाइं किण्हे ति वा ५, गंधाइं सुब्भिगंधे ति वा २, रसाइं तित्ताणि वा ५, काम कक्खडाणि वा ८ ।[5]

---

१. [क] आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पणी पृष्ठ १६५ [ख] आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८६, ३९०, ३९

[ग] पाइअ-सद्दमहण्णवो

[घ] देखिए—दशवैकालिक सूत्र अ० ७, गा० ११, ४१, ४२, तथा ३२ से ३५ तक

[अ] अगस्त्य० चूर्णि पृ० १७० से १७२, [ब] जिन० चूर्णि पृ० २५३ से २५६

[स] हारि० टीका पत्र २१७ से २१६ तक ।

२. (क) दशवै० अ० ७, गा० ३५ जिन० चूर्णि पृ० २५७, (ख) अग० चूर्णि० पृ० १७३ ।

३. से भिक्खू ..... आदि पंक्ति का तात्पर्य वृत्तिकार के शब्दों में—'स भिक्षुः यद्यप्येतान् शब्दान् शृणु तथापि नैव वदेत् ।' अर्थात् वह भिक्षु यद्यपि इन शब्दों को सुने तथापि इस प्रकार न बोले ।

४. 'सुसद्दं सुसद्दे त्ति' आदि का तात्पर्य वृत्तिकार के शब्दों में—'सुसद्द त्ति शोभनं शब्दं शोभनमेव ब्रूया अशोभनं त्वशोभनमिति । एवं रूपादिसूत्रेष्वपि नेयम् ।'—शोभनीय शब्द को शोभन और अशोभन को अशोभन कहे । इसी प्रकार रूपादि विषयक सूत्रों के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए ।

५. इस सूत्र में ५, २, ५, ८ के अंक शब्दादि-पद भेद-प्रभेद के सूचक हैं । विवेचन देखें पृष्ठ २३१ पर ।

साधु को पंचेन्द्रिय के विषयों में जो जैसा है, वैसा तटस्थ भावपूर्वक कहना चाहिए, भाषा का प्रयोग करते समय राग या द्वेष को मन एवं वाणी में नहीं मिलने देना चाहिए। यही मत चूर्णिकार का है।[1]

भाषण विवेक

५५१. से भिक्खू वा २ वंता[2] कोहं च माणं च मायं च लोभं च अणुवीयि णिट्ठाभासी निसम्मभासी अतुरियभासी विवेगभासी[3] समियाए संजते भासं भासेज्जा।

५५१ साधु या साध्वी क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन (परित्याग) करके विचारपूर्वक निष्ठाभाषी हो, सुन-समझ कर बोले, अत्वरितभाषी, एवं विवेकपूर्वक बोलने वाला हो, और भाषा समिति से युक्त संयत भाषा का प्रयोग करे।

विवेचन— सारांश— इस सूत्र में समग्र अध्ययन का निष्कर्ष दे दिया गया है शास्त्रकार ने साधु को भाषा प्रयोग करने से पूर्व आठ विवेक सूत्र बताए हैं :—

(१) क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करके बोले।
(२) प्रासंगिक विषय और व्यक्ति के अनुरूप विचार (अवलोकन) चिन्तन करके
(३) पहले उस विषय का पूरा निश्चयात्मक ज्ञान कर ले, तब बोले।
(४) विचारपूर्वक या पूर्णतया सुन-समझ कर बोले।
(५) जल्दी-जल्दी या अस्पष्ट शब्दों में न बोले।
(६) विवेकपूर्वक बोले।
(७) भाषा-समिति का ध्यान रखकर बोले।
(८) संयत-परिमित शब्दों में बोले।[4]

५५२. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

५५२. यही (भाषा के प्रयोग का विवेक ही) वास्तव में साधु-साध्वी के आ सामर्थ्य है, जिसमें वह सभी ज्ञानादि अर्थों से युक्त होकर सदा प्रयत्नशील रहे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

॥ "भासज्जाया" चतुर्थमध्ययन समाप्त ॥

---

१. आचारांग चूर्णि मू०पाठ टि०पृ० २०० 'सुब्भिसद्दे रागो, इतरे दोसो'
२. वंता का भावार्थ वृत्तिकार करते हैं—'स भिक्षु, क्रोधादिक वान्त्वा एवं भूतो भवेत्।'—वह क्रोधादि का वमन (त्याग) करके इस प्रकार का हो।
३. 'विवेगभासी' का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—विविच्यते येन कर्म स भाषेत—जिस भाषा-प्रयोग आत्मा से पृथक हो, वैसी भाषा बोले।
४. आचारांग मूल तथा वृत्ति पत्रांक ३९१।

वस्त्रैषणा : पंचम अध्ययन

प्राथमिक

- आचारांग सूत्र (द्वितीय श्रुतस्कन्ध) के पंचम अध्ययन का नाम 'वस्त्रैषणा
- जब तक वस्त्र-रहित (अचेलक) साधना की भूमिका पर साधक नहीं पहुं
  तक वह अपने संयम के निर्वाह एवं लज्जा-निवारण[1] के लिये वस्त्र-ग्रह
  करता है, किन्तु वह जो भी वस्त्र-धारण करता है, उस पर उसकी मम
  होनी चाहिए।
- चूर्णिकार के मतानुसार भाव-वस्त्र (अष्टादशसहस्रशीलांग = संयम) के
  शीत-दंश-मशक आदि से परित्राण के लिए द्रव्यवस्त्र रखने का प्रतिपा
  है।[2] अत. वस्त्र ग्रहण-धारण जिस साधु को अभीष्ट हो, उसे विविध-ए
  ग्रहणैषणा; परिभोगैषणा) का ध्यान रखना आवश्यक है, अन्यथा वस्त्र
  धारण भी अनेक दोषों से लिप्त हो जाएगा।
- इन्हीं उद्देश्यों के विशद स्पष्टीकरण के लिए 'वस्त्रैषणा अध्ययन' प्र
  गया है।[3]
- वस्त्र दो प्रकार के होते हैं—भाव-वस्त्र और द्रव्य-वस्त्र। भाव-वस्त्र
  शीलांग हैं अथवा दिशाएँ या आकाश भाव-वस्त्र हैं।
- द्रव्य-वस्त्र तीन प्रकार का होता है—१. एकेन्द्रियनिष्पन्न (कपास
  वृक्ष की छाल, अलसी, सन (पटसन) आदि से निर्मित), २ विकले
  (चीनांशुक, रेशमीवस्त्र आदि), और ३. पंचेन्द्रियनिष्पन्न (ऊर्
  आदि)।[4]
- इस अध्ययन में वस्त्र किस प्रकार के, कैसे, कितने-कितने प्रमाण में, कि

---

१. 'त पि संजम-लज्जट्ठा धारंति परिहरंति य।' —दशवै०

२. भाववत्थ संरक्षणार्थं दव्ववत्थेसणाहिगारो। सीत-दंस-मसगादीण य परित्राणार्थं।

के, किसविधि से निष्पन्न वस्त्र ग्रहण एवं धारण किये जाएं, इसकी विविध एषणा विधि बताई गई है, अतः इसे 'वस्त्रैषणा-अध्ययन' कहा गया है।

✡ इस अध्ययन के दो उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में वस्त्र-ग्रहण विधि का प्रतिपादन किया गया है, जबकि द्वितीय उद्देशक में वस्त्र-धारण विधि का प्रतिपादन है।[1]

✡ सूत्र संख्या ५५३ से प्रारम्भ होकर ५८७ पर समाप्त होती है।

---

१. (अ) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९२।
(आ) 'पढमे गहणं बीए धरणं, पगयं तु वत्थएसणाए' —आचा० निर्युक्ति गा० [illegible]

पंचमं अज्झयणं 'वत्थेसणा'

[पढमो उद्देसओ]

वस्त्रैषणा : पंचम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

ग्राह्य-वस्त्रों का प्रकार व परिमाण

५५३. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा वत्थं एसित्तए। से ज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा, तं-जहा-जंगियं[1] वा भंगियं वा साणयं वा पोत्तगं वा खोमियं वा तूलकडं वा, तहप्पगारं वत्थं जे णिग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे से एगं वत्थं धारेज्जा, णो बितियं।

जा णिग्गंथी सा चत्तारि संघाडीओ धारेज्जा-एगं दुहत्थवित्थारं, दो तिहत्थवित्थाराओ, एगं चउहत्थवित्थारं।

तहप्पगारेहिं[2] वत्थेहिं असंविज्जमाणेहिं अह पच्छा एगमेगं संसीवेज्जा।

५५३. साधु या साध्वी वस्त्र की गवेषणा करना चाहते है, तो उन्हें जिन वस्त्रो के सम्बन्ध में जानना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—(१) जांगमिक, (२) भांगिक, (३) सानिक, (४) पोत्रक (५) क्षौमिक और (६) तूलकृत। इन छह प्रकार के तथा इसी प्रकार के अन्य वस्त्र को भी मुनि ग्रहण कर सकता है। जो निर्ग्रन्थ मुनि तरुण है, समय के उपद्रव से रहित है, बलवान, रोग-रहित और स्थिर संहनन (दृढशरीर) वाला है, वह एक ही वस्त्र धारण करे, दूसरा नही। (परन्तु) जो साध्वी है, वह चार संघाटिका—चादर धारण करे—उसमें एक दो हाथ प्रमाण विस्तृत, दो तीन हाथ प्रमाण और एक चार हाथ प्रमाण लम्बी होनी चाहिए। इस प्रकार के वस्त्रों के न मिलने पर वह एक वस्त्र को दूसरे के साथ सी ले।

विवेचन—साधु के लिए ग्राह्य वस्त्रों के प्रकार और धारण की सीमा—प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र के उन प्रकारो का तथा अलग-अलग कोटि के साधु साध्वियों के लिए उन वस्त्रों को धारण करने

---

१. 'जंगियं' आदि की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दो मे—जंगमाज्जातं जंगियं, अमिलं = उट्टीणं, भंगियं—"अयसीमादो, सणवं—सणवागादि, पेत्तगं (पत्तग ?) तालसरिसं संघातिज्जति तालसूति वा, खोमियं थूलकडं कप्पति, सण्हं ण कप्पति। तूलकडं वा उण्णिय ओट्टियादि।" इसका भावार्थ विवेचन मे दे दिया गया। चूर्णिकार के मतानुसार क्षौमिक (सूती) वस्त्र मोटा बुना हो तो कल्पता है, बारीक बुना हो तो नहीं। तूलकडं वा का अर्थ—अर्कतूलनिष्पन्न न करके ऊन, ऊँट के बाल आदि से बना कपड़ा किया गया है।

२. 'तहप्पगारेहिं ' के बदले पाठान्तर है—एएहिं अविज्जमाणेहिं।

को ग्रहण करने में क्रीत, आधाकर्म, औद्देशिक, स्थापना, अनिसृष्ट आदि दोषों के विषय में कहा है।[1] इन दोषों से युक्त वस्त्र ग्रहण का निषेध है।

बहुमूल्य बहुआरंभ-निष्पन्न वस्त्र-निषेध

५५७. से भिक्खू वा २ से ज्जाइं पुण वत्थाइं जाणेज्जा विरूवरूवाइं महद्धणमोल्लाइं, तंजहा—आईणगाणि वा सहिणाणि वा सहिणकल्लाणाणि वा आयाणि वा कायाणि वा खोमियाणि[2] वा दुगुल्लाणि वा पट्टाणि वा मलयाणि वा पत्तुण्णाणि वा अंसुयाणि वा चीणंसुयाणि वा देसरागाणि वा अमिलाणि वा गज्जलाणि वा फालियाणि वा कोयवाणि वा कंबलगाणि वा पावाराणि वा, अण्णतराणि वा तहप्पगाराइं वत्थाइं महद्धणमोल्लाइं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

५५८. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण आईणपाउरणाणि वत्थाणि जाणेज्जा, तंजहा-उद्दाणि वा पेसाणि वा पेसलेसाणि वा किण्हमिगाईणगाणि वा णीलमिगाईणगाणि वा गोरमिगाईणगाणि वा कणगाणि वा कणगकंताणि[3] वा कणगपट्टाणि[4] वा कणगखइयाणि[5] वा कणगफुसियाणि वा वग्घाणि वा[6] विवग्घाणि वा आभरणाणि वा आभरणविचित्ताणि वा अण्णतराणि वा तहप्पगाराइं आईणपाउरणाणि वत्थाणि लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

५५७ संयमशील साधु-साध्वी यदि ऐसे नानाप्रकार के वस्त्रों को जाने, जो कि महाधन से प्राप्त होने वाले (बहुमूल्य) वस्त्र हैं, जैसे कि—आजिनक (चूहे आदि के चर्म से बने हुए) श्लक्ष्ण-(महीन) वर्ण और छवि आदि के कारण बहुत सूक्ष्म या मुलायम, श्लक्ष्णकल्याण-सूक्ष्म और मंगलमय चिन्हों से अंकित, आजक-किसी देश की सूक्ष्म रोएं वाली बकरी के रोम से निर्मित

---

1. [illegible] भाग ५ बोल ८९५ पृ० १९१-१९२
2. 'खोमियं' का अर्थ चूर्णिकार ने सामान्य कपास से बना हुआ वस्त्र किया है, लेकिन यहाँ [illegible] सूची में इसे लिया है, इसका रहस्य यह है कि जो सूती वस्त्र हो, लेकिन बहुत ही [illegible] पर [illegible] के किनारी आदि लगे हुए हों तो वह बहुमूल्य हो जाएगा। निशीथचूर्णि [illegible] में [illegible] अर्थ ही [illegible] किया है 'पोंडमया खोमया, अण्णे भणंति [illegible] [illegible]।'—रुई के रेशे से बना या वृक्षों से निकलने वाले रस से बना हुआ वस्त्र।
3. 'कणगकंताणि' के बदले पाठान्तर है—कणगकताणि। अर्थ है—जिसकी किनारी सुनहरी है [illegible]।
4. 'कणगपट्टाणि' के बदले पाठान्तर है—कणगपट्टाणि। अर्थ है—जिसके [illegible] [illegible] हैं।
5. कणगखइयाणि का अर्थ निशीथ चूर्णि में किया गया है—कणगसुत्तेण [illegible] [illegible] कणगफुसियाणि [illegible] (बूंदें) से जिस पर फूल अंकित किये हैं, वह है—कणगफुसियाणि।
6. [illegible] इन शब्दों का अर्थ निशीथचूर्णि में यों दिया है—[illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

—इन्द्रनीलवर्ण कपास से निर्मित, क्षौमिक दुकूल—गौड़देश में उत्पन्न विशिष्ट कपास से बने स्त्र, पट्टरेशम के वस्त्र, मलयज (चन्दन) के सूते मे बने या मलयदेश में बने वस्त्र, वल्कल-तों से निर्मित वस्त्र अंशक-बारीक वस्त्र, चीनांशुक-चीन देश के बने अत्यन्त सूक्ष्म एव कोमल त्र, देशराग—एक प्रदेश से रंगे हुए, अमिल-रोमदेश में निर्मित, गर्जल—पहनते समय बिजली समान कड़कड़ शब्द करने वाले वस्त्र, स्फटिक—स्फटिक के समान स्वच्छ पारसी कंबल, या मोटा कंबल तथा अन्य इसीप्रकार के बहुमूल्य वस्त्र प्राप्त होने पर भी विचारशील साधु उन्हे ग्रहण न करे।

५५८. साधु या साध्वी यदि चर्म से निष्पन्न ओढने के वस्त्र जाने जैसे कि औद्र—सिन्धु देश के मत्स्य के चर्म और सूक्ष्म रोम से निष्पन्न, वस्त्र पेष-सिन्धुदेश के सूक्ष्म चर्मवाले जानवरो से निष्पन्न, पेषलेश-उसी के चर्म पर स्थित सूक्ष्म रोमो से बने हुए, कृष्ण, नील और गौरवर्ण के मृगों के चमड़ों से निर्मित वस्त्र, स्वर्णरस में लिपटे वस्त्र, सोने की कान्ति वाले वस्त्र, सोने के रस पट्टियाँ दिये हुए वस्त्र, सोने के पुष्प गुच्छों से अंकित सोने के तारों से जटित, और स्वर्ण चन्द्रिकाओ से स्पर्शित, व्याघ्रचर्म, चीते का चर्म, आभरणो से मण्डित, आभरणों से चित्रित ये तथा अन्य इसीप्रकार के चर्म-निष्पन्न प्रावरण=वस्त्र प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

विवेचन—बहुमूल्य एवं चर्म-निष्पन्न वस्त्र ग्रहण-निषेध—प्रस्तुत सूत्रद्वय में उस युग में प्रचलित कतिपय बहुमूल्य एवं चर्मनिर्मित वस्त्रों के ग्रहण का निषेध किया गया है। इस निषेध के पीछे निम्नलिखित कारण हो सकते है—

(१) ये अनेक प्रकार के आरम्भ-समारम्भ (प्राणि-हिंसा) से तैयार होते है।

(२) इनके चुराये जाने या लूटे-छीने जाने का डर रहता है।

(३) साधुओं के द्वारा ऐसे वस्त्रों की अधिक माग होने पर ऐसे वस्त्रो के लिए उन-उन पशुओ को मारा जाएगा, भयंकर पंचेन्द्रियवध होगा।

(४) साधुओ की इन बहुमूल्य वस्त्रो पर मोह, मूर्च्छा पैदा होगी, संचित करके रखने की वृत्ति पैदा होगी।

(५) साधुओ का जीवन सुकुमार बन जाएगा।

(६) इतने बहुमूल्य वस्त्र साधारण गृहस्थ के यहाँ मिल नही सकेंगे।

(७) विशिष्ट धनाढ्य गृहस्थ भक्तिभाववाला नही होगा, तो वह साधुओ को ऐसे कीमती वस्त्र नही देगा, साधु उन्हें परेशान भी करेंगे।

(८) भक्तिमान धनाढ्य गृहस्थ मोल लाकर या विशेष रूप से बुनकरों से बनवाकर देगा।

(९) एषणादोष लगने की संभावना अधिक है।[1]

---

१. आचाराग मूल तथा वृत्ति पत्रांक ३६४ के आधार पर

(१०) चमड़े के वस्त्र घृणाजनक, अपवित्र और अमंगल होने से इनका उपयोग साधुओं के लिए उचित एवं शोभास्पद नहीं।

'महामूल्य' किसे कहते है इस विषय में अभयदेवसूरि ने बताया है—'पाटली पुत्र के सिक्के से जिसका मूल्य अठारह मुद्रा (सिक्का-रुपया) से लेकर एक लाख मुद्रा (रुपया) तक हो वह महामूल्य वस्त्र होता है।'[1]

अण्णतराणि वा तहप्पगाराइं—बहुमूल्य एवं चर्म-निर्मित वस्त्रों के ये कतिपय नाम शास्त्रकार ने गिनाए है। इनके अतिरिक्त प्रत्येक युग में जो भी बहुमूल्य, सूक्ष्म, चर्म एवं रोमों से निर्मित, दुर्लभ तथा महाआरम्भ से निष्पन्न होने वाले वस्त्र प्रतीत हों, उन्हें साधु ग्रहण न करे सूत्रकार का यह आशय है।

'आइणगाणि' आदि पदों के विशेष अर्थ—आचारांगचूर्णि, निशीथचूर्णि आदि में इन पदों के विशिष्ट अर्थ दिये गए है। आइणगाणि=अजिन—चर्म से निर्मित। सायाणि=तोसलिदेश में अत्यन्त सर्दी पड़ने पर बकरियों के खुरों में सेवाल जैसी मस्तु लग जाती है, उसे उखाड़कर उससे बनाये जाने वाले वस्त्र। कायाणि=काक देश में कौए की जांघ की मणि जिस तालाब में पड़ जाती है, उस मणि की जैसी प्रभा होती है, वैसी ही वस्त्र की हो जाती है, उन काकमणि रंजित वस्त्रों को काकवस्त्र कहते हैं। खोमियाणि=क्षोम कहते है पौंड-पुष्पमय वस्त्र को, अथवा जैसे वट वृक्ष से शाखाएँ निकलती है, वैसे ही वृक्षों से लंबे-लंबे रेशे निकलते हैं, उनसे बने हुए वस्त्र दुगुल्लाणि=दुकूल एक वृक्ष का नाम है, उसकी छाल लेकर ऊखल में कूटी जाती है, जब वह भुस्से जैसी हो जाती है तब उसे पानी में भिगोकर रेसे बनाकर वस्त्र निर्माण किया जाता है। पट्टाणि=तिरीड़ वृक्ष की छाल के तन्तु पट्टसदृश होते हैं उनसे निर्मितवस्त्र तिरीडपट्ट वस्त्र अथवा रेशम के कीड़ों के मुंह से निकलने वाले तारों से बने वस्त्र।[2] मलयाणि=मलयदेश (मैसूर आदि) में चन्दन के पत्तों को सडाया जाता है, फिर उनके रेशों से बने वस्त्र, पत्तुण्णाणि-वल्कल से बने हुए बारीक वस्त्र[3] देसराग=जिस देश में रंगने की जो विधि है, उस देश में रंगे हुए वस्त्र, गज्जलाणि=जिनके पहनने पर विद्युत्गर्जन-सा कड़कड़ शब्द होता है, वे गर्जल वस्त्र। कणगो=सोने को पिघला कर उससे सूत रंगा जाता है, और वस्त्र बनाये जाते हैं।[4] कणगकंताणि=जिनके सोने की किनारी हो, ऐसे वस्त्र। विवग्घाणि=चीते का चमड़ा।

कोतव आदि के ग्रहण का निषेध क्यों? कोतप, कंबल (फारस देश के बने गलीचे) तथा

---

१. (क) स्थानांग वृत्ति, पत्र ३२२

(ख) विनयपिटक (महावग्ग) ८।८।१२ पृ० २६८ में शिविदेश में बने 'सिवेय्यकवत्थ' का उल्लेख है जो एक लाख मुद्रा में मिलता था।

२. अनुयोगद्वार सूत्र (३७) की टीका के अनुसार—किसी जंगल में संचित किये हुए मांस के चारों ओर एकत्रित कीड़ों से 'पट्ट' वस्त्र बनाये जाते थे। —जैन० सा० बा० पृ० २०३

३. 'पत्तोर्ण' का उल्लेख महाभारत २।७८।५४ में भी है।

४. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २०२,२०३ (ख) निशीथ चूर्णि उ० ७ पृ० ३९९,४०० (ग) पाइअ-सद्दमहण्णवो (घ) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९८

प्रावारक महंगे होने के अतिरिक्त ये बीच-बीच में छूंछे, छिद्रवाले या पोले होते हैं, जिनमें जीव घुस जाते हैं, जिनके मरने की आशंका रहती है तथा प्रतिलेखन भी ठीक से नहीं हो सकता, इन सब दोषों के कारण ये वस्त्र अग्राह्य कोटि में गिनाये हैं।[1]

वस्त्रैषणा की चार प्रतिमाएं

५५९. इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा चउहिं पडिमाहिं[2] वत्थं एसित्तए।

[१] तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा—से भिक्खू वा २ उद्दिसिय २ वत्थं जाएज्जा, तंजहा-जंगियं वा भंगियं वा साणयं वा पोत्तगं वा खोमियं वा तूलकडं वा, तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुयं एसणिज्जं लाभे संते जाव पडिगाहेज्जा।

[२] अहावरा दोच्चा पडिमा—से भिक्खू वा २ पेहाए २ वत्थं जाएज्जा, तंजहा—गाहावती वा जाव कम्मकरी वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भइणी ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णतरं वत्थं? तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुयं एसणिज्जं लाभे संते जाव[3] पडिगाहेज्जा। दोच्चा पडिमा।

[३] अहावरा तच्चा पडिमा—से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा, तंजहा-अंतरिज्जगं वा उत्तरिज्जगं वा, तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा जाव[4] पडिगाहेज्जा। तच्चा पडिमा।

[४] अहावरा चउत्था पडिमा—से भिक्खू वा २ उज्झियधम्मियं वत्थं जाएज्जा जं चऽण्णे बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा णावकंखंति, तहप्पगारं उज्झियधम्मियं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुयं[5] जाव पडिगाहेज्जा। चउत्था पडिमा।

५६०. इच्चेताणं चउण्हं पडिमाणं जहा पिंडेसणाए।

---

१. आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २०२ कोयव-कंबलपावारादीणि झुसि दोसाय य गुण्हीयात्।

२. चूर्णि (आचा०) में इस पाठ की व्याख्या इस प्रकार मिलती है—'चउरो पडिमा—उद्दिसिय जंगिय-मादी। बितियं पेहाए पुच्छिते भणति-एरिस। अहवा पेहाए उक्खेव निक्खेव निद्देसं बोयाण न्वरि। ततियाए अतरिज्जग साडगो, उत्तरिज्जग पगरण . . . रज्जग पच्छाओ। . . . —(१) जंगीय आदि . . . (२) दूसरी . . . ५९ उक्खेप या निक्षेप का . . . है।

(३) तृतीय प्रतिमा में अन्तरीयक वस्त्र, चादर और उत्तरीयक ऊपर लपेटने का, अथवा अन्तरीयक नीचे बिछाने का, उत्तरीयक प्रच्छादन पट। (४) उज्झितधार्मिक के इत्यादि चतुर्विध आलापक हैं। (बृहत्कल्प सूत्र वृत्ति पृ० १८० और निशीथ चूर्णि उ० ५ (पृ० ५६८) में भी इसका उल्लेख है।)

३. 'जाव' शब्द से यहाँ 'लाभे संते से लेकर 'पडिगाहेज्जा' तक का पाठ सू० ४०९ के अनुसार है।

४. जाव शब्द से यहाँ इसी सूत्र के [२] विभाग में उल्लिखित समझना चाहिए।

५. यहाँ 'जाव' शब्द से 'फासुय' से लेकर 'पडिगाहेज्जा' तक का पाठ सू० ४०९ के अनुसार समझें।

५५९. इन (पूर्वोक्त) दोषों के आयतनों (स्थानों) को छोड़कर चार प्रतिमाओं (अभिग्रहविशेषो) से वस्त्रैषणा करनी चाहिए।

[१] पहली प्रतिमा-वह साधु या साध्वी मन में पहले संकल्प किये हुए वस्त्र की याचना करे, जैसे कि—जागमिक, भांगिक, सानज, पोत्रक, क्षौमिक या तूलनिर्मित वस्त्र (इन वस्त्र प्रकारो में से एक प्रकार के वस्त्र ग्रहण का मन में निश्चय करे) उस प्रकार के वस्त्र की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ स्वयं दे तो प्रासुक और एषणीय होने पर ग्रहण करे।

[२] दूसरी प्रतिमा—वह साधु या साध्वी (गृहस्थ के यहाँ) वस्त्र को पहले देखकर गृहस्वामी यावत् नौकरानी आदि से उसकी याचना करे देखकर इस प्रकार कहे-आयुष्मन् गृहस्थ भाई! अथवा बहन! क्या तुम इन वस्त्रों में से किसी एक वस्त्र को मुझे दोगे? दोगी? इस प्रकार साधु या साध्वी पहले स्वयं वस्त्र की याचना करे अथवा वह गृहस्थ दे तो प्रासुक एवं एषणीय होने पर ग्रहण करे। यह दूसरी प्रतिमा हुई।

[३] तीसरी प्रतिमा—साधु या साध्वी (गृहस्थ द्वारा परिभुक्त प्राय.) वस्त्र के सम्बन्ध में जाने, जैसे कि—अन्दर पहनने के योग्य या ऊपर पहनने के योग्य चादर आदि अन्तरीय। तदनन्तर उस प्रकार के वस्त्र की स्वय याचना करे या गृहस्थ उसे स्वयं दे तो उस वस्त्र को प्रासुक एव एषणीय होने पर मिलने पर ग्रहण करे। यह तीसरी प्रतिमा हुई।

[४] चौथी प्रतिमा—वह साधु या साध्वी उज्झितधार्मिक (गृहस्थ के द्वारा पहनने के बाद फेंके हुए) वस्त्र की याचना करे। जिस वस्त्र को बहुत से अन्य शाक्यादि भिक्षु यावत् भिखारी लोग भी लेना न चाहे ऐसे उज्झित-धार्मिक (फेंकने योग्य) वस्त्र की स्वय याचना करे अथवा वह गृहस्थ स्वयं ही साधु को दे तो उस वस्तु को प्रासुक और एषणीय जानकर ग्रहण कर ले। यह चौथी प्रतिमा हुई।

५६०. इन चारों प्रतिमाओं के विषय में जैसे पिण्डैषणा अध्ययन में वर्णन किया गया है, वैसे ही यहाँ समझ लेना चाहिए।

विवेचन—वस्त्रैषणा से सम्बन्धित चार प्रतिमाएँ—पिण्डैषणा-अध्ययन में जैसे पिण्डैषणा की ४ प्रतिमाएँ बताई गई है, वैसे ही यहाँ वस्त्रैषणा से सम्बन्धित ४ प्रतिमाएं बताई गई है। उनके नाम इस प्रकार है—१. उद्दिष्टा, २. प्रेक्षिता, ३ परिभुक्त पूर्वा और ४ उज्झित धार्मिका।

चारों प्रतिमाओं का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) मैं पहले से संकल्प या नामोल्लेख करके वस्त्र की याचना करूंगा।

(२) मैं वस्त्र को स्वय देखकर ही याचना करूंगा।

(३) अन्दर पहनने के या बाहर ओढ़ने के जिस वस्त्र को दाता ने पहले उपयोग कर लिया है, उसी को ग्रहण करूंगा।

(४) जो वस्त्र अब काम का नहीं रहा, फेंकने योग्य है, उसी वस्त्र को ग्रहण करूंगा।

रणा अध्ययन में उक्त प्रतिज्ञापालन से प्रादुर्भूत अहंकार के विसर्जन की
कार ने सूत्र ५६० के द्वारा अभिव्यक्त की है। वस्त्रैषणा-प्रतिमापालक साधु
ौर दूसरे साधुओं को निकृष्ट न माने। वह सभी प्रकार के प्रतिमापालक
नुवर्ती तथा समान माने। समाधिभाव में रहे।[1]

निषेध

ां णं एताए एसणाए एसमाणं परो वदेज्जा-आउसंतो समणा! एज्जाहि तुमं
ा वा पंचरातेण वा सुते[3] या सुततरे वा, तो ते वयं आउसो! अण्णतरं
प्पगारं णिग्घोसं सोच्चा निसम्म से पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसो! ति
ा, णो खलु मे कप्पति एतप्पगारे संगारे[3] पडिसुणेत्तए, अभिकंखसि मे दाउं

ं।

ावं वदंतं परो वदेज्जा-आउसंतो समणा! अणुगच्छाहि[4], तो ते वयं अण्ण-
। से पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसो! ति वा, भइणी! ति वा, णो खलु मे
संगारवयणे पडिसुणेत्तए, अभिकंखसि मे दाउं इयाणिमेव दलयाहि।

ावं वदंतं परो णेता वदेज्जा-आउसो! ति वा, भगिणी! ति वा, आहरेतं
सामो[5], अवियाई वयं पच्छा वि अप्पणो सयट्ठाए पाणाइं भूताइं जीवाइं
मुद्दिस्स जाव चेतेस्सामो। एतप्पगारं निग्घोसं सोच्चा निसम्म तहप्पगारं
णो पडिगाहेज्जा।

ा णं परो णेता वदेज्जा—आउसो! ति वा, भइणी! ति वा, आहर एयं
जाव आघंसित्ता वा पघंसित्ता वा समणस्स णं दासामो। एतप्पगारं

वृत्ति पत्रांक ३६५ के आधार पर
र्णि मूलपाठ टिप्पण पृ० २०४
वा' के बदले 'सुतेण वा सुततरे वा', सुए वा सुततराए वा, सुतेण वा सुतन्तेण वा'
है।
' 'संगारवयणे' पाठ है।
के बदले पाठान्तर है—'अहुणा गच्छाहि'। अर्थात्—'इस समय तो जाओ' वृत्तिकार
ा है—''अनुगच्छ तावत् पुनः स्तोकवेलाया समागताय दास्यामि।' अभी तो जाओ।
े लौटने पर दूंगी/दूंगा।
दले 'बंधामो' एवं डाहामो पाठान्तर हैं। अर्थ समा

इस मन में विचार करके उस गृहस्थ से कहे—"आयुष्मन् गृहस्थ अथवा बहन ! मेरे लिए इस प्रकार से प्रतिज्ञापूर्वक वचन स्वीकार करना कल्पनीय नहीं है। अगर मुझे देना चाहते/चाहती हो तो इसी समय दे दो।"

५६३. साधु के इस प्रकार कहने पर यदि वह गृहस्थ घर के किसी सदस्य (बहन आदि) से (बुलाकर) यों कहे कि "आयुष्मन् या बहन ! वह वस्त्र लाओ, हम उसे श्रमण को देंगे। हम तो अपने लिए बाद में भी प्राणी, भूत, जीव और सत्वों का समारम्भ करके और उद्देश्य करके यावत् और वस्त्र बनवा लेंगे।" इस प्रकार का वार्तालाप सुन कर उस पर विचार करके उस प्रकार के वस्त्र को अप्रासुक एवं अनेषणीय जान कर ग्रहण न करे।

५६४. कदाचित् गृहस्वामी घर के किसी व्यक्ति से यों कहे कि "आयुष्मन् अथवा बहन ! वह वस्त्र लाओ, तो हम उसे स्नानीय पदार्थ से, चन्दन आदि उद्वर्तन द्रव्य से, लोध से, वर्ण से, चूर्ण से या पद्म आदि सुगन्धित पदार्थों से, एक बार या बार-बार घिसकर श्रमण को देंगे।" इस प्रकार का वचन सुनकर एवं उस पर विचार करके वह साधु पहले से ही कह दे—"आयुष्मन् गृहस्थ ! या आयुष्मती बहन ! तुम इस वस्त्र को स्नानीय पदार्थ से यावत् पद्म आदि सुगन्धित द्रव्यों से आघर्षण या प्रघर्षण मत करो। यदि मुझे यह वस्त्र देना चाहते/चाहती हो तो ऐसे ही दो।" साधु के द्वारा इस प्रकार कहने पर भी वह गृहस्थ स्नानीय सुगन्धित द्रव्यों से एकबार या बार-बार घिसकर उस वस्त्र को देने लगे तो उस प्रकार के वस्त्र को अप्रासुक एवं अनेषणीय जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

५६५. कदाचित् गृहपति घर के किसी सदस्य से कहे कि "आयुष्मन् ! या बहन ! उस वस्त्र को लाओ, हम उसे प्रासुक शीतल जल से या प्रासुक उष्ण जल से एक बार या कई बार धोकर श्रमण को देंगे।" इस प्रकार की बात सुनकर एवं उस पर विचार करके वह पहले ही दाता से कह दे—"आयुष्मन् गृहस्थ (भाई) ! या बहन ! इस वस्त्र को तुम प्रासुक शीतल जल से या प्रासुक उष्ण जल से एक बार या कई बार मत धोओ। यदि मुझे इसे देना चाहते हो तो ऐसे ही दे दो।" इस प्रकार कहने पर भी यदि वह गृहस्थ उस वस्त्र को ठंडे या गर्म जल से एक बार या कई बार धोकर साधु को देने लगे तो वह उस प्रकार के वस्त्र को अप्रासुक एवं अनेषणीय जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

५६६. यदि वह गृहस्थ अपने घर के किसी व्यक्ति से यों कहे कि आयुष्मन् ! या बहन! उस वस्त्र को लाओ, हम उसमें से कन्द यावत् हरी (वनस्पति) निकालकर (विशुद्ध करके) साधु को देंगे। इस प्रकार की बात सुनकर, उस पर विचार करके वह पहले ही दाता से कह दे—"आयुष्मन् गृहस्थ ! या बहन ! इस वस्त्र में से कन्द यावत् हरी मत निकालो (विशुद्ध मत करो)। "मेरे लिए इस प्रकार का वस्त्र ग्रहण करना कल्पनीय नहीं है।

५६७. साधु के द्वारा इस प्रकार कहने पर भी वह गृहस्थ कन्द यावत् हरी वस्तु को

मैं अन्दर-बाहर चारों ओर से (खोलकर) भलीभांति देखूंगा, क्योंकि केवली वस्त्र को प्रतिलेखना किये बिना लेना कर्मबन्धन का कारण है। कदाचित् पर कुछ बंधा हो, कोई कुण्डल बंधा हो, या धागा, चादी, सोना, मणिरत्न, ाला बंधी हो, या कोई प्राणी, बीज या हरी वनस्पति बंधी हो। इसीलिए तीर्थंकर आदि आप्तपुरुषों ने पहले से ही इस प्रतिज्ञा, हेतु, कारण और किया है कि साधु वस्त्र ग्रहण से पहले ही उस वस्त्र की अन्दर-बाहर चारों ा करे।

वस्त्र लेने से पूर्व भलीभांति देखभाल लें—प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र ग्रहण करने सावधानी की ओर संकेत किया है, वह है वस्त्र को पहले अन्दर-बाहर सभी रह देख-भाल कर लें।[1] विना प्रतिलेखन किये वस्त्र ले लेने से निम्नलिखित ना है—(१) वस्त्र के पल्ले में कोई कीमती चीज बंधी हो, साधु को उसे ोप लगेगा, (२) गृहस्थ की वह चीज गुम हो जाने से उस साधु पर शंका बीच में से फटा हो तो फिर साधु का उस वस्त्र के ग्रहण करने का प्रयोजन) वस्त्र को गृहस्थ ने साधु के लिए विविध द्रव्यों से सुवासित कर रखा हो, फूलपत्ती आदि या चादी सोने के बेलबूटे आदि किये हों। (५) उस वस्त्र में , चींटी आदि कोई जीव लगा हो, बीज बंधे हो या हरी वनस्पति बंधी की संभावना है। (६) किसी ने द्वेषवश उस वस्त्र पर विष लगा दिया हो, ाण वियोग की संभावना हो। (७) उस वस्त्र की अपेक्षित लम्बाई-चौड़ाई साधु को उक्त वस्त्र अपनी निश्राय में लेने से पूर्व गृहस्थ से कहना चाहिए— वत्थं अंतोअंतेण पडिलेहिस्सामि।'—अर्थात् मैं प्रतिलेखन करता हूं तब तक यह मेत्व का या तुम्हारा है......।[2]

वेक

भिक्खू वा २ से ज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा सअंडं जाव संताणं तहप्पगारं वत्थं पडिगाहेज्जा।

भिक्खू वा २ से ज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं अणलं अथिरं ं रोइज्जंतं ण रुच्चति[3], तहप्पगारं वत्थं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

पाठ एवं वृत्ति पत्रांक ३९५।

पत्रांक ३९५।

बदले पाठान्तर है—'नो रोइज्ज, नो रोचइ।' अर्थ समान है।

५६८. कदाचित् वह गृहस्वामी (साधु के द्वारा याचना करने पर) वस्त्र (घर में लाकर) साधु को दे, तो वह पहले ही विचार करके उससे कहे—आयुष्मन् गृहस्थ ! या बहन ! तुम्हारे ही इस वस्त्र को मैं अन्दर-बाहर चारों ओर से (खोलकर) भलीभाँति देखूंगा, क्योंकि केवली भगवान् कहते हैं— वस्त्र की प्रतिलेखना किये बिना लेना कर्मबन्धन का कारण है। कदाचित् उस वस्त्र के सिरे पर कुछ बंधा हो, कोई कुण्डल बंधा हो, या धागा, चांदी, सोना, मणिरत्न, यावत् रत्नों की माला बंधी हो, या कोई प्राणी, बीज या हरी वनस्पति बंधी हो। इसीलिए भिक्षुओं के लिए तीर्थंकर आदि आप्तपुरुषों ने पहले से ही इस प्रतिज्ञा, हेतु, कारण और उपदेश का निर्देश किया है कि साधु वस्त्र ग्रहण से पहले ही उस वस्त्र की अन्दर-बाहर चारों ओर से प्रतिलेखना करे।

विवेचन - वस्त्र लेने से पूर्व भलीभाँति देखभाल लें—प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र ग्रहण करने से पूर्व एक विशेष सावधानी की ओर संकेत किया है, वह है वस्त्र को पहले अन्दर-बाहर सभी कोनों से अच्छी तरह देख-भाल कर ले।[1] बिना प्रतिलेखन किये वस्त्र ले लेने से निम्नलिखित खतरों की सम्भावना है—(१) वस्त्र के पल्ले में कोई कीमती चीज बंधी हो, साधु को उसे रखने से परिग्रह दोष लगेगा; (२) गृहस्थ की वह चीज गुम हो जाने से उस साधु पर शंका होगी, (३) वस्त्र बीच में से फटा हो तो फिर साधु का उस वस्त्र के ग्रहण करने का प्रयोजन सिद्ध न होगा, (४) वस्त्र को गृहस्थ ने साधु के लिए विविध द्रव्यों से सुवासित कर रखा हो, या उसमें बीच में फूलपत्ती आदि या चांदी सोने के बेलबूटे आदि किये हों। (५) उस वस्त्र में दीमक, खटमल, जूं, चींटी आदि कोई जीव लगा हो, बीज बंधे हो या हरी वनस्पति बंधी हो तो जीव-हिंसा की संभावना है। (६) किसी ने द्वेषवश उस वस्त्र पर विष लगा दिया हो, जिसे पहनते ही प्राण वियोग की संभावना हो। (७) उस वस्त्र की अपेक्षित लम्बाई-चौड़ाई न हो। इसीलिए साधु को उक्त वस्त्र अपनी निश्राय में लेने से पूर्व गृहस्थ से कहना चाहिए— "तुम चेव णं संतियं वत्थं अंतोअंतेण पडिलेहिस्सामि।"—अर्थात् मैं प्रतिलेखन करता हूँ तब तक यह वस्त्र तुम्हारे स्वामित्व का या तुम्हारा है……।[2]

ग्राह्य-अग्राह्य-वस्त्र-विवेक

५६९. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा सअंडं जाव संताणं तहप्पगारं वत्थं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

५७०. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा अप्पडं जाव संताणगं अणलं अथिरं अधुवं अधारणिज्जं रोइज्जंतं ण रुच्चति[3], तहप्पगारं वत्थं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

---

१. आचारांग मूल पाठ एवं वृत्ति पत्रांक ३६५।

२ आचारांग वृत्ति पत्रांक ३६५।

३. 'ण रुच्चति' के बदले पाठान्तर है—'णो रोइज्ज, णो रोयइ।' अर्थ समान है।

त—इस प्रकार चारों विशेषताओं से युक्त प्रशस्त वस्त्र रुचिकर एवं देय होने
रुचि न हो, अथवा साधु को लेना पसंद या कल्पनीय न हो तो वैसा वस्त्र

भिक्खू वा २ 'णो णवए मे वत्थे' त्ति कट्टु णो बहुदेसिएण सिणाणेण वा[1] जाव

भिक्खू वा २ 'णो णवए मे वत्थे' त्ति कट्टु णो बहुदेसिएण सीओदगवियडेण
डेण वा[3] जाव पधोएज्ज वा।

भिक्खू वा २ 'दुब्भिगंधे मे वत्थे' त्ति कट्टु णो बहुदेसिएण सिणाणेण वा तहेव
ा उसिणोदगवियडेण वा आलावओ।

ा वस्त्र नया नहीं है', ऐसा सोच कर साधु या साध्वी उसे [पुराने वस्त्र को]
न्धित द्रव्य से यावत् पद्मराग से आघर्षित-प्रघर्षित न करे।
ा वस्त्र नूतन नहीं है' इस अभिप्राय से साधु या साध्वी उस मलिन वस्त्र
ाड़े-बहुत शीतल या उष्ण प्रासुक जल से एक बार या बार-बार प्रक्षालन

ा वस्त्र दुर्गन्धित है', यों सोचकर उसे [विभूषा की दृष्टि से] बहुत बार
त द्रव्य आदि से आघर्षित-प्रघर्षित न करे, न ही शीतल या उष्ण प्रासुक
ार या बार बार धोए। यह आलापक भी पूर्ववत् है।
वस्त्र को सुन्दर बनाने का प्रयत्न ; निषिद्ध—प्रस्तुत तीन सूत्रों में सुन्दर एवं

वृत्ति पत्रांक ३९६।
चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० २०७ में—
अपज्जत्तग, अथिरं=दुब्बलगं, अधुव=पाडिहारिय, अधारणिज्जं=अलक्खण, एत
च्छति।''
ाष्य गा० ४६२६ में देखें—
अलं अपज्जत्त खलु, अथिरं अदढ तु होति णायव्व।
ाधुवं तु पाडिहारियमलक्खणमधारणिज्जं तु॥
द' से 'सिणाणेण वा' से 'पघंसेज्ज वा' तक का पाठ सू० ४२१ के अनुसार समझें।
द से 'उसिणोदगवियडेण वा' से 'पधोएज्ज वा' तक का पाठ सू० ४२१ के अनुसार

(पाडिहारिय)—थोड़े समय के उपयोग के लिए दिया गया हो। अधारणिज्जं=जो अप्रशस्त हो, खजन आदि के चिन्ह (धब्बे) जिस पर अंकित हो, अतः जो वस्त्र लक्षणहीन हो। रोइज्जं त ण रुच्चति=इस प्रकार चारों विशेषताओं से युक्त प्रशस्त वस्त्र रुचिकर एवं देय होने पर भी दाता की रुचि न हो, अथवा साधु को लेना पसंद या कल्पनीय न हो तो वैसा वस्त्र भी अग्राह्य है।[1]

वस्त्र-प्रक्षालन निषेध

५७२. से भिक्खू वा २ 'णो णवए मे वत्थे' त्ति कट्टु णो बहुदेसिएण सिणाणेण वा[2] जाव पघंसेज्ज वा।

५७३. से भिक्खू वा २ 'णो णवए मे वत्थे' त्ति कट्टु णो बहुदेसिएण सीओदगवियडेण वा उसीणोदगवियडेण वा[3] जाव पधोएज्ज वा।

५७४. से भिक्खू वा २ 'दुब्भिगंधे मे वत्थे' त्ति कट्टु णो बहुदेसिएण सिणाणेण वा तहेव सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा आलावओ।

५७२. 'मेरा वस्त्र नया नहीं है', ऐसा सोच कर साधु या साध्वी उसे [पुराने वस्त्र को] थोड़े या बहुत सुगन्धित द्रव्य से यावत् पद्मराग से आघर्षित-प्रघर्षित न करे।

५७३. 'मेरा वस्त्र नूतन नहीं है' इस अभिप्राय से साधु या साध्वी उस मलिन वस्त्र को बहुत बार थोड़े-बहुत शीतल या उष्ण प्रासुक जल से एक बार या बार-बार प्रक्षालन न करे।

५७४. 'मेरा वस्त्र दुर्गन्धित है', यों सोचकर उसे [विभूषा की दृष्टि से] बहुत बार थोड़े-बहुत सुगन्धित द्रव्य आदि से आघर्षित-प्रघर्षित न करे, न ही शीतल या उष्ण प्रासुक जल से उसे एक बार या बार बार धोए। यह आलापक भी पूर्ववत् है।

विवेचन—वस्त्र को सुन्दर बनाने का प्रयत्न ; निषिद्ध—प्रस्तुत तीन सूत्रों में सुन्दर एवं

---

१. [क] आचारांग वृत्ति पत्रांक ३६६।
[ख] आचारांग चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० २०७ में—
"अलं=अपज्जत्तग, अथिर=दुब्बलगं, अधुव=पाडिहारियं, अधारणिज्ज=अलक्खण, एत चेव न रुच्चति।"
[ग] निशीथ भाष्य गा० ४६२६ में देखें—
'अलं अपज्जत्तं' खलु, अथिर अदढ तु होंति णायव्वं।
अधुवं तु पाडिहारियमलक्खणमधारणिज्जं तु॥
२. यहाँ 'जाव' शब्द से 'सिणाणेण वा' से 'पघंसेज्ज वा' तक का पाठ सू० ४२१ के अनुसार समझें।
३. यहाँ 'जाव' शब्द से 'उसिणोदगवियडेण वा' से 'पधोएज्ज वा' तक का पाठ सू० ४२१ के अनुसार समझें।

(पाडिहारिय)—थोड़े समय के उपयोग के लिए दिया गया हो। अधारणिज्जं=जो अप्रशस्त हो, खंजन आदि के चिन्ह (दाग) जिस पर अंकित हों, अतः जो वस्त्र लक्षणहीन हो। रोइज्जंतं ण रुच्चति=इस प्रकार चारों विकल्पों से युक्त प्रशस्त वस्त्र स्थिरकर एवं देय होने पर भी दाता की रुचि न हो, अथवा साधु को वैसा पसंद या कल्पनीय न हो तो वैसा वस्त्र भी अग्राह्य है।[1]

वस्त्र-प्रक्षालन निषेध

५७२. से भिक्खू वा २ 'णो णवए मे वत्थे' त्ति कट्टु णो बहुदेसिएण सिणाणेण वा[2] जाव पघंसेज्ज वा।

५७३. से भिक्खू वा २ 'णो णवए मे वत्थे' त्ति कट्टु णो बहुदेसिएण सीओदगवियडेण वा उसीणोदगवियडेण वा[3] जाव पधोएज्ज वा।

५७४. से भिक्खू वा २ 'दुब्भिगंधे मे वत्थे' त्ति कट्टु णो बहुदेसिएण सिणाणेण वा तहेव सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा आलावओ।

५७२ 'मेरा वस्त्र नया नही है', ऐसा सोच कर साधु या साध्वी उस [पुराने वस्त्र को] थोड़े या बहुत सुगन्धित द्रव्य से यावत् पद्मराग से आघर्षित-प्रघर्षित न करे।

५७३ 'मेरा वस्त्र नूतन नहीं है' इस अभिप्राय से साधु या साध्वी उस मलिन वस्त्र को बहुत बार थोड़े-बहुत शीतल या उष्ण प्रासुक जल से एक बार या बार-बार प्रक्षालन न करे।

५७४. 'मेरा वस्त्र दुर्गन्धित है', यों सोचकर उसे [विभूषा की दृष्टि से] बहुत बार थोड़े-बहुत सुगन्धित द्रव्य आदि से आघर्षित-प्रघर्षित न करे, न ही शीतल या उष्ण प्रासुक जल से उसे एक बार या बार बार धोए। यह आलापक भी पूर्ववत् है।

विवेचन—वस्त्र को सुन्दर बनाने का प्रयत्न ; निषिद्ध—प्रस्तुत तीन सूत्रों में सुन्दर एवं

---

१ [क] आचारांग वृत्ति पत्रांक ३६६।

[ख] आचारांग चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० २०७ में—

अणलं=अपज्जत्तग, अथिर=दुब्बलगं, अधुव=पाडिहारियं, अधारणिज्जं=अलक्खणं, एवं चेव न रुच्चति।"

[ग] निशीथ भाष्य गा० ४६२६ में देखें—

'अणल अपज्जत्तं' खलु, अथिरं अदढ तु होति णायव्वं।
अधुवं तु पाडिहारियमलक्खणमधारणिज्जं तु॥

२ यहाँ 'जाव' शब्द से 'सिणाणेण वा' से 'पघंसेज्ज वा' तक [illegible] के अनुसार समझें।

५७७. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा वत्थं आयावेत्तए वा पयावेत्तए वा, तहप्पगार
त्थं कुलियंसि[1] वा भिंत्तिसि वा सिलंसि वा लेलुंसी वा अण्णतरे वा तहप्पगारे अंतलिक्खजाते
ाव णो आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा।

५७८. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा वत्थं आयावेत्तए वा पयावेत्तए वा, तहप्पगारं वत्थ
धंसि वा मचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अण्णतरे वा तहप्पगारे अंत-
क्खजाते[2] जाव णो आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा।

५७९. से त्तमादाए एगंतमवक्कमेज्जा, २ [त्ता] अहे झामथंडिल्लंसि वा[3] जाव अण्णतरंसि
ा तहप्पगारंसि थंडिल्लंसि पडिलेहिय २ पमज्जिय २ ततो संजयामेव वत्थं आयावेज्ज वा
ावेज्ज वा।

५७५. संयमशील साधु या साध्वी वस्त्र को धूप में कम या अधिक सुखाना चाहे तो वह
मे वस्त्र को सचित्त पृथ्वी पर, स्निग्ध पृथ्वी पर, तथा ऊपर से सचित्त मिट्टी गिरती हो, ऐसी
थ्वी पर सचित्त शिला पर सचित्त मिट्टी के ढेले पर, जिस में घुन या दीमक का निवास हो
सी जीवाधिष्ठित लकड़ी पर, प्राणी, अंडे, बीज, मकड़ी के जाले आदि जीव-जन्तु हो, ऐसे
थान में थोड़ा अथवा अधिक न सुखाए।

५७६. संयमशील साधु या साध्वी वस्त्र को धूप में कम या अधिक सुखाना चाहे तो वह
सप्रकार के वस्त्र को ठूंठ पर, दरवाजे की देहली पर, ऊखल पर स्नान करने की चौकी पर,
स प्रकार के और भी अन्तरिक्ष—भूमि से ऊंचे स्थान पर जो भलीभांति बंधा हुआ नहीं है,
क तरह से भूमि पर गाड़ा हुआ या रखा हुआ नहीं है, निश्चल नहीं है, हवा से इधर-उधर
लविचल हो रहा है, (वहां, वस्त्र को) आताप या प्रताप न दे (न सुखाए)।

५७७ साधु या साध्वी यदि वस्त्र को धूप में थोड़ा या बहुत सुखाना चाहते हों तो घर
ी दीवार पर, नदी के तट पर, शिला पर, रोडे-पत्थर पर, या अन्य किसी उसप्रकार के

---

1. (क) 'कुलियं' आदि पदों का अर्थ चूर्णिकार के अनुसार—'कुलियं-कुड्डो दिग्धो लिंपो घरे जि दिग्घातो कुड्डा। जे अतिमपच्छिमा ताओ भित्तीओ। सिला-सिला एव। लेलु-लेट्टुओ।' अर्थात्—कुलियं का अर्थ लम्बी पतली-सी दीवार, घर में जो लम्बी दीवार होती है, वह कुलिक या कुड्या कहलाती है। जो अन्तिम या पीछे की दीवारें होती हैं, वे भित्तियाँ या भीतें कहलाती हैं। सिला=शिला, चट्टान। लेलू=पत्थर के टुकड़े, रोड़े।
(ख) निशीथ चूर्णि (उ०१३ पृ० ३७६ मे एवं भाष्य गा० ४२७३) में बताया है—कुलियं कुड्ड तं जतो णेव्वमवतरति। इयरा सह करभएण भित्ती, नईण वा तडी भित्ती।'—कुलिय कहते हैं, ऐसी कुड्या (दीवार) को, जिससे उतरा न जा सके। दूसरी भित्ति होती है, जो कर के भय (कर-भीति) से बनाई जाती है, इसलिए उसे भित्ती कहते है, अथवा नदी का तट भी भित्ती कहलाता है।
2. 'जाव' शब्द से यहाँ 'अंतलिक्खजाते' से 'णो आतावेज्ज' तक का पाठ सू० ५७६ के अनुसार है।
3. यहाँ 'जाव' शब्द से 'झामथंडिल्लंसि वा' से 'अण्णतरंसि' तक का पाठ सू० ३२४ के अनुसार समझें।

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

वस्त्र-धारण की सहज विधि

५८१. से भिक्खू वा २ अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा, णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोतरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा, अपलिउंचमाणे गामंतरेसु, ओमचेलिए। एतं खलु वत्थधारिस्स सामग्गियं।

५८१. साधु या साध्वी वस्त्रैषणा समिति के अनुसार एषणीय वस्त्रों की याचना करे, और जैसे भी वस्त्र मिले और लिए हों, वैसे ही वस्त्रों को धारण करे, परन्तु (विभूषा के लिए) न उन्हें धोए, न रंगे, और न ही धोए हुए तथा रंगे हुए वस्त्रों को पहने। उन (बिना उजले धोए या रंगे) साधारण-से वस्त्रों को न छिपाते हुए ग्राम-ग्रामान्तर में समतापूर्वक विचरण करे। यही वस्त्रधारी साधु का समग्र आचार सर्वस्व है।

विवेचन—वस्त्र-धारण का सहज-विधान—प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र-धारण के सम्बन्ध में शास्त्रकार ने ५ बातों की ओर साधु-साध्वी का ध्यान खींचा है—

(१) सादे एवं साधारण अल्पमूल्यवाले एषणीय वस्त्र की याचना करे,

(२) जैसे भी सादे एवं साधारण-से वस्त्र मिले या ग्रहण करे, वैसे ही स्वाभाविक वस्त्रों को सहजभाव से वह पहने-ओढ़े।

(३) उन्हें रंग-धोकर या उज्ज्वल एवं चमकीले-भड़कीले बनाकर न पहने।[1]

(४) ग्राम-नगर आदि में विचरण करते समय भी उन्हीं साधारण-से वस्त्रों में रहे।

(५) उन्हें छिपाए नहीं।

'अपलिउंचमाणे' आदि पदों के अर्थ—अपलिउंचमाणे = नहीं छिपाते हुए। ओमचेलिए = स्वल्प तथा तुच्छ (साधारण) वस्त्रधारी।

णो धोएज्जा णो रएज्जा, णो धोतरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा—यह निषेधसूत्र साज-सज्जा, विभूषा, शृंगार तथा छैल-छबीला बनने की दृष्टि से है। प्रदर्शन या अच्छा दिखने की दृष्टि से वस्त्रों को विशेष उज्ज्वल करना निषिद्ध है, श्वेत वस्त्रधारी के लिए वस्त्र रंगना भी निषिद्ध है, किन्तु कई वस्त्र का रंग स्वाभाविक मटमैला या हलका-पीला-सा होता है, उन्हें धारण करने में कोई दोष नहीं है। वृत्तिकार शीलाचार्य का मत है[2]—यह सूत्र जिनकल्पिक के उद्देश्य से उल्लिखित समझना चाहिए, वस्त्रधारी विशेषण होने से स्थविरकल्पी के भी अनुरूप है।

---

१. बौद्ध श्रमण पहले गोबर व पीली मिट्टी से वस्त्र रंगते थे। वे दुर्वर्ण हो जाते, तब बुद्ध ने छाल का रंग, पत्ते का रंग व पुष्प-रंग से वस्त्र रंगने की अनुमति दी। —विनयपिटक पृ० २७७-७८

२. 'एतच्च सूत्रं जिनकल्पिकोद्देशेन, द्रष्टव्यं, वस्त्रधारित्वविशेषणाद् गच्छान्तर्गतेऽपि चाविरुद्धम्। —आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९७

हवा चल रही हो, तिरछे उड़नेवाले त्रस प्राणी गिर रहे हों तो उस समय वस्त्र साथ में लेक
जाने का ही नहीं, उपाश्रय से बाहर निकलने या भिक्षा आदि स्थलों में प्रवेश करने का भी निर
है। यह विधान और निषेध परस्पर विरुद्ध नहीं, अपितु प्राणि-विराधना एवं आत्म-विराधना हं
की सम्भावना से निषेध है और अपहरण किये जाने, द्वेषवश फेंक दिये जाने या शस्त्रादि रखक
दोषारोप लगाने या भक्तिवश गृहस्थ द्वारा धोकर, रंगकर या सुवासित करके देने की आशं
से विधान है। अधिक उपधि का निषेध करना भी इस विधान का आशय हो सकता है।

प्रातिहारिक वस्त्र ग्रहण-प्रत्यर्पण विधि

५८३. से एगतिओ मुहुत्तगं २ पाडिहारियं[1] वत्थं जाएज्जा जाव एगाहेण वा दुयाहेण[2]
वा तियाहेण वा चउयाहेण वा पंचाहेण वा विप्पवसिय २ उवागच्छेज्जा, तहप्पगारं वत्थं
अप्पणा गेण्हेज्जा,[3] नो अन्नमन्नस्स देज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा, णो वत्थेण वत्थं परि
णामं करेज्जा, णो परं उवसंकमित्ता एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा! अभिकंखसि वत्थं धारि
त्तए वा परिहरित्तए वा? थिरं वा णं संतं णो पलिछिंदिय २ परिट्ठवेज्जा, तहप्पगारं वत्
ससंधियं तस्स चेव निसिरेज्जा, नो णं सातिज्जेज्जा।

से एगतिओ[4] एयप्पगारं निग्घोसं सोच्चा निसम्म 'जे भयंतारो तहप्पगाराणि वत्थाणि
ससंधियाणि[5] मुहुत्तगं २ जाव एगाहेण वा दुयाहेण वा तियाहेण वा चउयाहेण वा पंचाहेण व
विप्पवसिय २ उवागच्छंति, तहप्पगाराणि वत्थाणि नो अप्पणा गिण्हंति, नो अन्नमन्नस्स दल
यंति, तं चेव जाव नो सादिज्जंति, बहुवयणेणं[6] भाणियव्वं। से हंता अहमवि मुहुत्तं पाडिहारि
वत्थं जाइत्ता जाव एगाहेण वा दुयाहेण वा तियाहेण वा चउयाहेण वा पंचाहेण वा विप्पवसि
२ उवागच्छिस्सामि, अवियाइं एतं ममेव सिया, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा।

५८३. कोई साधु मुहूर्त आदि नियतकाल के लिए किसी दूसरे साधु से प्रातिहारि

---

१. 'पाडिहारियं वत्थं' के बदले कहीं-कहीं पाठान्तर है—'पाडिहारियं बीयं वत्थं'... ; अर्थात्—प्राति
हारिक दूसरा वस्त्र मांगे।
२. 'दुयाहेण' के बदले पाठान्तर है—दुयाहेन। अर्थ समान है।
३. 'णो अप्पणा गेण्हेज्जा' के बाद अतिरिक्त पाठ है—'नो परं गिण्हाविज्जा।' अर्थात् दूसरे को लेने
न दे।
४. 'से एगतिओ' पाठ किसी-किसी प्रति में नहीं है।
५. 'ससंधियाणि' पाठ किसी-किसी प्रति में नहीं है।
६. 'बहुवयणेण भाणियव्वं' के बदले पाठान्तर है—'बहुवयणेण भासियव्वं', 'बहुमाणेण भासियव्वं' इनका
क्रमशः अर्थ है—बहुवचन से आलापक कहना चाहिए।। बहुमानपूर्वक बोलना चाहिए।

है। यह सब देख कर अन्य कोई साधु यदि जान-बूझकर (वस्त्र को हड़पने की नीयत से) वस्त्र की याचना करके दूसरे गाँव जाकर उस वस्त्र को खराब करता है और सोचता है कि इस तरकीब से वस्त्र मुझे मिल जाएगा तो ऐसा करनेवाला साधु मायाचार का सेवन करता है। साधु को ऐसा नहीं करना चाहिए। यही प्रस्तुत सूत्रद्वय का आशय है।[1]

वस्त्र के लोभ तथा अपहरण-भय से मुक्ति

५८४. से भिक्खू वा २ णो वण्णमंताइं वत्थाइं विवण्णाइं करेज्जा, विवण्णाइं वण्णमंताइं ण करेज्जा, अण्णं वा वत्थं लभिस्सामि त्ति कट्टु णो अण्णमण्णस्स देज्जा, णो पामिच्चं कुज्जा, णो वत्थेण वत्थपरिणामं करेज्जा, णो परं उवसंकमित्तु एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा! अभिकंखसि[2] वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ? थिरं वा णं संतं णो पलिछिंदिय २ परिट्ठवेज्जा, जहा[3] मेयं वत्थं पावगं परो मण्णइ. परं च णं अदत्तहारी[4] पडिपहे पेहाए तस्स वत्थस्स णिदाणाय णो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छेज्जा जाव अप्पुस्सुए[5] जाव ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५८५. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से ज्जं पुण विहं जाणेज्जा-इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा वत्थपडियाए संपडिया[6] [ऽऽ] गच्छेज्जा, णो तेसिं भीओ उम्मग्गेण गच्छेज्जा जाव[7] गामाणुगाम दूइज्जेज्जा।

५८६. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से आमोसगा सपडिया [ऽऽ] गच्छेज्जा, ते णं आमोसगा एवं वदेज्जा आउसंतो समणा! आहरेतं वत्थं देहि, णिक्खिवाहि, जहा रियाए,[8] णाणत्तं वत्थपडियाए।

---

1. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २१०
   (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक २६०
2. यहाँ 'अभिकंखसि वत्थ ...' के बदले 'अभिकंखसि मे वत्थं' तथा 'अभिकंखसि वत्थ ....' पाठान्तर है। अर्थ प्रायः समान है।
3. 'जहा मेयं वत्थं' के बदले 'जहा मेय वत्थं' पाठान्तर है।
4. चूर्णिकार के मतानुसार अदत्तहारी के आलापक ईर्याऽध्ययन की तरह हैं—(अदत्तहारी आलावगा जहा रियाए) यहाँ वस्त्रैषणाऽध्ययन समाप्त हो जाता है—'इति वत्थेसणा परिसमत्ता)।
5. अप्पुस्सुए के आगे 'जाव' शब्द 'अप्पुस्सुए' से 'ततो संजयामेव' तक के पाठ का सूचक है, सू० ४८२ के अनुसार।
6. 'संपडियाऽऽगच्छेज्जा' के बदले पाठान्तर है—संपिंडि आगच्छेज्जा, संपिंडियागच्छेज्जा। अर्थ एक-समान है।
7. यहाँ 'जाव' शब्द से 'गच्छेज्जा' से 'गामाणुगाम' तक का समग्र पाठ सू० ५१५ के अनुसार समझें।
8. 'जहारियाए' शब्द 'णिक्खिवाहि' के आगे समग्र पाठ का सूचक है, ईर्याअध्ययन के सू० ५१७ के अनुसार समझें।

दे। यह सब देख कर अन्य कोई साधु यदि जान-बूझकर (वस्त्र को हड़पने की नीयत से) वस्त्र की याचना करके दूसरे गाँव जाकर उस वस्त्र को खराब करता है और सोचता है कि इस तरकीब से वस्त्र मुझे मिल जाएगा तो ऐसा करनेवाला साधु मायाचार का सेवन करता है। साधु को ऐसा नहीं करना चाहिए। यही प्रस्तुत सूत्रद्वय का आशय है।[1]

वस्त्र के लोभ तथा अपहरण-भय से मुक्ति

५८४ से भिक्खू वा २ णो वण्णमंताइं वत्थाइं विवण्णाइं करेज्जा, विवण्णाइं वण्णमंताइं ण करेज्जा, अण्णं वा वत्थं लभिस्सामि त्ति कट्टु णो अण्णमण्णस्स देज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा, नो वत्थेण वत्थपरिणामं करेज्जा, नो परं उवसंकमित्तु एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा! अभिकंखसि[2] वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा? थिरं वा णं संतं णो पलिछिंदिय २ परिट्ठवेज्जा, जहा[3] मेयं वत्थं पावगं परो मण्णइ, परं च णं अदत्तहारी[4] पडिपहे पेहाए तस्स वत्थस्स णिदाणाय णो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छेज्जा जाव अप्पुस्सुए[5] जाव ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५८५. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से ज्जं पुण विहं जाणेज्जा-इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा वत्थपडियाए संपडिया[6] [ऽऽ] गच्छेज्जा, णो तेसिं भीओ उम्मग्गेण गच्छेज्जा जाव[7] गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५८६. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से आमोसगा संपडिया [ऽऽ] गच्छेज्जा, ते णं आमोसगा एवं वदेज्जा आउसंतो समणा! आहरेतं वत्थं, देहि, णिक्खिवाहि, जहा रियाए,[8] णाणत्तं वत्थपडियाए।

---

१. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २१०
  (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३६७
२. यहाँ 'अभिकंखसि वत्थ ...' के बदले 'अभिकंखसि मे वत्थं' तथा 'समभिकंखसि वत्थ .....' पाठान्तर है। अर्थ प्रायः समान है।
३. 'जहा मेयं वत्थं' के बदले 'जहा वेयं वत्थं' पाठान्तर है।
४. चूर्णिकार के मतानुसार अदत्तहारी के आलापक ईर्याऽध्ययन की तरह हैं—(अदत्तहारी आलावगा जहा रियाए) यहीं वस्त्रैषणाऽध्ययन समाप्त हो जाता है—(इति वस्त्रैषणा परिसमाप्ता)।
५. अप्पुस्सुए के आगे 'जाव' शब्द 'अप्पुस्सुए' से 'ततो संजयामेव' तक के पाठ का सूचक है, सू० ४८२ के अनुसार।
६. 'संपडियाऽऽगच्छेज्जा' के बदले पाठान्तर है—संपिंडि आगच्छेज्जा, संपिंडियागच्छेज्जा। अर्थ एक-समान है।
७ यहाँ 'जाव' शब्द से 'गच्छेज्जा' से 'गामाणुगाम' तक का समग्र पाठ सू० ५१५ के अनुसार समझें।
८ 'जहारियाए' शब्द 'णिक्खिवाहि' के आगे समग्र पाठ का सूचक है, ईर्याध्ययन के सू० ५१७ के अनुसार समझें।

'पावग' का अर्थ चूर्णिकार के अनुसार है—पापक, जिसे लोग आँखों से देखना पसन्द नहीं करते, देखने में असुन्दर हो।[1]

बृहत्कल्प सूत्र (१/४५) तथा भाष्य में हृताहृतप्रकरण के अन्तर्गत साधुओं के वस्त्र चोरों आदि द्वारा छीने जाने के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवेचन है।

५८७. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा २ सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहिएहिं सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

२६४. यही (वस्त्रैषणा-विशेषतः वस्त्रपरिभोगैषणा-विवेक ही) वस्तुतः साधु-साध्वी का सम्पूर्ण ज्ञानादि आचार है। जिसमें सभी अर्थों में ज्ञानादि से सहित होकर सदा प्रयत्नशील रहे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ 'वस्त्रैषणा' पंचममध्ययनं समाप्तं ॥

---

१. आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २१२ में—'पावग णाम अचोक्खं भण्णति।'

एक साधर्मिक साधु के उद्देश्य से प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का समारम्भ करके पात्र बनवाया है, और वह उसे औद्देशिक, क्रीत, पामित्य, अच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभ्याहृत आदि दोषों से युक्त पात्र ला कर देता है, वह पुरुषान्तरकृत हो या पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो या अनासेवित उसे अप्रासुक और अनेषणीय समझकर मिलने पर भी न ले।

जैसे यह सूत्र एक साधर्मिक साधु के लिए है, वैसे ही अनेक साधर्मिक साधुओं, एक साधर्मिणी साध्वी एवं अनेक साधर्मिणी साध्वियों के सम्बन्ध में भी शेष तीन आलापक समझ लेने चाहिए। जैसे पिण्डैषणा अध्ययन में चारों आलापकों का वर्णन है, वैसे ही यहाँ समझ लेना चाहिए। और पाँचवाँ आलापक (पिण्डैषणा अध्ययन में) जैसे बहुत से शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण आदि को गिन गिन कर देने के सम्बन्ध में है, वैसे ही यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

५९१. यदि साधु-साध्वी यह जाने कि असंयमी गृहस्थ ने भिक्षुओं को देने की प्रतिज्ञा करके बहुत से शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण आदि के उद्देश्य से पात्र बनाया है, और वह औद्देशिक, क्रीत आदि दोषों से युक्त है तो ...... उसका भी शेष वर्णन वस्त्रैषणा के आलापक के समान समझ लेना चाहिए।

विवेचन—एषणादोषों से युक्त तथा मुक्त पात्र ग्रहण का निषेध-विधान प्रस्तुत सूत्रद्वय में वस्त्रैषणा में बताये हुए विवेक की तरह पात्र-ग्रहणैषणा विवेक बताया गया है। सारा वर्णन वस्त्रैषणा की तरह ही है, सिर्फ वस्त्र के बदले यहाँ 'पात्र' शब्द समझना चाहिए।

बहुमूल्य पात्र-ग्रहण निषेध

५९२. से भिक्खू वा २ से ज्जाइं पुण पायाइं जाणेज्जा विरूवरूवाइं महद्धणमोल्लाइं, तंजहा-अयपायाणि वा तउपायाणि वा तंबपायाणि वा सीसगपायाणि[1] वा हिरण्णपायाणि वा सुवण्णपायाणि वा रीरियपायाणि वा हारपुडपायाणि[2] वा मणि-काय-कंसपायाणि वा संख-सिंगपायाणि वा दंतपायाणि वा चेलपायाणि वा सेलपायाणि वा चम्मपायाणि वा, अण्णयराणि वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं महद्धणमोल्लाइं पायाइं अफासुयाइं[3] जाव नो पडिगाहेज्जा।

५९३. से भिक्खू वा २ से ज्जाइं पुण पायाइं जाणेज्जा विरूवरूवाइं महद्धणबंधणाइं, तंजहा-अयबंधणाणि वा जाव चम्मबंधणाणि वा, अण्णयराइं वा तहप्पगाराइं महद्धणबंधणाइं अफासुयाइं[3] जाव णो पडिगाहेज्जा।

---

१. "सीसगपायाणि वा हिरण्णपायाणि वा" अलग-अलग पदों के बदले किसी-किसी प्रति में—'सीसग-हिरण्ण-सुवण्ण-रीरियाहारपुड-मणि-काय-कंस-संख-सिंग-दंत-चेल-सेलपायाणि वा चम्मपायाणि वा' ऐसा समस्त पद मिलता है।

२ निशीथचूर्णि ११/१ में "हारपुडपात्र' का अर्थ किया गया है—हारपुड णाम अयपायाः पात्रविशेषा मौक्तिकलताभिरुपशोभिता।"—अर्थात् हारपुट लोहादिविशिष्ट पात्र है और जो मोतियों की बेला से सुशोभित हो।

३ यहाँ 'जाव' शब्द से 'अफासुयाइं' से लेकर णो पडिगाहेज्जा' तक का पाठ सू० ३२५ के अनुसार समझें।

पात्रग्रहण कर लेने मे उन्ही खतरो या दोषों की सम्भावना है, जिनका उल्लेख हम वस्त्रैषणा अध्ययन में कर आए है।[1]

पात्र-ग्रहण-अग्रहण एवं संरक्षण-विवेक—वस्त्रैषणा-अध्ययन में उल्लिखित 'स अंड' से लेकर 'आयावेज्ज पयावेज्ज' तक के सभी सूत्रों का वर्णन इस एक ही सूत्र में समुच्चयरूप से दे दिया है। प्रस्तुत सूत्र में वस्त्रैषणा अध्ययन के ११ सूत्रों का निरूपण एवं एक अतिरिक्त सूत्र का समावेश कर दिया है—(१) अंडों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त पात्र को ग्रहण न करे, (२) अंडों यावत् मकड़ी के जालों से रहित होने पर भी वह पात्र अपर्याप्त (अभीष्ट कार्य के लिए असमर्थ) अस्थिर, अध्रुव, अधारणीय एवं अकल्प्य हो तो ग्रहण न करे, (३) किन्तु वह अंडों यावत् मकड़ी के जालों से रहित पर्याप्त, स्थिर, ध्रुव, धारणीय एवं रुचिकर हो तो ग्रहण करे, (४) अपने पात्र को नया सुन्दर बनाने के लिए उसे थोड़ा या बहुत स्नानीय सुगन्धित द्रव्य आदि से घिसे नहीं, (५) पात्र नया बनाने के उद्देश्य से थोड़ा बहुत ठंडे या गर्म जल से उसे धोए नहीं, (६) मेरा पात्र दुर्गन्धित है, यह सोच उसे सुगन्धित एवं उत्कृष्ट बनाने हेतु उस पर स्नानीय सुगन्धित द्रव्य थोड़े बहुत न रगड़े, न ही उसे शीतल या गर्म जल से धोए (७) पात्र को सचित्त, स्निग्ध, सचित्त प्रतिष्ठित पृथ्वी पर न सुखाए, (रखे) (८) पात्र को ठूंठ, देहली, ऊखल या स्नानपीठ पर न सुखाए, न ही ऊँचे चल-विचल स्थान पर सुखाए, (९) दीवार, भीत, शिला रोड़े या ऐसे ही अन्य ऊंचे हिलने-डुलने वाले स्थानों पर पात्र न सुखाए। (१०) स्कंध, मचान, ऊपर की मंजिल या महल पर या तलघर में या अन्य कम्पित उच्चस्थानों प[र न] सुखाए। (११) किन्तु पात्र को एकान्त में ले जाकर अचित्त निर्दोष स्थण्डिलभूमि प[र] [आ]दि पोंछकर यतनापूर्वक सुखाए। इसमें नौ सूत्र निषेधात्मक हैं, और दो सूत्र विधान[ात्मक]। शास्त्रकार ने इसमें एक सूत्र और बढ़ा देने का संकेत किया है कि पात्र को सुन्द[र] [च]मकदार बनाने के लिए वह तेल, घी, नवनीत आदि उस पर न लगाए।[2]

'तमाता' तेल्लेण वा घएण वा' पंक्ति के अर्थ में मतभेद—ऊपर जो अर्थ हमने दि[या है, उस]के अतिरिक्त एक अर्थ और मिलता है—"यदि वह पात्र तेल, घृत या अन्य किसी पदार्थ [से लि]प्त किया हुआ हो तो साधु स्थण्डिलभूमि में जाकर वहाँ भूमि की प्रतिलेखना और प्र[मार्जन] कर, और तत्पश्चात् पात्र को धूलि आदि से प्रमाजित कर मसल कर रूक्ष बना ले[।" किन्त]ु यह अर्थ यहाँ संगत नहीं होता।[3]

१०१ एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं स[हिए] [स]मिए[4] सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

---

[1] ... वृत्ति पत्रांक ४०० के आधार पर
[2] ... सूत्रांक ... से ... तक मूल संशुद्ध पत्रांक ३९९
[3] ... प्रथम भाग पृ० ९३।
[4] ... 'भिक्खुस्स' के बदले किसी किसी प्रति में 'भगवित्युस्स' पाठान्तर है

६०१. यही (पात्रैषणा विवेक ही) वस्तुतः उस साधु या साध्वी का समग्र आचार है, जिसमें वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि सर्व अर्थों से युक्त होकर सदा प्रयत्नशील रहे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

पात्र बीजादियुक्त होने पर ग्रहण-विधि

६०२. से भिक्खू वा २ गाहावइकुलं पिंडवातपडियाए पविसमाणे[1] पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहगं, अवहट्टु पाणे, पमज्जिय रयं, ततो संजयामेव गाहावतिकुलं पिंडवातपडियाए णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा। केवली बूया—आयाणमेयं। अंतो पडिग्गहगंसि पाणे वा बीए वा रए[2] वा परियावज्जेज्जा, अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहं, अवहट्टु पाणे, पमज्जिय रयं, ततो संजयामेव गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा।

६०२. गृहस्थ के घर में आहार-पानी के लिए प्रवेश करने से पूर्व ही साधु या साध्वी अपने पात्र को भलीभांति देखे, उसमें कोई प्राणी हों तो उन्हें निकालकर एकान्त में छोड़ दे और धूल को पोंछकर झाड़ दे। तत्पश्चात् साधु अथवा साध्वी आहार-पानी के लिए उपाश्रय से बाहर निकले या गृहस्थ के घर में प्रवेश करे। केवली भगवान् कहते हैं—ऐसा करना कर्मबन्ध का कारण है, क्योंकि पात्र के अंदर द्वीन्द्रिय आदि प्राणी, बीज या रज आदि रह सकते हैं, पात्रों का प्रतिलेखन—प्रमार्जन किये बिना उन जीवों की विराधना हो सकती है। इसीलिए तीर्थंकर आदि आप्तपुरुषों ने साधुओं के लिए पहले से ही इसप्रकार की प्रतिज्ञा, यह हेतु, कारण और उपदेश दिया है कि आहार-पानी के लिए जाने से पूर्व साधु पात्र का सम्यक् निरीक्षण करके कोई प्राणी हो तो उसे निकाल कर एकान्त में छोड़ दे, रज आदि को पोंछकर झाड़ दे और तब आहार के लिए यतनापूर्वक उपाश्रय से निकले और गृहस्थ के घर में प्रवेश करे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में भिक्षाटन से पूर्व पात्र को अच्छी तरह देखभाल और झाड़ पोंछ लेना आवश्यक बताया है, ऐसा न करने से आत्म-विराधना और जीव-विराधना के होने

---

१. 'पविसमाणे' के बदले 'पविट्ठे समाणे' पाठान्तर है।

२. किसी किसी प्रति में 'रएवा' पाठ नहीं है, उसके बदले 'हरिए वा' पाठ है।

या तो मूलपाठ में स्पष्ट उल्लेख है, इन दोनों के अतिरिक्त और भी इन दोनों की संभावना रहती है—

(१) कदाचित् पात्र किसी कारण से फट गया हो, तो वह आहार-पानी लाने लायक नहीं रहेगा,

(२) किसी धर्मद्वेषी ने साधुओं को बदनाम करने के लिए कोई शस्त्र, विष, या अन्य अकल्प्य, अग्राह्य वस्तु चुपके से रख दी हो,

(३) कोई बिच्छू या साप पात्र में घुस कर बैठ गया हो तो आहार लेते समय हठात् काट खाएगा, अथवा उसे देखे-भाले बिना अंधाधुंधी में गर्म आहार या पानी लेने से वह आहार पानी भी विषाक्त हो जाएगा, जीव की विराधना तो होगी ही।

(४) पात्र में कोई खट्टी चीज लगी रह गई तो दूध आदि पदार्थ लेते ही फट जाएगा। अत. साधु को उपाश्रय से निकलते समय, गृहस्थ के यहाँ प्रवेश करते समय और भोजन करना प्रारम्भ करने से पूर्व पात्र-प्रतिलेखन-प्रमार्जन करना आवश्यक है।[1]

सचित्त संसृष्ट पात्र को सुखाने की विधि

६०३. से भिक्खू वा २ गाहावति जाव समाणे सिया से परो आहट्टु अंतो पडिग्गहगंसि सीओदगं परिभाएत्ता णीहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा। से य आहच्च पडिग्गाहिए सिया, खिप्पामेव[2] उदगंसि साहरेज्जा, सपडिग्गहमायाए व णं परिट्ठवेज्जा, ससणिद्धाए व णं भूमीए नियमेज्जा।

६०४. से भिक्खू वा २ उदउल्लं[3] वा ससणिद्धं वा पडिग्गहं णो आमज्जेज्ज वा जाव पयावेज्ज वा। अह पुणेवं जाणेज्जा विगदोदए मे पडिग्गहए छिण्ण-सिणेहे, तहप्पगारं पडिग्गहं ततो संजयामेव आमज्जेज्ज वा जाव पयावेज्ज[4] वा।

१. आचारांग वृत्ति, मूलपाठ पत्रांक ४००

२. इसके बदले पाठान्तर है—'सिया से खिप्पामेव उदगंसि साहरेज्जा'। अर्थ होता है—कदाचित् वह गृहस्थ शीघ्र ही अपने जल पात्र में उसे वापस डाल दे।

३. चूर्णिकार 'उदउल्लं वा ससणिद्धं वा' इस पाठ के बदले कोई दूसरा पाठ मानकर पात्रैषणाध्ययन की यहाँ समाप्ति मानते हैं। वह पाठ इस प्रकार है—"उदउल्ल-ससणिद्धं पडिग्गहगं आमज्ज पमज्ज अंतो संलिहति, बाहिं णिल्लिहति, उव्वलेति, उव्वट्टेति, पताविज्ज। इति पात्रैषणा समाप्ता।"

अर्थात्—जल से आर्द्र और सस्निग्ध पात्र को थोड़ा या बहुत प्रमार्जन करके अंदर से लेपरहित करता है, फिर बाहर से लेपरहित करता है, उपलेपन करता है, उद्वर्तन करता है, (उबटन करता है) फिर थोड़ा या अधिक धूप में सुखाता है। इस प्रकार पात्रैषणा समाप्त हुई। इस पाठ को देखते हुए किसी किसी प्रति में 'आमज्जेज्ज वा' के बाद 'पमज्जेज्ज वा' का पाठ माना है।

४. 'आमज्जेज्ज वा' से 'पयावेज्ज वा' तक के पाठ को सूत्र ३५३ के अनुसार सूचित करने के लिए 'जाव' शब्द है।

६०३. साधु या साध्वी गृहस्थ के यहाँ आहार-पानी के लिए गये हो और गृहस्थ घर के भीतर से अपने पात्र में सचित (शीतल) जल ला कर उसमें से निकाल कर साधु को देने लगे, तो साधु उसप्रकार के पर-हस्तगत एवं पर-पात्रगत शीतल, (सचित्त) जल को अप्रासुक और अनेषणीय जान कर अपने पात्र में ग्रहण न करे।

कदाचित् असावधानी से वह जल (अपने पात्र में) ले लिया हो तो शीघ्र दाता के जल पात्र में उंड़ेल दे। यदि गृहस्थ उस पानी को वापस न ले तो फिर वह जलयुक्त पात्र को लेकर किसी स्निग्ध भूमि में या अन्य किसी योग्य स्थान में उस जल का विधिपूर्वक परिष्ठापन कर दे। उस जल से स्निग्ध पात्र को एकान्त निर्दोष स्थान में रख दे।

६०४. वह साधु या साध्वी जल से आर्द्र और स्निग्ध पात्र को जब तक उसमें से बूँदें टपकती रहें, और वह गीला रहे, तब तक न तो पोंछे और न ही धूप में सूखाए। जब वह यह जान ले कि मेरा पात्र अब निर्गतजल (जल-रहित) और स्नेह-रहित हो गया है, तब वह उस प्रकार के पात्र को यतनापूर्वक पोंछ सकता है और धूप में सुखा सकता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सर्वप्रथम गृहस्थ के हाथ और बर्तन से अपने पात्र में सचित्त जल ग्रहण करने का निषेध है, तत्पश्चात् असावधानी से सचित्त जल पात्र में ले लिया गया हो तो उस पात्र को पोंछने और सुखाने आदि की विधि बताई गई है।[1]

चूर्णिकार इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हैं-"......सचित्त जल हिलाकर निकाल कर देने लगे तो वैसा......पर-हस्तगत पात्र ग्रहण न करे। भूल से वैसा सचित्त जल संसृष्ट पात्र ग्रहण कर लेने पर यदि वही गृहस्थ उस जल को स्वयं वापस ले लेता है तो सबसे अच्छा; अन्यथा वह उस उदक को दूसरी जगह अन्य भाजन में डाल दे।[2]

'परिभाएत्ता' आदि पदों का अर्थ:—परिभाएत्ता = विभाग करके, चूर्णिकार के अनुसार—हिलाकर। पीहट्टु = निकाल कर।[3]

जलग्रहण-परक या पात्र ग्रहण-परक—चूर्णिकार इस सूत्र को पात्रैषणा-अध्ययन होने से पात्र-ग्रहण विषयक मानते हैं, किन्तु वृत्तिकार इस को पानक-ग्रहण विषयक व्याख्या करते हैं-गृहस्थ के घर में प्रविष्ट भिक्षु प्रासुक पानी की याचना करे इस पर कदाचित् वह गृहस्थ असावधानी से, भ्रान्ति से या धर्म-द्वेषवश (प्रतिकूलतावश) अथवा अनुकम्पावश विचार करके घर के भीतर पड़ा हुआ दूसरा अपना बर्तन ला कर, उसमें से कुछ हिस्सा रख कर, पानी निकाल कर देने लगे तो साधु उस प्रकार के पर-हस्तगत, पर-पात्रगत सचित्त जल को अप्रासुक

---

१. आचारांग मूल पाठ एवं वृत्ति पत्रांक ४०० के आधार पर

२. आचारांग चूर्णि मू. पा. टि पृ २१७—"परियाभाएस ति छुभित्तु पडिग्गहं परहत्थगयं ण गेण्हेज्जा। आहच्च गहिते गिहत्थो एस चेव उदए जति परिसाहरति, लट्ठं। अण्णत्थ वा उदए (उदएसु?) अन्ने हिं भायणे पक्खिवति"

३. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४००, (ख) आचारांग चूर्णि मू पा. टि पृ. २१७.

मान कर न ले। ...."किन्तु यहाँ चूर्णिकार का आशय भिन्न है, उनके अनुसार यो अर्थ होता है—"साधु पात्र के लिए गृहस्थ के यहाँ जाए तब गृहस्थ पात्र खाली न होने के कारण घर में से उस पात्र को लाकर उसमें से सचित्त जल (अधिकांशतः) निकाल कर उस पात्र को देने लगे तो वह उस पर-हस्तगत सचित्तजल संस्पृष्ट पात्र को अप्रासुक जान कर ग्रहण न करे।" यह अर्थ प्रकरण संगत प्रतीत होता है।[1]

विहार-समय पात्र विषयक विधि-निषेध

६०५. से भिक्खू वा २ गाहावतिकुलं पविसितुकामे सपडिग्गहमायाए गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा, एवं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा गामाणुगामं [वा] दूइज्जेज्जा, तिव्वदेसियादि जहा बितियाए[2] वत्थेसणाए[3] णवरं एत्थ पडिग्गहो।

६०५. साधु या साध्वी गृहस्थ के यहाँ आहारादि लेने के लिए प्रवेश करना चाहे तो अपने पात्र साथ लेकर वहाँ आहारादि के लिए प्रवेश करे या उपाश्रय से निकले। इसी प्रकार स्व-पात्र लेकर बस्ती से बाहर स्वाध्यायभूमि या शौचार्थ स्थण्डिलभूमि को जाए, अथवा ग्रामानुग्राम विहार करे।

तीव्र वर्षा दूर-दूर तक हो रही हो यावत् तिरछे उड़ने वाले त्रसप्राणी एकत्रित हो कर गिर रहे हों, इत्यादि परिस्थितियों में जैसे वस्त्रैषणा के द्वितीय उद्देशक में निषेधात्मक है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। विशेष इतना ही है कि वहाँ सभी वस्त्रों को साथ में लेकर जाने का निषेध है, जबकि यहाँ अपने सब पात्र लेकर जाने का निषेध है।

६०६. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहिते सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

६०६. यही (पात्रैषणा विवेक अवश्य ही) साधु-साध्वी का समग्र आचार है कि [illegible] परिपालन के लिए प्रत्येक साधु-साध्वी को ज्ञानादि सभी अर्थों से प्रयत्नशील रहना चाहिए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

। द्वितीय उद्देशक समाप्त।

॥ 'पात्रैषणा' षष्ठमध्ययनम् समाप्तं ॥

1. [illegible] ६००–६०१ (ग) आचारांग चूर्णि मू. पा. टि. पृ. २१२ के आधार [illegible]
2. [illegible] 'बितियाए' 'बीयाए'। अर्थ एक-सा है।
3. [illegible] वस्त्रैषणा के द्वितीय उद्देशक सूत्र [illegible]
4. [illegible]

अवग्रह-प्रतिमा : सप्तम अध्ययन

प्राथमिक

✡ आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु०) के सातवें अध्ययन का नाम 'अवग्रह-प्रतिमा' है।

✡ 'अवग्रह' जैन शास्त्रों का पारिभाषिक शब्द है। यों सामान्यतया इसका अर्थ—'ग्रहण करना' होता है।

✡ प्राकृत शब्द कोष में 'अवग्रह' शब्द के ग्रहण करना, अवधारण, लाभ, इन्द्रियद्वारा होने वाला ज्ञान विशेष, ग्रहणकरने योग्य वस्तु, आश्रय, आवास, स्वस्वामित्व की या स्वाधीनस्थ वस्तु, देव (सौधर्मेन्द्र) तथा गुरु आदि से आवश्यकतानुसार याचित मर्यादित भूभाग या स्थान, परोसने योग्य भोजन, एवं अनुज्ञापूर्वक ग्रहण करना आदि अर्थ मिलते हैं।[1]

✡ प्रस्तुत सूत्र में मुख्यतया चार अर्थों में अवग्रह शब्द प्रयुक्त हुआ है—

(१) अनुज्ञापूर्वक ग्रहण करना,

(२) ग्रहण करने योग्य वस्तु,

(३) जिसके अधीनस्थ जो-जो वस्तु है, आवश्यकता पड़ने पर उससे उस वस्तु के उपयोग करने की आज्ञा मांगना; तथा

(४) स्थान या आवासगृह, अथवा मर्यादित भूभाग।[2]

✡ 'अवग्रह' चार प्रकार का है—१. द्रव्यावग्रह, २. क्षेत्रावग्रह, ३ कालावग्रह और ४. भावावग्रह।

✡ द्रव्यावग्रह के तीन प्रकार (सचित्त, अचित्त, मिश्र) हैं।

✡ क्षेत्रावग्रह के भी सचित्तादि तीन भेद हैं, अथवा ग्राम, नगर, राष्ट्र, अरण्य आदि अनेक भेद हैं।

✡ कालावग्रह के ऋतुबद्ध और वर्षाकाल ये दो भेद हैं।

✡ भावावग्रह—मतिज्ञान के अर्थावग्रह, व्यंजनावग्रह आदि भेद है।

✡ प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्यादि तीन अवग्रह विवक्षित हैं, भावावग्रह नहीं।

✡ अपरिग्रही साधु को जब कभी आहार, वसति (आवास), वस्त्र, पात्र या अन्य

---

१. 'पाइअ-सद्दमहण्णवो' पृ० ११७, १४३।

२. आचारांग मूलपाठ तथा वृत्ति पत्रांक ४०२।

कर न ले।......"किन्तु यहाँ चूर्णिकार का आशय भिन्न है, उनके अनुसार तो अर्थ इस
—"साधु पात्र के लिए गृहस्थ के यहाँ जाए तब गृहस्थ पात्र खाली न होने के कारण घर में
उस पात्र को लाकर उसमें से सचित्त जल (अतिरिक्त) निकाल कर उस पात्र को देने लगे
वह उस पर-हस्तगत सचित्त जल संसृष्ट पात्र को अप्रासुक जान कर ग्रहण न करे।" यह
प्रकरण संगत प्रतीत होता है।[1]

हार-समय पात्र विषयक विधि निषेध

६०५. से भिक्खू वा २ गाहावतिकुलं पविसितुकामे सव्वं भंडगमायाए गाहावतिकुलं
डवायपडियाए पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा, एवं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा
गामाणुगामं [वा] दूइज्जेज्जा, तिव्वदेसियादि जहा बितियाए[2] वत्थेसणाए[3] णवरं एत्थ
डिग्गहो।

६०५. साधु या साध्वी गृहस्थ के यहाँ आहारादि लेने के लिए प्रवेश करना चाहे तो
पने पात्र साथ लेकर वहाँ आहारादि के लिए प्रवेश करे या उपाश्रय से निकले। इसीप्रकार
व-पात्र लेकर बस्ती से बाहर स्वाध्यायभूमि या शौचार्थ स्थण्डिलभूमि को जाए, अथवा
ग्रामानुग्राम विहार करे।

तीव्र वर्षा दूर-दूर तक हो रही हो यावत् तिरछे उड़ने वाले त्रसप्राणी एकत्रित हो कर
गिर रहे हों, इत्यादि परिस्थितियों में जैसे वस्त्रैषणा के द्वितीय उद्देशक में निषेधादेश है, वैसे
ही यहाँ भी समझना चाहिए। विशेष इतना ही है कि वहाँ सभी वस्त्रों को साथ में लेकर जाने
का निषेध है, जबकि यहाँ अपने सब पात्र लेकर जाने का निषेध है।

६०६. एयं[4] खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहितेहिं
सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

६०६. यही (पात्रैषणा विवेक अवश्य ही) साधु-साध्वी का समग्र आचार है जिसके
परिपालन के लिए प्रत्येक साधु-साध्वी को ज्ञानादि सभी अर्थों से प्रयत्नशील रहना चाहिए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

। द्वितीय उद्देशक समाप्त।

॥ 'पाएसणा' षष्ठमध्ययनम् समाप्तं ॥

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४००-४०१ (ख) आचारांग चूर्णि मू. पा. टि. पृ. २१७ के आधार पर
२. 'बितियाए' के बदले पाठान्तर हैं—'बीतीयाए' 'बीयाए'। अर्थ एक-सा है।
३. 'जहा बितियाए वत्थेसणाए' का तात्पर्य है—जैसे वस्त्रैषणा के द्वितीय उद्देशक सूत्र ५८२ में बताया है
वैसे ही यहाँ समझ लेना चाहिए।
४. 'एयं' के बदले कहीं कहीं 'एवं' या 'एत' पाठान्तर मिलता है।

अवग्रह-प्रतिमा : सप्तम अध्ययन

प्राथमिक

- ❖ आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु०) के सातवें अध्ययन का नाम 'अवग्रह-प्रतिमा' है।
- ❖ 'अवग्रह' जैन शास्त्रों का पारिभाषिक शब्द है। यों सामान्यतया इसका अर्थ—'ग्रहण करना' होता है।
- ❖ प्राकृत शब्द कोष में 'अवग्रह' शब्द के ग्रहण करना, अवधारण, लाभ, इन्द्रियद्वारा होने वाला ज्ञान विशेष, ग्रहणकरनेयोग्य वस्तु, आश्रय, आवास, स्वस्वामित्व की या स्वाधीनस्थ वस्तु, देव (सौधर्मेन्द्र) तथा गुरु आदि से आवश्यकतानुसार याचित मर्यादित भूभाग या स्थान, परोसने योग्य भोजन, एवं अनुज्ञापूर्वक ग्रहण करना आदि अर्थ मिलते हैं।[1]
- ❖ प्रस्तुत सूत्र में मुख्यतया चार अर्थों में अवग्रह शब्द प्रयुक्त हुआ है—
  (१) अनुज्ञापूर्वक ग्रहण करना,
  (२) ग्रहण करने योग्य वस्तु,
  (३) जिसके अधीनस्थ जो-जो वस्तु है, आवश्यकता पड़ने पर उससे उस वस्तु के उपयोग करने की आज्ञा मांगना, तथा
  (४) स्थान या आवासगृह, अथवा मर्यादित भूभाग।[2]
- ❖ 'अवग्रह' चार प्रकार का है—१. द्रव्यावग्रह, २. क्षेत्रावग्रह, ३ कालावग्रह और ४. भावावग्रह।
- ❖ द्रव्यावग्रह के तीन प्रकार (सचित्त, अचित्त, मिश्र) हैं।
- ❖ क्षेत्रावग्रह के भी सचित्तादि तीन भेद हैं, अथवा ग्राम, नगर, राष्ट्र, अरण्य आदि अनेक भेद हैं।
- ❖ कालावग्रह के ऋतुबद्ध और वर्षाकाल ये दो भेद हैं।
- ❖ भावावग्रह—मतिज्ञान के अर्थावग्रह, व्यंजनावग्रह आदि भेद हैं।
- ❖ प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्यादि तीन अवग्रह विवक्षित है, भावावग्रह नहीं।
- ❖ अपरिग्रही साधु को जब कभी आहार, वसति (आवास), वस्त्र, पात्र या अन्य

---

१. 'पाइअ-सद्दमहण्णवो' पृ० १६७, १४३।

२. आचारांग मूलपाठ तथा वृत्ति पत्रांक ४०२।

[पढमो उद्देसओ]

अवग्रह-प्रतिमा : सप्तम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

अवग्रह-ग्रहण की अनिवार्यता

६०७. समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसू परदत्तभोई पावं कम्मं णो करिस्सामि त्ति समुट्ठाए सव्वं भंते ! अदिण्णादाणं पच्चक्खामि ।

से अणुपविसित्ता गामं वा जाव रायहाणिं वा णेव सयं अदिण्णं गेण्हेज्जा, णेवऽण्णेणं अदिण्णं गेण्हावेज्जा, णेवऽण्णं अदिण्णं गेण्हंतं पि समणुजाणेज्जा ।

जेहिं वि सद्धिं संपव्वइए तेसिंऽपियाइं छत्तयं वा[1] डंडगं वा मत्तयं वा जाव[2] चम्मच्छेयणगं वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुण्णविय अपडिलेहिय अपमज्जिय णो गिण्हेज्ज वा, पगिण्हेज्ज वा, तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुण्णविय पडिलेहिय पमज्जिय तओ संजयामेव ओगिण्हेज्ज वा पगिण्हेज्ज वा ।

६०७ मुनिदीक्षा लेते समय साधु प्रतिज्ञा करता है—"अब मैं श्रमण बन जाऊंगा। अनगार (घरबार रहित), अकिंचन (अपरिग्रही), अपुत्र (पुत्रादि सम्बन्धों से मुक्त), अपशु (द्विपद-चतुष्पद आदि पशुओं के स्वामित्व से मुक्त) एवं परदत्तभोजी (दूसरे-गृहस्थ द्वारा प्रदत्त-भिक्षा प्राप्त आहारादि का सेवन करने वाला) होकर मैं अब कोई भी हिंसादि पापकर्म नहीं करूंगा।" इस प्रकार संयम-पालन के लिए उत्थित-समुद्यत होकर (कहता है—) 'भंते! मैं आज समस्त प्रकार के अदत्तादान का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ।

(इस प्रकार की (तृतीय महाव्रत की) प्रतिज्ञा लेने के बाद—) वह साधु ग्राम यावत्

---

१. छत्र-दण्ड आदि उपकरण बिना दिये लेने का प्रसंग—चूर्णिकार के शब्दों में—"त कहिं गामे नगरे वा लोइय गतं। लोउत्तरं डंडगादि, छत्रगं, देसं पडुच्च जहा कोंकणेसु, णिव्वंता सत्ता णाउल्लिति डंडएण सन्नाभूमी गच्छतो अप्पणो अदिस्सतो अणुण्णवेत्ता णेति, सघारामादिसु वा अणुण्णवेति।" उदाहरणार्थ—साधु किसी ग्राम या नगर में शौचादि के लिए स्थण्डिलभूमि में गया, शौच-निवृत्ति के अनन्तर वर्षा हो गई। चारों ओर कीचड ही कीचड हो गया। अगर साधु उस समय चलता है तो भीग जायेगा, कीचड़ में फंस जायेगा। इसलिए वहाँ अपना दंड न देखकर दूसरे का दंड उतावली में बिना आज्ञा लिए ही ले लेता है। कोंकण आदि देश की अपेक्षा से छाता भी लगाना पड़ता है, वर्षा में, छाता भी दूसरे बौद्ध आदि भिक्षु से बिना आज्ञा के उस समय ले लेता है, फिर संघाराम आदि में आकर उस भिक्षु से उसकी आज्ञा लेना है।

२. 'जाव' शब्द यहाँ सू० ५४८ के अनुसार 'मत्तयं' से 'चम्मच्छेयणगं' तक के पाठ का सूचक है।

छत्रक आदि उपकरणों का उल्लेख क्यों ? प्रस्तुत सूत्रपाठ में छाता (छत्रक) चर्मच्छेदनक आदि उपकरण का उल्लेख है। जबकि दशवैकालिक में छत्तस्स धारणट्ठाए' कह कर इस अनाचीर्ण में बताया है, तब इनका उल्लेख शास्त्रकार ने यहाँ क्यों किया ?

वृत्तिकार एवं चूर्णिकार इसका समाधान करते हैं—छत्र वर्षाकल्पादि के समय किसी देश विशेष में कारणवश साधु रखता है। कहीं कोंकण आदि देश में अत्यन्त वृष्टि होने के कारण छत्र भी रख सकता है। उसे अभिमानवृद्धि एवं राजसी ठाटबाट का सूचक नहीं बनाना चाहिए। चर्मछेदनक भी प्रातिहारिक रूप में गृहस्थ से किसी कार्य के लिये साधु लाता है; उपकरण के रूप में नहीं रखता।[1]

"समणा भविस्सामो' आदि प्रतिज्ञा का पाठ सूत्रकृतांग में भी इसी क्रमपूर्वक मिलता है, इस प्रतिज्ञा को दोहरा कर साधु को अपनी अदत्तादान-विरमण की प्रतिज्ञा पर दृढ़ रह कर सर्वत्र अवग्रहग्रहण करने की बात पर जोर दिया है।[2]

'अकिंचन' का तात्पर्य—चूर्णिकार ने अकिंचन का स्पष्टीकरण भी किया है—साधु द्रव्य से अपुत्र, एवं धन-धान्यादि रहित है, भाव से क्रोधादि से रहित है, इसलिए वह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से अकिंचन—अपरिग्रही है।[3]

'ओगिण्हेज्ज पगिण्हेज्ज' दोनों शब्दों के अर्थ में चूर्णिकार अन्तर बताते हैं—एक बार ग्रहण करना अवग्रहण है, बार-बार ग्रहण करना प्रग्रहण है।[4]

अवग्रह-याचना: विविध रूप

६०८. से आगंतारेसु वा[5] ४ अणुवीइ उग्गहं जाएज्जा, जे तत्थ ईसरे[6] जे तत्थ समाहिट्ठाए ते उग्गहं अणुण्णवेज्जा—कामं खलु आउसो ! अहालंदं अहापरिण्णायं वसामो, जाव आउसो; जाव आउसंतस्स उग्गहे, जाव साहम्मिया, एताव ताव उग्गहं ओगिण्हिस्सामो, तेण परं विहरिस्सामो।

---

१. (क) आचा. वृत्ति पत्रांक ४०२, (ख) आचा. चूर्णि मू. पा. टि. पृ. २११
२. तुलना कीजिए—"समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो पाव कम्मं णो करिस्सामो समुट्ठाए।"—सूत्रकृतांग २/१/२
३. अकिंचणा-दव्वे अपुत्ता अपसू, भावे अकोहा—आचा० चूर्णि मू. पा. टि. पृ. २११
४. "ओगिण्हंति एक्कसिं, पगिण्हंति पुणो पुणो।"—आचा० चूर्णि मू. पा. टि. पृ. २११
५. 'आगंतारेसु वा' के आगे '४' का अंक सूत्र ४१२ के अनुसार "आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा" पाठ का सूचक है।
६. चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—"ईसरो, समाहिट्ठाए।" अर्थ किया गया है—ईसरोत्ति राया भाइल्लो जाव सामाइओ। समाहिट्ठाए ... ।—ईश्वर का अर्थ है—राजा, ... स्वामी या मालिक आदि। समाधिष्ठाता का अर्थ है—स्वामी के द्वारा अधिकृत या नियुक्त अधिकारी मुनीम आदि।

६०९. से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि ? जे तत्थ साहम्मिया संभोइया सम-
णुण्णा[1] उवागच्छेज्जा जे तेण सयमेसित्तए असणे वा ४ तेण ते साहम्मिया संभोइया समणु-
उवणिमंतेज्जा, णो चेव णं परपडियाए[2] ओगिज्झिय २ उवणिमंतेज्जा।

६१०. से आगंतारेसु वा जाव से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि ? जे त-
साहम्मिया अण्णसंभोइया समणुण्णा उवागच्छेज्जा जे तेण सयमेसित्तए[3] पीढे वा फलए
सेज्जासंथारए वा तेण ते साहम्मिए अण्णसंभोइए[4] समणुण्णे उवणिमंतेज्जा, णो चेव णं
पडियाए[5] ओगिण्हिय[6] २ उवणिमंतेज्जा।

६११. से आगंतारेसु वा जाव से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि ? जे तत्थ गा-
वतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा सूई वा पिप्पलए वा कण्णसोहणए वा णहच्छेदणए वा
अप्पणो एगस्स अट्ठाए पडिहारियं जाइत्ता णो अण्णमण्णस्स देज्ज वा अणुपदेज्ज वा,
करणिज्जं ति कट्टु से तमादाए तत्थ गच्छेज्जा, २ [त्ता] पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे कट्टु भू
वा ठवेत्ता इमं खलु इमं खलु त्ति आलोएज्जा, णो चेव णं सयं पाणिणा परपाणिंसि प-
प्पिणेज्जा।

६०८. साधु पथिकशालाओं, आरामगृहों, गृहस्थ के घरों और परिव्राजकों के आव-
(मठों) में जाकर पहले साधुओं के आवास योग्य क्षेत्र को भलीभांति देख-सोचकर फिर अव-
(वसति आदि) की याचना करे। उस क्षेत्र या स्थान का जो स्वामी हो, या जो वहाँ
अधिष्ठाता—नियुक्त अधिकारी हो उससे इसप्रकार अवग्रह की अनुज्ञा माँगे—'आयुष्म-
आपकी इच्छानुसार—जितने समय तक रहने की तथा जितने क्षेत्र में निवास करने की
आज्ञा दोगे, उतने समय तक, उतने क्षेत्र में हम निवास करेंगे। यहाँ जितने समय तक

---

१. समणुण्णो—का अर्थ चूर्णिकार के शब्दों में—"समणुण्णो, ण केण सम असंखडं, ण वा ए-
विहारी।"—समनुज्ञ अर्थात् जो न तो अनियन्त्रित अथवा किसी के साथ कलहकारी है, और न
एकलविहारी है, अर्थात् जो मिलनसार है।
२. 'परपडियाए' का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—परवेयावडिया पर सनिएण।"—दूसरे साधु की वैय-
लिए दूसरे के अधिकार का।
३. 'सयमेसित्तए' के बदले पाठान्तर है—'सयमेसिय' 'सयमेसित्तते' 'सयमेसितए'।
४. चूर्णिकार के अनुसार तात्पर्य है- 'अण्णसंभोइए पीढएण वा फलएण वा सेज्जासंथारएण
उवणिमंतेज्ज—अर्थात्—अन्यसांभोगिक साधु को पीठ फलक और शय्यासंस्तारक का उपनिम-
(मनुहार) करना चाहिए।
५. 'परपडियाए' के बदले पाठान्तर है—'परवेयावडियाते'।
६. 'ओगिण्हिय ओगिण्हिय' के बदले पाठान्तर है—'उगिज्झिय २' उगिण्हिय उनिमंतेज्जा, उगि-
निमंतेज्जा उगिण्हिय-२ निमंतेज्जा।' भावार्थ समान है।

प्मान् की अवग्रह-अनुज्ञा है, उतनी अवधि तक जितने भी अन्य सार्धमिक साधु आएँगे, उनके लिए भी जितने क्षेत्र-काल की अवग्रहानुज्ञा ग्रहण करेंगे वे भी उतने ही समय तक उतने ही क्षेत्र में ठहरेंगे, उसके पश्चात् वे और हम विहार कर देंगे।

६०९. अवग्रह के अनुज्ञापूर्वक ग्रहण कर लेने पर फिर वह साधु क्या करे? वहाँ (निवासित साधु के पास) कोई साधर्मिक, साम्भोगिक एवं समनोज्ञ साधु अतिथि के रूप में आ जाएं तो वह साधु स्वय अपने द्वारा गवेषणा करके लाये हुए अशनादि चतुर्विध आहार को उन साधर्मिक, सांभोगिक एवं समनोज्ञ साधुओं को उपनिमंत्रित करे, किन्तु अन्य साधु द्वारा या अन्य रुग्णादि साधु के लिए लाए हुए आहारादि को लेकर उन्हे उपनिमंत्रित न करे।

६१०. पथिकशाला आदि अवग्रह को अनुज्ञापूर्वक ग्रहण कर लेने पर फिर वह साधु क्या करे? यदि वहाँ (निवासित साधु के पास) कुछ अन्य साम्भोगिक, साधर्मिक एवं समनोज्ञ साधु अतिथि रूप में आ जाए तो जो स्वयं गवेषणा करके लाए हुए पीठ (चौकी), फलक (पट्टा) शय्यासंस्तारक (घास आदि) आदि हो, उन्हें (अन्य साम्भोगिक साधर्मिक समनोज्ञ साधुओं को) उन वस्तुओं के लिए आमंत्रित करे, किन्तु जो दूसरे के द्वारा या रुग्णादि अन्य साधु के लिए लाये हुए पीठ, फलक या शय्यासंस्तारक हों, उनको लेने के लिए आमंत्रित न करे।

६११. उस धर्मशाला आदि को अवग्रहपूर्वक ग्रहण कर लेने के बाद साधु क्या करे? जो वहाँ आसपास में गृहस्थ या गृहस्थ के पुत्र आदि हैं, उनसे कार्यवश सूई, कैंची, कानकुरेदनी नहरनी आदि अपने स्वयं के लिए कोई साधु प्रातिहारिक रूप से याचना करके लाया हो तो वह उन चीजों को परस्पर एक-दूसरे साधु को न दे-ले। अथवा वह दूसरे साधु को वे चीजें न सौंपे।

उन वस्तुओं का यथायोग्य कार्य हो जाने पर वह उन प्रातिहारिक चीजों को लेकर उस गृहस्थ के यहां जाए और लम्बा हाथ करके उन चीजों को भूमि पर रख कर गृहस्थ से कहे—यह तुम्हारा अमुक पदार्थ है, यह अमुक है, इसे संभाल लो, देख लो। परन्तु उन सूई आदि वस्तुओं को साधु अपने हाथ से गृहस्थ के हाथ पर रख कर न सौंपे।

विवेचन—अवग्रहयाचना विधि और याचना के पश्चात्—सूत्र ६०८ से ६११ तक में अवग्रह-याचना के पूर्व और पश्चात् की कर्त्तव्य-विधि बताई गई है। इसमें निम्नोक्त पहलुओं पर कर्त्तव्य निर्देश किया गया है—

(१) आवासीय स्थान के क्षेत्र और निवासकाल की सीमा, अवग्रह की याचना विधि।

(२) अवग्रह-गृहीत स्थान में साधर्मिक, सम्भोगिक, समनोज्ञ साधु आजाएँ तो उन्हे स्व-याचित आहारादि में से लेने को मनुहार करे, पर-याचित में से नहीं। स्व-याचित आहार भी यदि रुग्णादि साधु के लिए याचना करके लाया हो तो उसके लिए भी नही।

(३) अवग्रह-गृहीत स्थान में अन्य साम्भोगिक साधर्मिक समनोज्ञ साधु आजाएँ तो उन्हे

स्व-याचित पीठ, फलक, शय्या-संस्तारक आदि में से लेने की मनुहार करे, पर-याचित पीठादि में से अथवा रुग्णादि के लिए याचित में से नहीं।

(४) गृहस्थ के घर से स्वयाचित सूई, कैंची, कानकुरेदनी, नहरनी आदि चीजें लाया हो तो उन चीजों को स्वयं जाकर उस गृहस्थ को विधिपूर्वक सौंपे, अन्य किसी को नहीं।

तात्पर्य—इन चारों सूत्रों में स्थान, आहार, पीठ-फलकादि या सूई, कैंची आदि, जितनी भी वस्तुओं का साधु उपयोग या उपभोग करता है, उनके स्वामी या अधिकारी से अनुज्ञापूर्वक ग्रहण (अवग्रह) की विधि से उन सबकी याचना करना आवश्यक बताया है, और स्वयाचित वस्तुओं में से ही यथायोग्य साधर्मिकों को मनुहार करके दिया जा सकता है। प्रातिहारिक रूप से स्वयाचित वस्तु (सूई आदि) को स्वयं जाकर वापस सौंपने की विधि बताई है। इन विधानों के पीछे कारण ये है—बिना अवग्रहयाचना किये ही किसी के स्थान का उपयोग करने से उस स्थान का स्वामी या अधिकारी क्रुद्ध होगा, अपमानित करेगा, साधु को अदत्तादान दोष भी लगेगा। परयाचित या परार्थ—दूसरे किसी साधु के लिए याचित वस्तु को लेने की किसी साधर्मी साधु को मनुहार करने से उस साधु को बुरा लग सकता है, वह रुग्ण हो तो उसके अन्तराय लग सकता है। तथा प्रातिहारिकरूप से स्वयाचित वस्तुएं दूसरे साधु को सौंप देने से वह वापस लौटाना भूल जाए या उसमें वह चीज खो जाए तो दाता को साधुओं के प्रति अश्रद्धा पैदा हो जाएगी, वचन-भंग होगा, असत्य का दोष लगेगा।

साधर्मिक, साम्भोगिक और समनोज्ञ में अन्तर—एक धर्म, एक देव और प्रायः एक सरीखे वेश वाले साधर्मिक साधु कहलाते हैं। साम्भोगिक वे कहलाते हैं, जिनके आचार-विचार और समाचारी एक हों, और समनोज्ञ वे होते हैं, जो उद्युक्त विहारी—आचार-विचार में अशिथिल हों। इसका समनुज्ञ रूपान्तर भी होता है, जिसका अर्थ होता है—एक आचार्य या एक गुरु की अनुज्ञा से विचरण करने वाले।

शास्त्रीय विधान के अनुसार जो साधर्मिक होते हुए साम्भोगिक (बारह प्रकार के परस्पर सहोपभोग व्यवहारवाले) और समनोज्ञ साधु होते हैं, उनके साथ आहारादि या वस्त्र-पात्रादि का लेन-देन होता है, किन्तु अन्य साम्भोगिक के साथ शयनीय उपकरणों आदि का लेन देन क्षम्य होता है। इसी अन्तर को स्पष्ट करने हेतु शास्त्रकार ने ये तीन विशेषण प्रयुक्त किये हैं।

अवग्रह वर्जित स्थान

६१२. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा अणंतरहिताए पुढवीए ससणिद्धाए पुढवीए[1] जाव मक्कडासंताणए, तहप्पगारं उग्गहं णो[2] ओगिण्हेज्ज वा २।

---

१ [illegible] 'पुढवीए से मक्कडासंताणए' तक का पाठ सूत्र—३५३ के अनुसार समझें।

२ [illegible] 'णो गिण्हेज्ज'।

६१३. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उग्गहं[1] जाणेज्जा थूणंसि वा[2] ४ जाव तहप्पगारे अंतलिक्खजाते दुब्बद्धे[3] जाव णो उग्गहं ओगिण्हेज्ज[4] वा।

६१४. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा कुलियंसि वा[5] ४ जाव णो [उग्गहं] ओगिण्हेज्ज वा २।

६१५. से भिक्खू वा २ [से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा] खंधंसि वा ६[6], अण्णतरे वा तहप्पगारे जाव णो उग्गहं ओगिण्हेज्ज वा २।

६१६. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा सागारियं[7] सागणियं सउदयं सइत्थि सखुड्डं सपसुभत्तपाणं णो पण्णस्स णिक्खम-पवेसं[8] जाव धम्माणुओगचिंताए, सेवं णच्चा तहप्पगारे उवस्सए सागारिए जाव[9] सखुड्ड-पसु-भत्तपाणे नो उग्गहं ओगिण्हेज्ज वा २।

६१७. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा, गाहावतिकुलस्स मज्झंमज्झेण गंतुं पंथे (वाए) पडिबद्धं[10] वा, णो पण्णस्स जाव[11], से एवं णच्चा तहप्पगारे उवस्सए णो उग्गहं ओगिण्हेज्ज वा २।

६१८. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा—इह खलु गाहावती वा जाव कम्मकरीओ वा अण्णमण्णं अक्कोसंति वा तहेव[12] तेल्लादि सिणाणादि सीओदगवियडादि णिगिणा ठिता जहा सेज्जाए आलावगा, णवरं उग्गहवत्तव्वता।

---

१. 'से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा' पाठ किसी-किसी प्रति में नहीं है।
२. 'थूणंसि वा' के आगे '४' का अंक सू० ४०१ के अनुसार शेष तीन पदों का सूचक है।
३. यहाँ 'जाव' शब्द सू० ४०१ के अनुसार 'दुब्बद्धे' से 'णो उग्गहं' तक के पाठ का सूचक है।
४. 'ओगिण्हेज्ज वा' के आगे '२' का अंक 'पगिण्हेज्ज वा' पाठ का सूचक है।
५. 'कुलियंसि वा' के आगे ४ का अंक सूत्र—४०७ के अनुसार 'भित्तिंसि वा' आदि शेष तीन पदों का सूचक है।
६. "खंधंसि वा" के आगे ६ का अंक सूत्र० ४०८ के अनुसार 'मचंसि वा' आदि अवशिष्ट ५ पदों का सूचक है।
७. 'सागारियं' के बदले 'ससागारियं' पाठान्तर है।
८. यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र—३४८ के अनुसार 'निक्खम-पवेस' से 'धम्माणुओगचिंताए' पाठ तक का सूचक है।
९. यहाँ 'जाव' शब्द इसी सूत्र के अनुसार 'सागारिए' से लेकर 'सखुड्ड' पाठ तक का सूचक है।
१०. 'गतुं पथे पडिबद्धं' के बदले 'गंतुं वत्थए' 'गंतुं पंथपडिबद्ध' पाठान्तर हैं।
११. यहाँ 'जाव' शब्द 'पण्णस्स' से लेकर 'सेवं णच्चा' तक का पाठ सूत्र ३४८ के अनुसार समझें।
१२ 'तहेव' शब्द से सू०—४४६, ४५०, ४५१, ४५२, ४५३ सूत्रों में वर्णित पाठ का समुच्चय से 'जहा सेज्जाए आलावगा' कह कर सूचित किये गये हैं।

६११. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा आइण्णं सलेक्खं[1] णो पण्णस्स णिक्खम-पवेसाए (ए) जाव[2] चिंताए, तहप्पगारे उवस्सए णो उग्गहं ओगिण्हेज्ज वा २।[3]

६१२. साधु या साध्वी यदि ऐसे अवग्रह (स्थान) को जाने, जो सचित्त, स्निग्ध पृथ्वी यावत् जीव-जन्तु आदि से युक्त हो, तो इस प्रकार के स्थान की अवग्रह-अनुज्ञा एक बार या अनेक बार ग्रहण न करे।

६१३. साधु या साध्वी यदि ऐसे अवग्रह (स्थान) को जाने, जो भूमि से बहुत ऊंचा हो, ठूंठ, देहली, खूंटी, ऊखल, मूसल आदि पर टिकाया हुआ एवं ठीक तरह से बंधा हुआ या गड़ा या रखा हुआ न हो, अस्थिर और चल-विचल हो, तो ऐसे स्थान की भी अवग्रह-अनुज्ञा एक या अनेक बार ग्रहण न करे।

६१४. साधु या साध्वी ऐसे अवग्रह (स्थान) को जाने, जो घर की कच्ची पतली दीवार पर, या नदी के तट या बाहर की भींत, शिला, या पत्थर के टुकड़ों पर या अन्य किसी ऊँचे व विषम स्थान पर निर्मित हो, तथा दुर्बद्ध, दुर्निक्षिप्त, अस्थिर और चल-विचल हो तो ऐसे स्थान की भी अवग्रह-अनुज्ञा एक या अधिक बार ग्रहण न करे।

६१५. साधु-साध्वी ऐसे अवग्रह को जाने जो स्तम्भ, मचान, ऊपर की मंजिल, प्रासाद पर या तलघर में स्थित हो या उस प्रकार के किसी उच्च स्थान पर हो तो ऐसे दुर्बद्ध यावत् चल-विचल स्थान की अवग्रह-अनुज्ञा एक या अधिक बार ग्रहण न करे।

६१६. साधु या साध्वी यदि ऐसे अवग्रह को जाने, जो गृहस्थों से संसक्त हो, अग्नि और जल से युक्त हो, जिसमें स्त्रियाँ, छोटे बच्चे अथवा क्षुद्र (नपुंसक) रहते हों, जो पशुओं और उनके योग्य खाद्य-सामग्री से भरा हो, प्रज्ञावान् साधु के लिए ऐसा आवास स्थान निर्गमन-प्रवेश, वाचना यावत् धर्मानुयोग-चिन्तन के योग्य नहीं है। ऐसा जानकर उस प्रकार के गृहस्थ यावत् स्त्री, क्षुद्र तथा पशुओ तथा उनकी खाद्य-सामग्री से परिपूर्ण उपाश्रय की अवग्रह-अनुज्ञा ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

६१७. साधु या साध्वी जिस अवग्रह स्थान को जाने कि उसमें जाने का मार्ग गृहस्थ के घर के बीचोबीच से है या गृहस्थ के घर से बिल्कुल सटा हुआ है तो प्रज्ञावान् साधु का ऐसे स्थान में निकलना और प्रवेश करना तथा वाचना यावत् धर्मानुयोग-चिन्तन करना उचित नहीं है, ऐसा जानकर उस प्रकार के गृहपतिगृह-प्रतिबद्ध उपाश्रय की अवग्रह-अनुज्ञा ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

---

१ 'आइण्णं सलेक्खं' पाठ के बदले पाठान्तर हैं—"आइण्णसंलेक्खं, आइण्णसलेक्खं, आइन्नलेक्खं, आइण्ण-संलेक्खं, आइन्न सलेक्खं" आदि।

२ यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र—३४८ के अनुसार 'णिक्खमण-पवेसाए' से लेकर 'धम्माणुओगचिंताए' तक के पाठ का सूचक है।

३. 'ओगिण्हेज्ज वा' के आगे '२' का अंक 'पगिण्हेज्ज वा' का सूचक है।

६१८. साधु या साध्वी ऐसे अवग्रह स्थान को जाने, जिसमें गृहस्वामी यावत् उसकी नौकरानियाँ परस्पर एक दूसरे पर आक्रोश करती हों, लड़ती-झगड़ती हों, तथा परस्पर एक दूसरे के शरीर पर तेल, घी आदि लगाते हो, इसीप्रकार स्नानादि, शीतल सचित्त या उष्ण जल से गात्रसिंचन आदि करते हों या नग्नस्थित हो इत्यादि वर्णन शय्याध्ययन के आलापकों की तरह यहाँ समझ लेना चाहिए। इतना ही विशेष है कि वहाँ वह वर्णन शय्या के विषय में है, यहाँ अवग्रह के विषय में है। अर्थात्—इस प्रकार के किसी भी स्थान को अवग्रह-अनुज्ञा ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

६१९. साधु या साध्वी ऐसे अवग्रह-स्थान को जाने जिस में अश्लील चित्र आदि अंकित या आकीर्ण हों, ऐसा उपाश्रय प्रज्ञावान् साधु के निर्गमन-प्रवेश तथा वाचना से धर्मानुयोग चिन्तन तक (स्वाध्याय) के योग्य नहीं है। ऐसे उपाश्रय की अवग्रह-अनुज्ञा एक या अधिक बार ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

विवेचन—अवग्रह-ग्रहण के अयोग्य स्थान—सूत्र ६१२ से ६१९ तक आठ सूत्रों से अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण करने के लिए अयोग्य, अनुचित, अकल्पनीय, अशान्तिजनक एवं कर्मबन्धजनक स्थानों का शय्याध्ययन में उल्लिखित क्रम से उल्लेख किया है एवं उन स्थानों के अवग्रह-याचन का निषेध किया है।[1] इन सूत्रों का वक्तव्य एवं आशय स्पष्ट है। पहले वस्त्रैषणा-पिण्डैषणा-शय्या आदि अध्ययनों के सूत्र ३५३, ५७६, ५११, ५७८, ४२०, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५३, ४५३, ४५४ आदि सूत्रों में इसी प्रकार का वर्णन आ चुका है, और वहाँ उनका विवेचन भी किया जा चुका है।[2]

६२०. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं [समिते सहिते सदा जएज्जासि त्ति बेमि]।

६२०. यही (अवग्रह-अनुज्ञा-ग्रहण विवेक ही) वास्तव में साधु या साध्वी का समग्र आचार सर्वस्व है, जिसे सभी प्रयोजनों एवं ज्ञानादि से युक्त, एवं समितियों से समित होकर पालन करने के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहे।[3]

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. आचारांग मूलपाठ एवं वृत्ति पत्रांक ४०४ के आधार पर।

२. आचारांग (मूलपाठ टिप्पणी सहित) पृ० २२१, २२२

३. इसका विवेचन सू० ३३४ में किया जा चुका है।

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

आगन्तागार आदि में अवग्रह विधि-निषेध

६२१. से आगंतारेसु वा[1] ४ अणुवीई उग्गहं जाएज्जा। जे तत्थ ईसरे जे समाधिट्ठाए ते उग्गहं अणुण्णवित्ता (ज्जा)—कामं खलु आउसो! अहालंदं अहापरिण्णातं वसामो, जाव आउसो, जाव आउसंतस्स उग्गहे, जाव साहम्मिया, एताव उग्गहं ओगिण्हिस्सामो, तेण परं विहरिस्सामो।

६२२ से किं पुण[2] तत्थ उग्गहंसि एवोग्गहियंसि? जे तत्थ समणाण वा माहणाण वा वंडए वा छत्तए वा जाव चम्मछेदणए[3] वा तं णो अंतोहिंतो बाहिं णीणेज्जा, बहियाओ वा णो अंतो पवेसेज्जा, सुत्तं वा ण पडिबोहेज्जा, णो तेसिं किंचि वि अप्पत्तियं[4] पडिणीयं करेज्जा।

६२३. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा अंबवणं उवागच्छित्तए। जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समाहिट्ठाए[5] ते उग्गहं अणुजाणावेज्जा-कामं खलु जाव[6] विहरिस्सामो।

से किं पुण तत्थ उग्गहंसि एवोग्गहियंसि? अह भिक्खू इच्छेज्जा अंबं भोत्तए वा [पायए वा]। से ज्जं पुण अंबं जाणेज्जा सअंडं जाव संताणगं तहप्पगारं अंबं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

६२४ से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण अंबं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं अतिरिच्छछिण्णं अव्वोच्छिण्णं अफासुयं[7] जाव णो पडिगाहेज्जा।

६२५. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण अंबं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं तिरिच्छछिण्णं वोच्छिण्णं फासुयं[8] जाव पडिगाहेज्जा।

---

१ 'आगंतारेसु वा' के आगे '४' का अंक शेष तीन पदों—आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा' का सूचक है।

२ 'से किं पुण' के बदले पाठान्तर है—'से यं पुण सेयं पडिणीयं करेज्जा।' वह साधु जिस अवग्रह की ......वह साधु प्रतिकूल व्यवहार करेगा तो उस अवग्रह (स्थान) की अनुज्ञा ग्रहण करने से क्या मतलब?

३. यहाँ 'जाव' शब्द सू०—४४४ के अनुसार 'छत्तए वा' से 'चम्मछेदणए' पाठ तक का सूचक है।

४ 'अप्पत्तिय पडिणीयं' के बदले पाठान्तर है—'अपत्तिय पडिणीय' अपत्तियं पडनीयं। अर्थ दोनों का वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार है—अप्पत्तियमिति मनसः पीडाम्, तथा पडिणीयं = प्रत्यनीकता प्रतिकूलतां न विदध्यात्। अर्थात्—अप्पत्तिय का अर्थ है—मन को पीड़ा न दे, पडिणीयं अर्थात् प्रत्यनीकता, प्रतिकूलता धारण न करे।

५ समाहिट्ठाए के बदले पाठान्तर है—समहिट्ठिए = समधिष्ठित है।

६ यहाँ 'जाव' शब्द से सूत्र ६०८ के अनुसार काम खलु से विहरिस्सामो तक का सारा पाठ समझें।

७ यहाँ 'जाव' शब्द अफासुय से णो पडिगाहेज्जा तक के पाठ का सूत्र ३२५ के अनुसार समझें।

८. यहाँ जाव शब्द सू० ३२५ के अनुसार फासुय से पडिगाहेज्जा तक के पाठ का सूचक है।

६२६. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा अंबभित्तगं वा[1] अंबपेसियं वा अंबचोयगं वा अंबसालगं वा अंबडालगं[2] वा भोत्तए वा पायए वा, से ज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं वा जाव अंबडालगं वा सअंडं जाव संताणगं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

६२७. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं वा [जाव अंबडालगं वा] अप्पंडं जाव संताणगं अतिरिच्छच्छिण्णं [अव्वोच्छिण्णं] अफासुयं जाव नो पडिगाहेज्जा।

६२८. से ज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं वा [जाव अंबडालगं वा] अप्पंडं जाव संताणगं तिरिच्छच्छिण्णं वोच्छिण्णं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा।

६२९. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा उच्छुवणं उवागच्छित्तए। जे तत्थ ईसरे[3] जाव उग्गहियंसि [एवोग्गहियंसि ?] अह भिक्खू इच्छेज्जा उच्छुं भोत्तए वा पायए वा से ज्जं उच्छुं जाणेज्जा सअंडं जाव णो पडिगाहेज्जा अतिरिच्छच्छिण्णं तहेव[4] तिरिच्छच्छिण्णे वि तहेव।

६३०. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा अंतरुच्छुयं[5] वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं[6] वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा भोत्तए वा पातए वा। से ज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा सअंडं जाव णो पडिगाहेज्जा।

६३१. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा अप्पंडं जाव णो पडिगाहेज्जा, अतिरिच्छच्छिण्णं तिरिच्छच्छिण्णं तहेव।

६३२. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा ल्हसणवणं उवागच्छित्तए, तहेव[7] तिण्णि वि आलावगा, नवरं ल्हसुणं।

---

१. निशीथचूर्णि मे अन्य आचार्य के अभिप्राय की गाथा इस प्रकार है—

> अंबं केणति ऊणं, डगलद्धं, भित्तगं चउब्भागो।
> चोयं तयाओ भणिता सालं पुण अक्खुयं जाण ॥४७००॥

इसका भावार्थ विवेचन में दिया गया है। —निशीथ चूर्णि उ०१५ पृ० ४८१/४८२

२. अंबडालग के बदले पाठान्तर है—अंबडगल, अंबडगल

३. यहाँ जाव शब्द से ईसरे से उग्गहियंसि तक का पाठ सूत्र ६०६ के अनुसार समझें।

४. जहाँ जहाँ तहेव पाठ है, वहाँ उसी सन्दर्भ मे पूर्व वर्णित पाठ के अनुसार पाठ समझ लेना चाहिए।

५. निशीथ चूर्णि उद्देशक १६ मे इक्षु-अवयवसूत्रान्तर्गत शब्दों का अर्थ इस प्रकार दिया है—

> पव्वसहितं तु खंडं, तव्वज्जियं अंतरुच्छुयं होइ।
> डगल चक्कलिछेदो, मोय पुण छल्लिपरिहीणं ॥४४११॥
> चोयं तु होति हीरो सगलं पुण तस्स बाहिरा छल्ली।
> डालं पुण भुक्क (सुक्क) वा इतरजुतं सप्पइट्ठं तु ॥४४१२॥

भावार्थ विवेचन मे आ चुका है। देखें। —निशीथ चूर्णि उ० १६ पृ० ६६

६. किसी प्रति मे 'उच्छुचोयग' पाठ नहीं है, तो किसी मे 'उच्छुडालगं' पाठ नहीं है, कहीं 'अंतरुच्छुयं' पाठ नहीं है, कहीं 'तिरिच्छच्छिण्णं' पाठ नहीं है।

७. 'तहेव' शब्द से यहाँ अंबवण सूत्र ६२३, २४, २५ के अनुसार सारा पाठ समझें।

सप्त सप्तिका : द्वितीय चूला

स्थान-सप्तिका : अष्टम अध्ययन

प्राथमिक

☆ आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु त०) के आठवें अध्ययन का नाम स्थान-सप्तिका है।

☆ यहाँ से सप्त-सप्तिका नाम की द्वितीय चूला प्रारम्भ होती है।

☆ साधु को रहने तथा अन्य धार्मिक क्रियाएँ करने के लिए स्थान की आवश्यकता अनिवार्य है। स्थान के बिना वह स्थिर नहीं हो सकता। साधु जीवन में केवल चलना, खड़े रहना या थोड़ी देर बैठना ही नहीं है, यथासमय उसे शयन, प्रतिलेखन, प्रवचन, कायोत्सर्ग आदि क्रियाएँ करने के लिए स्थिर भी होना पड़ता है। किन्तु साधु कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, आहार, उच्चार-प्रस्रवणादि के लिए किस प्रकार के स्थान में, कितनी भूमि में, कब तक, किस प्रकार से स्थित हो? इसका विवेक करना अनिवार्य है। साथ ही कायोत्सर्ग के समय स्थान से सम्बन्धित प्रतिज्ञाएँ भी होनी आवश्यक हैं, ताकि स्थान के सम्बन्ध में जागृति रहे। इसी उद्देश्य से 'स्थान-सप्तिका' अध्ययन का प्रतिपादन किया गया है।[1]

☆ जहाँ ठहरा जाए, उसे स्थान कहते हैं। यहाँ द्रव्यस्थान-ग्राम, नगर यावत् राजधानी में ठहरने योग्य स्थान विवक्षित है। औपशमिकभाव आदि या स्वभाव में स्थिर करना आदि भाव स्थान विवक्षित नहीं है।

☆ साधु को कैसे स्थान का आश्रय लेना चाहिए? ऊर्ध्व (प्रशस्त) या उक्त भाव स्थान आदि प्राप्त करने के लिए द्रव्य-स्थान के सम्बन्ध में प्रतिपादन है।[2]

☆ स्थान (ठाण) एक विशेष पारिभाषिक शब्द भी है, शय्याध्ययन में जगह-जगह इस शब्द का प्रयोग किया गया है —कायोत्सर्ग अर्थ में। वहाँ 'ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं' का वैकल्पिक शब्द-प्रयोग यत्र-तत्र किया है। यही कारण है कि स्थान (कायोत्सर्ग) सम्बन्धी चार प्रतिमाएँ इस अध्ययन के उत्तरार्द्ध में दी गई हैं।[3] अतः द्रव्यस्थान एवं कायोत्सर्ग रूप स्थान के साथ विवेक सूत्रों का वर्णन इस अध्ययन में है।

☆ द्वितीय चूला के सातों अध्ययनों में सातों ही सप्तिकाएँ एक-से-एक बढ़कर हैं, सातों ही उत्तम वर्णित हैं तथापि सर्वप्रथम स्थान के सम्बन्ध में कहा जाना अभीष्ट है, इसलिए यहाँ प्रथम स्थान-सप्तिका नामक अध्ययन का प्रतिपादन किया गया है।[4]

---

1. आचारांग चूर्णि पत्रांक ४०६ के अनुसार [illegible]
2. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० ३०० । (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०६ ।
3. आचारांग मूल पाठ सू० ६१० में [illegible] तक चूर्णि सम्मत पाठ [illegible]
4. (क) आचारांग चूर्णि पत्रांक ४०६ ।

॥ बीआ चूला ॥

अट्ठमं अज्झयणं 'ठाणसत्तिक्कयं'

स्थान-सप्तिका : अष्टम अध्ययन :

अण्डादि युक्त-स्थान ग्रहण-निषेध

६३७. से भिक्खू वा २ अभिकंखेति[1] ठाणं ठाइत्तए। से अणुपविसेज्जा गामं वा नगरं वा जाव[2] संणिवेसं वा। से अणुपविसित्ता गामं वा जाव संणिवेसं वा से ज्जं पुण ठाणं जाणेज्जा सअंडं[3] जाव मक्कडासंताणयं, तं तहप्पगारं ठाणं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा। एवं सेज्जागमेण नेयव्वं जाव उदयपसूयाइं[4] ति।

६३७ साधु या साध्वी यदि किसी स्थान में ठहरना चाहे तो वह पहले ग्राम, नगर यावत् सन्निवेश मे पहुंचे। वहाँ पहुंच कर वह जिस स्थान को जाने कि यह अंडो यावत् मकडी के जालो मे युक्त है, तो उस प्रकार के स्थान को अप्रासुक एवं अनेषणीय जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

इसीप्रकार इससे आगे का यहाँ से उदकप्रसूत कंदादि तक का स्थानैषणा सम्बन्धी वर्णन शय्यैषणा अध्ययन में निरूपित वर्णन के समान जान लेना चाहिए।

विवेचन—कैसे स्थान मे न ठहरे, कैसे में ठहरे?—प्रस्तुत सूत्र में शय्यैषणा अध्ययन की तरह स्थान सम्बन्धी गवेषणा में विवेक बताया गया है। शय्या के बदले यहाँ स्थान समझना चाहिए। एक सूत्र तो यहाँ दे दिया है, शेष सूत्रो का रूप संक्षेप मे इस प्रकार समझ लेना चाहिए—

(१) अंडो यावत् मकडी के जालों से युक्त स्थान न हो तो उसमें ठहरे।

(२) एक साधर्मिक यावत् बहुत-सी साधर्मिणियो के उद्देश्य से समारम्भपूर्वक निर्मित, क्रीत, पामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभिहृत स्थान पुरुषान्तरकृत हो या अपुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो अथवा अनासेवित, उसमें न ठहरे।

---

१ 'अभिकंखेति' के बदले 'अभिकखति', 'अभिकखेज्जा' पाठान्तर है, अर्थ एक-सा है।

२ यहाँ 'जाव' शब्द सू० २२४ के अनुसार 'गामं वा' से 'संणिवेसं वा' तक के पाठ का सूचक है।

३. यहाँ 'जाव' शब्द सू० ३२४ के अनुसार 'सअंडं' से 'मक्कडासंताणयं' तक के पाठ का सूचक है।

४. यहाँ 'जाव' शब्द से शय्याऽध्ययन के सू० ४१२ से ४१७ तक उदकपसूताणि कंदाणि··· चेतेज्जा' तक का समग्र वर्णन समझें।

(३) बहुत-से श्रमणादि को गिन-गिनकर औद्देशिक यावत् अभिहृत दोषयुक्त स्थान हो, तो न ठहरे।

(४) बहुत-से श्रमणादि के उद्देश्य से निर्मित, क्रीतादि दोषयुक्त तथा अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित स्थान में न ठहरे।

(५) ऐसे पुरुषान्तरकृत स्थान में ठहरे।

(६) साधु के लिए सम्कारित-परिकर्मित और अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित स्थान में न ठहरे।

(७) इससे विपरीत पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित स्थान में ठहरे।

(८) साधु के लिए द्वार छोटे या बड़े बनवाए, यावत् भारी चीजों को इधर-उधर हटाए, बाहर निकाले, ऐसे अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित स्थान में न ठहरे।

(९) इससे विपरीत पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित स्थान में ठहरे।

(१०) साधु को ठहराने के लिए उसमें पानी से उगे हुए कंदमूल यावत् हरी को वहाँ से हटाए, उखाड़े, निकाले, फिर वह अपुरुषान्तर कृत यावत् अनासेवित स्थान हो तो उसमें न ठहरे।

(११) इससे विपरीत पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो तो उसमें ठहरे।[1]

इन ११ आलापकों के अतिरिक्त चूर्णिकार के मतानुसार और भी बहुत से आलापक हैं, जैसे कि—जो स्थान अनन्तरहित (सचेतन) पृथ्वी यावत् जीवों से युक्त हो, जहाँ दुष्ट मनुष्य साड, सिंह, सर्प आदि का निवास हो या खतरा हो, जो ऊंचा हो और जिस पर चढ़ने में गिर जाने का भय हो, जो विषम ऊबड़-खाबड़ या बहुत नीचा या बहुत ऊंचा स्थान हो, जिस स्थान पर गृहस्थ द्वारा पश्चात्कर्म करने की सम्भावना हो, जो स्थान सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति आदि से युक्त या प्रतिष्ठित हो, जिस स्थान में स्त्री, पशु, क्षुद्र प्राणी तथा नपुंसक का निवास हो, जहाँ गृहस्थ का परिवार अग्नि जलाना, स्नानादि करना आदि सावद्य कर्म करता हो, जहाँ गृहस्थ का परिवार व पारिवारिक महिलाएं रहती हों, जिस स्थान में से बार-बार गृहस्थ के घर में जाने-आने का मार्ग हो, जहाँ गृहस्थ के पारिवारिक जन परस्पर लड़ते-झगड़ते हों, हैरान करते हों। जहाँ परस्पर तेल आदि का मर्दन किया जाता हो, जहाँ पड़ौस में स्त्री-पुरुष एक दूसरे के शरीर पर पानी छींटते यावत् स्नान कराते हों, जहाँ बस्ती में नग्न या अर्धनग्न स्त्री-पुरुष परस्पर मैथुन सेवन की प्रार्थना करते हो, रहस्यमंत्रणा करते हों, जहाँ नग्न या अश्लील चित्र अंकित हों इत्यादि स्थानों में साधु निवास न करे।

इसके अतिरिक्त गाँव आदि में जिस स्थान में दो, तीन, चार या पाच साधु समूह रूप से ठहरें, वहाँ एक दूसरे के शरीर से आलिंगन आदि मोहोत्पादक दुष्क्रियाओं से दूर रहें। इन

1. आचारांग चूर्णि पत्रांक ३६०-३६१, सूत्र ४१७ से ४१८ तक।

दोषों की सम्भावना के कारण एक साधु दूसरे साधु से कुछ अन्तर (दूर)—कोई विशेष कारण न हो तो दो हाथ के फासले पर—सोए।[1]

निष्कर्ष यह है "स्थानैषणा के सम्बन्ध में चूर्णिकार सम्मत बहुत-से सूत्रपाठ है, जो वर्तमान में आचारांग सूत्र में उपलब्ध नहीं हैं।[2]

चार स्थान प्रतिमा

६३८. इच्चेताइं आयतणाइं उवातिकम्म अह भिक्खू इच्छेज्जा चउहिं पडिमाहिं ठाणं ठाइत्तए।

[१] तत्थिमा पढमा पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा, अवलंबेज्जा, काएण विप्परिकम्मादी[3], सवियारं ठाणं ठाइस्सामि। पढमा पडिमा।

[२] अहावरा दोच्चा पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा, अवलंबेज्जा, णो काएण विप्परिकम्मादी, णो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि त्ति दोच्चा पडिमा।

[३] अहावरा तच्चा पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा, अवलंबेज्जा, णो काएण विप्परिकम्मादी, णो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि त्ति तच्चा पडिमा।

[४] अहावरा चउत्था पडिमा-अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा, णो अवलंबेज्जा, णो काएण विप्परिकम्मादी, णो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि, वोसट्ठकाए वोसट्ठकेस-मंसु-लोम-णहे संणिरुद्ध वा ठाणं ठाइस्सामि त्ति[4] चउत्था पडिमा।

६३९. इच्चेयासिं[5] चउण्हं पडिमाणं[6] जाव पग्गहियतरायं विहरेज्जा, णेव किंचि वि वदेज्जा।

---

१. (क) आचारांग सूत्र मूलपाठ सू० ४१६ से ४४१, तथा ४४३ से ४५४ तक वृत्ति सहित।
(ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २२८।
"इदाणि सव्वेसि सुत्तालावगा—से भिक्खू वा भिक्खुणीवा अभिकंखेज्ज ठाणं ठाइत्तए स अंडादिसु ण ठाएज्जा। अणंतरहियाए पुढवादी जाव आइण्णसंलेक्खं आलावगसिद्धा। गामादिसु एगो वा २, ३, ४, ५ तेहिं सद्धि एगमतो ठाणं ठागमाणे आतिगणा वज्जेज्ज। जम्हा एते दोसा तम्हा अंतरा सुवंति, दो हत्था अणाबाधा।"

२ आचारांग मूलपाठ टिप्पण—सम्पादक का मत—"इत आरभ्य बहुषु सूत्रेषु चूर्णिकृतां सम्मतो भूयान् सूत्रपाठः सम्प्रति आचारांगसूत्रे नोपलभ्यत इति ध्येयम्।" पृ० २२८।

३. विप्परिकम्मादी' के बदले पाठान्तर हैं—'विप्परकम्मादी', 'विपरिकम्मादी', विप्परक्कम्मादी'। अर्थ समान है।

४. चूर्णिकार के अनुसार 'त्ति चउत्था पडिमा' (सू० ६३८/४) के बाद ही 'स्थानसप्तिका' अध्ययन समाप्त हो जाता है। आगे के दो सूत्र उनके मतानुसार नहीं है पढम ठाण सत्तिक्कयं समाप्तम्। पृ० २२६

५. यहाँ 'इच्चेयासिं' के बदले पाठान्तर है—'इच्चेयाणं'

६. यहाँ 'जाव' शब्द से 'पडिमाणं' से 'पग्गहियतरायं' तक का समग्र पाठ सू० ४१० के अनुसार समझें।

६३८. इन पूर्वोक्त तथा वक्ष्यमाण कर्मोपादानरूप दोष स्थानों को छोड़कर साधु इन (आगे कही जाने वाली) चार प्रतिमाओं का आश्रय लेकर किसी स्थान में ठहरने की इच्छा करे।

[१] इन चारों में से प्रथम प्रतिमा का स्वरूप इस प्रकार है—मैं अपने कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में निवास करूंगा, अचित्त दीवार आदि का शरीर से सहारा लूंगा तथा हाथ-पैर आदि सिकोड़ने-फैलाने के लिए परिस्पन्दन आदि करूंगा, तथा वहीं (मर्यादित भूमि में ही) थोड़ा-सा सविचार पैर आदि से विचरण करूंगा। यह पहली प्रतिमा हुई।

[२] इसके पश्चात् दूसरी प्रतिमा का रूप इस प्रकार है—मैं कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में रहूँगा और अचित्त दीवार आदि का शरीर से सहारा लूंगा तथा हाथ पैर आदि सिकोड़ने-फैलाने के लिए परिस्पन्दन आदि करूंगा; किन्तु पैर आदि से मर्यादित भूमि में थोड़ा-सा भी विचरण नहीं करूंगा।

[३] इसके अनन्तर तृतीय प्रतिमा—मैं कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में रहूँगा, अचित्त दीवार आदि का शरीर से सहारा लूंगा, किन्तु हाथ-पैर आदि का संकोचन-प्रसारण एवं पैरों से मर्यादित भूमि में जरा-सा भी भ्रमण नहीं करूंगा।

[४] इसके बाद चौथी प्रतिमा यों है—मैं कायोत्सर्ग के समय अचित्तस्थान में स्थित रहूँगा। उस समय न तो शरीर से दीवार आदि का सहारा लूंगा, न हाथ-पैर आदि का संकोचन-प्रसारण करूंगा, और न ही पैरों से मर्यादित भूमि में जरा-सा भी भ्रमण करूंगा। मैं कायोत्सर्ग पूर्ण होने तक अपने शरीर के प्रति ममत्व का व्युत्सर्ग करता हूँ। केश, दाढ़ी, मूंछ, रोम और नख आदि के प्रति भी ममत्व-विसर्जन करता हूँ। और कायोत्सर्ग द्वारा सम्यक् प्रकार से काया का निरोध करके इस स्थान में स्थित रहूँगा।

६३९. साधु इन (पूर्वोक्त) चार प्रतिमाओं से किसी एक प्रतिमा को ग्रहण करके विचरण करे। परन्तु प्रतिमा ग्रहण न करने वाले अन्य मुनि की निन्दा न करे, न अपनी उत्कृष्टता की डींग हाँके। इस प्रकार की कोई भी बात न कहे।

विवेचन—स्थान सम्बन्धी चार प्रतिमाएँ—प्रस्तुत सूत्र में साधु के लिए स्थान में स्थित होने [illegible] चार प्रतिमाएँ (अभिग्रह विशेष) बताई गई हैं। वे चार प्रतिमाएँ [illegible] हैं—

(१) अचित्त स्थानोपाश्रया, (२) अचित्तावलम्बना,
(३) हस्तपादादि परिक्रमणा (४) स्तोक पादविहरणा।

प्रथम [illegible] होती है, फिर उत्तरोत्तर एक-एक अभिग्रह कम होती जाती है।

इन चारों की व्याख्या चूर्णिकार एवं वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार है—

(१) प्रथम प्रतिमा का स्वरूप—चार प्रकार से कायोत्सर्ग में स्थित हो—[illegible] [illegible]) [illegible] रहता है, दीवार, खंभे आदि अचित्त वस्तुओं का [illegible]

निषीधिका : नवम अध्ययन

प्राथमिक

- ✡ आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु०) के नौवें अध्ययन का नाम 'निषीधिका' है।
- ✡ 'निषीधिका' शब्द भी जैन शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है। यों तो निषीधिका का सामान्य रूप से अर्थ होता है—बैठने की जगह।
- ✡ प्राकृत शब्द कोष में निषीधिका के निशीधिका, नैषेधिकी आदि रूपान्तर तथा श्मशान-भूमि, शवपरिष्ठापनभूमि, बैठने की जगह, पापक्रिया के त्याग की प्रवृत्ति, स्वाध्याय-भूमि, अध्ययन स्थान आदि अर्थ मिलते है।[1]
- ✡ प्रस्तुत प्रसंग में निषीधिका या निशीथिका दोनों का स्वाध्यायभूमि अर्थ ही अभीष्ट है। स्वाध्याय के लिए ऐसा ही स्थान अभीष्ट होता है, जहाँ अन्य सावद्य व्यापारों, जनता की भीड, कलह, कोलाहल, कर्कशस्वर, रुदन आदि अशान्तिकारक बातों, गन्दगी, मल-मूत्र, कूड़ा डालने आदि निषिद्ध व्यापारों का निषेध हो। जहाँ चिन्ता, शोक, आर्तध्यान रौद्रध्यान मोहोत्पादक रागरंग आदि कुविचारों का जाल न हो, जो मुनि-चारो की भूमि हो, स्वस्थ चिन्तनस्थली हो। दिगम्बर आम्नाय में प्रचलित 'नसीया' नाम इसी 'निसीहिया' का अपभ्रष्ट रूप है।'
- ✡ वह निषीधिका ('स्वाध्यायभूमि') कैसी हो? वहाँ स्वाध्याय करने हेतु कैसे बैठा जाए? कहाँ बैठा जाए? कौन-सी क्रियाएँ वहां न की जाएं? कौन-सी की जाएं? इत्यादि स्वाध्यायभूमि से सम्बन्धित क्रियाओं का निरूपण होने के कारण इस अध्ययन का नाम 'निषीधिका' या 'निशीथिका' रखा गया है।[2]
- ✡ अथवा निशीथ एकान्त या प्रच्छन्न को भी कहते हैं। निशीथ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चार प्रकार का है। द्रव्य-निशीथ यहाँ जनता के जमघट का अभाव है, क्षेत्र निशीथ—एकान्त, शान्त, प्रच्छन्न एवं जनसमुदाय के आवागमन से रहित क्षेत्र है, काल-निशीथ—जिस काल में स्वाध्याय किया जा सके। और भाव-निशीथ—नो आगमत, यह अध्ययन है। जिस अध्ययन में द्रव्य क्षेत्रादि चारों प्रकार से निषीधिका का प्रतिपादन हो, वह निशीथिका अध्ययन है। इसे निषीधिका-सप्तिका भी कहते हैं। यह दूसरी सप्तिका है।

---

1. 'पाइअ-सद्दमहण्णवो' पृ० ८१८
2. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०८ के आधार पर

नवमं अज्झयणं 'णिसीहिया' सत्तिक्कयं

निषीधिका : नवम अध्ययन : द्वितीय सप्तिका

निषीधिका-विवेक

६४१. से भिक्खू वा २ अभिकंखति[1] णिसीहियं[2] गमणाए[3]। से [ज्ज] पुण णिसीहियं जाणेज्जा सअंडं सपाणं जाव मक्कडासंताणयं, तहप्पगारं णिसीहियं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो चेतिस्सामि।

६४२. से भिक्खू वा २ अभिकंखति णिसीहियं[4] गमणाए, से ज्जं पुण निसीहियं जाणेज्जा अप्पपाणं अप्पबीयं जाव मक्कडासंताणयं तहप्पगारं णिसीहियं फासुयं एसणिज्जं लाभे संते चेतिस्सामि।

एवं सेज्जागमेण णेतव्वं जाव उदयपसूयाणि त्ति।

६४१. जो साधु या साध्वी प्रासुक-निर्दोष स्वाध्यायभूमि में जाना चाहे, वह यदि ऐसी स्वाध्यायभूमि (निषीधिका) को जाने, जो अंडों, जीव जन्तुओं यावत् मकड़ी के जालों से युक्त हो तो उस प्रकार की निषीधिका को अप्रासुक एवं अनेषणीय समझ कर मिलने पर कहे कि मैं इसका उपयोग नही करूंगा।

६४२. जो साधु या साध्वी प्रासुक-निर्दोष स्वाध्यायभूमि मे जाना चाहे, वह यदि ऐसी स्वाध्यायभूमि को जाने, जो अंडों, प्राणियों, बीजों यावत् मकडी के जालों मे युक्त न हो, तो उस प्रकार की निषीधिका को प्रासुक एवं एषणीय समझ कर प्राप्त होने पर कहे कि मैं इसका उपयोग करूंगा।

निषीधिका के सम्बन्ध में यहाँ से लेकर उदक-प्रसूत कंदादि तक का समग्र वर्णन शय्या (द्वितीय) अध्ययन के अनुसार जान लेना चाहिए।

विवेचन—निषीधिका कैसी न हो, कैसी हो?—प्रस्तुत सूत्र द्वय मे निषीधिका मे सम्बन्धित

---

१. इसके बदले पाठान्तर हैं—'कंखसि', 'कखेज्ज'

२ 'णिसीहियं गमणाए' के बदले कहीं-कहीं पाठ है-"णिसीहिय फासुय गमणाए" अर्थात्-प्रासुक निषीधिका प्राप्त करने के लिए।

३. 'गमणाए' के बदले पाठान्तर है—'उवागच्छित्तए'। अर्थ होता है—निकट जाना या प्राप्त करना।

४. निषीधिका में गमन करने का उद्देश्य वृत्तिकार के शब्दो में—'स भावभिक्षुर्यदि वसतेरुपहताया अन्यत्र निषीधिका स्वाध्यायभूमि गन्तुमभिकांक्षेत्……।' वह भावभिक्षु वसति दूषित होने से यदि अन्यत्र निषीधिका मे जाना चाहता है……।

निषेध एवं विधान किया गया है। इसमें शय्या-अध्ययन (द्वितीय) के मू० ४१२ से ४१७ तक के समस्त सूत्रों का वर्णन समुच्चय-रूप में कर दिया गया। इसीलिए यहाँ शास्त्रकार ने स्वयं कहा है—'एवं सेज्जागमेण णेतव्वं जाव उदयपसूयाणि।' प्रस्तुत सूत्र द्वय में शय्या-अध्ययन के ४१२ सूत्र का मन्तव्य दे दिया है। अब ४१३ मू० से ४१७ तक के सूत्रों का प्रयोग में निषीधिका संगत रूप इस प्रकार होगा[1]—

(१) निर्ग्रन्थ को देने की प्रतिज्ञा से एक साधर्मिक साधु के निमित्त से आरम्भपूर्वक बनायी हुई, क्रीत, पामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभिहृत निषीधिका, और वह भी पुरुषान्तरकृत हो या अपुरुषान्तरकृत, यावत् आसेवित हो या अनासेवित, तो ऐसी निषीधिका का उपयोग न करे।

(२) इसी प्रकार की निषीधिका बहुत-से साधर्मिकों के उद्देश्य से निर्मित हो, तथैव एक साधर्मिणी या बहुत-सी साधर्मिणियों के उद्देश्य से निर्मित तथाप्रकार की हो तो उसका भी उपयोग न करे।

(३) इसीप्रकार बहुत-से श्रमण-ब्राह्मण आदि को गिन-गिनकर बनाई हुई तथाप्रकार की निषीधिका हो तो उसका भी उपयोग न करे।

(४) बहुत-से श्रमण-ब्राह्मण आदि के निमित्त से निर्मित, क्रीत आदि तथा अपुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो तोउसका उपयोग न करे।

(५) वैसी निषीधिका पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो तो उपयोग करे।

(६) गृहस्थ द्वारा काष्ठादि द्वारा संस्कृत यावत् संप्रधूपित (धूप दी हुई) तथा अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित निषीधिका हो, तो उसका उपयोग न करे।

(७) वैसी निषीधिका यदि पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो तो उपयोग करे।

(८) गृहस्थ द्वारा साधु के उद्देश्य से उसके छोटे द्वार बड़े बनवाए गए हों, बड़े द्वार छोटे, यावत् उसमें से भारी सामान निकाल कर खाली किया गया हो, ऐसी निषीधिका अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित हो तो उसका उपयोग न करे।

(९) यदि वह पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो तो उपयोग करे।

(१०) वहाँ जल में उत्पन्न कंद आदि यावत् हरी आदि साधु के निमित्त उखाड़ कर साफ करके गृहस्थ निकाले तथा ऐसी निषीधिका अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित हो तो उसका उपयोग न करें।

(११) यदि वैसी निषीधिका पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो गई हो तो उसका उपयोग कर सकता है।

वास्तव में निषीधिका की अन्वेषणा तभी की जाती है, जब आवासस्थान संकीर्ण छोटा, खराब या स्वाध्याय-ध्यान के योग्य न हो।

---

१. आचारांग मूत्र ४१२ से ४१७ तक की वृत्ति पत्रांक ३६० पर से।

प्रस्तुत में उदकप्रसूत-कदादि तक २+११=१३ विकल्प होते हैं, शय्यैषणा-अध्ययन के अनुसार आगे और भी विकल्प हो सकते हैं।[1]

निषीधिका में अकरणीय कार्य

६४३. जे तत्थ दुवग्गा वा तिवग्गा वा चउवग्गा[2] वा पंचवग्गा वा अभिसंधारेंति णिसीहियं गमणाए ते णो अण्णमण्णस्स कायं आलिंगेज्ज वा, विलिंगेज्ज वा, चुंबेज्ज वा, दंतेहिं वा नहेहिं वा अच्छिंदेज्ज वा।

६४३ यदि स्वाध्यायभूमि में दो-दो, तीन-तीन, चार-चार या पांच-पांच के समूह में एकत्रित होकर साधु जाना चाहते हों तो वे वहाँ जाकर एक दूसरे के शरीर का परस्पर आलिंगन न करें, न ही विविध प्रकार से एक दूसरे से चिपटें, न वे परस्पर चुम्बन करें, न ही दांतों और नखों से एक दूसरे का छेदन करें।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में निषीधिका में न करने योग्य परस्पर आलिंगन, चुम्बन आदि कामविकारोत्पादक मोहवर्द्धक प्रवृत्तियों का निषेध किया है। ये निषिद्ध प्रवृत्तियाँ और भी अनेकप्रकार की हो सकती हैं, जैसे निषीधिका में कलह, कोलाहल, तथा पचन-पाचनादि अन्य सावद्य प्रवृत्तियाँ करना इत्यादि।

६४४. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं[3] सहिए समिए सदा जएज्जा, सेयमिणं मण्णेज्जासि त्ति बेमि।

६४४ यही (निषीधिका के उपयोग का विवेक ही) उस भिक्षु या भिक्षुणी के साधु जीवन का आचार सर्वस्व है; जिसके लिए वह सभी प्रयोजनों और ज्ञानादि आचारों से तथा समितियों से युक्त होकर सदा प्रयत्नशील रहे और इसी को अपने लिए श्रेयस्कर माने।

—ऐसा मैं कहता हूं।

॥ नवम अध्ययन, द्वितीय सप्तिका समाप्त ॥

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक, ३६०।

२. इसके बदले पाठान्तर है—'चउग्गा वा पंचग्गा वा'।

३. 'सव्वट्ठेहिं' का भावार्थ वृत्तिकार के शब्दों में—अशेषप्रयोजनैरामुष्मिकैः सहितः समन्वितः।"—पारलौकिक समस्त प्रयोजनों से युक्त।

उच्चार-प्रस्रवणसप्तक : दशम अध्ययन

प्राथमिक

- आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु०) के दसवें अध्ययन का नाम उच्चार-प्रस्रवण सप्तक है।
- उच्चार और प्रस्रवण ये दोनों शारीरिक शंकाएँ (क्रियाएँ) हैं, इनका निवारण करना अनिवार्य है। अगर हाजत होने पर इनका निवारण न किया जाए तो अनेक भयंकर व्याधियाँ उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।[1]
- मल और मूत्र दोनों दुर्गन्धयुक्त होते हैं, इन्हें जहाँ-तहाँ डालने से जनता के स्वास्थ्य को हानि पहुँचेगी, जीव जन्तुओं की विराधना होगी, लोगों को साधुओं के प्रति घृणा होगी। इसलिए मल मूत्र विसर्जन या परिष्ठापन कहाँ, कैसे और किस विधि से किया जाए, कहाँ और कैसे न किया जाए? इन सब बातों का सम्यक् विवेक साधु को होना चाहिए। यह विवेक नहीं रखा जाएगा तो जनता के स्वास्थ्य की हानि, कष्ट एवं अशान्ति होगी, अन्य प्राणियों को पीड़ा एवं जीवहिंसा होगी। तथा साधुओं के प्रति अश्रद्धा की भावना पैदा होगी, इनसे बचने के लिए ज्ञानी एवं अनुभवी आचार्यपुरुषों ने इस अध्ययन की योजना की है।[2]
- 'उच्चार' का शाब्दिक अर्थ है—शरीर से जो प्रबल वेग के साथ च्युत होता—निकलता है। मल या विष्ठा का नाम उच्चार है। प्रस्रवण का शब्दार्थ है—प्रकर्षरूप से जो शरीर से बहता है, झरता है। प्रस्रवण (पेशाब) मूत्र या लघु शंका को कहते हैं।
- इन दोनों का कहाँ और कैसे विसर्जन या परिष्ठापन करना चाहिए? इसका किस प्रकार आचरण करने वाले षड्जीवनिकाय-रक्षक साधु की शुद्धि होती है, महाव्रतों एवं समितियों में अतिचार-दोष नहीं लगता, उसका विधि निषेध—सात मुख्य विवेक सूत्रों द्वारा बताने के कारण इस अध्ययन का नाम रखा गया है—उच्चार-प्रस्रवणसप्तक।[3]
- इस अध्ययन में उन सभी विधि-निषेधों का प्रतिपादन किया गया है, जो साधु के मल-मूत्र-विसर्जन एवं परिष्ठापन से सम्बन्धित हैं।[4]

---

१. (क) दशवै० हारि० टीका 'वच्चमुत्तं न धारए'—जओ मुत्तनिरोहे चक्खुबाधाओ भवति, वच्चनिरोहे जीवितोवघाओ, असोहणा य आयविराहणा।' —अ० ८/गा० २६

(ख) मुत्तनिरोहे चक्खु वच्चनिरोहे य जीवियं चयति।
उड्डनिरोहे कोढं, सुक्कनिरोहे भवे अपुमं॥ —ओघनिर्युक्ति गा० १९७

२. जै० सा० का बृहत् इतिहास (पं० बेचरदासजी) भा० १—अंगग्रन्थों का अन्तरंग परिचय, पृ० ११६

३. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०६। (ख) आचारांग निर्युक्ति गा० ३२१, ३२२

४. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०६

दसमं अज्झयणं 'उच्चार-पसावण' सत्तिक्कओ

उच्चार-प्रस्रवण सप्तक : दशम अध्ययन : तृतीय सप्तिका

उच्चार-प्रस्रवण-विवेक

६४५ से भिक्खू वा २ उच्चार-पासवणकिरियाए उब्बाहिज्जमाणे सयस्स पादपुंछणस्स असतीए ततो पच्छा साहम्मियं जाएज्जा।

६४५ साधु या साध्वी को मल-मूत्र की प्रबल बाधा होने पर अपने पादपुञ्छनक के अभाव में साधर्मिक साधु से उसकी याचना करे, [और मल-मूत्र विसर्जन क्रिया से निवृत्त हो।]

विवेचन— मल-मूत्र के आवेग को रोकने का निषेध—प्रस्तुत सूत्र में मल-मूत्र की हाजत हो जाने पर उसे रोकने के निषेध का संकेत किया है। हाजत होते ही वह तुरत अपना मात्रक-पात्र ले, यदि मात्रक न हो तो अपना पात्रप्रोञ्छन या पादपोछन वस्त्र लेकर उस क्रिया मे निवृत्त हो, यदि वह भी न हो, खो गया हो, कही भुला गया हो, नष्ट हो गया हो तो यथाशीघ्र साधर्मिक साधु से माँगे और उक्त क्रिया से शीघ्र निवृत्त होवें। वृत्तिकार इस सूत्र का आशय स्पष्ट करते हैं—मल-मूत्र के आवेग को रोकना नही चाहिए। मल के आवेग को रोकने से व्यक्ति जीवन से हाथ धो बैठता है, और मूत्र बाधा रोकने से चक्षुपीड़ा हो जाती है।[2]

उब्बाहिज्जमाणे आदि पदों का अर्थ—उब्बाहिज्जमाणे = प्रबल बाधा हो जाने पर। सयस्स = अपने। असतीए = न होने पर, अविद्यमानता मे, अभाव मे।[3]

---

१. मू० ६४५ मे उच्चार-प्रस्रवण की बाधा प्रबल हो जाने पर जो विसर्जन विधि बताई है, उसका स्पष्टीकरण चूर्णिकार करते हैं—(जोर की बाधा होने पर) सअण्ड हो या अल्पाण्ड स्थण्डिल, वह झटपट वहाँ पहुँच जाए, और अपना पादप्रोञ्छन, रजोहरण या जीर्ण वस्त्रखण्ड जो शरीर पर हो, अगर अपना न हो, नष्ट हो गया हो, खो गया हो या कही भूला गया हो या गीला हो तो दूसरे साधु से माँग कर मलादि विसर्जन करे, मलादि त्याग करे, जल लेकर मलद्वार को शुद्ध और निर्लेप कर ले।

—आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृ २३१

२ (क) देखिये दशवै० अ०५, उ०१ गा०११ की जिनदासचूर्णि पृ०१७५ पर—" "मुत्तनिरोधे चक्खुबाधाओ भवति, वच्चनिरोहे य जीवियमवि रुंधेज्जा। तम्हा वच्चमुत्तनिरोधो न कायव्वो।'

(ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २३१ मे बताया है—'खुड्डागसन्निरुद्धे पवडणादि दोसा'—शंकाओ को रोकने से प्रपतनादि दोष—गिर जाने आदिका खतरा होते हैं।

(ग) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०९ (घ) देखें पृष्ठ ३१० (प्राथमिक का टिप्पण १)

३ आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०९

६४६. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा सअंडं सपाणं जाव[1] मक्कडासंताणयंसि[2] (णयं) तहप्पगारंसि थंडिलंसि उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६४७ से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा अप्पपाणं अप्पबीयं जाव मक्कडासंताणयं सि (णयं) तहप्पगारंसि थंडिलंसि उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६४८ से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स, अस्सिंपडियाए बहवे साहम्मिया समुद्दिस्स, अस्सिंपडियाए एगं साहम्मिणिं समुद्दिस्स अस्सिंपडियाए बहवे साहम्मिणीओ[3] समुद्दिस्स, अस्सिंपडियाए बहवे समण-माहण-[अतिहि-किवण,] वणीमगे पगणिय २ समुद्दिस्स, पाणाइं ४ जाव[4] उद्देसियं चेतेति, तहप्पगारं थंडिलं पुरिसंतरगडं वा अपुरिसंतरगडं[5] वा जाव बहिया णीहडं वा अणीहडं वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६४९. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा—बहवे समण-माहण-किवण-वणीमग-अतिही[6] समुद्दिस्स पाणाइं भूय-जीव-सत्ताइं[7] जाव उद्देसियं चेतेति, तहप्पगारं थंडिलं अपुरिसंतरकडं[8] जाव बहिया अणीहडं, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

अह पुणेवं जाणे [ज्जा] पुरिसंतरकडं[9] जाव बहिया णीहडं, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५०. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा अस्सिंपडियाए कयं वा कारियं वा

१ यहाँ जाव शब्द से सू० ३२४ के अनुसार 'अप्पबीयं वा सपाणं' से लेकर 'मक्कडासंताणय' तक का समग्र पाठ समझें।
२ संताणय के बदले सभी प्रतियों में 'संताणयंसि' पाठ मिलता है, किन्तु 'संताणय' पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है।
३ साहम्मिणीओ के बदले पाठान्तर है 'साहम्मिणियाओ'।
४ पाणाइं के बाद '४' का अंक 'भूयाइं जीवाइं सत्ताइं' इन तीनों अवशिष्ट शब्दों का सूचक है। तथा यहाँ जाव शब्द से सू० ३३५ के अनुसार 'पाणाइं ४' से 'उद्देसियं' तक का पूर्ण पाठ समझें।
५ यहाँ 'अपुरिसंतरगडं' के बाद जाव 'बहिया णीहडं वा अणीहडं' पाठ भूल से अंकित लगता है [illegible] — [illegible] वा अणासेवितं वा' क्योंकि 'बहिया णीहडं वा अणीहडं वा' पाठ तो अपुरिसंतरगड के पूर्व [illegible] ही है। वह सारा पाठ इस प्रकार है—'पुरिसंतरगडं वा अपुरिसंतरगडं वा [illegible] बहिया णीहडं वा अणीहडं वा, अत्तट्ठियं वा अणत्तट्ठियं वा, परिभुत्तं वा अपरिभुत्तं वा आसेवितं वा अणासेवितं वा' देखें सूत्र ३३१।
६ [illegible] के बदले पाठान्तर है—वणीमगातिही, वणीमगा अतिही।
७ यहाँ जाव शब्द से 'उद्देसियं' तक का पाठ सू० ३३५ के अनुसार समझें।
८ यहाँ भी [illegible] अपुरिसंतरकडं के बाद जाव बहिया अणीहडं पाठ है, होना चाहिए था—अपुरिसंतरकडं [illegible] अणासेवितं। कारण [illegible] टिप्पण (५) में बताया जा चुका है।
९ यहाँ पुरिसंतरकडं के बाद जाव बहिया णीहडं' भूल से अंकित है, होना चाहिए—पुरिसंतरकडं [illegible] आसेवितं। [illegible] किया जा चुका है। आचारांग [illegible] 'चूर्णि' के [illegible] [illegible] है।

पामिच्चियं वा छन्नं[1] वा घट्ठं वा मट्ठं वा लित्तं वा समट्ठं वा संपधूवितं वा, अण्णतरंसि [वा] तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५१. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा इह खलु गाहावती वा गाहावति-पुत्ता वा कंदाणि वा मूलाणि वा जाव[2] हरियाणि वा अंतातो वा बाहिं णीहरंति, बाहीतो[3] वा अंतो साहरंति, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५२. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा खंधंसि वा पीढंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा अट्टंसि वा पासादंसि वा, अण्णतरंसि वा [तहप्पगारंसि] थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५३. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा अणंतरहिताए पुढवीए, ससणिद्धाए पुढवीए, ससरक्खाए पुढवीए, मट्टियाकडाए[4], चित्तमंताए सिलाए, चित्तमंताए लेलुए[5], कोला-वासंसि वा, दारुयंसि वा जीवपतिट्ठितंसि जाव मक्कडासंताणयंसि, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५४. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा इह खलु गाहावती वा गाहावति-पुत्ता वा कंदाणि वा[6] जाव बीयाणि वा परिसाडेंसु वा परिसाडेंति वा परिसाडिस्सति वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि [थंडिलंसि] णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५५ से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा इह खलु गाहावती वा गाहावति-पुत्ता वा सालीणि वा वीहीणि वा मुग्गाणि वा मासाणि वा तिलाणि वा कुलत्थाणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा पइरिंसु[7] वा पइरंति वा पइरिस्संति वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडि-लंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५६. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा—आमोयाणि वा घसाणि वा भिलु-

---

१. 'छन्न' आदि पदों की व्याख्या सू० ४१५ के अनुसार समझें।

२. कंदाणि से हरियाणि' तक का पाठ सूचित करने के लिए 'जाव' शब्द है। सू० ४१७ के अनुसार।

३. 'बाहीतो' के बदले पाठान्तर हैं—'बहीतो, बहियाओ, बाहिणी।' अर्थ एक-सा है।

४. 'मट्टियाकडाए' के बदले पाठान्तर है—'मट्टियाकम्मकडाए, मट्टियामक्कडाए।' निशीथ सूत्र उ०१३ भाष्य या चूर्णि में 'मट्टियाकडाए' पाठ की व्याख्या उपलब्ध नहीं होती, इसलिए सम्भव है—"ससरक्खाए पुढवीए मट्टियाकडाए" यह एक ही सूत्र वाक्य हो।

५. 'लेलुए, कोलावासंसि' के बदले पाठान्तर हैं—'लेलुयाए कोलावाससि, लेलुयाए चित्तमंताए कोला-वाससि, लेलुए चित्तमंताए कोलावाससि।' अर्थ है—सचित्त पत्थर के टुकड़े पर, घुण के आवास वाले काष्ठ पर।

६. यहाँ जाव शब्द से 'कंदाणि वा' से 'बीयाणि वा' तक का पाठ सूत्र ४१७ के अनुसार समझें।

७ इस पाठ के बदले पाठान्तर है—'पतिरिंसु वा पतिरिंति वा पतिरिस्सति वा', 'पइरंसु वा पतिरति वा पतिरिस्सति वा', 'पइरंसु वा पइरिस्सति वा'

दाराणि वा गोपुराणि वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६१. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-तिगाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउमुहाणि[1] वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि [थंडिलंसि] णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६२. [2]से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-इंगालडाहेसु[3] वा खारडाहेसु[4] वा मडयडाहेसु वा मडयथूभियासु वा मडयचेतिएसु वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६३. [5]से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्ज, णदिआयतणेसु[6] वा पंकायतणेसु वा ओघायतणेसु वा सेयणपहंसि[7] वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६४. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा णवियासु वा मट्टियखाणियासु णवियासु वा गोप्पलेहियासु[8] गवाणीसु वा खाणीसु वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि वा थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६५. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा डागवच्चंसि[9] वा सागवच्चंसि वा मूलगवच्चंसि वा हत्थुंकरवच्चंसि वा, अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६६. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा असणवणंसि वा सणवणंसि वा धातइवणंसि वा केयइवणंसि वा अंबवणंसि वा असोगवणंसि[10] वा णागवणंसि, वा पुन्नागवणंसि

---

१. 'चउमुहाणि' के बदले पाठान्तर है—'चउम्मुहाणि'।

२. चूर्णि में सू० ६६२ का पाठ विस्तृत रूप से मानकर व्याख्या की गई है—मडगं— मृतकमेव, जत्थ जस्थ छड्डिज्जति डज्झति जत्थ त छारिय। मडगलेणं—मतगिह, जहा दीवे जोगविसए वा। "गानडाहगि—गावीसु मरंतीसु गाई सरीराइं उवसमणत्थं डज्झति अट्ठिगाणि वा।

३. 'इंगालडाहेसु' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—इंगालडाहमि वा जत्थ इंगाला डज्झति।

४. किसी किसी प्रति में 'खारडाहेसु वा मडयडाहेसु वा' पाठ नहीं है।

५. तुलना कीजिए—'जे भिक्खू सेयायणंसि वा पंकायणसि वा पणगायणंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ।'—निशीथ उ० ३ चूर्णि पृ० २२५-२२६।

६. 'णदिआयतणेसु' के बदले पाठान्तर हैं—णदिआयपणेसु णदियायणेसु णदिआततणेसु। अर्थ समान है।

७. सेयणपहंसि के बदले पाठान्तर है—सेयणपधंसि सेयणवंधेसु सेयणवधेसु। अर्थ एक-सा है।

८. 'गोप्पलेहियासु' पाठ के बदले पाठान्तर हैं—गोवलेहियासु गोप्पलेहियासु। पिछले पाठान्तर का अर्थ होता है—गायें जहाँ विशेष रूप से चरती हैं, ऐसी गोचरभूमियों में।

९. डागवच्चंसि के बदले 'डालागवच्चंसि वा' पाठान्तर है।

१०. निशीथ सूत्र उ०३ के पाठ से तुलना कीजिए।'"'इक्खुवणंसि, सालिवणंसि वा"'असोगवणंसि वा, कप्पासवणंसि वा"'चूयवणंसि वा अण्णयरेसु वा"'परिट्ठवेइ।'—पृ०२२६

वा अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु पत्तोवएसु[1] वा पुप्फोवएसु वा फलोवएसु वा बीओवएसु वा हरि-
तोवएसु वा णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६७. से भिक्खू वा २ सपाततं[2] वा परपाततं वा गहाय से तमायाए[3] एगंतमवक्कमे, अणावाहंसि[4] अप्पपाणंसि जाव मक्कडासंताणयंसि अहारामंसि वा उवस्सयंसि ततो संजयामेव उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा, उच्चार-पासवणं वोसिरित्ता से तमायाए एगंतमवक्कमे, अणा-वाहंसि जाव मक्कडासंताणयंसि अहारामंसि वा झामथंडिलंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि अचित्तंसि ततो संजयामेव उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।[5]

६४६. साधु या साध्वी ऐसी स्थण्डिल भूमि को जाने, जो कि अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त है, तो उस प्रकार के स्थण्डिल पर मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६४७. साधु या साध्वी ऐसे स्थण्डिल को जाने, जो प्राणी, बीज, यावत् मकड़ी के जाले से रहित है, तो उस प्रकार के स्थण्डिल पर मल-मूत्र विसर्जन कर सकता है।

६४८. साधु या साध्वी यह जाने कि किसी भावुक गृहस्थ ने निर्ग्रन्थ निष्परिग्रही साधुओं को देने की प्रतिज्ञा से एक साधर्मिक साधु के उद्देश्य से, या बहुत से साधर्मिक साधुओं के उद्देश्य से आरम्भ-समारम्भ करके स्थण्डिल बनाया है, अथवा एक साधर्मिणी साध्वी के उद्देश्य से या बहुत-सी साधर्मिणी साध्वियों के उद्देश्य से स्थण्डिल बनाया है, अथवा बहुत-से श्रमण ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र या भिखारियों को गिन-गिनकर उनके उद्देश्य से प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का समारम्भ करके स्थण्डिल बनाया है तो इस प्रकार का स्थण्डिल पुरुषान्-

---

१. 'पत्तोवएसु' आदि के बदले चूर्णिकार ने 'पत्तोवग' इत्यादि पाठ मानकर अर्थ किया है—पत्तोवगा—तम्बोली, पुप्फोवगा—जहा पुन्नागा, फलोवगा—जहा कविट्ठादीणि, छाओवग हैं—वंजुल—... उवयोग गच्छन्तीति उवगा।' जिसके पत्ते उपयोग में आते हैं। इसीप्रकार पुष्प, फल, छाया ... उपयोगी हो वह पत्तोवग आदि कहलाता है।

२. निशीथ चूर्णि उ० ३ में इसका स्पष्टीकरण किया गया है—राओ त्ति संज्ञा वियालो ति ... उद् शब्देन बाधा जम्भाहा। अप्पणिज्जो सण्णामत्ताओ सगपायं भण्णति, अप्पणिज्जम्, ... —पृ० २२... पाउस वा ... । ... उदिते सूरिए परिट्ठवेति।'

३. से तमायाए के बदले पाठान्तर है—'से तमादाय' आदि यह उसे लेकर।

४. 'अणावाहंसि' के बदले पाठान्तर है—अणावायंसि असंलोयंसि। किसी-किसी प्रति में अणावाहंसि ... नहीं है। 'अणावाहंसि अनाबाधे इत्यर्थः।' अनाबाध स्थण्डिल में, अणावायंसि का अर्थ होता है ... अनापात,—जहाँ किसी का आवागमन न हो। असंलोयंसि का अर्थ है—जहाँ किसी की दृष्टि पड़ती हो, कोई देखता न हो।

५. यहाँ 'वोसिरेज्जा' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'उच्चार प्रस्रवण का व्युत्सर्ग ... प्रतिष्ठापन करें अर्थात् मल-मूत्र विसर्जन करें या उसे परठे।

कृत हो या अपुरुषान्तरकृत, यावत् बाहर निकाला हुआ हो, अथवा अन्य किसी उस प्रकार के दोष से युक्त स्थण्डिल हो तो वहाँ पर मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६४९. साधु या साध्वी यदि ऐसे स्थण्डिल को जाने, जो किसी भावुक गृहस्थने बहुत-से शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, दरिद्र, भिखारी या अतिथियों के उद्देश्य से प्राणी, भूत, जीव और सत्व का समारम्भ करके औद्देशिक दोषयुक्त बनाया है तो उस प्रकार के अपुरुषान्तरकृत यावत् काम में नहीं लिया गया हो तो उस अपरिभुक्त स्थण्डिल में या अन्य उस प्रकार के किसी एषणादि दोष से युक्त स्थण्डिल में मल-मूत्र विसर्जन न करे।

यदि वह यह जान ले कि पूर्वोक्त स्थण्डिल पुरुषान्तरकृत यावत् अन्य लोगों द्वारा उपभुक्त है, और अन्य उस प्रकार के दोषों से रहित स्थण्डिल है तो साधु या साध्वी उस पर मल-मूत्र विसर्जन कर सकते हैं।

६५०. साधु या साध्वी यदि इस प्रकार का स्थण्डिल जाने, जो कि निर्ग्रन्थ-निष्परिग्रही साधुओं को देने की प्रतिज्ञा से किसी गृहस्थ ने बनाया है, बनवाया है, या उधार लिया है, उस पर छप्पर छाया है या छत डाली है, उसे घिसकर सम किया है, कोमल या चिकना बना दिया है, उसे लीपा-पोता है, संवारा है, धूप आदि से सुगन्धित किया है, अथवा अन्य भी इस प्रकार के आरम्भ-समारम्भ करके उसे तैयार किया है तो उस प्रकार के स्थण्डिल पर वह मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६५१. साधु या साध्वी यदि ऐसे स्थण्डिल को जाने कि गृहपति या उसके पुत्र कन्द, मूल यावत् हरी जिसके अन्दर से बाहर ले जा रहे हैं, या बाहर से भीतर ले जा रहे हैं, अथवा उस प्रकार की किन्हीं सचित्त वस्तुओं को इधर-उधर कर रहे हैं, तो उस प्रकार के स्थण्डिल में साधु-साध्वी मल मूत्र विसर्जन न करे।

६५२. साधु या साध्वी ऐसे स्थण्डिल को जाने, जो कि स्कन्ध (दीवार या पेड़ के स्कन्ध पर, चौकी (पीठ) पर, मचान पर, ऊपर की मंजिल पर, अटारी पर या महल पर या अन्य किसी विषम या ऊँचे स्थान पर, बना हुआ है, तो उस प्रकार के स्थण्डिल पर वह मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६५३. साधु या साध्वी ऐसे स्थण्डिल को जाने, जो कि सचित्त पृथ्वी पर, स्निग्ध (गीली) पृथ्वी पर, सचित्त रज से लिप्त या संसृष्ट पृथ्वी पर सचित्त मिट्टी से बनाई हुई जगह पर सचित्त शिला पर, सचित्त पत्थर के टुकड़ों पर, घुन लगे हुए काष्ठ पर या दीमक आदि द्वीन्द्रियादि जीवों से अधिष्ठित काष्ठ पर या मकड़ी के जालों से युक्त स्थण्डिल पर मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६५४. साधु या साध्वी यदि ऐसे स्थण्डिल के सम्बन्ध में जाने कि यहाँ पर गृहस्थ या गृहस्थ के पुत्रों ने कंद, मूल यावत् बीज आदि इधर-उधर फेंके है, या फेंक रहे हैं, अथवा फेंकेंगे, तो ऐसे अथवा इसी प्रकार के अन्य किसी दोषयुक्त स्थण्डिल में मल-मूत्रादि का त्याग न करे।

(४) जो निष्परिग्रही साधुओं के निमित्त बनाया, बनवाया, उधार लिया या [illegible] परिकर्मित किया गया हो।

(५) जहाँ गृहस्थ कंद, मूल आदि को बाहर-भीतर ले जाता हो।

(६) जो चौकी मचान आदि किसी विषम एवं उच्च स्थान पर बना हो।

(७) जो सचित्त पृथ्वी, जीवयुक्त काष्ठ आदि पर बना हो।

(८) जहाँ गृहस्थ द्वारा कंद, मूल आदि अस्त-व्यस्त फेंके हुए हों।

(९) शाली, जौ, उड़द आदि धान्य जहाँ बोया जाता हो।

(१०) जहाँ कूड़े के ढेर हों, भूमि फटी हुई हो, कीचड़ हो, ईख के डंडे, ठूंठ, कांटे आदि पड़े हों, गहरे बड़े-बड़े गड्ढे आदि विषम स्थान हों।

(११) जहाँ रसोई बनाने के चूल्हे आदि रखे हों, तथा जहाँ भैंस, बैल आदि पशुगण का आश्रय स्थान हो।

(१२) जहाँ मृत्यु दण्ड देने के या मृतक के स्थान हों।

(१३) जहाँ उपवन, उद्यान वन, देवालय, सभा, प्रपा आदि स्थान हों।

(१४) जहाँ सर्वसाधारण जनता के गमनागमन के मार्ग, द्वार आदि हों।

(१५) जहाँ तिराहा, चौराहा आदि हो।

(१६) जहाँ कोयले, राख (क्षार) बनाने या मुर्दे जलाने आदि के स्थान हों, मृतक के स्तूप व चैत्य हों।

(१७) जहाँ नदी तट, तीर्थस्थान हो, जलाशय या सिंचाई की नहर आदि हो।

(१८) जहाँ नई मिट्टी की खान, चारागाह आदि हों।

(१९) जहाँ शाक भाजी, मूली आदि के खेत हों।

(२०) जहाँ विविध वृक्ष के वन हों।

[illegible] विधानात्मक स्थण्डिल सूत्र इस प्रकार है—

(१) जो [illegible] प्राणी, बीज यावत् मकड़ी के जालों आदि से रहित हो।

(२) जो श्रमणादि के उद्देश्य से बनाया गया न हो तथा पुरुषान्तरकृत यावत् [illegible]

१. [illegible] स्थान से जहाँ लोगों का आवागमन एवं अवलोकन न हो, [illegible] [illegible] जीव-जन्तु यावत् मकड़ी के जाले न हों, [illegible] [illegible] जीव-जन्तु की विराधना न हो, इस प्रकार से यतनापूर्वक [illegible]

[illegible] में सब सूत्र [illegible] न होनियाँ—(१) जीव जन्तुओं की विराधना [illegible]

[illegible]

(२) साधु को एषणादि दोष लगता है, जैसे-औद्देशिक, क्रीत, पामित्य, स्थापित आदि,

(३) ऊंचे एवं विषमस्थानों से गिर जाने एवं चोट लगने तथा अयतना की सम्भावना रहती है।

(४) कूड़े के ढेर पर मलोत्सर्ग करने से जीवोत्पत्ति होने की सम्भावना है।

(५) फटी हुई, ऊबड़-खाबड़ या कीचड़ व गड्ढे वाली भूमि पर परठते समय पैर फिसलने से आत्म-विराधना की भी सम्भावना है।

(६) पशु-पक्षियों के आश्रयस्थानों में तथा उद्यान, देवालय आदि रमणीय एवं पवित्र स्थानों में मल-मूत्रोत्सर्ग करने से लोगों के मन में साधुओं के प्रति ग्लानि पैदा होती है।

(७) सार्वजनिक आवागमन के मार्ग, द्वार या स्थानों पर मल-मूत्र विसर्जन करने से लोगों को कष्ट होता है, स्वास्थ्य बिगड़ता है, साधुओं के प्रति घृणा उत्पन्न होती है।

(८) कोयले, राख आदि बनाने तथा मृतकों को जलाने आदि स्थानों में मल-मूत्र विसर्जन करने से अग्निकाय की विराधना होती है। कोयला, राख आदि वाली भूमि पर जीव-जन्तु न दिखाई देने से अन्य जीव-विराधना भी सम्भव है।

(९) मृतक स्तूप, मृतक चैत्य आदि पर वृक्षादि के नीचे तथा वनों में मल-मूत्र विसर्जन से देव-दोष की आशंका है।

(१०) जलाशयों, नदी तट या नहर के मार्ग में मलोत्सर्ग से अप्कायकी विराधना होती है, लोक दृष्टि में पवित्र माने जानेवाले स्थानों में मल-मत्र विसर्जन से घृणा या प्रवचन-निन्दा होती है।

(११) शाक-भाजी के खेतों मे मल-मूत्र विसर्जन से वनस्पतिकाय-विराधना होती हैं। इन सब दोषों से बचकर निरवद्य, निर्दोष स्थण्डिल में पंच समिति से विधिपूर्वक मल-मूत्र विसर्जन करने का विवेक बताया है।[1]

'मट्टियाकडाए' आदि पदों की व्याख्या—वृत्तिकार एवं चूर्णिकार की दृष्टि से इस प्रकार है—मट्टियाकडाए = मिट्टी आदि के बर्तन पकाने का कर्म किया जाता हो, उस पर। परिसाडेसु = बीज आदि खलिहान वगैरह में इधर-उधर फेंके गए हैं अथवा कहीं बीजों से अर्चना की हो। आमोयाणि = कचरे के पुंज। घसाणि = पोलीभूमि, फटी हुई भूमि। भिलुयाणि = दरारयुक्त भूमि। विज्जलाणि = कीचड़ वाली जगह। कडवाणि = ईख के डंडे। पगत्ताणि = बड़े-बड़े गहरे गड्ढे। पदुग्गाणि = कोट की दुर्गम्य दीवार आदि ऐसे विषम स्थानों में मल-मूत्रादि विसर्जन से संयम-हानि और आत्म-विराधना संभव है। माणुसरंधणाणि = चूल्हे आदि। महिसकरणाणि आदि = जहाँ भैंस आदि के उद्देश्य से कुछ बनाया जाता है या स्थापित किया जाता है, अथवा करण

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०८ से ४१०, (ख) आचा० निभू मू० पा० टि० पृ० २३१ से २३६

का अर्थ है आश्रय। ऐसे स्थानों में लोकविरोध तथा प्रवचन-विघात के भय से मलोत्सर्ग आदि नहीं करना चाहिए।[1]

निशीथचूर्णि में 'आसकरण' आदि पाठ है, वहाँ अर्थ किया गया है—अश्व-शिक्षा देने का स्थान—अश्वकरण है, आदि।[2] वेहाणसट्ठाणेसु=मनुष्यों को फाँसी आदि पर लटकाने के स्थानों में, गिद्धपट्ठाणेसु=जहाँ आत्महत्या करने वाले गिद्ध आदि के भक्षणार्थ रुधिरादि से लिपटे हुए शरीर को उनके सामने डाल कर बैठते है। तरु-पडणट्ठाणेसु=जहाँ मरणाभिलाषी लोग अनशन करके तरुवत् पड़े रहते है। अथवा पीपल, बड़ आदि वृक्षों से जो मरने का निश्चय करके अपने आपको ऊपर से गिराता है। उसे भी तरुप्रपतन स्थान कहते हैं। मेरुपवडणट्ठाणेसु=मेरु का अर्थ है पर्वत। पर्वत से गिरने के स्थानों में।

निशीथचूर्णि में 'गिरि' और 'मरु' का अन्तर बताया है, 'जिस पर्वत पर चढ़ने पर प्रपात स्थान दिखाई देता है, वह गिरि, और नहीं दिखाई देता हो, वह मरु। अगणिपक्खंदणट्ठाणेसु=जहाँ व्यक्ति निकट से दौड़कर अग्नि में गिरता है उन स्थानों में। निशीथचूर्णि में 'गिरिपवडण' आदि पाठ मिलता है।[3]

आरामाणि उज्जाणाणि=आराम का अर्थ बगीचा, उपवन होता है, परन्तु यहाँ उपवन से आरामागार अर्थ अभीष्ट है, उज्जाण का अर्थ है—'उद्यान'। निशीथचूर्णि में 'उज्जाण' और 'निज्जाण' (जहाँ शस्त्र या शास्त्र रखे जाते हों) दोनों प्रकार के स्थलों में, बल्कि उद्यानगृह, उद्यानशाला, निर्याणगृह और निर्याणशाला में भी उच्चार-प्रस्रवण-विसर्जन का दण्ड-प्रायश्चित्त बताया है। नगर के समीप ऋषियों के ठहरने के स्थान को उद्यान और नगर से निर्गमन का जो स्थान हो, उसे निर्याण कहते हैं। चरियाणि-प्राकार के अन्दर ८ हाथ चौड़े

---

१. (क) आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २३३ पर।—'बीयाणि पडिभारेसु, वा पडिभारेति वा ... साहिरसंति वा मलगादिसु, काहिचि वा अच्चणिया कया बीएहिं।'

(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१० —आमोकानि=कचवरपुञ्जा, घसा=बृहत्यो भूमिराजय, भिलुगानि=श्लक्ष्णभूमिराजय., विज्जल=पिच्छल, कडवाणि—इक्षुजो नलिकादिदण्डक., प्रगर्ता-गर्तानि ... प्रदुर्गाणि=कुड्यप्राकारादीनि। एतानि च समानि वा विषमाणि भवेयु' तेष्वात्मसंयम विराधनाभयात् नोच्चारादि कुर्यात्।'' मानुषरन्धनादीनि चुल्ल्यादीनि, तथा महिष्यादीनुद्दिश्य यत्र किंचित् क्रियते, ते वा यत्र स्थाप्यन्ते, तत्र लोकविरुद्धप्रवचनोपघातभयान्नोच्चारादि कुर्यात्।

—निशीथ चूर्णि उ० १२, पृ०

२. 'आसशिक्खावणं आसकरणं, एवं सेसाण वि।'

३. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१०

(ख) 'जे भिक्खू गिरिपवडणाणि वा'·········इत्यादि पाठ निशीथ उ० ११। गिरिपवडण विसेसो ... पव्वते आरूढेहिं पवायट्ठाणं दीसति सो गिरी भण्णति, अदिस्समाणे मरू।''णिच्चपवडणाणि ... किंचि बो अप्पाणं मुयंति मरणववसितो त मरुडणं भण्णति। पवडण-तरुपवडणाणं इमो भेदो— ... कम्पत्थो उड्ढं उप्पइत्ता जा पडति वम्मट्ठेयणे छिडडणं एत पवडणं. अ पुण अड्डतो अप्पणो ... पडइ, त पक्खदण। अम्भवगमानिलदणा पउत्थो मरणभेदो। ऐसा विमभवगमादिया ...

—निशीथ चूर्णि उ०

जगह्—चर्या, द्वार, गोपुर, प्राकार आदि स्थानों में मल-मूत्र-विसर्जन करने से लोग या राज कर्मचारी ताड़न आदि करते हैं।[1]

चूर्णिसम्मत अतिरिक्त पाठ और उसकी व्याख्या-सूत्र ६६० का चूर्णिकार सम्मत पाठ बहुत अधिक है, जो यहाँ मूल में उपलब्ध नहीं है। उसकी चूर्णिकार-कृत व्याख्या इस प्रकार है—दगमग्गो=नाली या जल बहने का मार्ग। दगपहो=पनिहारिनों के पानी लेने जाने-आने का मार्ग। सुण्णागार=सूना घर। भिन्नागार=टूटा जीर्ण-शीर्ण मकान, खण्डहर। कूडागार=मंत्रणा-गृह। कोट्ठागारं—अनाज का कोठार, गोदाम। जाणसाला=गाड़ी, रथ आदि रखने की शाला। वाहणसाला=बैल, घोड़े आदि के बाँधने का स्थान। तुणसाला=घास-चारा रखने का स्थान। तुसणाला=कुम्भार आदि जहाँ तुस (जौ, गेहूँ आदि) रखते हैं। भुससाला=पराल आदि घास से भरी शाला। गोमयसाला=गोबर, कंडे आदि का स्थान। महाकुलं=राजा का महल। महागिहं=रावल आदि अथवा अधिकारियों का घर, अथवा स्त्रियों के लिए बना हुआ विशाल शौचालय। गिहं=घर के अन्दर। गिहमुहं=घर की देहली। गिहदुवारं=घर का दरवाजा। गिहंगणं=घर का आंगन। गिहवच्चं पुरोहडं=घर की देहली के बाद सामने स्थित स्थान।[2]

निशीथ सूत्र में भी इसी तरह का पाठ मिलता। बल्कि वहाँ इसके अतिरिक्त पाठ भी है—"…पणियसालंसि वा, पणियगिहंसि वा, परिआयगिहंसि वा, परिआयसालंसि वा, कुवियसालंसि वा, कुवियगिहंसि वा, गोणसालासु वा गोणगिहेसु वा…।' इसका अर्थ स्पष्ट है।[3]

'अभिआयतणेसु' इत्यादि पदों के अर्थ—अभि आयतणेसु=नद्यायतन—तीर्थस्थान, जहाँ लोग पुण्यार्थ स्नानादिक करते हैं पंकायतणेसु=जहाँ पंकिलप्रदेश में लोग धर्म-पुण्य की इच्छा से लोटने आदि की क्रिया करते हैं। ओघायतणेसु=जो जलप्रवाह या तालाब के जल में प्रवेश का स्थान पूज्य माना जाता है, उनमें। सेयणपहे=जल-सिंचाई का मार्ग—नहर या नाली में। निशीथ चूर्णि में भी इस प्रकार का पाठ मिलता है। वच्चं=पत्ते, फूल, फल आदि वृक्ष से गिरने पर जहाँ

---

१. (क) 'आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा ४ उज्जाणंसि वा, णिज्जाणंसि वा उज्जाणगिहंसि वा उज्जाणसालंसि वा, णिज्जाणगिहंसि वा णिज्जाणसालंसि वा। उच्चारपासवणं परिट्ठवेति…।'
—निशीथ उ० १५ भा० चूर्णि पृ० २३४

(ख) उज्जाणं जत्थ उज्जाणियाए गम्मति, णिज्जाणं जत्थ सत्थो आवासेति जं वा ईसिणगरस्स उवकंठ ठियं त उज्जाणं। णगरणिग्गमे वा जं ठियं त णिज्जाणं।
—निशीथ चूर्णि उ०८, पृ०४३१, ४३४
—आचा० चू० २३४

(ग) चरिया अंतो पगारस्स अट्ठहत्था, दार-गोपुर-गागारा, तस्थ छड्डणी पतावणादी।
—आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २३५

२. एतदनुसारेण चूर्णिकृता सम्मतोऽत्र भूयान् सूत्रपाठो नेदानोमुपलभ्यते, इति ध्येयम्।'
—आचा० मूल पाठ टिप्पणी सहित जम्बूविजय सम्पादित पृ० २३५

३. तुलना, निशीथ सूत्र उ०१५, पृ०५५६ सू० ६८-७४। उ० ८ में भी देखें
"जे भिक्खू गिहंसि वा गिहमुहंसि वा गिहदुवारियंसि वा गिहेलुयंसि वा गिहंगणंसि वा गिहवच्चंसि वा उच्चार पासवणं वा परिट्ठवेति…"।
—निशीथ उ० ३।

निशीथ सूत्र में साधुओं को रात्रि या विकाल में शौच की प्रबल बाधा हो जाने पर उसके विसर्जन की विधि बताई है, कि स्वपात्रक लेकर या वह न हो तो दूसरे साधु से माँग कर उसमें विसर्जन करे किन्तु उसका परिष्ठापन वह सूर्योदय होने पर एकान्त अनाबाध, आवागमनरहित निरवद्य, अचित्त स्थान में करे। प्रस्तुत सूत्र में दैवसिक-रात्रिक सामान्य विधि बताई है कि अपना या दूसरे साधु का पात्रक लेकर वैसे एकान्त निर्दोष स्थण्डिल पर मल-मूत्र विसर्जन करे या उसका परिष्ठापन करे।[1]

६६८. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं[2] जाव[3] जए-ज्जासि त्ति बेमि ॥

६६८. यही (उच्चार-प्रस्रवण व्युत्सर्गार्थ स्थण्डिल विवेक) उस भिक्षु या भिक्षुणी का आचार सर्वस्व है, जिसके आचरण के
पाच समितियों से समित होकर सदैव-सतत

॥ दसम उ

१. (क) आचारांग चूर्णि० मू० पा० टि० पृ० २३८-२३९
(ख) आचा० वृत्ति पत्रांक ४१०
(ग) तुलना करें—निशीथ उ० ३, निशीथचूर्णि पृ० २२७-१२८
२. किसी-किसी प्रति में 'सव्वट्ठेहिं' पाठ नहीं है।
३. यहाँ 'जाव' शब्द से सू० ३३४ के अनुसार 'सव्वट्ठेहिं' से 'जएज्जासि' तक का पाठ समझें।

एगारसमं अज्झयणं 'सद्दसत्तिक्कओ'[1]

शब्द सप्तक : एकादश अध्ययन : चतुर्थ सप्तिका

वाद्यादि शब्द श्रवण-उत्कण्ठा-निषेध

६६९. से भिक्खू वा २ मुइंगसद्दाणि वा नंदीसद्दाणि वा झल्लरीसद्दाणि वा अण्णतराणि वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं वितताइं सद्दाइं कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।[2]

६७०. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं[3] सुणेति, तंजहा—वीणासद्दाणि वा विपंचिसद्दाणि वा बद्धीसगसद्दाणि वा तुणयसद्दाणि वा पणवसद्दाणि वा तुंबवीणियसद्दाणि वा ढुंकुणसद्दाणि[4] वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाणि सद्दाणि तताइं[5] कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६७१. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा—तालसद्दाणि वा कंसतालसद्दाणि वा लत्तियसद्दाणि वा गोहियसद्दाणि वा किरिकिरिसद्दाणि वा अण्णतराणि वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं तालसद्दाइं कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६७२. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा—संखसद्दाणि वा वेणु-

---

१. चूर्णिकार ने 'रूपसप्तैकक:' नामक पंचम अध्ययन को चतुर्थ माना है और 'शब्दसप्तैकक' को पंचम। अत: शब्दसप्तैकक में चूर्णिकार सम्मत पाठ इतना ही है—एवं सद्दाइं वि संखादीणि। ततानि, वीणा वद्धीसमुग्घोसादीणि विततानि भंभादि। घणाइं उज्जउलल्लवकुडा। मुसिराइं बंसकव्वगादि पव्वादीणि। सद्दं सुणेत्ताण जितो जाति पिक्खनो पणिज्जतेसु वा रागादीणि जाति। पंचम सत्तिक्कगं सम्मत्तं। अर्थात्—इसी प्रकार शब्दों के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए। शंखादि शब्द तत हैं, वीणा, वद्धीस, उद्घोष आदि के शब्द वितत हैं, भंभा आदि घन, उज्ज्वकुल आदि ताल शब्द। शुषिर वंश, पर्व-पर्वादि के शब्द। किसी शब्द को सुनकर रागादि को प्राप्त करता है, अथवा उन आदि को देखकर उनका वर्णन करने से राग-द्वेष आदि होते हैं। इस प्रकार पंचम सप्तैकक समाप्त।

२. सू० ६६९ का संक्षेप में अर्थ चूर्णिकार के शब्दों में—'स पूर्वाधिकृतो भिक्षुर्यदि वितत-तत-घन शुषिर-रूपांश्चतुर्विधानातोद्यशब्दान् शृणुयात् तच्छ्रवणप्रतिज्ञया नाभिसंधारयेद् गमनाय, न तदाकर्णनाय गमनं कुर्यादित्यर्थ:।' इसका भावार्थ विवेचन में दिया जा चुका है।

३. 'अहावेगतियाइं' के बदले पाठान्तर है—अहावेगयाइं।

४. ढुंकुणसद्दाणि के बदले पाठान्तर है—'ढकुणसद्दाणि, ढंकुणसद्दाणि।

५. तत का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—तत वीणा-विपंची-बद्धीसकादि तन्त्रीवाद्यम्।

सद्दाणि वा वंससद्दाणि वा खरमुहिसद्दाणि[1] वा पिरिपिरियसद्दाणि[2] वा अण्णयराइं वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं सद्दाइं[3] झुसिराइं कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६६९. संयमशील साधु या साध्वी मृदंगशब्द, नंदीशब्द या झलरी (झालर या छैने) के शब्द तथा इसीप्रकार के अन्य वितत शब्दों को कानों से सुनने के उद्देश्य से कहीं भी जाने का मन में संकल्प न करे।

६७०. साधु या साध्वी कई शब्दों को सुनते हैं, अर्थात् अनायास कानों में पड़ जाते हैं, जैसे कि वीणा के शब्द, विपंची के शब्द, बद्धीसक के शब्द, तूनक के शब्द या ढोल के शब्द, तुम्बवीणा के शब्द, ढंकुण (वाद्य विशेष) के शब्द, या इसीप्रकार के विविध तत-शब्द किन्तु उन्हें कानों से सुनने के लिए कहीं भी जाने का मन में विचार न करे।

६७१. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द सुनते हैं, जैसे कि ताल के शब्द, कंसताल के शब्द, लत्तिका (कांसी) के शब्द, गोधिका (भांड लोगों द्वारा कांख और हाथ में रखकर बजाए जाने वाले वाद्य) के शब्द या बांस की छड़ी से बजने वाले शब्द, इसीप्रकार के अन्य अनेक तरह के तालशब्दों को कानों से सुनने की दृष्टि से किसी स्थान में जाने का मन में संकल्प न करे।

६७२. साधु-साध्वी कई प्रकार के शब्द सुनते हैं, जैसे कि शंख के शब्द, वेणु के शब्द, वांस के शब्द, खरमुही के शब्द, बांस आदि की नली के शब्द या इसीप्रकार के अन्य नाना शुषिर (छिद्रगत) शब्द, किन्तु उन्हें कानों से श्रवण करने के प्रयोजन से किसी स्थान में जाने का संकल्प न करे।

विवेचन—विविध वाद्य-स्वर श्रवणार्थ उत्सुकता निषेध—इन ४ सूत्रों (सू ६६९ से ६७२ तक) में विविध प्रकार के वाद्यों के स्वर सुनने के लिए लालायित होने का स्पष्ट निषेध है। इस निषेध के पीछे कारण ये हैं—(१) साधु वाद्यश्रवण में मस्त हो कर अपनी साधना को भूल जाएगा, (२) वाद्य-श्रवण रसिक साधु अहर्निश संगीत और वाद्य की महफिलें ढूंढेगा, (३) वाद्य श्रवण की लालसा से राग और मोह, तथा श्रवणेन्द्रिय विषयासक्ति और तत्पश्चात् कर्मबन्ध

---

१. खरमुही का अर्थ निशीथचूर्णि में किया गया है—"खरमुखी काहला, तस्स मुहत्थाणे खरमुहाकार कट्ठमय मुहं कज्जति।'—खरमुखी उसे कहते हैं, जिसके मुख के स्थान में गर्दभमुखाकार काष्ठमय मुख बनाया जाता है।

२. 'परिपिरिया' का अर्थ निशीथ चूर्णि में किया गया है—'परिपिरिया तलतोण सलागाओ सुसिराओ जमलाओ संघाडिज्जंति मुहमूले एगमुहा सा सलागारेण वाइज्जमाणी जुगवं तिण्णि सद्दे परिपिरितो करेति।' –परिपिरिया विस्तृत तृण शलाकासे पोला पोला समश्रेणि में इकट्ठी की जाती है। मुख के मूल में एकमुखी करके उसे शलाकृति रूप में बजाई जाने पर एक साथ तीन शब्द परिपिरिया करती है।

—निशीथ चूर्णि उ०१७ पृ०२०१

☐ इसके बदले पाठान्तर है—पिरिपिरिसद्दाणि।

३. सद्दाइं के आगे 'झुसिराइं' पाठ किसी-किसी प्रति में नहीं है।

होगा, (४) वाद्य-श्रवण की उत्कण्ठा से [illegible] नाना वाद्यों की [illegible] होगा। इसलिए, वाद्य शब्द अनायास ही कान में पड़े, यह बात दूसरी है, किन्तु जानबूझकर श्रवण करने के लिए उत्कण्ठित हो, यह साधु के लिए उचित नहीं।[1]

प्रस्तुत चतुःसूत्री में मुख्यतया चार कोटि के वाद्य श्रवण की उत्कण्ठा का निषेध है— (१) वितत शब्द, (२) ततशब्द (३) घन शब्द और (४) शुषिर शब्द। वाद्य चार प्रकार के होने से तज्जन्य शब्दों के भी चार प्रकार हो जाते हैं। इन चारों के लक्षण इस प्रकार हैं— (१) वितत— तार रहित बाजों से होने वाला शब्द, जैसे मृदंग, नंदी और झालर आदि के स्वर। (२) तत— तार वाले बाजे-वीणा, सारंगी, तुनतुना, तानपूरा, तम्बूरा आदि से होने वाले शब्द। (३) घन— ताली बजाने से होने वाला या कांसी, झांझ, ताल आदि के शब्द। (४) शुषिर—पोल या छिद्र में से निकलने वाले बांसुरी, तुरही, खरमुही, बिगुल आदि के शब्द।

स्थानांगसूत्र में शब्द के भेद-प्रभेद—जीव के वाक् प्रयत्न से होने वाला—भाषा शब्द तथा वाक्-प्रयत्न से भिन्न शब्द। इनके भी दो भेद किये हैं—अक्षर-सम्बद्ध, नो-अक्षरसम्बद्ध। नो अक्षर-सम्बद्ध के दो भेद-आतोद्य (बाजे आदि का) शब्द, नो आतोद्य (बांस आदि के फटने से होने वाला) शब्द। आतोद्य के दो भेद-तत और वितत, तत के दो भेद-ततघन और तत-शुषिर, तथा वितत के दो भेद-विततघन, वितत-शुषिर। नो आतोद्य के दो भेद—भूषण, नोभूषण। नो भूषण के दो भेद-ताल और लतिका।[2]

प्रस्तुत में आतोद्य के सभी प्रकारों का समावेश-तत, वितत, घन और शुषिर इन चारों में कर दिया गया है। वृत्तिकार ने ताल को एक प्रकार से घनवाद्य का ही रूप माना है। परन्तु स्थानांग सूत्र में ताल और लतिका (लात मारने से होनेवाला या बांस का शब्द) को नो आतोद्य के अन्तर्गत नो-भूषण के प्रकारों में गिनाया है।

भगवती सूत्र में वाद्य के तत, वितत, घन और शुषिर इन चारों प्रकारों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार निशीथसूत्र में वितत तत, घन और शुषिर इन चार प्रकार के शब्दों का प्रस्तुत चतुःसूत्रीकम से उल्लेख किया है।[3]

'वद्धीसगसद्दाणि' आदि पदों के अर्थ—'वद्धीसग' का अर्थ प्राकृत कोष में नहीं मिलता, 'वद्धग' शब्द मिलता है, जिसका अर्थ तूण वाद्य विशेष किया गया है। तुणयसद्दाणि=तुनतुने के शब्द, पणवसद्दाणि=ढोल की आवाज, तुम्बवीणियसद्दाणि=तुम्बे के साथ संयुक्त वीणा के शब्द या तम्बूरे के शब्द, ढकुणसद्दाणि=एक वाद्य विशेष के शब्द, कंसतालसद्दाणि=कांसे का शब्द, लत्तियसद्दाणि=कांसा, कंसिका के शब्द। गोहियसद्दाणि=भांडों द्वारा कांख और हाथ में रखकर

---

१ (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २८० (ख) आचा० वृत्ति पत्रांक ४१२
(ग) दशवै० अ० ८ गा० २६ (घ) उत्तराध्ययन अ० ३२ गा० ३८, ३९, ४०, ४१ का भावार्थ

२. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१२ (ख) स्थानांग० स्थान-२, उ० ३ सू०—२११ से २१६

३. (क) आचा० वृत्ति० पत्रांक ४१२ (ख) निशीथ सू० उ० १७ पृ० २००-२०१

बजाया जाने वाले वाद्य के शब्द । किरकिरियसद्दाणि=बास आदि की छडी से बजाये जाने वाले वाद्य के शब्द । पिरिपिरियसद्दाणि=बास आदि की नाली से बजने वाले वाद्य शब्द, अथवा देशी भाषा में पिपुड़ी।[1]

विविध स्थानों में शब्देन्द्रिय-संयम

६७३. से भिक्खू वा २ अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा-वप्पाणि[2] वा फलिहाणि वा जाव सराणि वा सरपंतियाणि[3] वा सरसरपंतियाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं सद्दाइं कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६७४. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेइ, तंजहा—कच्छाणि वा णूमाणि वा गहणाणि वा वणाणि वा वणदुग्गाणि वा[4] पव्वयाणि वा पव्वयदुग्गाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं सद्दाइं कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६७५. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा—गामाणि[5] वा नगराणि वा निगमाणि वा रायधाणाणि[6] वा आसम-पट्टण-सण्णिवेसाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं णो अभिसंधारेज्जा गमणाए,

६७६. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा-आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसंडाणि वा देवकुलाणि वा सभाणि वा पवाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६७७. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा-अट्टाणि वा अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अण्णतराणि वा तहप्पगाराइं सद्दाइं णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१२ (ख) आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २४१
(ग) पाइअसद्दमहण्णवो (घ) निशीथ चूर्णि उ० १७ पृ० २०१

२. 'वप्पाणि वा' आदि का अर्थ वृत्तिकार ने स्पष्ट किया है—वप्र केदारस्तटादिर्वा, तद्वर्णका. शब्दा वप्रा एवोक्ता. वप्र—कहते हैं—क्यारी को, अथवा तट आदि को, उसका वर्णन करने वाले शब्द भी वप्र कहलाते हैं।

३. 'सराणि वा सरपंतियाणि वा' के बदले पाठान्तर है—सागराणि वा सरपत्तियाणि वा, सागराणि वा सरसरपंतियाणि है।

४. वणदुग्गाणि वा के बाद पव्वयाणि वा किसी-किसी प्रति में नहीं है।

५. निशीथचूर्णि में उ०१२ पृ०३४४-३४६, ३८७ में इन सबकी विशेष व्याख्या की गई है—
"करादियाण गम्मो गामो। ण करा जत्थ तं णगरं। खेडं नाम धूलीपागारपरिक्खित्तं। कुनगरं कब्बडं। जोयणब्भंतरे जस्स गामादि नत्थि तं मडंबं। सुवण्णादि आगरो। पट्टणं दुविहं जलपट्टणं थलपट्टणं च, जलेण जस्स भंडमागच्छति तं जलपट्टणं, इतरं थलपट्टणं। दोण्णि मुहा जस्स तं दोणमुहं जलेण वि थलेण वि भंडमागच्छति। आसमं नाम तावसमादीणं। सत्थावासणट्ठाणं सन्निवेसं। गामो वा पट्ठितो सन्निविट्ठो जत्तागतो वा लोगो सन्निविट्ठो तं सन्निवेसं भण्णति। अण्णत्थ किसि करेत्ता अण्णत्थ वोढुं वसंति तं संवाहं भण्णति। घोसं गोउलं। वणियवग्गो जत्थ वसति तं नेगमं। अंसिया गामतियभागादी। भंडग्गाहणा जत्थ भिज्जंति तं पुडाभेदं। जत्थ राया वसति सा रायधाणी।

६. 'रायहाणि'—पाठान्तर है।

६७८. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा-तियाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउमुहाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६७९. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा-महिसकरणट्ठाणाणि वा वसभकरणट्ठाणाणि वा अस्सकरणट्ठाणाणि[1] वा हत्थिकरणट्ठाणाणि[2] वा जाव कविंजलकरणट्ठाणाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं नो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६७३. वह साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द श्रवण करते हैं, जैसे कि-खेत की क्यारियों में तथा खाइयों में होने वाले शब्द यावत् सरोवरों में, समुद्रों में, सरोवर की पंक्तियों या सरोवर के बाद सरोवर की पंक्तियों के शब्द अन्य इसी प्रकार के विविध शब्द, किन्तु उन्हें कानों से श्रवण करने के लिए जाने का मन में संकल्प न करे।

६७४. साधु या साध्वी कतिपय शब्दों को सुनते हैं, जैसे कि नदी तटीय जलबहुल प्रदेशों, (कच्छों) में, भूमिगृहों या प्रच्छन्न स्थानों में, वृक्षों से सघन एवं गहन प्रदेशों में, वनों में, वन के दुर्गम प्रदेशों में, पर्वतों पर, या पर्वतीय दुर्गों में तथा इसीप्रकार के अन्य प्रदेशों में, किन्तु उन शब्दों को कानों से श्रवण करने के उद्देश्य से गमन करने का संकल्प न करे।

६७५. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द श्रवण करते हैं, जैसे-गावों में, नगरों में, निगमों में, राजधानी में, आश्रम, पत्तन और सन्निवेशों में या अन्य इसीप्रकार के नाना रूपों में होने वाले शब्द है, किन्तु साधु-साध्वी उन्हें सुनने की लालसा से न जाए।

६७६. साधु या साध्वी के कानों में कई प्रकार के शब्द पड़ते हैं, जैसे कि-आरामगारों में, उद्यानों में, वनों में, वनखण्डों में, देवकुलों में, सभाओं में, प्याऊओं में या अन्य इसीप्रकार के विविध स्थानों में, किन्तु इन कर्णप्रिय शब्दों को सुनने की उत्सुकता से जाने का संकल्प न करे।

६७७. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द सुनते हैं, जैसे कि-अटारियों में, प्राकार से सम्बद्ध अट्टालयों में, नगर के मध्य में स्थित राजमार्गों में; द्वारों या नगर-द्वारों तथा इसी प्रकार के अन्य स्थानों में, किन्तु इन शब्दों को सुनने हेतु किसी भी स्थान में जाने का संकल्प न करे।

६७८. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द सुनते हैं, जैसे कि-तिराहों पर, चौकों में चौराहों पर, चतुर्मुख मार्गों में तथा इसीप्रकार के अन्य स्थानों में, परन्तु इन शब्दों को श्रवण करने के लिए कहीं भी जाने का संकल्प न करे।

६७९. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द श्रवण करते हैं, जैसे कि-भैंसों के स्थान

---

1. आसकरण का अर्थ निशीथ चूर्णि में किया गया है—आमसिक्खावणं आसकरणं एवं सेसाणि वि। आसकरण करते हैं—अश्वशिक्षा देने को। इसी प्रकार शेष करणों के सम्बन्ध में जान लें।
2. यहाँ 'जाव' शब्द से हत्थिकरणट्ठाणाणि से कविंजलकरणट्ठाणाणि तक का पाठ सू० ६६३ के अनुसार है।

वृषभशाला, घुड़साल, हस्तिशाला यावत् कपिजल पक्षी आदि के रहने के स्थानों में होने वाले शब्दों या इसी प्रकार के अन्य शब्दों को, किन्तु उन्हें श्रवण करने हेतु कहीं जाने का मन मे विचार न करे।

विवेचन—विविध स्थानों में विभिन्न शब्दों को श्रवणोत्कण्ठानिषेध-प्रस्तुत सात सूत्रों (६७३ से ६७६) में विभिन्न स्थानों में उन स्थानो मे सम्बन्धित आवाजो या उन स्थानो में होने वाले श्रव्य गेय आदि स्वरों को श्रवण करने की उत्सुकतावश जाने का निषेध किया गया है। ये स्वर कर्णप्रिय लगते हैं, किन्तु साधु उन्हें चला कर सुनने न जाए, न ही सुनने की उत्कण्ठा करे।[1] अनायास शब्द कान में पड़ ही जाते हैं, मगर इन शब्दों को मात्र शब्द ही माने, इनमे मनोज्ञता या अमनोज्ञता का मन के द्वारा आरोप न करे। राग-द्वेष का भाव न उत्पन्न होने दे।

निशीथ सूत्र के १७ वें उद्देशक मे इन स्थानो में होने वाले शब्दों को सुनने का मन में संकल्प करने वाले साधु या साध्वी के लिए इन शब्दों को सुनने मे प्रायश्चित बताया है—'जे भिक्खू वप्पाणि वा... कण्णसवणपडियाए अभिसंधारेइ'''' चूर्णिकार इनके सम्बन्ध में बताते हैं कि जैसे १२ वें उद्देशक में ये १४ (रूप-दर्शन-सम्बद्ध) सूत्र प्रतिपादित किये हैं, वैसे यहा (शब्द-श्रवण-सम्बद्ध सूत्र १७ वें उद्देशक मे भी प्रतिपादित समझ लेना चाहिए। विशेष इतना ही है कि वहाँ चक्षु मे रूप दर्शन की प्रतिज्ञा से गमन का प्रायश्चित्त है, जबकि यहा कानो से शब्द श्रवण प्रतिज्ञा से गमन करने का प्रायश्चित है। वप्र आदि स्थानों मे जो शब्द होते हैं, उन्हे ग्रहण करने के लिए जो साधु जाता है, वह प्रायश्चित का भागी होता है।[2]

मनोरंजन स्थलों में शब्दश्रवणोत्सुकता निषेध

६८०. से[3] भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेइ, तंजहा-महिसजुद्धाणि वा वसभजुद्धाणि वा अस्सजुद्धाणि वा जाव कविंजलजुद्धाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं नो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६८१. से[4] भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा-जूहियट्ठाणाणि वा हयजूहियट्ठाणाणि वा गयजूहियट्ठाणाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६८२. से भिक्खू वा २[5] जाव सुणेति, तंजहा-अक्खाइयट्ठाणाणि वा माणुम्माणिय-

१. आचाराग वृत्ति पत्राक ४१२
२. निशीथ सूत्र उ० १७, चूर्णि पृ० २०१-२०३
३. सूत्र ६८० का आशय वृत्तिकार ने स्पष्ट किया है—"कलहादिवर्णन तत्स्थान वा श्रवणप्रतिज्ञया न गच्छेत्।" अर्थात्—कलह आदि का वर्णन या उस स्थान मे होने वाले कलह का श्रवण करने के लिए न जाए।
४. सू० ६८१ मे उल्लिखित पाठ से अतिरिक्त अनेक पाठ निशीथ सूत्र १२वें उद्देशक मे है।
५. यहाँ जाव शब्द से भिक्खूणी वा से सुणेति तक का पाठ सूत्र ६८१ के अनुसार समझें।

ट्ठाणाणि वा महयाहतनट्ट-गीत-वाइत-तंति-तलताल-तुडिय-पडुप्प-वाइयट्ठाणाणि वा अण्ण-तराइं[1] वा तहप्पगाराइं सद्दाइं णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६८३. से भिक्खू वा २ जाव सुणेति, तंजहा—कलहाणि वा डिंबाणि वा डमराणि वा दोरज्जाणि वा वेरज्जाणि[2] वा विरुद्धरज्जाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं णो अभिसंधारेज्ज गमणाए।

६८४. से भिक्खू वा २ जाव सद्दाइं सुणेति, [तंजहा]-खुड्डियं दारियं परिवुतं मंडितालंकितं निवुज्झमाणिं[3] पेहाए, एगपुरिसं वा वहाए णीणिज्जमाणं पेहाए, अण्णतराइं वा अभिसंधारेज्ज गमणाए।

६८५. से भिक्खू वा २ अण्णतराइं विरूवरूवाइं महासवाइं[4] एवं जाणेज्जा[5], तंजहा—बहुसगडाणि वा बहुरहाणि[6] वा बहुमिलक्खूणि वा बहुपच्चंताणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं महासवाइं कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्ज गमणाए।

६८६. से भिक्खू वा २ अण्णतराइं विरूवरूवाइं महुस्सवाइं[7] एवं जाणेज्जा तंजहा—इत्थीणि वा पुरिसाणि वा थेराणि वा डहराणि वा मज्झिमाणि वा आभरणविभूसियाणि[8] वा गायंताणि वा वायंताणि वा णच्चंताणि वा हसंताणि वा रमंताणि वा मोहंताणि[9] वा विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं परिभुंजंताणि वा परिभायंताणि वा विछड्डियमाणाणि वा विगोवयमाणाणि वा अण्णयराइं वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं महुस्सवाइं कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्ज गमणाए।

६८७. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द सुनते हैं, जैसे कि—जहाँ भैंसों के युद्ध, सांडों के युद्ध, अश्व-युद्ध, हस्ति-युद्ध यावत् कपिंजल-युद्ध होते हैं तथा अन्य इसी प्रकार के पशु-पक्षियों के लड़ने से या लड़ने के स्थानों में होने वाले शब्द, उनको सुनने हेतु जाने का संकल्प न करे।

---

१ अण्णतराइं के बदले पाठ है—अण्णतराणि। अर्थ समान है।

२ किसी किसी प्रति में वेरज्जाणि का पाठ नहीं है।

३ 'निवुज्झमाणिं' के बदले पाठान्तर है निवुज्झमाणिं, णिव्वुज्झमाणिं। वृत्तिकारकृत अर्थ है—[illegible] घोड़े आदि पर से ले जाते हुए।

४ [illegible] का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—[illegible] — [illegible] स्थान है।

५ [illegible] के बदले पाठान्तर है—[illegible]

६ [illegible] — [illegible] बहुरयाणि ... बहुमिलक्खूणि। [illegible] बहुमिलक्खोमहो, इच्चादि। — निशीथ उ० १२ चूर्णि पृ० ११०

७ [illegible] — [illegible] इत्थीणि वा ... डहराणि वा ... [illegible] — निशीथ उ० १२ पृ० ११०

८ विभूसियाणि के बदले पाठान्तर है—विभूसाणि। आभूषणों की साज सज्जा से युक्त।

९ किसी किसी प्रति में मोहंताणि का पाठ नहीं है, कहीं पाठान्तर है—मोहमाणि

६८१. साधु या साध्वी के कानों में कई प्रकार के शब्द पड़ते हैं, जैसे कि—वर-वधू युगल आदि के मिलने के स्थानों (विवाह-मण्डपों) में या जहाँ वरवधू-वर्णन किया जाता है, ऐसे स्थानों में, अश्वयुगल स्थानों में, हस्तियुगल स्थानों में तथा इसीप्रकार के अन्य कुतूहल एवं मनोरंजक स्थानों में, किन्तु ऐसे श्रव्य-गेयादि शब्द सुनने की उत्सुकता से जाने का संकल्प न करे।

६८२. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द-श्रवण करते हैं, जैसे कि कथा करने के स्थानों में, तोल-माप करने के स्थानों में या घुड़-दौड़, कुश्ती प्रतियोगिता आदि के स्थानों में, महोत्सव स्थलों में, या जहाँ बड़े-बड़े नृत्य, नाट्य, गीत, वाद्य, तन्त्री तल (कांसी का वाद्य), ताल, त्रुटित वादित्र, ढोल बजाने आदि के आयोजन होते हैं, ऐसे स्थानों में तथा इसीप्रकार के अन्य मनोरंजन स्थलों में होने वाले शब्द, मगर ऐसे शब्दों को सुनने के लिए जाने का संकल्प न करे।

६८३. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द सुनते हैं, जैसे कि जहाँ कलह होते हों, शत्रु सैन्य का भय हो, राष्ट्र का भीतरी या बाहरी विप्लव हो, दो राज्यों के परस्पर विरोधी स्थान हों, वैर के स्थान हों, विरोधी राजाओं के राज्य हों, तथा इसीप्रकार के अन्य विरोधी वातावरण के शब्द, किन्तु उन शब्दों को सुनने की दृष्टि से गमन करने का संकल्प न करे।

६८४. साधु या साध्वी कई शब्दों को सुनते हैं, जैसे कि वस्त्राभूषणों से मण्डित और अलंकृत तथा बहुत-से लोगों से घिरी हुई किसी छोटी बालिका को घोड़े आदि पर बिठाकर ले जाया जा रहा हो, अथवा किसी अपराधी व्यक्ति को वध के लिए वधस्थान में ले जाया जा रहा हो, तथा अन्य किसी ऐसे व्यक्ति की शोभायात्रा निकाली जा रही हो, उस समय होने वाले (जय, धिक्कार, तथा मानापमानसूचक नारों आदि) शब्दों को सुनने की उत्सुकता से वहाँ जाने का संकल्प न करे।

६८५. साधु या साध्वी अन्य नानाप्रकार के महास्रवस्थानों को इस प्रकार जाने, जैसे कि जहाँ बहुत से शकट, बहुत से रथ, बहुत से म्लेच्छ, बहुत से सीमाप्रान्तीय लोग एकत्रित हुए हों, अथवा उस प्रकार के नाना महास्रव के स्थान हों, वहाँ कानों से शब्द-श्रवण के उद्देश्य से जाने का मन में संकल्प न करे।

६८६. साधु या साध्वी किन्हीं नाना प्रकार के महोत्सवों को यों जाने कि जहाँ स्त्रियाँ, पुरुष, वृद्ध, बालक और युवक आभूषणों से विभूषित होकर गीत गाते हों, बाजे बजाते हों, नाचते हों, हँसते हों, आपस में खेलते हों, रतिक्रीड़ा करते हों, तथा विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थों का उपभोग करते हों, परस्पर बाँटते हों, या परोसते हों, त्याग करते हों, परस्पर तिरस्कार करते हों, उनके शब्दों को तथा इसी प्रकार के अन्य बहुत से महोत्सवों में होने वाले शब्दों को कान से सुनने की दृष्टि से जाने का मन में संकल्प न करे।

विवेचन—मनोरंजन स्थलों में शब्दश्रवणोत्कण्ठा वर्जित—सूत्र ६८० से ६८६ तक सप्तसूत्री

६८७ से भिक्खू वा २ णो इहलोइएहिं सद्देहिं णो परलोइएहिं सद्देहिं, णो सुतेहिं सद्देहिं नो असुतेहिं सद्देहिं, णो[1] दिट्ठेहिं सद्देहिं नो अदिट्ठेहिं सद्देहिं, नो[2] इट्ठेहिं सद्देहिं, नो कंतेहिं सद्देहिं सज्जेज्जा, णो रज्जेज्जा, णो गिज्झेज्जा, णो मुज्जेज्जा, णो अज्झोववज्जेज्जा[3]।

६८८. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जएज्जासि त्ति बेमि ॥

६८७. साधु या साध्वी इहलौकिक एवं पारलौकिक शब्दों में, श्रुत=(सुने हुए) या अश्रुत=(बिना सुने) शब्दों में, देखे हुए या बिना देखे हुए शब्दों में, इष्ट और कान्त शब्दों में न तो आसक्त हो, न रक्त (रागभाव से लिप्त) हो, न गृद्ध हो, न मोहित हो और न ही मूर्च्छित या अत्यासक्त हो।

६८८. यही (शब्द श्रवण-विवेक ही) उस साधु या साध्वी का आचार-सर्वस्व है, जिसमें सभी अर्थो-प्रयोजनों सहित समित होकर सदा वह प्रयत्नशील रहे।

विवेचन—शब्द श्रवण में आसक्ति आदि का निषेध—प्रस्तुतसूत्र मे इहलौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार के इष्ट आदि (पूर्वोक्त) शब्दों के श्रवण में आसक्ति, रागभाव, गृद्धि, मोह और मूर्छा का निषेध किया गया है।[4] इसके निषेध के पीछे मुख्यतया ये कारण हो सकते हैं—(१) शब्दों में आसक्ति से मृग या सर्प की भाँति जीवन विनाश सम्भव है, (२) इष्ट शब्द-वियोग और अनिष्ट-संयोग से मन में तीव्र पीड़ा होती है। (३) आसक्ति से अतुष्टि दोष, दुःख प्राप्ति, हिंसादि दोष उत्पन्न होते है।[5]

दिट्ठ आदि पदों के अर्थ—दिट्ठ=पहले प्रत्यक्ष देखे—स्पर्श किये हुए शब्द, अदिट्ठ= जो शब्द प्रत्यक्ष न हो, जैसे—देवादि का शब्द। यद्यपि 'सज्जेज्जा' (आसक्त हो) आदि पद एकार्थक लगते है, किन्तु गहराई से सोचने पर इनका पृथक् अर्थ प्रतीत होता है जैसे आसेवना भाव आसक्ति है, मन में प्रीति होना रक्तता/अनुराग है, दोष जान लेने (उपलब्ध होने) पर भी निरन्तर आसक्ति गृद्धि है और अगम्यगमन का आसेवन करना अध्युपपन्न होना है। इहलोइय=मनुष्यादिकृत, पारलोइयं=जैसे—हय, गज आदि।[6]

॥ एकादश अध्ययन, चतुर्थ सप्तिका सम्पूर्ण ॥

---

१. किसी-किसी प्रति मे नो दिट्ठेहिं सद्देहिं णो अदिट्ठेहिं सद्देहिं पाठ नहीं है।

२. किसी-किसी प्रति में नो इट्ठेहिं सद्देहिं नो कंतेहिं सद्देहिं नहीं है।

३. अज्झोववज्जेज्जा के बदले पाठान्तर है—अज्झोववज्जेज्जा।

४. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१३

५. उत्तराध्ययन अ० ३२ गा० ३७, ३८, ३९

६. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१३ (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २४८,
(ग) निशीथचूर्णि उ-१२ पृ ३५० मे "सज्जणादी पद-एगट्ठिया, अहवा आसेवणभावे सज्जणता, मणसा पीतिगमणं रज्जणता, सदोसुवलद्धे वि अविरमो गेधी, अगम्ममणासेवणे अज्झुववातो।"
(घ) तुलना कीजिए—जे भिक्खू इहलोइएसु…परलोइएसु…दिट्ठेसु… सज्जई वा रज्जई वा गिज्झइ वा अज्झोववज्जइ वा।—निशीथ उ०-१२ पृ० ३५०

में प्राय. मनोरंजन स्थलों में होने वाले शब्दों के उत्सुकतापूर्वक श्रवण का निषेध किया गया है। संक्षेप में इन सातों में सभी मुख्य-मुख्य मनोरंजन एवं कुतूहलवर्द्धक स्थलों में विविध कर्ण प्रिय स्वरों के श्रवण की उत्कण्ठा से साधु को दूर रहने की आज्ञा दी है—(१) भैंसों, सांडों आदि के लड़ने के स्थानों में, (२) वर-वधू युगलमिलन स्थलों या अश्वादि युगल स्थानों में, (३) घुड़दौड़ कुश्ती आदि के स्थानों में तथा नृत्य-गीत-वाद्य आदि की महफिलवाले स्थानों में, (४) द्वन्द्व शत्रु-सैन्य के साथ युद्ध, संघर्ष, विलम्ब आदि विरोधी वातावरण के शब्दों का (५) किसी की शोभायात्रा में किये जाने वाले जय-जयकार या धिक्कार सूचक नारे या हर्ष-शोक सूचक शब्दों का, (६) महान् आस्रव स्थलों में, (७) बड़े-बड़े महोत्सवों में होने वाले शब्द।[1]

इन्हीं पाठों से मिलते-जुलते पाठ—इन सातों सूत्रों में प्राय. मिलते-जुलते स्वरों की श्रवणोत्सुकता का निषेध स्पष्ट है, निशीथ (चूर्णि सहित) उद्देशक बारहवें में कई सूत्र और कई पद अविकल रूप से मिलते हैं[2] कुछ सूत्रों में अधिक पाठ भी है।

जूहियट्ठाणाणि आदि पदों के अर्थ—आचारांगवृत्ति, चूर्णि आदि में तथा निशीथ सूत्र चूर्णि आदि में प्रतिपादित अर्थ इस प्रकार है—जूहियट्ठाणाणि=जहाँ वर और वधू आदि जोड़ों के मिलन या पाणिग्रहण का जो स्थान (वेदिका, विवाहमण्डप आदि) हैं, वे स्थान। अक्खाइयट्ठाणाणि=कथा कहने के स्थान, या कथक द्वारा पुस्तक वाचन। माणुम्माणियट्ठाणाणि=मान-प्रस्थ आदि का उन्मान-नाराच (गज) आदि के स्थान, अथवा मानोन्मान का अर्थ है—घोड़े आदि के वेग इत्यादि की परीक्षा करना। अथवा एक के बल का माप दूसरे के बल से अनुमानित किया जाए, अथवा माप का अर्थ वस्त्र मानोन्मानित है उनके स्थान। 'निवुज्झमाणं' =अश्व आदि ले जाती हुई। महयाहत=जोर-जोर से बाजे को पीटना, अथवा महा कथानक। वाइता=तंत्री। ताल=करतल ध्वनि। महासवाइं=जो भारी आस्रवों—पाप कर्मों के आगमन के स्थान हो। बहुमिलक्खूणि=जिस उत्सव में बहुत-से अव्यक्तभाषी मिलते हैं, वह बहुम्लेच्छ उत्सव। अथवा जो आभाषक है, उन्हें पूछता नहीं है, वह। महुस्सवाइं=महोत्सव। 'मोहंताणि'=मोहोत्पत्ति करने वाली क्रिया, मोहना=मैथुनसेवन, विछड्डयमाणाणि=अपना करते हुए, त्याग करते हुए।[3]

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१२

२. तुलना करिये—'जे भिक्खू उज्जूहियाठाणाणि वा निज्जूहियाठाणाणि वा मिहोजूहियाठाणाणि वा हयजूहियाठाणाणि वा गयजूहियाठाणाणि वा।'—निशीथ उ०-१२ ··· एगपुरिसं वा बहवे विक्खमाणे। 'जे भिक्खू आघायाणि वा माणुम्माणिय ठाणाणि वा जुग्गहाणि वा··· डिंबाणि वा डमराणि वा खाराणि वा, वेराणि वा महाजुद्धाणि वा महासंगामाणि, कलहाणि वा। अभिसेयट्ठाणाणि वा अक्खाइयट्ठाणाणि वा माणुम्माणियट्ठाणाणि वा महयाहयणट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडिय घण मुइंगपडुप्पवाइयट्ठाणाणि वा। जे भिक्खू विरूवरूवाणि महामहाणि···गच्छति। जे भिक्खू विरू एवेसु महुस्सवेसु परिसु जंति।
—निशीथ उ०-१२ चूर्णि पृ० ३४८।३०

३ आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१२ (ख) आचारांगचूर्णि टि० पृ० २४५, २४६, २४७ निशीथचूर्णि पृ० ३४८-५०

६८७ से भिक्खू वा २ णो इहलोइएहिं सद्देहिं णो परलोइएहिं सद्देहिं, णो सुतेहिं सद्देहिं णो असुतेहिं सद्देहिं, णो[1] दिट्ठेहिं सद्देहिं णो अदिट्ठेहिं सद्देहिं, णो[2] इट्ठेहिं सद्देहिं, णो कंतेहिं सद्देहिं सज्जेज्जा, णो रज्जेज्जा, णो गिज्झेज्जा, णो मुज्झेज्जा, णो अज्झोववज्जेज्जा[3]।

६८८. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जएज्जासि त्ति बेमि ॥

६८७. साधु या साध्वी इहलौकिक एवं पारलौकिक शब्दों में, श्रुत=(सुने हुए) या अश्रुत=(बिना सुने) शब्दों में, देखे हुए या बिना देखे हुए शब्दों में, इष्ट और कान्त शब्दों में न तो आसक्त हो, न रक्त(रागभाव में लिप्त) हो, न गृद्ध हो, न मोहित हो और न ही मूर्च्छित या अत्यासक्त हो।

६८८. यही (शब्द श्रवण-विवेक ही) उस साधु या साध्वी का आचार-सर्वस्व है, जिसमें सभी अर्थों-प्रयोजनों सहित समित होकर सदा वह प्रयत्नशील रहे।

विवेचन—शब्द श्रवण में आसक्ति आदि का निषेध—प्रस्तुतसूत्र में इहलौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार के इष्ट आदि (पूर्वोक्त) शब्दों के श्रवण में आसक्ति, रागभाव, गृद्धि, मोह और मूर्छा का निषेध किया गया है।[4] इसके निषेध के पीछे मुख्यतया ये कारण हो सकते हैं—(१) शब्दों में आसक्ति से मृग या सर्प की भाँति जीवन विनाश सम्भव है, (२) इष्ट शब्द-वियोग और अनिष्ट-संयोग से मन में तीव्र पीडा होती है। (३) आसक्ति से अतुष्टि दोष, दुःख प्राप्ति, हिंसादि दोष उत्पन्न होते हैं।[5]

दिट्ठ आदि पदों के अर्थ—दिट्ठ=पहले प्रत्यक्ष देखे—स्पर्श किये हुए शब्द, अदिट्ठ=जो शब्द प्रत्यक्ष न हो, जैसे—देवादि का शब्द। यद्यपि 'सज्जेज्जा' (आसक्त हो) आदि पद एकार्थक लगते हैं, किन्तु गहराई से सोचने पर इनका पृथक् अर्थ प्रतीत होता है जैसे आसेवना भाव आसक्ति है, मन में प्रीति होना रक्तता/अनुराग है, दोष जान लेने (उपलब्ध होने) पर भी निरन्तर आसक्ति गृद्धि है और अगम्यगमन का आसेवन करना अध्युपपन्न होना है। इहलोइयं=मनुष्यादिकृत, पारलोइयं=जैसे—हय, गज आदि।[6]

॥ एकादश अध्ययन, चतुर्थ सप्तिका सम्पूर्ण ॥

---

१. किसी-किसी प्रति में णो दिट्ठेहिं सद्देहिं णो अदिट्ठेहिं सद्देहिं पाठ नहीं है।
२. किसी-किसी प्रति में णो इट्ठेहिं सद्देहिं णो कंतेहिं सद्देहिं नहीं है।
३. अज्झोववज्जेज्जा के बदले पाठान्तर है—अज्जोवज्जेज्जा।
४. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१३
५. उत्तराध्ययन अ० ३२ गा० ३७, ३८, ३९
६. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१३ (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २४८,
(ग) निशीथचूर्णि उ-१२ पृ ३५० में "सज्जणादी पद-एगट्ठिया, अहवा आसेवणभावे सज्जणता, मणसा पीतिगमण रज्जणता, सदोसुवलद्धे वि अविरमोगेधी, अगम्ममणासेवणे अज्झुववातो।"
(घ) तुलना कीजिए—जेभिक्खू इहलोइएसु'''परलोइएसु'''दिट्ठेसु''' सज्जई वा रज्जई वा गिज्झइ वा अज्झोववज्जइ वा।—निशीथ उ०-१२ पृ० ३५०

में प्राय. मनोरंजन स्थलों में होने वाले शब्दों के उत्सुकतापूर्वक श्रवण का निषेध किया गया है। संक्षेप में इन सातों में सभी मुख्य-मुख्य मनोरंजन एवं कुतूहलवर्द्धक स्थलों में विविध कर्णप्रिय स्वरों के श्रवण की उत्कण्ठा से साधु को दूर रहने की आज्ञा दी है—(१) भैंसों, साँडों आदि के लड़ने के स्थानों में, (२) वर-वधू युगलमिलन स्थलों या अश्वादि युगल स्थानों में, (३) कुश्ती आदि के स्थानों में तथा नृत्य-गीत-वाद्य आदि की महफिलवाले स्थानों में, (४) शत्रु-सैन्य के साथ युद्ध, संघर्ष, विलम्ब आदि विरोधी वातावरण के शब्दों का (५) किसी शोभायात्रा में किये जाने वाले जय-जयकार या धिक्कार सूचक नारे या हर्ष-शोक सूचक शब्दों का, (६) महान् आस्रव स्थलों में, (७) बड़े-बड़े महोत्सवों में होने वाले शब्द।[1]

इन्हीं पाठों से मिलते-जुलते पाठ—इन सातों सूत्रों में प्राय. मिलते-जुलते स्वरों के श्रवणोत्सुकता का निषेध स्पष्ट है, निशीथ (चूर्णि सहित) उद्देशक बारहवें में कई सूत्रों के कई पद अविकल रूप से मिलते हैं[2] कुछ सूत्रों में अधिक पाठ भी है।

जूहियट्ठाणाणि आदि पदों के अर्थ—आचारांगवृत्ति, चूर्णि आदि में तथा निशीथ चूर्णि आदि में प्रतिपादित अर्थ इस प्रकार है—जूहियट्ठाणाणि=जहाँ वर और वधू के जोड़े के मिलन या पाणिग्रहण का जो स्थान (वेदिका, विवाहमण्डप आदि) है, वे स्थान। अक्खाइयट्ठाणाणि=कथा कहने के स्थान, या कथक द्वारा पुस्तक वाचन। माणुम्माणियट्ठाणाणि=मान-प्रस्थ आदि का उन्मान-नाराच (गज) आदि के स्थान, अथवा मानोन्मान का अर्थ है—घोड़े आदि के वेग इत्यादि की परीक्षा करना। अथवा एक के बल का माप दूसरे के द्वारा अनुमानित किया जाए, अथवा माप का अर्थ यह मानोन्मानित है उनके स्थान। [illegible] —अश्व आदि से जाती हुई। महयाहत=जोर-जोर से बाजे को पीटना, अथवा [illegible] [illegible]=तंत्री। ताल=करतल ध्वनि। महासवाइं=जो भारी आस्रवों—पाप कर्मों के आस्रव के स्थान हों। बहुमिलक्खूणि=जिस उत्सव में बहुत-से अव्यक्तभाषी मिलते हैं, वह [illegible] [illegible]। अथवा जो आमात्य है, उन्हें पूछता नहीं है, वह। [illegible] [illegible]—[illegible] करने वाली क्रिया, मोहना मैथुनसेवन, [illegible] [illegible] करते हुए, स्नान करते हुए।[3]

[1] आचारांग चूर्णि मूलपाठ ४१०
[2] [illegible] जे भिक्खू [illegible] वा [illegible] वा [illegible] [illegible] वा [illegible] वा। —निशीथ उ० १२ [illegible]
[illegible]
—निशीथ उ० १२ चूर्णि पृ० [illegible]
[3] [illegible] (ख) आचारांगवृत्ति [illegible] पृ० [illegible]

६८७. से भिक्खू वा २ णो इहलोइएहिं सद्देहिं णो परलोइएहिं सद्देहिं, णो सुतेहिं सद्देहिं णो असुतेहिं सद्देहिं, णो[1] दिट्ठेहिं सद्देहिं णो अदिट्ठेहिं सद्देहिं, णो[2] इट्ठेहिं सद्देहिं, णो कंतेहिं सद्देहिं सज्जेज्जा, णो रज्जेज्जा, णो गिज्झेज्जा, णो मुज्झेज्जा, णो अज्झोववज्जेज्जा[3]।

६८८. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जएज्जासि त्ति बेमि ॥

६८७. साधु या साध्वी इहलौकिक एवं पारलौकिक शब्दों में, श्रुत=(सुने हुए) या अश्रुत=(बिना सुने) शब्दों में, देखे हुए या बिना देखे हुए शब्दों में, इष्ट और कान्त शब्दों में न तो आसक्त हो, न रक्त(रागभाव से लिप्त) हो, न गृद्ध हो, न मोहित हो और न ही मूर्च्छित या अत्यासक्त हो।

६८८. यही (शब्द श्रवण-विवेक ही) उस साधु या साध्वी का आचार-सर्वस्व है, जिसमें सभी अर्थों-प्रयोजनों सहित समित होकर सदा वह प्रयत्नशील रहे।

विवेचन—शब्द श्रवण में आसक्ति आदि का निषेध—प्रस्तुतसूत्र में इहलौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार के इष्ट आदि (पूर्वोक्त) शब्दों के श्रवण में आसक्ति, रागभाव, गृद्धि, मोह और मूर्छा का निषेध किया गया है।[4] इसके निषेध के पीछे मुख्यतया ये कारण हो सकते हैं—(१) शब्दों में आसक्ति से मृग या सर्प की भाँति जीवन विनाश सम्भव है, (२) इष्ट शब्द-वियोग और अनिष्ट-संयोग से मन में तीव्र पीड़ा होती है। (३) आसक्ति से अतुष्टि दोष, दुःख प्राप्ति, हिंसादि दोष उत्पन्न होते हैं।[5]

दिट्ठ आदि पदों के अर्थ—दिट्ठ=पहले प्रत्यक्ष देखे—स्पर्श किये हुए शब्द, अदिट्ठ=जो शब्द प्रत्यक्ष न हो, जैसे—देवादि का शब्द। यद्यपि 'सज्जेज्जा' (आसक्त हो) आदि पद एकार्थक लगते हैं, किन्तु गहराई से सोचने पर इनका पृथक् अर्थ प्रतीत होता है जैसे आसेवना भाव आसक्ति है, मन में प्रीति होना रक्तता/अनुराग है, दोष जान लेने (उपलब्ध होने) पर भी निरन्तर आसक्ति गृद्धि है और अगम्यगमन का आसेवन करना अध्युपपन्न होना है। इहलोइयं=मनुष्यादिकृत, पारलोइयं=जैसे—हय, गज आदि।[6]

॥ एकादश अध्ययन, चतुर्थ सप्तिका सम्पूर्ण ॥

---

१. किसी-किसी प्रति में णो दिट्ठेहिं सद्देहिं णो अदिट्ठेहिं सद्देहिं पाठ नहीं है।

२ किसी-किसी प्रति में णो इट्ठेहिं सद्देहिं णो कंतेहिं सद्देहिं नहीं है।

३ अज्झोववज्जेज्जा के बदले पाठान्तर है—अज्झोवज्जेज्जा।

४. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१३ ५. उत्तराध्ययन अ० ३२ गा० ३७, ३८, ३९

६. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१३ (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २४८,
(ग) निशीथचूर्णि उ-१२ पृ ३५० में "सज्जणादी पद-एगट्ठिया, अहवा आसेवणभावे सज्जणता, मणसा पीतिगमण रज्जणता, सदोसुवलद्धे वि अविरमोगेधी, अगम्ममणासेवणे अज्झुववातो।"
(घ) तुलना कीजिए—जेभिक्खू इहलोइएसु···परलोइएसु···दिट्ठेसु···सज्जइ वा रज्जइ वा गिज्झइ वा अज्झोववज्जइ वा।—निशीथ उ०-१२ पृ० ३५०

रूप सप्तक : द्वादश अध्ययन

प्राथमिक

☆ आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु०) के बारहवें अध्ययन का नाम 'रूप-सप्तक' है।

☆ चक्षुरिन्द्रिय का कार्य रूप देखना है। संसार में अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे, [illegible] इष्ट-अनिष्ट, मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप हैं, दृश्य हैं, दिखाई देनेवाले पदार्थ हैं। वे [illegible] यथाप्रसंग आँखों से दिखाई देते हैं, परन्तु इन दृश्यमान पदार्थों का रूप देखकर [illegible] साध्वी को अपना आपा नहीं खोना चाहिए। न मनोज्ञ रूप पर आसक्ति, मोह, [illegible] गृद्धि, मूर्च्छा उत्पन्न होना चाहिए। और न ही अमनोज्ञ रूप देखकर उनके प्रति [illegible] घृणा, अरुचि करना चाहिए। अनायास ही कोई दृश्य या रूप दृष्टिगोचर हो जाए, [illegible] उसके साथ मन को नहीं जोड़ना चाहिए। समभाव रखना चाहिए, किन्तु उन रूपों को देखने की कामना, लालसा, उत्कण्ठा, उत्सुकता या इच्छा से कहीं जाना नहीं चाहिए।

☆ राग और द्वेष दोनों ही कर्मबन्धन के कारण हैं, किन्तु राग का त्याग करना [illegible] कठिन होने से शास्त्रकार ने राग-त्याग पर जोर दिया है। इसी कारण 'शब्द [illegible] अध्ययनवत् इस अध्ययन में भी किसी मनोज्ञ, प्रिय, कान्त, मनोहर रूप के प्रति [illegible] इच्छा, मूर्च्छा लालसा, आसक्ति, राग, गृद्धि या मोह से बचने का निर्देश किया [illegible] अतएव इसका नाम 'रूप सप्तक' रखा गया है।

☆ रूप के यद्यपि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, ये चार निक्षेप बताए गए हैं, किन्तु [illegible] और स्थापना निक्षेप सुबोध होने से उन्हें छोड़ कर यहाँ द्रव्यरूप और भावरूप [illegible] निरूपण किया है। द्रव्यरूप तो आगमतः परिमण्डल आदि पाँच संस्थान हैं, और [illegible] रूप दो प्रकार है १. वर्णतः, २. स्वभावतः। वर्णतः काला आदि पाँचों रंग हैं। [illegible] स्वभाव रूप है अन्तरंग क्रोधादि वश भौंहें तानना, आँखें चढ़ाना, नेत्र लाल [illegible] शरीर कांपना, कठोर बोलना आदि।[1]

☆ रूप सप्तक अध्ययन में कुछ दृश्यमान वस्तुओं के रूपों को गिना कर अन्त में निर्देश कर दिया है कि जैसे शब्द सप्तक में वाद्य को छोड़कर शेष सभी सूत्रों का [illegible] है, तदनुसार इस रूप सप्तक में भी वर्णन समझना चाहिए।[2]

[illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible] (ख) आचा० निर्युक्ति गा० [illegible]

[illegible]

बारसमं अज्झयणं 'रूव' सत्तिक्कयं

रूप सप्तक : बारहवाँ अध्ययन : पंचम सप्तिका

रूप-दर्शन-उत्सुकता निषेध

६८९. से भिक्खू वा २ अहावेगइयाइं रूवाइं पासति, तंजहा—गंथिमाणि वा वेढिमाणि वा पूरिमाणि वा संघातिमाणि वा कट्ठकम्माणि[1] वा पोत्थकम्माणि वा चित्तकम्माणि वा मणिकम्माणि वा दंतकम्माणि वा पत्तच्छेज्जकम्माणि[2] वा विविहाणि वा वेढिमाइं अण्णतराइं [वा] तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं चक्खुदंसणवडियाए णो अभिसंधारेज्ज गमणाए।

एवं नेयव्वं जहा सद्दपडिमा सव्वा वाइत्तवज्जा[3] रूवपडिमा वि।

६८९. साधु या साध्वी अनेक प्रकार के रूपो को देखते हैं, जैसे—गूँथे हुए पुष्पो से निष्पन्न स्वस्तिक आदि को, वस्त्रादि से वेष्टित या निष्पन्न पुतली आदि को, जिनके अन्दर कुछ पदार्थ भरने से पुरुषाकृति बन जाती हो, उन्हें, अनेक वर्णों के संघात से निर्मित चोलकादिको, काष्ठ कर्म से निर्मित रथादि पदार्थों को, पुस्तकर्म से निर्मित पुस्तकादि को, दीवार आदि पर चित्रकर्म से निर्मित चित्रादि को, विविध मणिकर्म से निर्मित स्वस्तिकादि को, दंतकर्म से निर्मित दन्तपुत्तलिका आदि को, पत्रछेदन कर्म से निर्मित विविध पत्र आदि को, अथवा अन्य विविध प्रकार के वेष्टनों से निष्पन्न हुए पदार्थों को, तथा इसीप्रकार के अन्य नाना पदार्थों के रूपों को, किन्तु इनमें से किसी को आँखो से देखने की इच्छा से साधु या साध्वी उस ओर जाने का मन में विचार न करे।

इस प्रकार जैसे शब्द सम्बन्धी प्रतिमा का (११ वें अध्ययन में) वर्णन किया गया है, वैसे ही यहाँ चतुर्विध आतोद्यवाद्य को छोड़कर रूपप्रतिमा के विषय में भी जानना चाहिए।

विवेचन—एक ही सूत्र द्वारा शास्त्रकार ने कतिपय पदार्थों के रूपों के तथा अन्य उस प्रकार के विभिन्न रूपों के उत्सुकता पूर्वक प्रेक्षण का निषेध किया है। सूत्र के उत्तरार्द्ध में एक पंक्ति द्वारा शास्त्रकार ने उन सब पदार्थों के रूपों को उत्कण्ठापूर्वक देखने का निषेध किया

---

१. 'कट्ठकम्माणि वा' के बदले पाठान्तर है—"कट्ठाणि वा, 'कट्ठकम्माणि वा मालकम्माणि वा।" अर्थात् काष्ठकर्म द्वारा निर्मित पदार्थों के, तथा माल्यकर्म द्वारा निष्पन्न माल्यादि पदार्थों के।

२. 'पत्तच्छेज्जकम्माणि' के बदले पाठान्तर है—'पत्तच्छेयककम्माणि'

३. वृत्तिकार इस पंक्ति का स्पष्टीकरण करते हैं—"एवं शब्द सप्तैकक सूत्राणि चतुर्विधातोद्यरहितानि सर्वाण्यपीहायोज्यानि।" अर्थात् इस प्रकार शब्दसप्तक अध्ययन के चतुर्विध आतोद्य (वाद्य) रहित सूत्रों को छोड़ कर शेष सभी सूत्रों का आयोजन यहाँ कर लेना चाहिये।

६९४. से से परो पादाइं तेल्लेण वा घतेण वा वसाए वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज[1] वा णो तं सातिए णो तं णियमे।

६९५ से से परो लोद्धेण वा कक्केण[2] वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोढेज्ज[3] वा उव्वलेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

६९६. से से परो पादाइं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज[4] वा पधोएज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

६९७. से से परो पादाइं अण्णतरेण विलेवणजातेण आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

६९८. से[5] से परो पादाइं अण्णतरेण धूवणजाएणं[6] धूवेज्ज वा पधूवेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

६९९. से[7] से परो पादाओ खाणुयं वा कंटयं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

७००. से से परो पादाओ पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

६९१. कदाचित् कोई गृहस्थ धर्म-श्रद्धावश मुनि के चरणो को वस्त्रादि से थोडा-सा पोंछे, अथवा बार-बार अच्छी तरह पोंछ कर साफ करे, साधु उस परक्रिया को मन से न चाहे तथा वचन और काया से भी न कराए।

६९२. कदाचित् कोई गृहस्थ मुनि के चरणो को सम्मर्दन करे या दबाए तथा बार-बार मर्दन करे या दबाए, साधु उस परक्रिया की मन से भी इच्छा न करे, न वचन और काया से कराएं।

६९३ यदि कोई गृहस्थ साधु के चरणों को फूंक मारने हेतु स्पर्श करे, तथा रंगे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न वचन एव काया से कराए।

---

१ इसके बदले पाठान्तर है—भिलगेज्ज वा, हिलगेज्ज वा अब्भिंगेज्ज वा।

२. निशीथ चूर्णि उ० १३, मे—'कक्केण' आदि का अर्थ—"कक्को सो दव्वसजोगेण वा असजोगेण वा भवति। लोद्धो रुक्खो, तस्स छल्ली लोद्ध भन्नति। वन्नो पुण हिंगुलुगादी तेल्लमोइओ। चुन्नो पुण गन्धु-णिगादि फला चुन्नी कता।" कल्क वह है, जो द्रव्यो के सयोग या असयोग से होता है। लोद्ध वृक्ष होता है, उसकी छाल को भी लोद्ध कहते हैं। तेल मे स्निग्ध हिंगलू आदि को वर्ण कहते हैं। सुगन्धित फल को चूर्ण करने पर चूर्ण कहते हैं।

३. 'उल्लोढेज्ज वा' के बदले मे पठान्तर हैं—उल्लोडेज्ज वा 'उल्लोलेज्ज वा'

४. 'उच्छोलेज्ज' के बदले पाठान्तर हैं—'उज्जोलेज्ज,' उज्जलेज्ज उल्लोलेज्ज अर्थ है शरीर को उज्ज्वल करना साफ करना।

५. इसके बदले पाठान्तर है—'से सिया परो पादाइं'

६. धूय वा धूवेज्ज, धूय सोहेज्ज वा, 'धूएज्ज वा पधूएज्ज वा' ये तीन पाठान्तर इसके मिलते हैं।

७ इसके स्थान पर सर्वत्र 'से सिया परो' पाठान्तर मिलता है।

६९४. यदि कोई गृहस्थ साधु के चरणों को तेल, घी या चर्बी से चुपड़े, मसले तथा मालिश करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न वचन व काया से उसे कराए।

६९५ कदाचित् कोई गृहस्थ साधु के चरणों को लोध, कर्क, चूर्ण या वर्ण से उबटन करे अथवा उपलेप करे तो साधु मन से भी उसमें रस न ले, न वचन एवं काया से उसे कराए।

६९६ कदाचित कोई गृहस्थ साधु के चरणों को प्रासुक शीतल जल से या उष्ण जल से प्रक्षालन करे, अथवा अच्छी तरह से धोए तो मुनि उसे मन से न चाहे, न वचन और काया से कराए।

६९७ यदि कोई गृहस्थ साधु के पैरों का इसीप्रकार के किन्हीं विलेपन द्रव्यों से एक बार या बार-बार आलेपन-विलेपन करे तो साधु उसमें मन से भी रुचि न ले, न ही वचन और शरीर से उसे कराए।

६९८ यदि कोई गृहस्थ साधु के चरणों को किसी प्रकार के विशिष्ट धूप से धूपित और प्रधूपित करे तो उसे मन से भी न चाहे, न ही वचन और काया से उसे कराए।

६९९ यदि कोई गृहस्थ साधु के पैरों में लगे हुए खूंटे या कांटे आदि को निकाले या उसे शुद्ध करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न वचन एवं काया से उसे कराए।

७००. यदि कोई गृहस्थ साधु के पैरों में लगे रक्त और मवाद को निकाले या उसे निकाल कर शुद्ध करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न ही वचन एवं काया से कराए।

विवेचन—चरण परिकर्म रूप परक्रिया का सर्वथा निषेध—सूत्र ६९१ से ७०० तक दस सूत्रों में चरण-परिकर्म से सम्बन्धित विविध परक्रिया मन-वचन-काया से कराने का निषेध किया गया है। संक्षेप में, गृहस्थ द्वारा पाद-परिकर्मरूप परक्रिया निषेध इस प्रकार है—(१) एक बार या बार-बार चरणों को पोंछ कर साफ करे, (२) एक बार या बार-बार सम्मर्दन करे, (३) फूंक मारने के लिए स्पर्श करे या रंगे, (४) तेल, घी आदि चुपड़े, मसले अथवा मालिश करे, (५) लोध आदि सुगन्धित द्रव्यों से उबटन करे, लेप करे, (६) ठंडे या गर्म पानी से साधु के पैरों को एक बार या बार-बार धोए, (७) विलेपन-द्रव्यों से आलेपन-विलेपन करे, (८) साधु के चरणों के एक बार या बार-बार धूप दे, (९) साधु के पैरों में लगे हुए कांटे आदि को निकाले, और (१०) साधु के पैरों में लगे घाव से रक्त, मवाद आदि को निकालकर साफ करे। साधु के लिए गृहस्थ द्वारा की जाने वाली ऐसी परिचर्या लेने का मन, वचन, काया से निषेध है। निशीथ सूत्र में इसीसे मिलता पाठ है।[1]

गृहस्थ से ऐसी चरण-परिचर्या लेने से हानि-(१) गृहस्थ द्वारा आरम्भ-समारम्भ किया जाएगा, (२) स्वावलम्बनवृत्ति छूट जाएगी, (३) परतन्त्रता, परमुखापेक्षिता, चाटुकारिता और दीनता आने की सम्भावना है, (४) कदाचित् गृहस्थ परिचर्या का मूल्य चाहे जो अकिंचन

---

१. (क) आचाराग वृत्ति पत्रांक ४१६ के आधार पर
   (ख) निशीथ सूत्र—उद्देशक ३ चूर्णि पृ० २१२-२१३

साधु दे नही सकेगा, (५) परिचर्या योग्य वस्तुओं का भी मूल्य चाहे, (६) अपरिग्रही साधु को उसके प्रबन्ध के लिए गृहस्थ से याचना करनी पड़ेगी, (७) अग्निकाय, वायुकाय, अप्काय एव वनस्पतिकाय आदि के जीवो की विराधना सम्भव है। (८) साधु के प्रति अवज्ञा और अश्रद्धा पैदा होना सम्भव है।[1]

आमज्जेज्ज, पमज्जेज्ज आदि पदों का अर्थ—एक बार पोछे बार-बार पोंछकर साफ करे। संबाधेज्ज=दबाए, पगचंपी करे, मसले। पलिमद्देज्ज=विशेष रूप से पैर दबाए। फुमेज्ज=फूंक मारे, इसके बदले फुसेज्ज पाठान्तर होने मे अर्थ होता है—स्पर्श करे। रएज्ज= रंगे। मक्खेज्ज=चुपडे, भिलिंगेज्ज=मालिश-मर्दन करे। उल्लोढेज्ज=उबटन करे, उव्वलेज्ज= लेपन करे।[2]

काय-परिकर्म-परक्रिया-निषेध

७०१. से से परो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

७०२. से से परो कायं संबाधेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

७०३. से से परो कायं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा मक्खेज्ज वा अब्भंगेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७०४ से से परो कायं लोद्धेण[3] वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा, णो त सातिए णो तं नियमे।

७०५. से से परो कायं सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज[4] वा, णो त सातिए णो तं णियमे।

७०६. से से परो कायं अण्णतरेणं विलेवणजाएणं आलिपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७०७ [से से परो] कायं अण्णतरेण धूवणजाएण धूवेज्ज[5] वा पधूवेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

[से से परो कायं फुमेज्ज वा रएज्ज वा, णो तं सातिए णो त णियमे]

७०१. यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर को एक बार या बार-बार पोछकर साफ करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न वचन और काया से कराए।

७०२. यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर को एक बार या बार-बार दबाए तथा विशेष रूप मे मर्दन करे, तो साधु उसे मन मे भी न चाहे और न वचन और काया से कराए।

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१६ के आधार पर

२. (क) वही, पत्रांक ४१६ (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० २५०-२५१

३. लोद्धेण के बदले पाठान्तर हैं—लोद्धेण, लोद्ठेण, लोद्धेण, लोद्देण आदि।

४. 'पधोवेज्ज' के बदले 'पहोएज्ज' पाठान्तर है।

५. 'धूवेज्ज पधूवेज्ज' के बदले 'धुवेज्ज पधुवेज्ज' पाठान्तर है।

७०३. यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर पर तेल, घी आदि चुपड़े, मसले या मालिश करे तो साधु न तो उसे मन से ही चाहे न वचन और काया से कराए।

७०४ यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर पर लोध, कर्क, चूर्ण या वर्ण का उबटन करे, लेपन करे तो साधु न तो उसे मन से ही चाहे और न वचन और काया से कराए।

७०५ कदाचित् कोई गृहस्थ साधु के शरीर को प्रासुक शीतल जल से या उष्ण जल से प्रक्षालन करे या अच्छी तरह धोए तो साधु न तो उसे मन से चाहे, और न वचन और काया से कराए।

७०६ कदाचित् कोई गृहस्थ मुनि के शरीर पर किसी प्रकार के विशिष्ट विलेपन का एक बार लेप करे या बार-बार लेप करे तो साधु न तो उसे मन से चाहे और न उसे वचन और काया से कराए।

७०७ यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर को किसी प्रकार के धूप से धूपित करे या प्रधूपित करे तो साधु न तो उसे मन से चाहे और न वचन और काया से कराए।

[यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर पर फूंक मारकर स्पर्श करे या रंगे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न वचन और काया से उसे कराए।]

विवेचन—काय-परिकर्मरूप परक्रिया का सर्वथा निषेध—सू. ७०१ से ७०७ तक ७ सूत्रों में गृहस्थ द्वारा विविध काय-परिकर्म रूप परिचर्या लेने का निषेध किया गया है। सारा ही विवेचन पाद-परिकर्मरूप परक्रिया के समान है। गृहस्थ से ऐसी काय-परिकर्म रूप परिचर्या कराने में पूर्ववत् दोषों की सम्भावनाएं हैं।

व्रण-परिकर्म रूप परक्रिया निषेध

७०८ से से परो कायंसि वणं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७०९. से से परो कायंसि वणं संबाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७१०. से से परो कायंसि वणं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज[1] वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७११ से से परो कायंसि वणं लोद्धेण[2] वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोढेज्ज वा उव्वलेज्ज[3] वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

७१२. से से परो कायंसि वणं सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज[4] वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

१. 'भिलिंगेज्ज' के बदले 'भिलगेज्ज' पाठान्तर है।   २. इसके बदले 'लोद्धेण' पाठान्तर है।
३ 'उल्लोढेज्ज' के बदले 'उल्लोट्टेज्ज' पाठान्तर है।
४. 'पधोवेज्ज' के बदले पाठान्तर है—पहोएज्ज, 'पधोएज्ज'

७१३. से से परो कायंसि वणं अण्णतरेणं सत्यजाएणं अच्छिदेज्ज वा विच्छिदेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७१४. से से परो [कायंसि वणं] अण्णतरेणं सत्यजातेणं अच्छिदित्ता वा विच्छिदित्ता वा पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७०५. कदाचित् कोई गृहस्थ, साधु के शरीर पर हुए व्रण (घाव) को एक बार पोंछे या बार-बार अच्छी तरह से पोंछकर साफ करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे, और न वचन और काया से उसे कराए।

७०६. कदाचित् कोई गृहस्थ, साधु के शरीर पर हुए व्रण को दवाए या अच्छी तरह मर्दन करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न वचन और काया से कराए।

७१०. कदाचित् कोई गृहस्थ साधु के शरीर में हुए व्रण के ऊपर तेल, घी या वसा चुपड़े, मसले, लगाए या मर्दन करे तो साधु उसे मन में भी न चाहे और न कराए।

७११. कदाचित् कोई गृहस्थ साधु के शरीर पर हुए व्रण के लोध, कर्क, चूर्ण या वर्ण आदि विलेपन द्रव्यों का आलेपन-विलेपन करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न वचन और काया से कराए।

७१२ कदाचित् कोई गृहस्थ, साधु के शरीर पर हुए व्रण को प्रासुक शीतल या उष्ण जल से एक बार या बार-बार धोए तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न वचन और काया से कराए।

७१३. कदाचित् कोई गृहस्थ, साधु के शरीर पर हुए व्रण को किसी प्रकार के शस्त्र से थोड़ा-सा छेदन करे या विशेष रूप से छेदन करे तो साधु उसे मन में भी न चाहे, न ही उसे वचन और काया से कराए।

७१४. कदाचित् कोई गृहस्थ साधु के शरीर पर हुए व्रण को किसी विशेष शस्त्र से थोड़ा-सा या विशेष रूप से छेदन करके उसमें से मवाद या रक्त निकाले या उसे साफ करे तो साधु उसे मन में भी न चाहे और न ही वचन एवं काया से कराए।

विवेचन—सू. ७०८ से ७१४ तक सात सूत्रों में गृहस्थ द्वारा साधु को शरीर पर हुए घाव के परिकर्म कराने का मन-वचन-काया से निषेध किया गया है। इस सप्तसूत्री में पहले के ५ सूत्र चरण और शरीरगत परिकर्म निषेधक सूत्रों की तरह है, अन्तिम दो सूत्रों में गृहस्थ से शस्त्र द्वारा व्रणच्छेदन कराने तथा व्रणच्छेद करके उसका रक्त एवं मवाद निकाल कर उसे साफ कराने का निषेध है।

इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि गृहस्थ द्वारा चिकित्सा कराने का निषेध अहिंसा व अपरिग्रह की साधना को अखंड रखने की दृष्टि से ही किया गया है। इस चिकित्सा-निषेध का मूल आशय प्रथम श्रुतस्कन्ध सूत्र ४४ में द्रष्टव्य है।

ग्रन्थी अर्श—भगंदर आदि पर परक्रिया-निषेध

७१५. से से परो कायंसि गंडं वा अरइयं[1] वा पुलयं[2] वा भगंदलं वा आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७१६. से से परो कायंसि गंडं वा अरइयं वा पुलयं वा भगंदलं वा संबाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे

७१७ से से परो कायंसि गंडं वा जाव भगंदलं वा, तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७१८ से से परो कायंसि गंडं वा जाव भगंदलं वा लोद्धेण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोढेज्ज[3] वा उव्वलेज्ज[4] वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७१९ से से परो कायंसि गंडं वा जाव भगंदलं वा सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोलेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७२०. से[5] से परो कायंसि गंडं वा अरइयं वा जाव[6] भगंदलं वा अण्णतरेणं सत्थजातेणं अच्छिदेज वा, विच्छिदेज्ज वा अन्नतरेणं सत्थजातेणं अच्छिंदित्ता वा विच्छिंदित्ता वा पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७१५. कदाचित् कोई गृहस्थ, साधु के शरीर में हुए गंड, अर्श, पुलक अथवा भगंदर को एक बार या बार-बार पपोल कर साफ करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे, नहीं वचन और शरीर से कराए।

७१६. यदि कोई गृहस्थ, साधु के शरीर में हुए गंड, अर्श, पुलक अथवा भगंदर को दबाए या परिमर्दन करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे न ही वचन और काया से कराए।

७१७ यदि कोई गृहस्थ साधु के शरीर में हुए गंड, अर्श, पुलक अथवा भगंदर पर तेल, घी, वसा चुपड़े, मले या मालिश करे तो साधु उसे मन से न चाहे, न ही वचन और काया से कराए।

७१८. यदि कोई गृहस्थ, साधु के शरीर में हुए गंड, अर्श, पुलक अथवा भगंदर पर लोध, कर्क, चूर्ण या वर्ण का थोड़ा या अधिक विलेपन करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न ही वचन और काया से कराए।

---

१ 'अरइय' के बदले 'अरइग' 'अरइयं वा' पाठान्तर मिलते हैं।

२ 'पुलयं' के बदले 'पुलइय' पाठान्तर है।

३ 'उल्लोढेज्ज' के बदले 'उल्लोढेज्ज' पाठान्तर मिलता है।

४. 'आलेव' के तीन अर्थ निशीथ चूर्णि पृ० २१५-२१७ पर मिलते हैं। आलेवो तिविधो वेदणापसमकारी, पूयादिणीहरणकारी। अर्थात्—आलेप तीन प्रकार का है—१. वेदना शान्त करने वाला २. घाव पकाने वाला ३. मवाद निकालने वाला।

५. 'से से परो' के बदले पाठान्तर है—'से सिया परो' 'से सिते परो'।

६ यहाँ 'जाव' शब्द से 'अरइयं' से 'भगंदलं' तक का पाठ सू० ७१५ के अनुसार समझें।

७१९. यदि कोई गृहस्थ, मुनि के शरीर में हुए गंड, अर्श, पुलक अथवा भगंदर को प्रासुक शीतल और उष्ण जल से थोड़ा या बहुत बार धोए तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न ही वचन और काया से कराए।

७२०. यदि कोई गृहस्थ, मुनि के शरीर में हुए गंड, अर्श, पुलक अथवा भगंदर को किसी विशेष शस्त्र से थोड़ा-सा छेदन करे या विशेष रूप से छेदन करे, अथवा किसी विशेष शस्त्र से थोड़ा-सा या विशेष रूप से छेदन करके मवाद या रक्त निकाले या उसे साफ करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न ही वचन और काया से कराए।

विवेचन—सू० ७१५ से ७२० तक ६ सूत्रों में गृहस्थ से गंडादि से सम्बन्धित परिकर्म रूप परक्रिया कराने का निषेध है। सभी विवेचन पूर्ववत् समझना चाहिए। इस परक्रिया से होने वाली हानियाँ भी पूर्ववत् है। निशीथ सूत्र में भी इससे मिलता-जुलता पाठ मिलता है।[1]

'गंड' आदि शब्दों के अर्थ—प्राकृतकोश के अनुसार गंड शब्द के गालगड—मालारोग, गांठ, ग्रन्थी, फोड़ा, स्फोटक आदि अर्थ होते हैं। यहाँ प्रसंगवश गंड शब्द के अर्थ गाँठ, ग्रन्थी, फोड़ा, या कंठमाला रोग है। 'अरइयं' (अरइ) के प्राकृतकोश मे अर, अर्श, मस्सा, बवासीर आदि अर्थ मिलते हैं। 'पुलयं' (पुल) का अर्थ छोटा फोड़ा या फुंसी होता है। भगंदल का अर्थ—भगंदर है। अच्छिदणं =एक बार या थोड़ा-सा छेदन, विच्छिदणं=बहुत बार या बार-बार अथवा अच्छी तरह छेदन करना।[2]

अंगपरिकर्म रूप परक्रिया निषेध

७२१. से से परो कायातो[3] सेयं वा जल्लं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७२२. से से परो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा णहमलं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

---

१. (क) आचाराग वृत्ति पत्राक ४१६।
(ख) निशीथ सूत्र उ० ३ चूर्णि पृ० २१५-२१७ मे—"जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंड वा अरतिय वा असि वा पिलग वा भगदल वा अन्नतरेण तिक्खेण सत्यजाएण अच्छिदति वा विच्छिदति वा,……पूय वा सोणिय वा णीहरेति वा विसोहेति वा…… सीओदगवियडेण वा उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेति वा पधोवेति वा…… आलेवणजाएण आलिपइ वा विलिपइ वा …… तेल्लेण वा घएण वा ……णवणीएण वा अब्भगेति वा मक्खेति वा…… धूवणजाएण धूवेति वा पधूवेति वा।…"

२. (क) पाइअ-सद्दमहण्णवो।
(ख) निशीथ सूत्र उ० ३ चूर्णि पृ० २१५-२१७—गड—गडमाला, ज च अण्ण सुपायग त गड। अरतिय—अरतिओ ज ण पच्चति।…"एक्कसि ईषद् वा अच्छिदण, बहुवार सुट्ठु वा छिदण विच्छिदण।"
(ग) ते फोडा भिज्जति, तत्थ पुला समुच्छति, ते पुला भिज्जति। —स्थानांग० स्थान १०

३. 'कायातो' के बदले 'कायसि' पाठान्तर है।

७२३. से से परो दीहाइं वालाइं[1] दीहाइं रोमाइं दीहाइं भमुहाइं दीहाइं कक्ख-रोमाइं दीहाइं वत्थिरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७२४. से से परो सीसातो लिक्खं वा जूयं वा णीहरेज्ज[2] वा विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

७२१. यदि कोई गृहस्थ, साधु के शरीर से पसीना, या मैल से युक्त पसीने को मिटाए (पोंछे) या साफ करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न ही वचन एवं काया से कराए।

७२२. यदि कोई गृहस्थ, साधु के आँख का मैल, कान का मैल दाँत का मैल, या नख का मैल निकाले या उसे साफ करे, तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न ही वचन और काया से कराए।

७२३ यदि कोई गृहस्थ साधु के सिर के लंबे केशों, लंबे रोमों, भौंहों एवं कांख के लंबे रोमों, लंबे गुह्य रोमों को काटे, अथवा संवारे, तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न ही वचन और काया से कराए।

७२४. यदि कोई गृहस्थ, साधु के सिर से जूँ या लीख निकाले, या सिर साफ करे, तो साधु मन से भी न चाहे, और न ही वचन और काया से ऐसा कराए।

विवेचन—सू० ७२१ से ७२४ तक चतु सूत्रों में उस परक्रिया का निषेध किया गया है, जो शरीर के विविध अंगों के परिकर्म से सम्बन्धित है। वस्तुतः इस प्रकार की शारीरिक परिचर्या गृहस्थ से लेने में पूर्वोक्त अनेक दोषों की सम्भावना है। इन सभी सूत्रों से मिलते-जुलते सूत्र निशीथ सूत्र में भी है।[3]

'सेय' आदि पदों के अर्थ—सेओ=स्वेद, पसीना। जल्लो=शरीर का मैल कप्पेज्ज=काटे। संठवेज्ज=संवारे।[4]

---

१. निशीथचूर्णि उ०-१३ में बताया गया है—"जे भिक्खू दीहाओ अप्पणो णहा इत्यादि जाव अप्पणो दीहेकेसे कप्पेई, इत्यादि तेरस सुत्ता उच्चारेयव्वा।"—जे भिक्खू से लेकर अप्पणो दीहे केसे कप्पेई १३ सूत्रों का उच्चारण करना चाहिए।

२. णीहरति आदि का अर्थ निशीथचूर्णि में है—"णीहरतिणाम णिग्गलेति। अवसेसमावण्णस्य—विसोहणं नमावन्य सोणिय भण्णति।

३. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१६ के आधार पर।
(ख) निशीथ सूत्र उ० ३ चूर्णि पृ० २१६-२२१—"जे भिक्खू अप्पणो दीहाओ णहसिहाओ कप्पेति संठवेति वा···, दीहाइं जंघरोमाइं, दीहाइं वत्थिरोमाइं···दीहाइं कक्खाणरोमाइं" मंसु कप्पेति वा संठवेति वा···'दंते आमज्जति वा पमज्जति वा'···'उत्तरोट्ठरोमाइं'···दीहरोमाइं भमुहारोमाइं···दीहे केसे कप्पेइ वा संठवेइ वा"। जे भिक्खू अप्पणो कायंसि सेयं वा, जल्लं वा पकं वा मलं वा उव्वट्टेति वा पव्वट्टेति वा······अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा णहमलं वा णीहरति वा विसोधेति वा।"

४. आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २२५—कप्पेति=छिंदेति, संठवेति=समारेति, सेओ=प्रस्वेद जल्लो=कमढो, मल थिग्गल। तथा निशीथ भाष्य गा० १५२१

परिचर्यारूप परक्रिया-निषेध

७२५. से से परो अंकंसि वा पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता पायाइं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, [णो तं सातिए णो तं णियमे ।] एवं हेट्ठिमो गमो पादादि भाणितव्वो ।

७२६. से से परो अंकंसि वा पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता हारं वा अद्धहारं वा उरत्थं वा गेवेयं वा मउड वा पालंबं वा सुवण्णसुत्तं वा आविधेज्ज[1] वा पिणिधेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे ।

७२७. से से परो आरामंसि वा उज्जाणंसि वा णीहरित्ता वा विसोहित्ता[2] वा पायाइं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा णो तं सातिए णो तं णियमे, एवं णेयव्वा अण्णमण्णकिरिया वि ।

७२८. से से परो सुद्धेणं वा वइबलेण तेइच्छं आउट्टे, से से परो असुद्धेणं वइबलेणं तेइच्छं आउट्टे, से से परो गिलाणस्स सचित्ताइं कंदाणि वा मूलाणि वा तयाणि[3] वा हरियाणि वा खणित्तु वा कड्ढेत्तु वा कड्ढावेत्तु वा तेइच्छं आउट्टेज्जा[4], णो तं सातिए णो तं नियमे ।

कडुवेयणा कट्टु वेयणा पाण-भूत-जीव-सत्ता वेदणं[5] वेदेंति ।

७२५. यदि कोई गृहस्थ, साधु को अपनी गोद मे या पलग पर लिटाकर या करवट बदलवा कर उसके चरणो को वस्त्रादि से एकबार या बार-बार भलीभाँति पोंछकर साफ करे; साधु इसे मन मे भी न चाहे और न वचन एव काया से उसे कराए । इसके बाद चरणो से सम्बन्धित नीचे के पूर्वोक्त ९ सूत्रों में जो पाठ कहा गया है, वह सब पाठ यहाँ भी कहना चाहिए ।

७२६. यदि कोई गृहस्थ साधु को अपनी गोद में या पलग पर लिटा कर या करवट बदलवाकर उसको हार (अठारह लड़ीवाला), अर्धहार (९ लड़ी का), वक्षस्थल पर पहनने योग्य आभूषण, गले का आभूषण, मुकुट, लम्बी माला, सुवर्णसूत्र बांधे या पहनाए तो साधु उसे मन में भी न चाहे, न वचन और काया से उससे ऐसा कराए ।

७२७. यदि कोई गृहस्थ साधु को आराम या उद्यान मे ले जाकर या प्रवेश कराकर उसके चरणो को एक बार पोंछे, बार-बार अच्छी तरह पोंछकर साफ करे तो साधु उसे मन मे भी न चाहे, और न वचन व काया से कराए ।

इसी प्रकार साधुओ की अन्योन्यक्रिया-पारस्परिक क्रियाओ के विषय मे भी ये सब सूत्र पाठ समझ लेने चाहिए ।

---

१. 'आविधेज्ज' के बदले पाठान्तर है—आविहेज्ज, आविधेज्ज, आवधेज्ज हाविहेज्ज ।
२. 'विसोहित्ता' के बदले 'परिभेत्ता वा पायाइं' पाठान्तर है ।
३. तयाणि' के बदले पाठान्तर है-'बीयाणि'
४. 'आउट्टेज्जा' के बदले पाठान्तर है-'आउट्टावेज्ज'
५ 'वेदणं वेदेंति' आदि पाठ के आगे चूर्णिकार ने 'छट्ठ सत्तिक्कयं समाप्तमिति' पाठ दिया है, इससे प्रतीत होता है कि सूत्र ७२९ का-'एयं खलु तस्स, .' आदि पाठ चूर्णिकार के मतानुसार नहीं है ।

७२८. यदि कोई गृहस्थ, शुद्ध वाग्बल (मंत्रबल) से साधु की चिकित्सा करना च
अथवा वह गृहस्थ अशुद्ध मंत्रबल से साधु की व्याधि उपशान्त करना चाहे, अथवा वह गृ
किसी रोगी साधु की चिकित्सा सचित्त कंद, मूल, छाल, या हरी को खोदकर या खीं
बाहर निकाल कर या निकलवा कर चिकित्सा करना चाहे, तो साधु उसे मन से भी पस
करे, और न ही वचन से कहकर या काया से चेष्टा करके कराए।

यदि साधु के शरीर में कठोर वेदना हो तो (यह विचार कर उसे समभाव से स
करे कि) समस्त प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व अपने किये हुए अशुभ कर्मों के अनुसार क
वेदना का अनुभव करते है।

विवेचन—विविध परिचर्यारूप परक्रिया का निषेध—सू० ७२५ से ७२८ तक गृहस्थ
साधु की विविध प्रकार से की जाने वाली परिचर्या के मन, वचन, काया से परित्याग
निरूपण है। इन सूत्रों में मुख्यतया निम्नोक्त परिचर्या के निषेध का वर्णन है—(१) साधु
अपने अंक या पर्यंक में बिठा या लिटा कर उसके चरणों का आमार्जन-परिमार्जन
(२) आभूषण पहना कर साधु को सुसज्जित करे, (३) उद्यानादि में ले जा कर पैर द
आदि के रूप में परिचर्या करे, (४) शुद्ध या अशुद्ध मन्त्रबल से रोगी साधु की चिकित्सा
(५) सचित्त कंद, मूल आदि उखाड़ कर या खोद कर चिकित्सा करे।[1]

अंक-पर्यंक का विशेष अर्थ—चूर्णिकार के अनुसार अंक का अर्थ उत्संग या गोद है
एक घुटने पर रखा जाता है, किन्तु पर्यंक वह है जो दोनों घुटनों पर रखा जाता है।[2]

मैथुन की इच्छा से अंक-पर्यंक शयन—अंक या पर्यंक पर साधु को गृहस्थ स्त्री
लिटाया या बिठाया जाता है, उसके पीछे रति-सहवास की निकृष्ट भावना भी रहती है, अ
पर्यंक पर बिठाकर साधु को भोजन भी कराया जाता है, उसकी चिकित्सा भी सचित्त
रम्भादि करके की जाती है। निशीथ सूत्र उ० ७ एवं उसकी चूर्णि में इस प्रकार का नि
मिलता है। अगर इस प्रकार की कुत्सित भावना से गृहस्थ स्त्री या पुरुष द्वारा साधु की
चर्या की जाती है, तो वह परिचर्या साधु के सर्वस्व स्वरूप संयम-धन का अपहरण करने
है। साधु को इस प्रकार के धोखे में डालने वाले मोहक, कामोत्तेजक एवं प्रलोभन क
जाल से बचना चाहिए।[3]

पर-क्रिया के समान ही सूत्र ७२७ में अन्योन्यक्रिया (साधुओं की पारस्परिक क्रि
का भी निषेध किया है।

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१६

२ (क) आचारांग चूर्णि मू. पा. टि. पृ. २५६-अंको उच्छगो एगम्मि जणुगे उविखत्तो; पलियंको दोसु
(ख) निशीथचूर्णि पृ० ४०८/४०६ एगेण ऊरुएणं अंको, दोहि वि ऊरुएहि पलियंको।"

३ देखिए निशीथ सप्तम उद्देशक चूर्णि पृ० ४०८ —'जे भिक्खु माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंकं
पलियंकंसि वा णिसीयावेत्ता वा तुयट्टावेत्ता वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अणु
वा अणुपाएज्ज वा।"—एत्थ जो मेहुणट्ठाए णिसीयावेति तुयट्टावेति वा से चेव दोसा,

'सुपट्ठावेत्ता' आदि पदों के अर्थ—सुपट्ठावेत्ता = करवट बदलवा कर, लिटाकर या बिठाकर ...र्थं = वक्षस्थल पर पहने जाने वाले आभूषण। आविधेज्ज = पहनाए या बाँधे। पिणिधेज्ज = ...नाए या बाँधे। आउट्टे = करना चाहे। वइबलेण = वाणी (मन्त्रविद्या आदि) के बल से। ...तु = खोदकर, उखाड़ कर। कड्ढेत्तु = निकाल कर।[1]

'कडुवेयणा'......वेदेंति' सूत्र का तात्पर्य—चूर्णिकार के शब्दों में—इसलिए साधु को शरीर ...कर्म से रहित होना चाहिए। क्योंकि चिकित्सा की जाने पर भी मानव पचते हैं। वे पचते ...पूर्वकृत-कर्म के कारण। इसप्रकार पचते हुए वे दूसरों को भी संताप-दुःख देते हैं। जो ...समय पचते हैं, वे भविष्य में पचेंगे। कर्म अपने अनन्त गुने कटु विपाक (फल) को लेकर ...ता है। किसमें आता है? कर्ता के पीछे पीछे कर्म आते हैं। अर्थात्—कर्ता कर्म करके या ...ये हुए कर्मों का वेदन करता है। वेदन का वेत्ता ही इस वेदन के द्वारा कर्म वेदन को विदा ...करता है। सभी कर्म से विमुक्त होता है। अथवा कर्म करके दुःख होता है या दुःख स्पर्श ...ता है, इसलिए इस समय दुःख नहीं करना चाहिए।[2]

वेदना के समय साधु का चिन्तन—इस संसार में जीव अपने पूर्वकृत कर्म फल के विषय में ...धीन है। कर्म फल को कटु वेदना मानकर कर्मविपाक, शारीरिक एवं मानसिक वेदनाएं ...ार के सभी जीव स्वतः ही भोगते हैं।

७२६. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठे [हिं] सहिते ...मते सदा जते, सेयमिणं मण्णेज्जासि त्ति बेमि ॥

७२६. यही (परक्रिया में विरति ही) उस साधु या साध्वी का समग्र आचार सर्वस्व है, ...सके लिए समस्त इहलौकिक-पारलौकिक प्रयोजनों से युक्त तथा ज्ञानादि-सहित एवं समि-...तियों से समन्वित होकर सदा प्रयत्नशील रहे। और इसी को अपने लिए श्रेयस्कर समझे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

॥ तेरहवां अध्ययन, छठी सप्तिका सम्पूर्ण ॥

---

1. (क) आचा. वृत्ति पत्रांक ४१६
(ख) आचा. चूर्णि मूल पाठ टि. पृ. २५१—वाग्बलेन मंत्रादिसामर्थ्येन चिकित्सां व्याध्युपशमं आउट्टे त्ति कर्तुमभिलषेत्।

2. (क) "तम्हा अणाइकम्मसरीरेण होयव्व, किं कारणं? जेण तिगिच्छाए कीरमाणीए पच्चति पचंति माणवा, पच्चति पूर्वकृतेन कर्मणा, ते पच्चमाणा अ [न्या] न्यपि संतापयंति य, दुःखापयंतीत्यर्थः। अहवा कुव्वा दुक्खं भवति फुसति य तम्हा संवयं न करेमि दुक्खं।

(ख) आचा० वृत्ति पत्रांक ४१६, ओवा. प्राणि-भूत-जीव ... वेदनामनुभवन्तीति।...

निधानों का सिद्धार्थ राजा के भवन में संग्रह, हिरण्यादि में वृद्धि के कारण माता-पिता [illegible]
वर्द्धमान नाम रखने का विचार, सिद्धार्थ द्वारा हर्षवश पारितोषिक, प्रीतिभोज आदि [illegible]
वर्णन कल्पसूत्र में देखना चाहिए। यहाँ संक्षेप में मुख्य बातें कह दी गई हैं।[1]

भगवान का नामकरण

७४०. जतो णं पभिति भगवं महावीरे तिसिलाए खत्तियाणीए कुच्छिंसि गब्भं आगते ततो णं पभिति तं कुलं विपुलेणं हिरण्णेणं[2] सुवण्णेणं धणेणं[3] धण्णेणं माणिक्केणं मोत्तिएणं [illegible] सिल-प्पवालेणं अतीव अतीव परिवड्ढति।

ततो णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो एयमट्ठं जाणित्ता[4] णिव्वत्तदसाहंसि[5] वोक्कंतंसि सुचिभूतंसि विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेंति। विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेत्ता मित्त-णाति-सयण-संबंधिवग्गं उवनिमंतेत्ता बहवे समण-माहण-किवण-वणीमग-भिच्छुंडग[6]-पंडरगाईण विच्छड्डेंति[7], विग्गोवेंति, विस्साणेंति, दायारेसु [illegible] दाणं पज्जाभाएंति। विच्छड्डित्ता, विग्गोवित्ता, विस्साणित्ता[8] दायारेसु णं[9] दाणं पज्जाभाएत्ता मित्त-णाइ-सयण-संबंधिवग्गं भुंजावेंति। मित्त-णाति-सयण-संबंधिवग्गं भुंजावित्ता मित्त-णाति-सयण-संबंधिवग्गेण इमेयारूवं णामधेज्जं कारवेंति"—जतो णं पभिति[10] इमे कुमारे तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छिंसि गब्भे आहूते ततो णं पभिति इमं कुलं विपुलेणं हिरण्णेणं सुवण्णेणं

---

1. कल्पसूत्र सूत्र ... पृ० ८० से १३८ तक।
2. यहाँ किसी किसी प्रति में 'हिरण्णेणं' पाठ नहीं है।
3. 'धणेणं' के बदले पाठान्तर है 'धण्णेणं'। 'धान्य से।'
4. [illegible] के बदले 'आणित्ता' पाठान्तर है।
5. णिव्वत्तदसाहंसि के बदले कल्पसूत्र में पाठ है—[illegible] ग्यारहवाँ दिन व्यतीत होने पर अशुचि [illegible] बारहवाँ दिन आने पर [illegible]
6. [illegible]
7. [illegible]
8. [illegible]
9. [illegible]
10. [illegible]

धणेणं धण्णेणं माणिक्केणं मोत्तिएणं संख-सिल-प्पवालेणं अतीव अतीव परिवड्ढति, तो होउ णं कुमारे वद्धमाणे, ।[1]

७४०. जब से श्रमण भगवान् महावीर त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भरूप में आए, तभी से उस कुल में प्रचुर मात्रा में चाँदी, सोना, धन, धान्य, माणिक्य, मोती, शंख, शिला और प्रवाल (मूंगा) आदि की अत्यन्त अभिवृद्धि होने लगी।

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के माता-पिता ने यह बात जानकर भगवान् महावीर के जन्म के दस दिन व्यतीत हो जाने के बाद ग्यारहवें दिन अशुचि-निवारण करके शुचीभूत होकर, प्रचुर मात्रा में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ बनवाए। चतुर्विध आहार तैयार हो जाने पर उन्होंने अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बन्धि-वर्ग को आमंत्रित किया। इसके पश्चात् उन्होंने बहुत-से शाक्य आदि श्रमणों, ब्राह्मणों, दरिद्रों, भिक्षाचरों, भिक्षाभोजी, शरीर पर भस्म रमाकर भिक्षा मांगने वालों आदि को भी भोजन कराया, उनके लिए भोजन सुरक्षित रखाया, कई लोगों को भोजन दिया, याचकों में दान बांटा। इस प्रकार शाक्यादि भिक्षाजीवियों को भोजनादि का वितरण करवा कर अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन, सम्बन्धिजन आदि को भोजन कराया। उन्हें भोजन कराने के पश्चात् उनके समक्ष नामकरण के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा—जिस दिन से यह बालक त्रिशलादेवी की कुक्षि में गर्भरूप से आया, उसी दिन से हमारे कुल में प्रचुर मात्रा में चांदी, सोना, धन, धान्य, माणिक, मोती, शंख, शिला, प्रवाल (मूंगा) आदि पदार्थों की अतीव अभिवृद्धि हो रही है। अतः इस कुमार का गुण सम्पन्न नाम—'वर्द्धमान' हो, अर्थात् इसका नाम वर्द्धमान रक्खा जाता है।

विवेचन—भगवान् का गुण-निष्पन्न नामकरण—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् का 'वर्द्धमान' नाम रखने का कारण बताया है। राजा सिद्धार्थ एवं महारानी त्रिशला दोनों अपने सभी इष्ट-स्वजन-परिजन-मित्रों तथा श्वसुर पक्ष के सभी सगे-सम्बन्धियों को भोजन के लिए आमंत्रित करते हैं, साथ ही समस्त प्रकार के भिक्षाजीवियों को भी भोजन देते हैं। उसके पश्चात् सबके समक्ष अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं और 'वर्द्धमान' नाम रखने का प्रबल कारण भी बताते हैं।

इन सबसे प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में प्रायः सभी सम्पन्न वर्ग के लोग अपने शिशु का नामकरण समारोहपूर्वक करते थे, और प्रायः उसके किसी न किसी गुण को सूचित करने वाला नाम रखते थे।[2]

भगवान का संवर्द्धन

७४१. ततो णं समणे भगवं महावीरे पंचधातिपरिवुडे, तंजहा—खीरधातीए, मज्जण-

---

१. 'तो होउणं कुमारे वद्धमाणे' का समानार्थक पाठ कल्पसूत्र में इस प्रकार है—'तं होउ णं कुमारे वद्धमाणे २ नामेणं।'

२. आचारांग सूत्र मूलपाठ, वृत्ति पत्रांक ४२५।

धातीए, मंडावणधातीए, खेल्लावणधातीए[1], अंकधातीए, अंकातो अंकं साहरिज्जमाणे रम्मे मणिकोट्टिमतले गिरिकंदरसमल्लीणे[2] व चंपयपायवे अहाणुपुव्वीए संवड्ढति।

७४१. जन्म के बाद श्रमण भगवान् महावीर का लालन-पालन पांच धाय माताओं द्वारा होने लगा। जैसे कि—१. क्षीर धात्री—दूध पिलानेवाली धाय, २. मज्जन धात्री—स्नान कराने वाली धाय, ३. मंडन धात्री—वस्त्राभूषण पहनानेवाली धाय, ४. क्रीड़ा धात्री—क्रीड़ा कराने वाली धाय और ५. अंकधात्री—गोद में खिलाने वाली धाय। वे इस प्रकार एक गोद से दूसरी गोद में संहृत होते हुए एवं मणिमण्डित रमणीय आंगन में (खेलते हुए) पर्वतीय गुफा में स्थित (आलीन) चम्पक वृक्ष की तरह कुमार वर्द्धमान क्रमशः सुखपूर्वक बढ़ने लगे।

यौवन एवं पाणिग्रहण

७४२. ततो णं समणे भगवं महावीरे विण्णायपरिणयए[3] विणियत्तबालभावे अप्पुस्सुयाइं[4] उरालाइं माणुस्सगाइं पंचलक्खणाइं कामभोगाइं सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधाइं परियारेमाणे एवं[5] चाए विहरति।

७४२. उसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर बाल्यावस्था को पार कर युवावस्था में प्रविष्ट हुए। उनका परिणय (विवाह) सम्पन्न हुआ और वे मनुष्य सम्बन्धी उदार शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त पांच प्रकार के कामभोगों का उदासीनभाव से उपभोग करते हुए त्यागभावपूर्वक विचरण करने लगे।

विवेचन—यौवन और विवाह—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर की युवावस्था के दौर का चित्रण है। इसमें तीन बातों की ओर मुख्यतया संकेत किया गया है—(१) यौवन में प्रवेश

1. [illegible] के बदले पाठान्तर है—मंडावण, मेंडुणाण, मेजण।
2. [illegible] के बदले पाठान्तर है [illegible] गिरिकंदरसमल्लीणे। [illegible] मणिकोट्टिमतले [illegible] व चंपगपायवे [illegible] चम्पकवृक्ष की तरह सुखपूर्वक बढ़ रहे थे।
3. [illegible] (विवाह) [illegible]
4. [illegible]
5. [illegible]
6. [illegible]

(२) विवाह, (३) त्यागभाव और उदासीनता-पूर्वक पंचेन्द्रिय-काम-भोगों का उपभोग एवं उनका त्याग।

दिगम्बर परम्परा भ० महावीर को अविवाहित मानती है। दिगम्बर ग्रन्थों में उनके लिए 'कुमार' शब्द का प्रयोग हुआ है, श्वेताम्बर परम्परा में भी उनके लिए कुमार शब्द प्रयुक्त हुआ है। यही सम्भवतः उन्हें अविवाहित मानने की धारणा का पोषक बना हो।[1]

वस्तुतः 'कुमार' का अर्थ 'कुआरा' अविवाहित ही नहीं होता, उसका अर्थ राजकुमार, युवराज आदि भी होता है[2], इसी अर्थ को व्यक्त करने के लिए 'कुमारवासम्मि पव्वइया' कहकर 'कुमार' शब्द का प्रयोग किया गया है। भगवान् महावीर के विवाह के सम्बन्ध में आचारांग में ही नहीं, कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णि आदि प्राचीन साहित्य में पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं।[3]

भगवान के प्रचलित तीन नाम

७४३. समणे भगवं महावीरे कासवगोत्तेणं, तस्स णं इमे तिन्नि नामधेज्जा एवमाहिज्जंति, तंजहा-अम्मापिउसंतिए वद्धमाणे, सहसम्मुइए समणे, भीमं[4] भयभेरवं उरालं अचेलयं[5] परीसहे सहति त्ति कट्टु देवेहिं से णामं कयं समणे भगवं महावीरे।

७४३. काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के ये तीन नाम इस प्रकार कहे गए है—(१) माता-पिता का दिया हुआ नाम—वर्द्धमान, (२) समभाव में स्वाभाविक सन्मति होने के कारण श्रमण, और (३) किसी प्रकार का भयंकर भय-भैरव उत्पन्न होने पर भी अविचल रहने तथा अचेलक रहकर विभिन्न परीषहों को समभावपूर्वक (उदार होकर) सहने के कारण देवों ने उनका नाम रखा—'श्रमण भगवान् महावीर'।

---

१ (क) पद्मपुराण २०/६७।
(ख) हरिवंश पुराण ६०/२१८ भा० २।

२. (क) 'कुमारो युवराजेऽश्ववाहके'—शब्दरत्न समन्वय कोश पृ० २६८।
(ख) 'पाइअ-सद्दमहण्णवो' पृ० २५३।
(ग) अमरकोष काण्ड १, नाट्यवर्ग श्लोक १२।
(घ) आप्टेकृत संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृ० ३६८।

३. (क) आवश्यक निर्युक्ति पृ० ३६ गा० २२२।

४. कल्पसूत्र में "भीम भयभैरव" आदि पाठ विस्तृत रूप में है।
देखिये कल्पसूत्र—१०४ 'अचले भयभेरवाणं परिसहोवसग्गाणं खंतिखमे पडिमाणं पालए धीमं अरतिरतिसहे दविए वीरियसंपन्ने देवेहिं से णामं कयं समणे भगवं महावीरे ३।"

५. 'अचेलयं' के बदले पाठान्तर अचेले, 'अचले' मान कर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—'अचले परिसहोवसग्गेहिं'। अर्थ होता है—परिसहोपसर्गों के समय अचल।

भगवान के माता-पिता की धर्म साधना

७४५. समणस्स णं भगवतो महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था। ते णं बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पालयित्ता छण्हं जीवनिकायाणं सारक्खणनिमित्तं आलोइत्ता णिंदित्ता गरहित्ता पडिक्कमित्ता अहारिहं उत्तरगुणं पायच्छित्ताइं[1] पडिवज्जित्ता कुससंथारं दुरुहित्ता भत्तं पच्चक्खायंति[2], भत्तं पच्चक्खाइत्ता अपच्छिमाए मारणंतियाए सरीरसंलेहणाए झूसियसरीरा कालमासेणं कालं किच्चा तं सरीरं विप्पजहित्ता अच्चुते कप्पे देवत्ताए उववन्ना।

ततो णं आउक्खएणं भवक्खएणं ठितिक्खएणं चुते(ता) चइत्ता महाविदेहे वासे चरिमेणं उस्सासेणं[3] सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिणिव्वाइस्संति[4], सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति।

७४५. श्रमण भगवान् महावीर के माता-पिता पार्श्वापत्य—पार्श्वनाथ भगवान् के अनुयायी थे, दोनों श्रावक-धर्म का पालन करने वाले श्रमणोपासक-श्रमणोपासिका थे। उन्होंने बहुत वर्षों तक श्रावक-धर्म का पालन करके (अन्तिम समय में) षड्जीवनिकाय के संरक्षण के निमित्त आलोचना, आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप), आत्मगर्हा एवं पाप दोषों का प्रतिक्रमण करके, मूल और उत्तर गुणों के यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार करके, कुश के संस्तारक पर आरूढ होकर भक्तप्रत्याख्यान नामक अनशन (संथारा) स्वीकार किया। चारों प्रकार के आहार-पानी का प्रत्याख्यान—त्याग करके अन्तिम मारणान्तिक संलेखना से शरीर को सुखा दिया। फिर कालधर्म का अवसर आने पर आयुष्यपूर्ण करके उस (भौतिक) शरीर को छोड़ कर अच्युतकल्प नामक देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुए।

तदनन्तर देव सम्बन्धी आयु, भव (जन्म) और स्थिति का क्षय होने पर वहाँ से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में चरम श्वासोच्छ्वास द्वारा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं परिनिर्वृत होंगे और वे सब दुःखों का अन्त करेंगे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर के माता-पिता के धार्मिक जीवन की झांकी बताई गई है। साथ ही उस जीवन की फलश्रुति भी अंकित कर दी है। इससे [illegible] शास्त्रकार ने एक आदर्श श्रमणोपासक का जीवन चित्र प्रस्तुत कर दिया है। [illegible] राजा-रानी होते हुए भी सांसारिक भोगों में ही नहीं फंसे रहे, किन्तु उन्होंने [illegible] श्रमणोपासक का धर्म मर्यादित जीवन स्वीकार किया। त्याग, तप व अनासक्ति [illegible] और अन्तिम समय निकट आने पर समस्त भोगों, यहाँ तक कि आहार, शरीर और [illegible]

---

1. 'पायच्छित्ताइं' के बदले पाठान्तर है—'पायच्छित्तं'।
2. 'पच्चक्खायंति' के बदले पाठान्तर है—[illegible]
3. [illegible]
4. 'परिणिव्वाइस्संति' के बदले पाठान्तर है—[illegible]

समस्त भावनों का सर्वथा परित्याग करके आत्मशुद्धिपूर्वक शरीर छोड़ा, और १२ वाँ देवलोक प्राप्त किया, वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनेंगे।

दीक्षा ग्रहण का संकल्प

७४६. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे णाते णातपुत्ते[1] णायकुलविणिव्वत्ते[2] विदेहे विदेहदिण्णे विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहे[3] त्ति कट्टु अगारमज्झे वसित्ता अम्मापिऊहिं कालगतेहिं देवलोगमणुप्पत्तेहिं समत्तपइण्णे चेच्चा हिरण्णं, चेच्चा सुवण्णं, चेच्चा बलं, चेच्चा वाहणं, चेच्चा धण[4]-कणग-रयण-संतसारसावतेज्जं, विच्छड्डित्ता विग्गोवित्ता, विस्साणित्ता, दायारेसु णं दायं पज्जभाइत्ता, संवच्छरं दलइत्ता, जे से हेमंताणं पढमे मासे, पढमे पक्खे मग्गसिरबहुले, तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं हत्थुत्तराहिं णक्खत्तेणं जोगोवगतेणं अभिनिक्खमणाभिप्पाए यावि होत्था।

७४६. उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर, जो कि ज्ञातपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हो चुके थे, ज्ञातकुल (के उत्तरदायित्व) से विनिवृत्त थे, अथवा ज्ञातकुलोत्पन्न थे, देहासक्ति रहित थे, विदेहजनों द्वारा अर्चनीय पूजनीय थे, विदेहदत्ता (माता) के पुत्र थे, विशिष्ट शरीर—वज्रऋषभ-नाराच-संहनन एवं समचतुरस्र संस्थान से युक्त होते हुए भी शरीर से सुकुमार थे।

(इस प्रकार की योग्यता से सम्पन्न) भगवान् महावीर तीस वर्ष तक विदेह रूप में गृह में निवास करके माता पिता के आयुष्य पूर्ण करके देवलोक को प्राप्त हो जाने पर अपनी ली हुई प्रतिज्ञा के पूर्ण हो जाने से, हिरण्य, स्वर्ण, सेना (बल), वाहन (सवारी), धन, धान्य, रत्न आदि सारभूत, सत्वयुक्त पदार्थों का त्याग करके, याचकों को यथेष्ट दान देकर, अपने द्वारा दानशाला पर नियुक्त जनों के समक्ष सारा धन खुला करके उसे दान रूप में देने का विचार प्रगट करके, अपने सम्बन्धियों में सम्पूर्ण पदार्थों का यथायोग्य (दाय) विभाजन करके, संवत्सर (वर्षी) दान देकर (निश्चिन्त हो चुके, तब), हेमन्तऋतु के प्रथम मास एवं प्रथम मार्गशीर्ष

---

1. 'णातपुत्ते' के बदले पाठान्तर है—'णातिपुत्ते'।
2. कल्पसूत्र में भगवान् के द्वारा दीक्षा की पूरी तैयारी का कथन इस प्रकार मिलता है—'समणे भगवं महावीरे दक्खे दक्खपइन्ने, पडिरूवे आलीणे भद्दए विणीए णाए णायपुत्ते णायकुलचंदे विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहंसि कट्टु अम्मापिईहिं देवत्तगएहिं गुरुमहत्तरएहिं अब्भणुन्नाए'''।" कल्पसूत्र सूत्र—११०
3. 'णायकुल-विणिव्वत्ते' के बदले पाठान्तर है—णायकुलविणिव्वत्ते, णायकुलनिव्वत्ते, णायकुलणिव्वत्ते नि विदेह।
4. इसके बदले किसी-किसी प्रति में 'विदेहंसि' 'विदेहंसि' पाठान्तर है। कल्पसूत्र में 'विदेहंसि कट्टु' पाठ है।
5. 'धणकणग' के बदले पाठान्तर है—धणधण्ण। अर्थ है—धन और धान्य।

७५० कुण्डलधारी वैश्रमण देव और महान् ऋद्धि सम्पन्न लोकान्तिक देव १५ कर्म-मियों में (होने वाले) तीर्थंकर भगवान् को प्रतिबोधित करते हैं ॥ ११४ ॥

७५१ ब्रह्म (लोक) कल्प में आठ कृष्णराजियों के मध्य में आठ प्रकार के लोकान्तिक मान असंख्यात विस्तार वाले समझने चाहिए ॥ ११५ ॥

७५२ ये सब देव निकाय (आकर) भगवान् वीर-जिनेश्वर को बोधित (विज्ञप्त) करते —हे अर्हन् देव ! सर्वजगत् के जीवों के लिए हितकर धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन (स्थापना) रें ॥ ११६ ॥

विवेचन—सांवत्सरिकदान और लोकान्तिक देवों द्वारा उद्बोध—प्रस्तुत सूत्र ७४७ से ७५२ क ६ गाथाओं में मुख्यतया दो बातों का उल्लेख है, जो प्रत्येक तीर्थंकर भगवान् द्वारा दीक्षा हण करने का अभिप्राय व्यक्त करने के बाद निश्चित रूप से होती है—(१) प्रत्येक तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण से पूर्व एक वर्ष तक दान करते हैं। वे प्रतिदिन सूर्योदय से एक प्रहर तक १ करोड़ लाख स्वर्ण मुद्राएँ दान करते हैं, इस प्रकार वार्षिक दान की राशि ३ अरब ८८ करोड़ ८० ाख स्वर्णमुद्राएँ हो जाती है।

(२) ब्रह्मलोकवासी लोकान्तिक देव तीर्थंकर से विनम्र विज्ञप्ति (बोध) करते हैं—तीर्थ थापना करने हेतु। बोध का अर्थ—यहाँ नम्रविज्ञप्ति या सविनय निवेदन करना है। जिन तो वयंबुद्ध होते हैं। उन्हें बोध देने की अपेक्षा नहीं रहती। लोकान्तिक देव एक प्रकार से भग-ान के वैराग्य की सराहना, अनुमोदना करते हैं। यह उनका परम्परागत आचार है।

भिनिष्क्रमण महोत्सव के लिए देवों का आगमन

७५३ ततो णं समणस्स भगवतो महावीरस्स अभिनिक्खमणाभिप्पायं जाणित्ता भवण-ति-वाणमंतर-जोतिसिय विमाणवासिणो देवा य देवीओ य सएहिं २ रूवेहिं, सएहिं २ णेवत्थेहिं, एहिं २ चिंधेहिं, सव्विड्ढीए सव्वजुतीए[1] सव्वबलसमुदएणं सयाइं २ जाणविमाणाइं दुरुहंति। याइं २ जाणविमाणाइं दुरुहित्ता अहाबादराइं पोग्गलाइं परिसाडेंति। अहाबादराइं ोग्गलाइं परिसाडेत्ता अहासुहुमाइं पोग्गलाइं परियाइंति। अहासुहुमाइं पोग्गलाइं परिया-त्ता उड्ढं उप्पयंति। उड्ढं उप्पइत्ता ताए उक्किट्ठाए सिग्घाए चवलाए तुरियाए दिव्वाए देवगतीए अहेणं ओवयमाणा २ तिरिएणं असंखेज्जाइं दीव समुद्दाइं वीतिक्कममाणा २ जेणेव जंबुद्दीवे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता जेणेव उत्तरखत्तियकुंडपुरसंणिवेसे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता जेणेव उत्तरखत्तियकुंडपुरसंणिवेसस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसा-भागे तेणेव झत्ति वेगेण ओवतिया[4]।

---

१ [illegible] के बदले पाठान्तर है — [illegible]। अर्थ समान है। कल्पसूत्र में सव्विड्ढीए [illegible] पाठ है।
२ [illegible] के बदले [illegible] पाठ है।
३ [illegible] के बदले [illegible] पाठ है। कहीं '[illegible]' पाठ भी है।
४ ओवतिया के बदले [illegible] पाठान्तर है।

७५३. तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर के अभिनिष्क्रमण के अभिप्राय को जानकर भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव एवं देवियाँ अपने-अपने रूप में, अपने-अपने वस्त्रों में और अपने-अपने चिन्हों से युक्त होकर तथा अपनी-अपनी समस्त ऋद्धि, द्युति, और समस्त बल-समुदाय सहित अपने-अपने यान-विमानों पर चढ़ते हैं। फिर सब अपने-अपने यान-विमानों में बैठकर जो भी बादर (स्थूल) पुद्गल हैं, उन्हें पृथक् करते हैं। बादर पुद्गलों को पृथक् करके सूक्ष्म पुद्गलों को चारों ओर से ग्रहण करके वे ऊंचे उड़ते हैं। ऊंचे उड़कर अपनी उस उत्कृष्ट, शीघ्र, चपल, त्वरित और दिव्य देव गति से नीचे उतरते-उतरते क्रमशः तिर्यक्लोक में स्थित असंख्यात द्वीप-समुद्रों को लांघते हुए जहाँ जम्बूद्वीप नामक है, वहाँ आते हैं। वहाँ आकर जहाँ उत्तरक्षत्रियकुण्डपुर सन्निवेश है, उसके निकट आ हैं। वहाँ आकर उत्तर क्षत्रियकुण्डपुर सन्निवेश के ईशानकोण दिशा भाग में शीघ्रता से जाते हैं।

विवेचन—चारों प्रकार के देव-देवियों का आगमन—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् के दीक्षा के अभिप्राय को जानकर चारों प्रकार के देव-देवियों के आगमन का वर्णन है। साथ ही भी बताया है कि वे कैसे रूप, परिधान एवं चिन्ह से युक्त होकर तथा कैसी ऋद्धि, द्यु दलबल सहित, किस वाहन में, किस गति एवं स्फूर्ति से इस मनुष्य लोक में, तीर्थंकर भग के सन्निवेश में आते हैं ?[1]

प्रश्न होता है—तीर्थंकर के दीक्षा समारोह में भाग लेने के लिए देवता क्यों भागे है ? उत्तर का अनुमोदन यह है कि संसार में जो भी धर्मात्मा एवं धर्मनिष्ठ पुरुष होते हैं, धर्म कार्य के लिए देवता आते ही हैं। वे अपना अहोभाग्य समझते हैं कि हमें धर्मात्मा पु के धर्म कार्य को अनुमोदन करने का अवसर मिला। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

'देवा वि तं नमसंति जस्स धम्मे सया मणो।'

'जिसका मन सदा धर्म में ओत-प्रोत रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।'

यद्यपि देवता भौतिक समृद्धि व ऐश्वर्य में सबसे आगे है, किन्तु उनके जीवन में का अभाव है, इसलिए वे आध्यात्मिकता के धनी संयमी पुरुषों की सेवा में उनके संयम सराहना करने हेतु आते हैं। शास्त्रकार ने देवों के आगमन की गति का भी वर्णन किया है वे उत्कृष्ट, शीघ्र, चपल, त्वरित दिव्यगति से आते हैं, क्योंकि उनके मन में धर्मनिष्ठ कर की दीक्षा में सम्मिलित होने की स्फूर्ति, श्रद्धा एवं उमंग होती है।[2]

---

१. आचारांग मूल पाठ सटिप्पण (जम्बूविजय जी) पृ० २६८
२ (क) दशवैकालिक अ० १ गा० १
(ख) आचारांग मूल पाठ टिप्पण पृ० २६८

बिना पान-भोजनादि का उपभोग करता है, वह अदत्तादान का सेवन करता है। इसलिए जो साधक गुरु आदि की अनुज्ञा प्राप्त करके आहार-पानी आदि का उपभोग करता है, वह निर्ग्रन्थ कहलाता है, अनुज्ञाग्रहण किये बिना आहार-पानी आदि का सेवन करने वाला नहीं। यह है—दूसरी भावना।

(३) अब तृतीय भावना का स्वरूप इस प्रकार है—निर्ग्रन्थ साधु को क्षेत्र और काल के (इतना-इतना इस प्रकार के) प्रमाणपूर्वक अवग्रह की याचना करना चाहिए। केवली भगवान् कहते हैं—जो निर्ग्रन्थ इतने क्षेत्र और इतने काल की मर्यादापूर्वक अवग्रह की अनुज्ञा (याचना) ग्रहण नहीं करता, वह अदत्त का ग्रहण करता है। अतः निर्ग्रन्थ साधु क्षेत्र काल की मर्यादा खोल कर अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण करने वाला होता है, अन्यथा नहीं। यह तृतीय भावना है।

(४) इसके अनन्तर चौथी भावना यह है—निर्ग्रन्थ अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण करने के पश्चात् बार-बार अवग्रह अनुज्ञा ग्रहणशील होना चाहिए। क्योंकि केवली भगवान् कहते हैं—जो निर्ग्रन्थ अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण कर लेने पर बार-बार अवग्रह की अनुज्ञा नहीं लेता, वह अदत्तादान दोष का भागी होता है। अतः निर्ग्रन्थ को एक बार अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण कर लेने पर भी पुनः पुनः अवग्रहानुज्ञा ग्रहणशील होना चाहिए। यह चौथी भावना है।

(५) इसके पश्चात् पांचवीं भावना इसप्रकार है—जो साधक साधर्मिकों से भी विचार करके मर्यादित अवग्रह की याचना करता है, वह निर्ग्रन्थ है, बिना विचारे परिमित अवग्रह की याचना करने वाला नहीं। केवली भगवान् का कथन है—बिना विचार किये जो साधर्मिकों से परिमित अवग्रह की याचना करता है, उसे साधर्मिकों का अदत्त ग्रहण करने का दोष लगता है। अतः जो साधक साधर्मिकों से भी विचारपूर्वक मर्यादित अवग्रह की याचना करता है, वही निर्ग्रन्थ कहलाता है, बिना विचारे साधर्मिकों से मर्यादित अवग्रहयाचक नहीं। इसप्रकार की पंचम भावना है।

७८५. इस प्रकार पंच भावनाओं से विशिष्ट एवं स्वीकृत अदत्तादान-विरमणरूप तृतीय महाव्रत का सम्यक् प्रकार से काया से स्पर्श करने, उसका पालन करने, गृहीत महाव्रत को भलीभाँति पार लगाने, उसका कीर्तन करने तथा,उसमें अन्त तक अवस्थित रहने पर भगवदाज्ञा के अनुरूप सम्यक् आराधन हो जाता है।

भगवन्! यह अदत्तादान-विरमणरूप तृतीय महाव्रत है।

विवेचन—तृतीय महाव्रत की प्रतिज्ञा और उसकी पाँच भावनाएँ—प्रस्तुत सूत्रत्रय में पूर्ववत् उन्हीं तीन बातों का उल्लेख तृतीय महाव्रत के सम्बन्ध में किया गया है—(१) तृतीय महाव्रत

अन्य शास्त्रों में भी पाच भावनाओं का उल्लेख—समवायाग सूत्र मे इस महाव्रत की पंच भावनाओ का क्रम इस प्रकार है—(१) अवग्रह की बारबार याचना करना, (२) अवग्रह की सीमा जानना, (३) स्वयं अवग्रह की बार-बार याचना करना, (४) साधर्मिको के अवग्रह का अनुज्ञाग्रहण पूर्वक परिभोग करना, और (५) सर्वसाधारण आहार-पानी का गुरुजनो आदि की अनुज्ञा ग्रहण करके परिभोग करना ।[1]

आचारांग चूर्णि सम्मत पाठ के अनुसार पंच भावनाएं इस प्रकार है—(१) यथायोग्य विचारपूर्वक अवग्रह की याचना करे, (२) अवग्रह-अनुज्ञा-ग्रहणशील हो, (३) अवग्रह की क्षेत्र काल सम्बन्धी जो भी मर्यादा ग्रहण की हो, उसका उल्लंघन न करे, (४) गुरुजनो की अनुज्ञा ग्रहण करके आहारपानी आदि का उपभोग करे, (५) साधर्मिको से भी विचारपूर्वक अवग्रह की याचना करे ।[2]

आवश्यक चूर्णि सम्मत पंच भावना का क्रम यो है—(१) स्वयं बारबार अवग्रह याचना करे, (२) विचार-पूर्वक मर्यादित अवग्रह-याचना करे, (३) अवग्रह की गृहीत सीमा का उल्लंघन न करे (४) गुरु आदि से अनुज्ञा ग्रहण करके आहार-पानी का सेवन करे, (५) साधर्मिकों से अवग्रह की याचना करे ।[3]

तत्त्वार्थसूत्र में भी इम महाव्रत की पंचभावनाएं इस प्रकार बताई गई है—(१) शून्यागारावास, (२) विमोचितावास, (३) परोपरोधकरण, (४) भैक्षशुद्धि और (५) सधर्माविसंवाद । पर्वत की गुफा और वृक्ष का कोटर आदि शून्यागार है, इनमे रहना शून्यागारावास है। दूसरों द्वारा छोडे हुए मकान आदि में रहना विमोचितावास है। दूसरो को ठहरने से नहीं रोकना परोपरोधाकरण है। आचारशास्त्र में बतलाई हुई विधि के अनुसार भिक्षा लेना भैक्षशुद्धि है। 'यह मेरा है, यह तेरा है' इस प्रकार साधर्मिकों से विसवाद न करना सधर्माविसवाद है। ये अदत्तादानविरमणव्रत की पाच भावनाएँ हैं ।[4]

अदत्तादान-विरमणव्रत की पंच भावनाओं की उपयोगिता—चूर्णिकार के अनुसार—अदत्तादान विरमणमहाव्रत की सुरक्षा के लिए एवं अदत्तादानग्रहण न करने के उद्देश्य से ये भावनाएं

---

१ समवायांग (सम० २५) का पाठ—१ 'उग्गहअणुण्णवणया, २. उग्गहसीमजाणणया, ३ सयमेव उग्गहं अणुगिण्हणया ४. साहम्मिय उग्गह अणुण्णविय परिभुंजणया, ५ साहारणभत्तपाण अणुण्णविय परिभुंजणया ।

२. '''आगंतारेसु ४ अणुवीई उग्गह जाएज्जा से निग्गथे, ' उग्गहणसीलए से निग्गथे ' णो निग्गथे एत्ताव ताव उग्गहे, एत्ताव ताव आत्तमणसकप्पे'''अणुण्णविय पाणभोयणभोई से निग्गंथे ' से आगतारेसु व ४ ओग्गहजायी से निग्गथे साधम्मिएसु''' ।

—आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २८०

३. सयमेव य उग्गहजायणे घडे, मतिय णिसम्म सतिभिक्खु ओग्गह ।
अणुण्णविय भुंजिज्ज पाणभोयण, जाइत्ता साहम्मियाण उग्गह ॥ ३ ॥

—आवश्यक चूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन १४३-१४७

४. "शून्यागारविमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्षशुद्धि-सधर्माविसवादाः पंच ।"

तत्त्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि ७।६

निरूपित की गई है। धर्मशालाओं आदि में ठहरते समय क्षेत्र काल की मर्यादा का विचार करके उनके स्वामी या स्वामी द्वारा नियुक्त अधिकारी से अवग्रह की याचना करे, यथा अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहणशील साधक धाग, ढेला, राख मलोत्सर्ग, उच्चार के स्थान आदि अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण करके प्राप्त करना है। जितने अवग्रह की अनुज्ञा मिली हो, उतना ही कल्पनीय होता है। संघाड़े के साधुओं आदि से अनुज्ञा लेकर वस्तुओं का रत्नाधिक (छोटे-बड़े) क्रम के अनुसार उपभोग करे, गमनादि करे। साधर्मिकों से अवग्रह-याचना करके वहाँ ठहरे, गमनादि करे।[1]

चतुर्थ महाव्रत और उसकी पांच भावनाएं—

७८६. अहावरं चउत्थं (भंते!) महव्वयं 'पच्चक्खामि'[2] सव्वं मेहुणं। से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा णेव सयं मेहुणं गच्छे (ज्जा), तं चेव, अदिण्णादाणवत्तव्वया भाणितव्वा जाव वोसिरामि'।

७८७. तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति—

(१) तत्थिमा पढमा भावणा-णो णिग्गंथे अभिक्खणं २ इत्थीणं[3] कहं कहइत्तए सिया। केवली बूया—निग्गंथे णं अभिक्खणं[4] २ इत्थीणं कहं कहेमाणे संतिभेदा संतिविभंगा संति-केवलिपण्णत्तातो धम्मातो भंसेज्जा। णो[5] निग्गंथे अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहेइ[6] (त्तए) सिय त्ति पढमा भावणा।

(२) अहावरा दोच्चा भावणा—णो णिग्गंथे इत्थीणं मणोहराइं२[7] इंदियाइं आलोइत्तए णिज्झाइत्तए सिया। केवली बूया—निग्गंथे णं (इत्थीणं) मणोहराइं २ इंदियाइं आलोएमाणे णिज्झाएमाणे संतिभेदा संतिविभंगा जाव धम्मातो भंसेज्जा, णो णिग्गंथे इत्थीणं मणोहराइं २ इंदियाइं आलोइत्तए णिज्झाइत्तए सिय त्ति दोच्चा भावणा।

(३) अहावरा तच्चा भावणा—णो णिग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सुमरित्तए सिया। केवली बूया—निग्गंथे णं इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरमाणे संतिभेदा जाव विभंगा जाव[8] भंसेज्जा। णो णिग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरित्तए सिय त्ति तच्चा भावणा।

---

१. आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २८५
२. 'पच्चक्खामि' के बदले पाठान्तर है—"पच्चाइक्खामि'।"
३. 'इत्थीणं कहइत्तए' के बदले पाठान्तर है—"इत्थीकथकहइत्तए, इत्थीण कहकहित्तिए।'
४. किसी-किसी प्रति में 'अभिक्खणं' पद नहीं है।
५. णो णिग्गंथे...... सियत्ति' पाठ के स्थान पर पाठान्तर है—तम्हा णो निग्गंथे इत्थीणं कहं कहेज्जा।"
६. 'कहइ(त्तए) सियत्ति' के बदले पाठान्तर है—कहे सिय ...'कहेइ सिय त्ति बेमि पढमा।"
७. मणोहराइं के आगे २ का अंक मणोरमाइं पद का सूचक है।
८. जाव भंसेज्जा के बदले पाठान्तर हैं—'जाव भासेज्जा, 'जाव आमसेज्ज आ भंसेज्जा।"

वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा णेव सयं परिग्गहं गेण्हेज्जा, णेवऽण्णेणं
ग्गहं गेण्हावेज्जा, अण्णं वि परिग्गहं गेण्हंतं ण समणुजाणेज्जा जाव वोसिरामि'।

७६०. तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति—

(१) तत्थिमा पढमा भावणा—सोततो णं जीवे मणुण्णामणुण्णाइं[1] सद्दाइं सुणेति,
ण्णामणुण्णेहिं सद्देहिं णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा णो गिज्झेज्जा णो मुज्झेज्जा णो अज्झोव-
तेज्जा।[2] केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं सद्देहिं सज्जमाणे रज्जमाणे जाव
णिघायमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा, संतिकेवलिपण्णत्तातो धम्मातो भंसेज्जा।

ण सक्का ण सोउं सद्दा[3] सोत्तविसयमागया।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए॥ १३०॥

ततो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं सद्दाइं सुणेति, पढमा भावणा।

(२) अहावरा दोच्चा भावणा—चक्खूतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं पासति, मणु-
ामणुण्णेहिं रूवेहिं (णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा जाव णो विणिघातमावज्जेज्जा। केवली
ा—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं रूवेहिं) सज्जमाणे रज्जमाणे जाव संधा (विणिघा)
ावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा जाव भंसेज्जा[4]।

ण सक्का रूवमदट्ठुं[5] चक्खुविसयमागतं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए॥ १३१॥

क्खूतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं पासति त्ति दोच्चा भावणा।

(३) अहावरा तच्चा भावणा—घाणतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं गंधाइं अग्घायति,[6]
ुण्णामणुण्णेहिं गंधेहिं सज्जमाणे रज्जमाणे जाव[7] विणिघायमावज्जमाणे संतिभेदा संतिवि-
गा जाव भंसेज्जा।

ण सक्का ण गंधमग्घाउं णासाविसयमागयं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए॥ १३२॥

णतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं गंधाइं अग्घायति त्ति तच्चा भावणा।

[४] अहावरा चउत्था भावणा—जिब्भातो[8] जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रसाइं अस्सा-

---

मणुण्णामणुण्णाइं सद्दाइं के बदले पाठान्तर है—'मणुण्णामणुण्णसद्दाइं', मणुण्णाइं २ सद्दाइं,
मणुण्णाऽमणुण्ण सद्दाइं' मणुण्णाइं सद्दाइं'।"
. अज्झोववज्जेज्जा' के बदले पाठान्तर है—अज्झोववज्जेज्जा, अज्झोववेज्जा
. सोतविसय के बदले पाठान्तर है—'सोयविसय'''सोत्तविसय।"
. 'भंसेज्जा' के बदले 'भासेज्जा' पाठान्तर है
. रूवदट्ठु' के बदले पाठान्तर है—अदट्ठु'।"
. 'अग्घायति' के बदले 'अग्घाति' पाठान्तर है।
जाव विणिघाय ...... के बदले पाठान्तर है—'जाव णिघाय'....।
. 'जिब्भातो' के बदले पाठान्तर है—'जीभातो', 'रसणतो'।

देति, मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा जाव णो विणिग्घातमावज्जेज्जा केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं सज्जमाणे जाव विणिग्घायमावज्जमाणे संतिभेदा जाव भंसेज्जा।

ण सक्का रसमणासातुं जीहाविसयमागतं।
रोग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥१३३॥

जीहातो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रसाइं अस्सादेति त्ति चउत्था भावणा।

[५] अहावरा पंचमा भावणा—फासातो[1] जीवो मणुण्णामणुण्णाइं फासाइं पडिसंवेदेति, मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं णो सज्जेजा, णो रज्जेजा, णो गिज्झेज्जा, णो मुज्झेज्जा, णो अज्झोववज्जेज्जा, णो विणिघातमावज्जेज्जा। केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं सज्जमाणे जाव विणिघातमावज्जमाणे संतिभेदा सतिविभंगा सतिकेवलिपण्णत्तातो धम्मातो भंसेज्जा।

ण सक्का ण संवेदेतुं फासं विसयमागतं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥१३४॥

फासातो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं फासाइं पडिसंवेदेति त्ति पंचमा भावणा।

७९१. एत्ताव ताव महव्वते सम्मं काएण फासिते पालिते तीरिते किट्टिते अवट्ठिते आणाए आराधिते यावि भवति।

पंचमं भंते! महव्व यं परिग्गहातो वेरमणं।

७८९. इसके पश्चात् हे भगवन्! मैं पांचवें महाव्रत को स्वीकार करता हूं। पंचम महाव्रत के सन्दर्भ में मैं सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करता हूं। आज से मैं थोड़ा या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी प्रकार के परिग्रह को स्वयं ग्रहण नहीं करूंगा, न दूसरों से ग्रहण कराऊंगा, और न परिग्रह ग्रहण करने वालों का अनुमोदन करूंगा। इसके आगे का—'आत्मा से भूतकाल में परिगृहीत परिग्रह का व्युत्सर्ग करता हूं', तक का सारा वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७९०. उस पंचम महाव्रत की पांच भावनाएं ये है—

(१) उन पांच भावनाओं में से प्रथम भावना यह है—श्रोत्र (कान) से यह जीव मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ शब्दों को सुनता है, परन्तु वह उनमें आसक्त न हो, रागभाव न करे, गृद्ध न हो, मोहित न हो, अत्यन्त आसक्ति न करे, न राग-द्वेष करे। केवली भगवान् कहते हैं—जो साधु मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों में आसक्त होता है, रागभाव करता है, गृद्ध हो जाता है, मोहित हो जाता है, अत्यधिक आसक्त हो जाता है, राग-द्वेष करता है वह शान्तिरूप चारित्र का नाश करता है, शान्ति को भंग करता है, शान्तिरूप केवलि प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

---

१. किसी किसी प्रति में 'फासातो जीवो' पाठ नहीं है। कहीं पाठान्तर है—फासाओ जीवो, फासातो मणुण्णामणुण्णाइं'''।

बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा णेव सयं परिग्गहं गेण्हेज्जा, णेवऽण्णेणं परिग्गहं गेण्हावेज्जा, अण्णं पि परिग्गहं गेण्हंतं ण समणुजाणेज्जा जाव वोसिरामि'।

७९०. तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति—

(१) तत्थिमा पढमा भावणा—सोततो णं जीवे मणुण्णामणुण्णाइं[1] सद्दाइं सुणेति, मणुण्णामणुण्णेहिं सद्देहिं णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा णो गिज्झेज्जा णो मुज्झेज्जा णो अज्झोववज्जेज्जा।[2] केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं सद्देहिं सज्जमाणे रज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा, संतिकेवलिपण्णत्तातो धम्मातो भंसेज्जा।

ण सक्का ण सोउं सद्दा[3] सोतविसयमागया।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए॥ १३०॥

सोततो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं सद्दाइं सुणेति, पढमा भावणा।

(२) अहावरा दोच्चा भावणा—चक्खूतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं पासति, मणुण्णामणुण्णेहिं रूवेहिं (णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा जाव णो विणिघातमावज्जेज्जा। केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं रूवेहिं) सज्जमाणे रज्जमाणे जाव संघा (विणिघा) यमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा जाव भंसेज्जा[4]।

ण सक्का रूवमदट्ठुं[5] चक्खूविसयमागतं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए॥ १३१॥

चक्खूतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं पासति त्ति दोच्चा भावणा।

(३) अहावरा तच्चा भावणा—घाणतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं गंधाइं अग्घायति,[6] मणुण्णामणुण्णेहिं गंधेहिं सज्जमाणे रज्जमाणे जाव[7] विणिघायमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा जाव भंसेज्जा।

ण सक्का ण गंधमग्घाउं णासाविसयमागयं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए॥ १३२॥

घाणतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं गंधाइं अग्घायति त्ति तच्चा भावणा।

[४] अहावरा चउत्था भावणा—जिब्भातो[8] जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रसाइं अस्सा-

---

१ मणुण्णामणुण्णाइं सद्दाइं के बदले पाठान्तर है—'मणुण्णामणुण्णसद्दाइं', मणुण्णाइं २ सद्दाइं, मणुण्णाइमणुण्ण सद्दाइं' मणुण्णाइं सद्दाइं'।"

२ अज्झोववज्जेज्जा' के बदले पाठान्तर है—अज्झोववज्जेज्जा, अज्झोववेज्जा

३ सोतविसय के बदले पाठान्तर है—'सोयविसय'''सोतविसय।"

४. 'भंसेज्जा' के बदले 'भासेज्जा' पाठान्तर है

५. मदट्ठुं' के बदले पाठान्तर है—मद्दट्ठुं'।"

६. 'अग्घायति' के बदले 'अग्घाति' पाठान्तर है।

७ जाव विणिघाय ''' के बदले पाठान्तर है—'जाव णिग्घाय'''।

८. 'जिब्भातो' के बदले पाठान्तर है—'जीहातो', 'रसणतो'।

वेति, मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा जाव णो विणिघातमावज्जेज्जा केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेदा जाव भंसेज्जा।

ण सक्का रसमणासातुं जीहाविसयमागतं।
रोग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥१३३॥

जीहातो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रसाइं अस्सादेति त्ति चउत्था भावणा।

[५] अहावरा पंचमा भावणा—फासातो[1] जीवो मणुण्णामणुण्णाइं फासाइं पडिसंवेदेति, मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं णो सज्जेज्जा, णो रज्जेज्जा, णो गिज्झेज्जा, णो मुज्झेज्जा, णो अज्झोववज्जेज्जा, णो विणिघातमावज्जेज्जा। केवली बूया—निग्गंथे ण मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं सज्जमाणे जाव विणिघातमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा संतिकेवलिपण्णत्तातो धम्मातो भंसेज्जा।

ण सक्का ण संवेदेतुं फासं विसयमागतं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥१३४॥

फासातो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं फासाइं पडिसंवेदेति त्ति पंचमा भावणा।

७९१. एताव ताव महव्वते सम्मं काएण फासिते पालिते तीरिते किट्टिते अवट्ठिते आणाए आराधिते यावि भवति।

पंचमं भंते! महव्वयं परिग्गहातो वेरमणं।

७८९. इसके पश्चात् हे भगवन्! मैं पाचवें महाव्रत को स्वीकार करता हूँ। पंचम महाव्रत के सन्दर्भ में मैं सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करता हूँ। आज से मैं थोड़ा या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी प्रकार के परिग्रह को स्वयं ग्रहण नहीं करूंगा, न दूसरों से ग्रहण कराऊंगा, और न परिग्रह ग्रहण करने वालों का अनुमोदन करूंगा। इसके आगे का—'आत्मा से भूतकाल में परिगृहीत परिग्रह का व्युत्सर्ग करता हूँ', तक का सारा वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७९०. उस पंचम महाव्रत की पाच भावनाएँ ये हैं—

(१) उन पांच भावनाओं में से प्रथम भावना यह है—श्रोत्र (कान) से यह जीव मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ शब्दों को सुनता है, परन्तु वह उनमें आसक्त न हो, रागभाव न करे, गृद्ध न हो, मोहित न हो, अत्यन्त आसक्ति न करे, न राग-द्वेष करे। केवली भगवान् कहते हैं—जो साधु मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों मे आसक्त होता है, रागभाव करता है, गृद्ध हो जाता है, मोहित हो जाता है, अत्यधिक आसक्त हो जाता है, राग-द्वेष करता है वह शान्तिरूप चारित्र का नाश करता है, शान्ति को भंग करता है, शान्तिरूप केवलि प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता

---

१. किसी किसी प्रति में 'फासातो जीवो' पाठ नहीं है। कहीं पाठान्तर है—फासाओ जीवो, फ मणुण्णामणुण्णाइ...।

या अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा णेव सयं परिग्गहं गेण्हेज्जा, णेवऽण्णेणं ग्गहं गेण्हावेज्जा, अण्णं पि परिग्गहं गेण्हंतं ण समणुजाणेज्जा जाव वोसिरामि'।

७९०. तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति —

(१) तत्थिमा पढमा भावणा—सोततो णं जीवे मणुण्णामणुण्णाइं[1] सद्दाइं सुणेति, ण्णामणुण्णेहिं सद्देहिं णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा णो गिज्झेज्जा णो मुज्झेज्जा णो अज्झोव-जेज्जा।[2] केवली बूया- निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं सद्देहिं सज्जमाणे रज्जमाणे जाव णिघायमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा,संतिकेवलिपण्णत्तातो धम्मातो भंसेज्जा।

ण सक्का ण सोउं सद्दा[3] सोतविसयमागया।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥ १३० ॥

ततो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं सद्दाइं सुणेति, पढमा भावणा।

(२) अहावरा दोच्चा भावणा—चक्खूतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं पासति, मणु-ामणुण्णेहिं रूवेहिं (णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा जाव णो विणिघातमावज्जेज्जा। केवली ा—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं रूवेहिं) सज्जमाणे रज्जमाणे जाव संघा (विणिघा) ावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा जाव भंसेज्जा[4]।

ण सक्का रूवमदट्ठु[5] चक्खूविसयमागतं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥ १३१ ॥

क्खूतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं पासति त्ति दोच्चा भावणा।

(३) अहावरा तच्चा भावणा—घाणतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं गंधाइं अग्घायति,[6] णुण्णामणुण्णेहिं गंधेहिं सज्जमाणे रज्जमाणे जाव[7] विणिघायमावज्जमाणे संतिभेदा संतिवि-गा जाव भंसेज्जा।

ण सक्का ण गंधमग्घाउं णासाविसयमागयं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥ १३२ ॥

णतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं गंधाइं अग्घायति त्ति तच्चा भावणा।

[४] अहावरा चउत्था भावणा—जिब्भातो[8] जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रसाइं अस्सा-

---

. मणुण्णामणुण्णाइं सद्दाइं के बदले पाठान्तर हैं—'मणुण्णामणुण्णसद्दाइं', मणुण्णाइं २ सद्दाइं', मणुण्णाइमणुण्ण सद्दाइं' मणुण्णाइं सद्दाइं'।"
. अज्झोववज्जेज्जा' के बदले पाठान्तर हैं—अज्झोवज्जेज्जा, अज्झोववेज्जा
. सोतविसय के बदले पाठान्तर है—'सोयविसय'''सोतविसय।"
. 'भंसेज्जा' के बदले 'भासेज्जा' पाठान्तर है
. मदट्ठं' के बदले पाठान्तर है—मद्दट्ठुं।"
. -अग्घायति' के बदले 'अग्घाति' पाठान्तर है।
. जाव विणिग्घाय'' ''''के बदले पाठान्तर है—'जाव णिग्घाय''''।
. 'जिब्भातो' के बदले पाठान्तर है—'जीभातो', 'रसणतो'।

देति, मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा जाव णो विणिग्घातमावज्जेज्जा केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेदा जाव भंसेज्जा।

ण सक्का रसमणासातुं जीहाविसयमागतं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥१३३॥

जीहातो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रसाइं अस्सादेति त्ति चउत्था भावणा।

[५] अहावरा पंचमा भावणा—फासातो[1] जीवो मणुण्णामणुण्णाइं फासाइं पडिसंवेदेति, मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं णो सज्जेज्जा, णो रज्जेज्जा, णो गिज्झेज्जा, णो मुज्झेज्जा, णो अज्झोववज्जेज्जा, णो विणिघातमावज्जेज्जा। केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं सज्जमाणे जाव विणिघातमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा संतिकेवलिपण्णत्तातो धम्मातो भंसेज्जा।

ण सक्का ण संवेदेतुं फासं विसयमागत।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥१३४॥

फासातो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं फासाइं पडिसंवेदेति त्ति पंचमा भावणा।

७६१. एत्ताव ताव महव्वते सम्मं काएण फासिते पालिते तीरिते किट्टिते अवट्ठिते आणाए आराधिते यावि भवति।

पंचमं भंते! महव्व यं परिग्गहातो वेरमणं।

७८६. इसके पश्चात् हे भगवन्! मैं पाचवें महाव्रत को स्वीकार करता हूँ। पंचम महाव्रत के सन्दर्भ में मैं सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करता हूँ। आज से मैं थोड़ा या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी प्रकार के परिग्रह को स्वयं ग्रहण नहीं करूंगा, न दूसरों से ग्रहण कराऊंगा, और न परिग्रह ग्रहण करने वालों का अनुमोदन करूंगा। इसके आगे का—'आत्मा से भूतकाल में परिगृहीत परिग्रह का व्युत्सर्ग करता हूँ', तक का सारा वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७६०. उस पंचम महाव्रत की पांच भावनाएँ ये है—

(१) उन पाच भावनाओं में से प्रथम भावना यह है—श्रोत्र (कान) से यह जीव मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ शब्दों को सुनता है, परन्तु वह उनमे आसक्त न हो, रागभाव न करे, गृद्ध न हो, मोहित न हो, अत्यन्त आसक्ति न करे, न राग-द्वेष करे। केवली भगवान् कहते है—जो साधु मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दो मे आसक्त होता है, रागभाव करता है, गृद्ध हो जाता है, मोहित हो जाता है, अत्यधिक आसक्त हो जाता है, राग-द्वेष करता है वह शान्तिरूप चारित्र का नाश करता है, शान्ति को भंग करता है, शान्तिरूप केवलि प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

---

१. किसी किसी प्रति में 'फासातो जीवो' पाठ नहीं है। वहीं पाठान्तर है—फासाओ जीवो, फासातो मणुण्णामणुण्णाइं···।

बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा णेव सयं परिग्गहं गेण्हेज्जा, णेवऽण्णेणं परिग्गहं गेण्हावेज्जा, अण्णं पि परिग्गहं गेण्हंतं ण समणुजाणेज्जा जाव वोसिरामि'।

७९०. तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति—

(१) तत्थिमा पढमा भावणा -सोततो णं जीवे मणुण्णामणुण्णाइं[1] सद्दाइं सुणेति, मणुण्णामणुण्णेहिं सद्देहिं णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा णो गिज्झेज्जा णो मुज्झेज्जा णो अज्झोववज्जेज्जा।[2] केवली बूया- निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं सद्देहिं सज्जमाणे रज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा, संतिकेवलिपण्णत्तातो धम्मातो भंसेज्जा।

ण सक्का ण सोउं सद्दा[3] सोतविसयमागया।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए॥ १३०॥

सोततो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं सद्दाइं सुणेति, पढमा भावणा।

(२) अहावरा दोच्चा भावणा—चक्खूतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं पासति, मणुण्णामणुण्णेहिं रूवेहिं (णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा जाव णो विणिघातमावज्जेज्जा। केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं रूवेहिं) सज्जमाणे रज्जमाणे जाव संधा (विणिघा) यमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा जाव भंसेज्जा[4]।

ण सक्का रूवमदट्ठुं[5] चक्खूविसयमागतं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए॥ १३१॥

चक्खूतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं पासति त्ति दोच्चा भावणा।

(३) अहावरा तच्चा भावणा—घाणतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं गंधाइं अग्घायति,[6] मणुण्णामणुण्णेहिं गंधेहिं सज्जमाणे रज्जमाणे जाव[7] विणिघायमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा जाव भंसेज्जा।

ण सक्का ण गंधमग्घाउं णासाविसयमागयं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए॥ १३२॥

घाणतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं गंधाइं अग्घायति त्ति तच्चा भावणा।

[४] अहावरा चउत्था भावणा—जिब्भातो[8] जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रसाइं अस्सा-

---

१. मणुण्णामणुण्णाइं सद्दाइं के बदले पाठान्तर हैं—'मणुण्णामणुण्णसद्दाइं', मणुण्णाइं २ सद्दाइं, मणुण्णाइमणुण्ण सद्दाइं' मणुण्णाइं सद्दाइं।''
२. अज्झोववज्जेज्जा' के बदले पाठान्तर है—अज्झोववज्जेज्जा, अज्झोववेज्जा
३. सोतविसय के बदले पाठान्तर हैं—'सोयविसय'''सोत्तविसय।''
४. 'भंसेज्जा' के बदले 'भासेज्जा' पाठान्तर है
५. मदट्ठुं' के बदले पाठान्तर है—मद्दट्ठुं।''
६. -अग्घायति' के बदले 'अग्घाति' पाठान्तर है।
७. जाव विणिघाय····' के बदले पाठान्तर है—'जाव णिग्घाय'····।
८. 'जिब्भातो' के बदले पाठान्तर है—'जीभातो', 'रसणतो'।

देति, मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा जाव णो विणिघातमावज्जेज्जा केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेदा जाव भंसेज्जा।

ण सक्का रसमणासातुं जीहाविसयमागतं।
रोग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥१३३॥

जीहातो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रसाइं अस्सादेति त्ति चउत्था भावणा।

[५] अहावरा पंचमा भावणा—फासातो[1] जीवो मणुण्णामणुण्णाइं फासाइं पडिसंवेदेति, मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं णो सज्जेज्जा, णो रज्जेज्जा, णो गिज्झेज्जा, णो मुज्झेज्जा, णो अज्झोववज्जेज्जा, णो विणिघातमावज्जेज्जा। केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं सज्जमाणे जाव विणिघातमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा संतिकेवलिपण्णत्तातो धम्मातो भंसेज्जा।

ण सक्का ण संवेदेतुं फासं विसयमागतं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥१३४॥

फासातो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं फासाइं पडिसंवेदेति त्ति पंचमा भावणा।

७६१. एत्ताव ताव महव्वते सम्मं काएण फासिते पालिते तीरिते किट्टिते अवट्ठिते आणाए आराधिते यावि भवति।

पंचमं भंते! महव्वयं परिग्गहातो वेरमणं।

७८६. इसके पश्चात् हे भगवन्! मैं पाचवें महाव्रत को स्वीकार करता हूं। पंचम महाव्रत के सन्दर्भ में मैं सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करता हूं। आज से मैं थोड़ा या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी प्रकार के परिग्रह को स्वयं ग्रहण नहीं करूंगा, न दूसरों से ग्रहण कराऊंगा, और न परिग्रह ग्रहण करने वालों का अनुमोदन करूंगा। इसके आगे का—'आत्मा से भूतकाल में परिगृहीत परिग्रह का व्युत्सर्ग करता हूं', तक का सारा वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७९०. उस पंचम महाव्रत की पाच भावनाएं ये हैं—

(१) उन पांच भावनाओं में से प्रथम भावना यह है—श्रोत्र (कान) से यह जीव मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ शब्दों को सुनता है, परन्तु वह उनमें आसक्त न हो, रागभाव न करे, गृद्ध न हो, मोहित न हो, अत्यन्त आसक्ति न करे, न राग-द्वेष करे। केवली भगवान् कहते है—जो साधु मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों में आसक्त होता है, रागभाव करता है, गृद्ध हो जाता है, मोहित हो जाता है, अत्यधिक आसक्त हो जाता है, राग-द्वेष करता है वह शान्तिरूप चारित्र का नाश करता है, शान्ति को भंग करता है, शान्तिरूप केवलि प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

---

१ किसी प्रति में 'फासातो जीवो' पाठ नहीं है। वहीं पाठान्तर है—फासाओ जीवो, फासातो

कर्ण-प्रदेश में आए हुए शब्द श्रवण न करना शक्य नहीं है, किन्तु उनके उनमें जो राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, भिक्षु उसका परित्याग करे ॥१३०॥

अतः श्रोत्र से जीव प्रिय और अप्रिय सभी प्रकार के शब्दों को सुनकर उनमें आरक्त, गृद्ध, मोहित, मूर्च्छित एवं अत्यासक्त न हो और न राग-द्वेष द्वारा अपने अ को नष्ट कर। यह प्रथम भावना है।

(२) इसके अनन्तर द्वितीय भावना इस प्रकार है—चक्षु से जीव मनोज्ञ-अमन प्रकार के रूपों को देखता है, किन्तु साधु मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूपों में न आसक्त हो, न हो, न गृद्ध हो, न मोहित-मूर्च्छित हो, और न अत्यधिक आसक्त हो; न राग-द्वेष क आत्मभाव को नष्ट करे। केवली भगवान् कहते हैं—जो निर्ग्रन्थ मनोज्ञ-अमनोज्ञ देखकर आसक्त, आरक्त, गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित और अत्यासक्त हो जाता है, या करके अपने आत्मभाव को खो बैठता है, वह शान्तिरूप चारित्र को विनष्ट करता है भंग कर देता है, तथा शान्तिरूप-केवली-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

नेत्रों के विषय बने हुए रूप को न देखना तो शक्य नहीं है, वे दिख ही जाते उसके देखने पर जो राग-द्वेष उत्पन्न होता है, भिक्षु उनका परित्याग करे अर्थात् उ द्वेष का भाव उत्पन्न न होने दे ॥१३१॥

अत नेत्रों से जीव मनोज्ञ रूपों को देखता है, किन्तु निर्ग्रन्थ भिक्षु उनमें आरक्त, गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित और अत्यासक्त न हो, न राग-द्वेष में फंसकर अपने का विघात करे। यह दूसरी भावना है।

(३) इसके बाद तीसरी भावना इस प्रकार है—नासिका से जीव प्रिय अ गन्धों को सूंघता है, किन्तु भिक्षु मनोज्ञ या अमनोज्ञ गन्ध पाकर न आसक्त हो न अ गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित या अत्यासक्त हो, वह उन पर राग-द्वेष करके अपने आत विघात न करे। केवली भगवान् कहते हैं—जो निर्ग्रन्थ मनोज्ञ या अमनोज्ञ गंध पाकर आरक्त, गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित या अत्यासक्त हो जाता है, तथा राग-द्वेष से ग्रस्त हो आत्मभाव को खो बैठता है, वह शान्तिरूप चारित्र को नष्ट कर डालता है, शान्ति है, और शान्तिरूप केवली भाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

'ऐसा नहीं हो सकता कि नासिका-प्रदेश के सान्निध्य में आए हुए गन्ध पुद्गल सूंघे न जाएं किन्तु उनको सूंघने पर उनमें जो राग-द्वेष समुत्पन्न होता उनका परित्याग करे ॥ १३२ ॥

अत नासिका से जीव मनोज्ञ-अमनोज्ञ सभी प्रकार के गन्धों को सूंघता है, कि भिक्षु को उन पर आसक्त, आरक्त, गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित या अत्यासक्त नहीं होन न एक पर राग और दूसरे पर द्वेष करके अपने आत्मभाव का विनाश करना चा तीसरी भावना है।

(४) इसके अनन्तर चौथी भावना यह है—जिह्वा से जीव मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसों का आस्वादन करता है, किन्तु भिक्षु को चाहिए कि वह मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसों में न आसक्त हो, न रागभावाविष्ट हो, न गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित या अत्यासक्त हो, और न उन पर राग-द्वेष करके अपने आत्मभाव का घात करे। केवली भगवान् का कथन है, कि जो निर्ग्रन्थ मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसों में आसक्त, आरक्त, गृद्ध, मोहित, मूर्च्छित या अत्यासक्त हो जाता है, या राग-द्वेष करके अपना आपा (आत्मभान) खो बैठता है, वह शान्ति नष्ट कर देता है, शान्ति भंग करता है तथा शान्तिमय केवलि-भाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

ऐसा तो हो नही सकता कि रस जिह्वाप्रदेश में आए और वह उसको चखे नही, किन्तु उन रसो के प्रति जो राग-द्वेष उत्पन्न होता है, भिक्षु उसका परित्याग करे ॥ १३३ ॥

अत जिह्वा से जीव मनोज्ञ-अमनोज्ञ सभी प्रकार के रसों का आस्वादन करता है, किन्तु भिक्षु को उनमे आसक्त, आरक्त, गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित या अत्यासक्त नहीं होना चाहिए, न उनके प्रति राग-द्वेष करके अपने आत्मभाव का विघात करना चाहिए। यह चौथी भावना है।

(५) इसके पश्चात् पंचम भावना यों है—स्पर्शनेन्द्रिय से जीव मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्शों का संवेदन (अनुभव) करता है, किन्तु भिक्षु उन मनोज्ञामनोज्ञ स्पर्शों में न आसक्त हो, न आरक्त, हो, न गृद्ध हो, न मोहित-मूर्च्छित और अत्यासक्त हो, और नही इष्टानिष्टस्पर्शों में राग-द्वेष करके अपने आत्मभाव का नाश करे। केवली भगवान् कहते है—जो निर्ग्रन्थ मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्शों को पाकर आसक्त, आरक्त, गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित या अत्यासक्त हो जाता है, या राग-द्वेषग्रस्त होकर आत्मभाव का विघात कर बैठता है, वह शान्ति को नष्ट कर डालता है, शान्तिभंग करता है, तथा स्वयं केवलीप्ररूपित शान्तिमय धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

स्पर्शेन्द्रिय-विषय प्रदेश में आए हुए स्पर्शों का संवेदन न करना किसी तरह संभव नहीं है, अतः भिक्षु उन मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्शों को पाकर उनमें उत्पन्न होने वाले राग या द्वेष का त्याग करे, यही अभीष्ट है ॥ १३४ ॥

अत. स्पर्शेन्द्रिय से जीव प्रिय-अप्रिय अनेक प्रकार के स्पर्शों का संवेदन करता है, किन्तु भिक्षु को उन पर आसक्त, आरक्त, गृद्ध मोहित-मूर्च्छित या अत्यासक्त नहीं होना चाहिए, और न ही इष्टानिष्ट स्पर्शों के प्रति राग-द्वेष करके अपने आत्मभाव का विघात करना चाहिए। यह है पाचवीं भावना।

७९१. इस प्रकार पंच भावनाओं से विशिष्ट तथा साधक द्वारा स्वीकृत परिग्रह-विरमण रूप पंचम महाव्रत का काया से सम्यक् स्पर्श करने, उसका पालन करने, स्वीकृत महाव्रत को पार लगाने, उसका कीर्तन करने तथा अन्त तक उसमें अवस्थित रहने पर [illegible] के अनुरूप आराधक हो जाता है।

भगवन् ! यह है—परिग्रह-विरमणरूप पंचम [illegible]

विवेचन—पंचम महाव्रत की प्रतिज्ञा और [illegible] पूर्ववत्

तीन बातों का मुख्यतया उल्लेख है—(१) पंचम महाव्रत की प्रतिज्ञा का रूप, (२) पंचम महाव्रत की पांच भावनाएँ, (३) पंचम महाव्रत के सम्यक् आराधन का उपाय।

इन तीनों पहलुओ पर विवेचन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

अन्य शास्त्रों में भी पंच भावनाओं का उल्लेख – समवायांग सूत्र में पंचम महाव्रत की पांच भावनाओं का क्रम इस प्रकार है– (१) श्रोत्रेन्द्रिय-रागोपरति, (२) चक्षुरिन्द्रिय—रागोपरति, (३) घ्राणेन्द्रिय-रागोपरति, (४) जिह्वेन्द्रिय-रागोपरति और (५) स्पर्शेन्द्रिय-रागोपरति।[1]

आचारांगचूर्णिसम्मत पाठ के अनुसार ५ भावनाएं इस प्रकार हैं—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय से मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द सुनकर मनोज्ञ पर आसक्ति आदि न करे, न उन पर राग-द्वेष करके आत्मभाव का विघात करे, अमनोज्ञ शब्द सुनकर न तिरस्कार करे, न निन्दा करे, न उस पर क्रोध करे, न गर्हा करे, न ताड़न-तर्जन करे, न उसका परिभव करे, न उसका वध करे।

(२) चक्षुरिन्द्रिय से मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप देखकर न तो मनोज्ञ पर आसक्ति, रागादि करे, और न अमनोज्ञ पर द्वेष, घृणा आदि करे।

(३) घ्राणेन्द्रिय से मनोज्ञ-अमनोज्ञ गंध पा कर उनके प्रति भी पूर्ववत् आसक्ति, राग आदि या द्वेष, घृणा आदि न करे।

(४) जिह्वेन्द्रिय से प्रिय-अप्रिय रस पाकर उनके प्रति भी पूर्ववत् आसक्ति, राग आदि या द्वेष, घृणा आदि न करे।

(५) स्पर्शेन्द्रिय से मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्श के प्रति राग-द्वेष आदि न करे।[2]

आवश्यक चूर्णि में इस प्रकार पांच भावनाएँ प्रतिपादित है—"पंडित मुनि मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाकर एक के प्रति राग-गृद्धि आदि तथा दूसरे के प्रति प्रद्वेष-घृणा आदि न करे।[3]

तत्त्वार्थसूत्र में भी इन पंच भावनाओ का उल्लेख है—मनोज्ञ और अमनोज्ञ पांच इन्द्रिय-विषयों में क्रमश राग और द्वेष का त्याग करना ये अपरिग्रहमहाव्रत की पांच भावनाएँ हैं।[4]

---

१. समवायांगसूत्र में—"सोइंदियरागोवरई, चक्खिदियरागोवरई, घाणिंदियरागोवरई, जिब्भिंदियरागोवरई, फासिंदियरागोवरई।" —समवाय २५

२. "'सोइंदिएण मणुण्णाऽमणुण्णाइं सद्दाइं सुणेंता भवति, से निग्गंथे तेसु मणुण्णाऽमणुण्णेसु सद्देसु णो सज्जेज्ज वा रज्जेज्ज वा गिज्झेज्ज वा मुज्छेज्ज वा अज्झोववज्जेज्ज वा विणिघातमावज्जेज्ज वा, अट्टहीलेज्ज वा निंदेज्ज वा खिंसेज्ज वा गरहेज्ज वा तज्जेज्ज वा तालेज्ज वा परिभवेज्ज वा, पव्वहेज्ज वा।'''चक्खिदिएण मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं'''जधा सद्दाइं एमेव।'' एवं घाणिंदिएण अग्घाइत्ता'''जिब्भिंदिएण आसाएत्ता''''फासिंदिएण पडिसंवेदेत्ता।

—आचारांग चूर्णिसम्मत विशेष पाठ टि० पृ० २८१

उपसंहार

७९२ इच्चेतेहिं महव्वतेहिं पणवीसाहि य भावणाहिं संपन्ने अणगारे अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं सम्मं काएण फासित्ता पालित्ता तीरित्ता किट्टित्ता आणाए आराहिता यावि भवति।

७९२. इन (पूर्वोक्त) पांच महाव्रतों और उनकी पच्चीस भावनाओं से सम्पन्न अनगार यथाश्रुत, यथाकल्प, और यथामार्ग इनका काया से सम्यक् प्रकार से स्पर्श कर, पालन कर, इन्हें पार लगाकर, इनके महत्त्व का कीर्तन करके भगवान् की आज्ञा के अनुसार इनका आराधक बन जाता है। —ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—पंचमहाव्रतों का सम्यक् आराधक अनगार : कब और कैसे ? प्रस्तुत सूत्र में साधक भगवान् की आज्ञा के अनुसार पंच महाव्रतों का आराधक कब और कैसे बन सकता है ? इसका संक्षेप में संकेत दिया है। आराधक बनने का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—(१) पच्चीस भावनाओं से युक्त पंच महाव्रत हों, (२) शास्त्रानुसार चले, (३) कल्प (आचार-मर्यादा) के अनुसार चले, (४) मोक्ष-मार्गानुसार चले, (५) काया से सम्यक् स्पर्श (आचरण) करे, (६) किसी भी मूल्य पर महाव्रतों का पालन-रक्षण करे, (७) स्वीकृत व्रत को पार लगाए (८) इनके महत्त्व का श्रद्धा पूर्वक कीर्तन करे।

निष्कर्ष:—प्रस्तुत पन्द्रहवें अध्ययन में सर्वप्रथम प्रभु महावीर की पावन जीवन गाथाएं संक्षेप में दी गई है। पश्चात् प्रभु महावीर द्वारा उपदिष्ट श्रमण-धर्म का स्वरूप बताने वाले पांच महाव्रत तथा उनकी पचीस भावनाओं का वर्णन है।

पांच महाव्रतों का वर्णन इसी क्रम से दशवैकालिक अध्ययन ४ में, तथा प्रश्नव्याकरण संवर द्वार में भी है। पचीस भावनाओं के क्रम तथा वर्णन में अन्य सूत्रों से इसमें कुछ अन्तर है। यह टिप्पणी में यथास्थान सूचित कर दिया गया है। वृत्तिकार शीलांकाचार्य ने भावनाओं का जो क्रम निर्दिष्ट किया है, वह वर्तमान में हस्तलिखित प्रतियों में उपलब्ध है, किंतु लगता है आचारांग चूर्णिकार के समक्ष कुछ प्राचीन पाठ-परम्परा रही है, और वह कुछ विस्तृत भी है। चूर्णिकार सम्मत पाठ वर्तमान में आचारांग की प्रतियों में नहीं मिलता, किंतु आवश्यक चूर्णि में उसके समान बहुलांश पाठ मिलता है, जो टिप्पण में यथास्थान दिये हैं।

सार यही है कि श्रमण पांच महाव्रतों का सम्यक्, निर्दोष और उत्कृष्ट भावनाओं के साथ पालन करें। इसी में उसके श्रमण-धर्म की कृतकृत्यता है।

॥ पंचदशमध्ययनं समाप्तम् ॥

॥ तृतीय चूला संपूर्ण ॥

---

३. जे सद्द-रूव रस-गंध-मागते, फासे य संपप्प मणुण्णपावए।
गेधिं पदोसं न करेति पंडिते, से होति दंते विरते अकिंचणे ॥ ५ ॥ —आव० चू० प्रति० पृ० १४७

४. "मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच।" —तत्त्वार्थ०

से युक्त होकर कामगुण प्रत्ययिक कर्म से पूर्ण नही होता, अथवा उसमें मूर्च्छित नही होता। अथवा 'विज्जते' पाठान्तर मानने से अर्थ होता है—काम-गुणों में विद्यमान नही रहता। जो जहाँ प्रवृत्त होता है, वह वहीं विद्यमान कहलाता है।

'विसुज्झती समीरियं रुप्पमलं व जोतिणा'—सम्यक् प्रेरित चांदी का मैल—किट्ट-अग्नि में तपाने से साफ हो जाता है। वैसे ही ऐसे भिक्षु द्वारा असंयमवश पुराकृत कर्ममल भी तपस्या की अग्नि से विशुद्ध (साफ) हो जाता है।[1]

भुजंग-दृष्टान्त द्वारा बंधन मुक्ति की प्रेरणा

८०१. से हु परिण्णासमयम्मि वट्टती, णिरासंसे उवरय मेहुणे चरे।
भुजंगमे जुण्णतयं जहा चए, विमुच्चती से दुहसेज्ज माहणे ॥१४३॥

८०१. जैसे सर्प अपनी जीर्ण त्वचा—कांचली को त्याग कर उससे मुक्त हो जाता है, वैसे ही जो मूलोत्तरगुणधारी माहन-भिक्षु परिज्ञा—परिज्ञान के समय—सिद्धान्त में प्रवृत्त रहता है, इहलोक-परलोक सम्बन्धी—आशंसा से रहित है, मैथुनसेवन से उपरत (विरत) है, तथा संयम में विचरण करता है, वह नरकादि दुःखशय्या या कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सर्प का दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि सर्प जैसे अपनी पुरानी कैंचुली छोडकर उससे मुक्त हो जाता है, वैसे ही जो मुनि ज्ञान-सिद्धान्त-परायण, निरपेक्ष, मैथुनोपरत एवं संयमाचारी है, वह पापकर्म या पापकर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली नरकादि रूप—दुःखशय्या से मुक्त हो जाता है।[2]

'परिण्णा समयम्मि' आदि पदों के अर्थ—परिण्णा समयंमि—परिज्ञा में=परिज्ञान में या ज्ञान-समय में या ज्ञानोपदेश में। 'निरासंसे'- आशा/प्रार्थना से रहित, इहलौकिकी या पारलौकिकी, प्रार्थना-अभिलाषा जो नहीं करता। 'उवरय मेहुणे'=मैथुन से सर्वथा विरत। चतुर्थ महाव्रती के अतिरिक्त उपलक्षण से यहाँ शेष महाव्रतधारी का ग्रहण होता है। [इस प्रकार विचरण करता हुआ सर्वकर्मों से विमुक्त हो जाता है।] दुहसेज्ज विमुच्चती=दुःखशय्या से—दुःख मय नरकादि भवों से विमुक्त हो जाता है।[3] अथवा दुःख-क्लेशमय संसार से मुक्त हो जाता है।

महासमुद्र का दृष्टान्त: कर्म अन्त करने की प्रेरणा

८०२. जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, महासमुद्दं व भुयाहि दुत्तरं।
अहे व णं परिजाणाहि पंडिए, से हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चती ॥१४४॥

---

१ (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २६५, २६६।
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३०। (ग) अन्तिम दो पद की तुलना करें—दशवै० ८।६२
२. आचारांग वृत्ति, पत्रांक ४३० के आधार पर।
३. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २६७। (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३०।
(ग) चार दुःख शय्याओं का वर्णन देखें—ठाणं स्था० ४ सू० ६५०

८०३ जहा य बद्धं इह माणवेहिं[1] या, जहा य तेसिं तु विमोक्ख आहिते ।
अहा तहा बंधविमोक्ख जे विदू, से हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चई ॥१४५॥
८०४. इमम्मि लोए परए य दोसु वी, ण विज्जती बंधणं जस्स[2] किंचि वि ।
से हू णिरालंबणमप्पतिट्ठितो, कलंकलीभावपवंच विमुच्चति ॥१४६ ॥
॥ ति बेमि ॥

८०२. तीर्थंकर, गणधर आदि ने कहा है—अपार सलिल-प्रवाह वाले समुद्र को भुजाओं से पार करना दुस्तर है, वैसे ही संसाररूपी महासमुद्र को भी पार करना दुस्तर है। अतः इस संसार समुद्र के स्वरूप को (ज्ञ-परिज्ञा से) जानकर (प्रत्याख्यान-परिज्ञा से) उसका परित्याग कर दे। इसप्रकार का त्याग करनेवाला पण्डित मुनि कर्मों का अन्त करने वाला कहलाता है।

८०३. मनुष्यों ने इस संसार में मिथ्यात्व आदि के द्वारा जिसरूप में—प्रकृति-स्थिति आदि रूप में कर्म बांधे है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन—आदि द्वारा उन कर्मों का विमोक्ष होता है, यह भी बताया गया है। इस प्रकार जो विज्ञाता मुनि बन्ध और विमोक्ष का स्वरूप यथा-तथ्य रूप से जानता है, वह मुनि अवश्य ही संसार का या कर्मों का अन्त करने वाला कहा गया है।

८०४. इस लोक, परलोक या दोनों लोकों में जिसका किंचित्‌मात्र भी रागादि बन्धन नहीं है, तथा जो साधक निरालम्ब—इहलौकिक-पारलौकिक स्पृहाओं से रहित है, एवं जो कहीं भी प्रतिबद्ध नहीं है, वह साधु निश्चय ही संसार में गर्भादि के पर्यटन के प्रपंच से विमुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत तीनों सूत्रों द्वारा संसार को महासमुद्र की उपमा देकर कर्मास्रवरूप विशाल जलप्रवाह को रोक कर संसार का अन्त करने या कर्मों से विमुक्त होने का उपाय बताया गया है। वह क्रमशः इस प्रकार है—(१) संसार-समुद्र को ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से त्याग करे, (२) कर्मबन्ध कैसे हुआ है, इससे विमोक्ष कैसे हो सकता है, इस प्रकार बन्ध और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप जाने, (३) इहलौकिक-पारलौकिक रागादि बन्धन एवं स्पृहा से रहित, प्रतिबद्धता रहित हो।[3]

संसार महासमुद्र—सूत्रकृतांग प्र० श्रु० में भी 'जमाहु ओहं सलिलं अपारगं' पाठ है। इससे मालूम होता है—संसार को महासमुद्र की उपमा बहुत यथार्थ है। चूर्णिकार ने सू० ८०२ की

---

१. माणवेहि या के बदले पाठान्तर है-माणवेहि य, माणवेहि जहा
२. जस्स के बदले पाठान्तर है-जस्स—उसका।
३ आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३१ के आधार पर।

से युक्त होकर कामगुण प्रत्ययिक कर्म से पूर्ण नहीं होता, अथवा उसमें मूर्च्छित नहीं होता। अथवा 'विज्जते' पाठान्तर मानने से अर्थ होता है—काम-गुणों में विद्यमान नहीं रहता। जो जहाँ प्रवृत्त होता है, वह वहीं विद्यमान कहलाता है।

'विमुज्झती समीरियं रुप्पमलं व जोतिणा'—सम्यक् प्रेरित चांदी का मैल—किट्ट-अग्नि में तपाने से साफ हो जाता है। वैसे ही ऐसे भिक्षु द्वारा असंयमवश पुराकृत कर्ममल भी तपस्या की अग्नि से विशुद्ध (साफ) हो जाता है।[1]

भुजंग-दृष्टान्त द्वारा बंधन मुक्ति की प्रेरणा

८०१. से हु परिण्णासमयम्मि वट्टती, णिरासंसे उवरय मेहुणे चरे।
भुजंगमे जुण्णतयं जहा चए, विमुच्चती से दुहसेज्ज माहणे ॥१४३॥

८०१. जैसे सर्प अपनी जीर्ण त्वचा—कांचली को त्याग कर उससे मुक्त हो जाता है, वैसे ही जो मूलोत्तरगुणधारी माहन-भिक्षु परिज्ञा—परिज्ञान के समय—सिद्धान्त में प्रवृत्त रहता है, इहलोक-परलोक सम्बन्धी—आशंसा से रहित है, मैथुनसेवन से उपरत (विरत) है, तथा संयम में विचरण करता है, वह नरकादि दु:खशय्या या कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सर्प का दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि सर्प जैसे अपनी पुरानी कैंचुली छोड़कर उससे मुक्त हो जाता है, वैसे ही जो मुनि ज्ञान-सिद्धान्त-परायण, निरपेक्ष, मैथुनोपरत एवं संयमाचारी है, वह पापकर्म या पापकर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली नरकादि रूप—दु:खशय्या से मुक्त हो जाता है।[2]

'परिण्णा समयम्मि' आदि पदों के अर्थ—परिण्णा समयम्मि—परिज्ञा में=परिज्ञान में या ज्ञान-समय में या ज्ञानोपदेश में। 'णिरासंसे' आशा/प्रार्थना से रहित, इहलौकिकी या पारलौकिकी, प्रार्थना-अभिलाषा जो नहीं करता। 'उवरय मेहुणे'=मैथुन से सर्वथा विरत। चतुर्थ महाव्रत के अतिरिक्त उपलक्षण से यहाँ शेष महाव्रतधारी का ग्रहण होता है। [इस प्रकार विचरण करता हुआ सर्वकर्मों से विमुक्त हो जाता है।] दुहसेज्ज विमुच्चती=दु:खशय्या से—दु:ख मय नरकादि भवों से विमुक्त हो जाता है।[3] अथवा दु:ख-क्लेशमय संसार से मुक्त हो जाता है।

समुद्र का दृष्टान्त: कर्म अन्त करने की प्रेरणा

८०२ जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, महासमुद्दं व भुयाहि दुत्तरं।
अहे य णं परिजाणाहि पंडिए, से हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चती ॥१४४॥

---

1 (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २२४, २२६।
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३०। (ग) अंतिम दो पद की तुलना करें—दशवै० ८।६२
2 आचारांग वृत्ति, पत्रांक ४३० के अनुसार।
3 (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २९३। (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३०।
(ग) [illegible] — [illegible]

८०३. जहा य बद्धं इह माणवेहिं[1] या, जहा य तेसिं तु विमोक्ख आहिले ।
अहा तहा बंधविमोक्ख जे विदू, से हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चई ॥१४५॥

८०४. इमम्मि लोए परए य दोसु वी, ण विज्जती बंधणं जस्स[2] किंचि वि ।
से हू णिरालंबणमप्पतिट्ठितो, कलंकलीभावपवंच विमुच्चति ॥१४६ ॥
॥ त्ति बेमि ॥

८०२. तीर्थंकर, गणधर आदि ने कहा है—अपार सलिल-प्रवाह वाले समुद्र को भुजाओं से पार करना दुस्तर है वैसे ही संसाररूपी महासमुद्र को भी पार करना दुस्तर है। अतः इस संसार समुद्र के स्वरूप को (ज्ञ-परिज्ञा से) जानकर (प्रत्याख्यान-परिज्ञा से) उसका परित्याग कर दे। इसप्रकार का त्याग करनेवाला पण्डित मुनि कर्मों का अन्त करने वाला कहलाता है।

८०३. मनुष्यों ने इस संसार में मिथ्यात्व आदि के द्वारा जिसरूप से—प्रकृति-स्थिति आदि रूप से कर्म बांधे है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन—आदि द्वारा उन कर्मों का विमोक्ष होता है, यह भी बताया गया है। इस प्रकार जो विज्ञाता मुनि बन्ध और विमोक्ष का स्वरूप यथा-तथ्य रूप से जानता है, वह मुनि अवश्य ही संसार का या कर्मों का अन्त करने वाला कहा गया है।

८०४. इस लोक, परलोक या दोनों लोकों में जिसका किंचित्मात्र भी रागादि बन्धन नहीं है, तथा जो साधक निरालम्ब—इहलौकिक-पारलौकिक स्पृहाओं से रहित है, एवं जो कहीं भी प्रतिबद्ध नहीं है, वह साधु निश्चय ही संसार में गर्भादि के पर्यटन के प्रपंच से विमुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत तीनों सूत्रों द्वारा संसार को महासमुद्र की उपमा देकर कर्मास्रवरूप विशाल जलप्रवाह को रोक कर संसार का अन्त करने या कर्मों से विमुक्त होने का उपाय बताया गया है। वह क्रमशः इस प्रकार है—(१) संसार-समुद्र को ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से त्याग करे, (२) कर्मबन्ध कैसे हुआ है, इससे विमोक्ष कैसे हो सकता है, इस प्रकार बन्ध और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप जाने, (३) इहलौकिक-पारलौकिक रागादि बन्धन एवं स्पृहा से रहित, प्रतिबद्धता रहित हो।[3]

संसार महासमुद्र—सूत्रकृतांग प्र० श्रु० में भी 'जमाहु ओहं सलिलं अपारगं' पाठ है। इससे मालूम होता है—संसार को महासमुद्र की उपमा बहुत यथार्थ है। चूर्णिकार ने सू० ८०२ की

---

१ माणवेहिं या के बदले पाठान्तर है-माणवेहिं य, माणवेहि जहा
२. जस्स के बदले पाठान्तर है-तस्स—उसका।
३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३१ के आधार पर।

से युक्त होकर कामगुण प्रसाधित कर्म से पूर्ण नहीं होता, अथवा उसमें मूर्च्छित नहीं होता। अथवा 'विज्जते' पाठान्तर मानने से अर्थ होता है — कामगुणों में विद्यमान नहीं रहता। जो जहाँ प्रवृत्त होता है, वह वहाँ विद्यमान कहलाता है।

'विमुच्चती समीरियं रुप्पमलं व जोतिणा' — जैसे चांदी का मैल—किट्ट-अग्नि में तपाने से साफ हो जाता है। वैसे ही ऐसे भिक्षु द्वारा असंयमजन्य पुराकृत कर्ममल भी तपस्या की अग्नि से विशुद्ध (साफ) हो जाता है।[1]

भुजंग-दृष्टान्त द्वारा बंधन मुक्ति की प्रेरणा

८०१ से हु परिण्णासमयम्मि वट्टती, णिरासंसे उवरय मेहुणे चरे।
भुजंगमे जुण्णतयं जहा चए, विमुच्चती से दुहसेज्ज माहणे ॥१४३॥

८०१. जैसे सर्प अपनी जीर्ण त्वचा—कांचली को त्याग कर उससे मुक्त हो जाता है, वैसे ही जो मूलोत्तरगुणधारी माहन-भिक्षु परिज्ञा—परिज्ञान के समय—सिद्धान्त में प्रवृत्त रहता है, इहलोक-परलोक सम्बन्धी—आशंसा से रहित है, मैथुनसेवन से उपरत (विरत) है, तथा संयम में विचरण करता है, वह नरकादि दुःखशय्या या कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सर्प का दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि सर्प जैसे अपनी पुरानी केंचुली छोडकर उससे मुक्त हो जाता है, वैसे ही जो मुनि ज्ञान-सिद्धान्त-परायण, निरपेक्ष, मैथुनोपरत एवं संयमाचारी है, वह पापकर्म या पापकर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली नरकादि रूप—दुःखशय्या से मुक्त हो जाता है।[2]

'परिण्णा समयम्मि' आदि पदों के अर्थ—परिण्णा समयंमि—परिज्ञा में—परिज्ञान में या ज्ञान-समय में या ज्ञानोपदेश में। 'णिरासंसे'- आशा/प्रार्थना से रहित, इहलौकिकी या पारलौकिकी, प्रार्थना-अभिलाषा जो नहीं करता। 'उवरय मेहुणे'=मैथुन से सर्वथा विरत। चतुर्थ महाव्रती के अतिरिक्त उपलक्षण से यहाँ शेष महाव्रतधारी का ग्रहण होता है। [इस प्रकार विचरण करता हुआ सर्वकर्मों से विमुक्त हो जाता है।] दुहसेज्ज विमुच्चती=दुःखशय्या से—दुःखमय नरकादि भवों से विमुक्त हो जाता है।[3] अथवा दुःख-क्लेशमय संसार से मुक्त हो जाता है।

महासमुद्र का दृष्टान्तः कर्म अन्त करने की प्रेरणा

८०२ जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, महासमुद्दं व भुयाहि दुत्तरं।
अहे य णं परिजाणाहि पंडिए, से हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चती ॥१४४॥

---

१ (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २९५, २९६।
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३०। (ग) अन्तिम दो पद की तुलना करें—दशवै० ८।६२
२. आचारांग वृत्ति, पत्रांक ४३० के आधार पर।
३. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २९७। (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३०।
(ग) चार दुःख शय्याओं का वर्णन देखें —ठाणं स्था० ४ सू० ६५०

८०३. जहा य बद्धं इह माणवेहि[1] या, जहा य तेसिं तु विमोक्ख आहिते ।
अहा तहा बंधविमोक्ख जे विदू, से हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चई ॥१४५॥

८०४. इमम्मि लोए परए य दोसु वी, ण विज्जती बंधणं जस्स[2] किंचि वि ।
से हू णिरालंबणमप्पतिट्ठितो, कलंकलीभावपवंच विमुच्चति ॥१४६ ॥

॥ त्ति बेमि ॥

८०२. तीर्थंकर, गणधर आदि ने कहा है—अपार सलिल-प्रवाह वाले समुद्र को भुजाओं से पार करना दुस्तर है, वैसे ही संसाररूपी महासमुद्र को भी पार करना दुस्तर है। अत: इस संसार समुद्र के स्वरूप को (ज्ञ-परिज्ञा से) जानकर (प्रत्याख्यान-परिज्ञा से) उसका परित्याग कर दे। इसप्रकार का त्याग करनेवाला पण्डित मुनि कर्मों का अन्त करने वाला कहलाता है।

८०३. मनुष्यों ने इस संसार में मिथ्यात्व आदि के द्वारा जिसरूप से—प्रकृति-स्थिति आदि रूप से कर्म बांधे है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन—आदि द्वारा उन कर्मों का विमोक्ष होता है, यह भी बताया गया है। इस प्रकार जो विज्ञाता मुनि बन्ध और विमोक्ष का स्वरूप यथा-तथ्य रूप से जानता है, वह मुनि अवश्य ही संसार का या कर्मों का अन्त करने वाला कहा गया है।

८०४. इस लोक, परलोक या दोनों लोकों में जिसका किंचित्मात्र भी रागादि बन्धन नहीं है, तथा जो साधक निरालम्ब—इहलौकिक-पारलौकिक स्पृहाओं से रहित है, एवं जो कहीं भी प्रतिबद्ध नहीं है, वह साधु निश्चय ही संसार में गर्भादि के पर्यटन के प्रपंच से विमुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—प्रस्तुत तीनों सूत्रों द्वारा संसार को महासमुद्र की उपमा देकर कर्मास्रवरूप विशाल जलप्रवाह को रोक कर संसार का अन्त करने या कर्मों से विमुक्त होने का उपाय बताया गया है। वह क्रमश: इस प्रकार है—(१) संसार-समुद्र को ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से त्याग करे, (२) कर्मबन्ध कैसे हुआ है, इससे विमोक्ष कैसे हो सकता है, इस प्रकार बन्ध और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप जाने, (३) इहलौकिक-पारलौकिक रागादि बन्धन एवं स्पृहा से रहित, प्रतिबद्धता रहित हो।[3]

संसार महासमुद्र—सूत्रकृतांग प्र० श्रु० में भी 'जमाहु ओहं सलिलं अपारगं' पाठ है। इससे मालूम होता है—संसार को महासमुद्र की उपमा बहुत यथार्थ है। चूर्णिकार ने सू० ८०२ की

१. माणवेहिं या के बदले पाठान्तर है-माणवेहिं य, माणवेहि जहा
२. जस्स के बदले पाठान्तर है-तस्स—उसका।
३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३१ के आधार पर।

से युक्त होकर कामगुण प्रत्ययिक कर्म से पूर्ण नहीं होता, अथवा उसमें मूर्च्छित नहीं होता। अथवा 'विज्जते' पाठान्तर मानने से अर्थ होता है—काम-गुणों में विद्यमान नहीं रहता। जो जहाँ प्रवृत्त होता है, वह वहीं विद्यमान कहलाता है।

'विसुज्झती समीरियं रुप्पमलं व जोतिणा'—सम्यक् प्रेरित चांदी का मैल—किट्ट-अग्नि में तपाने से साफ हो जाता है। वैसे ही ऐसे भिक्षु द्वारा असंयमवश पुराकृत कर्ममल भी तपस्या की अग्नि से विशुद्ध (साफ) हो जाता है।[1]

भुजंग-दृष्टान्त द्वारा बंधन मुक्ति की प्रेरणा

८०१. से हु परिण्णासमयम्मि वट्टती, णिरासंसे उवरय मेहुणे चरे।
भुजंगमे जुण्णतयं जहा चए, विमुच्चती से दुहसेज्ज माहणे ॥१४३॥

८०१. जैसे सर्प अपनी जीर्ण त्वचा—कांचली को त्याग कर उससे मुक्त हो जाता है, वैसे ही जो मूलोत्तरगुणधारी माहन-भिक्षु परिज्ञा—परिज्ञान के समय—सिद्धान्त में प्रवृत्त रहता है, इहलोक-परलोक सम्बन्धी—आशंसा से रहित है, मैथुनसेवन से उपरत (विरत) है, तथा संयम में विचरण करता है, वह नरकादि दु:खशय्या या कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सर्प का दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि सर्प जैसे अपनी पुरानी कंचुली छोड़कर उससे मुक्त हो जाता है, वैसे ही जो मुनि ज्ञान-सिद्धान्त-परायण, निरपेक्ष, मैथुनोपरत एवं संयमाचारी है, वह पापकर्म या पापकर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली नरकादि रूप—दु:खशय्या से मुक्त हो जाता है।[2]

'परिण्णा समयम्मि' आदि पदों के अर्थ—परिण्णा समयम्मि—परिज्ञा में=परिज्ञान में या ज्ञान-समय में या ज्ञानोपदेश में। 'निरासंसे'- आशा/प्रार्थना से रहित, इहलौकिकी या पारलौकिकी, प्रार्थना-अभिलाषा जो नहीं करता। 'उवरय मेहुणे'=मैथुन से सर्वथा विरत। चतुर्थ महाव्रती के अतिरिक्त उपलक्षण से यहाँ शेष महाव्रतधारी का ग्रहण होता है। [इस प्रकार विचरण करता हुआ सर्वकर्मों से विमुक्त हो जाता है।] दुहसेज्ज विमुच्चती=दु:खशय्या से—दुःख मय नरकादि भवों से विमुक्त हो जाता है।[3] अथवा दु:ख-क्लेशमय संसार से मुक्त हो जाता है।

महासमुद्र का दृष्टान्त: कर्म अन्त करने की प्रेरणा

८०२ जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, महासमुद्दं व भुयाहि दुत्तरं।
अहे य णं परिजाणाहि पंडिए, से हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चती ॥१४४॥

---

१ (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २६५, २६६।
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३०। (ग) अन्तिम दो पद की तुलना करें—दशवै० ८।६२
२ आचारांग वृत्ति, पत्रांक ४३० के आधार पर।
३ (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २६३। (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३०।
(ग) चार दु:ख शय्याओं का वर्णन देखें—ठाणं स्था० ४ सू० ६५०

८०३. जहा य बद्धं इह माणवेहिं[1] या, जहा य तेसिं तु विमोक्ख आहिते ।
अहा तहा बंधविमोक्ख जे विदू, से हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चई ॥१४५॥

८०४. इमम्मि लोए परए य दोसु वी, ण विज्जती बंधणं जस्स[2] किंचि वि ।
से हू णिरालंबणमप्पतिट्ठितो, कलंकलीभावपवंच विमुच्चति ॥१४६ ॥

॥ त्ति बेमि ॥

८०२. तीर्थंकर, गणधर आदि ने कहा है—अपार सलिल-प्रवाह वाले समुद्र को भुजाओं से पार करना दुस्तर है, वैसे ही संसाररूपी महासमुद्र को भी पार करना दुस्तर है। अतः इस संसार समुद्र के स्वरूप को (ज्ञ-परिज्ञा से) जानकर (प्रत्याख्यान-परिज्ञा से) उसका परित्याग कर दे। इसप्रकार का त्याग करनेवाला पण्डित मुनि कर्मों का अन्त करने वाला कहलाता है।

८०३. मनुष्यों ने इस संसार में मिथ्यात्व आदि के द्वारा जिसरूप से—प्रकृति-स्थिति आदि रूप से कर्म बांधे है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन—आदि द्वारा उन कर्मों का विमोक्ष होता है, यह भी बताया गया है। इस प्रकार जो विज्ञाता मुनि बन्ध और विमोक्ष का स्वरूप यथा-तथ्य रूप से जानता है, वह मुनि अवश्य ही संसार का या कर्मों का अन्त करने वाला कहा गया है।

८०४. इस लोक, परलोक या दोनों लोकों में जिसका किंचित्मात्र भी रागादि बन्धन नहीं है, तथा जो साधक निरालम्ब—इहलौकिक-पारलौकिक स्पृहाओं से रहित है, एवं जो कहीं भी प्रतिबद्ध नहीं है, वह साधु निश्चय ही संसार में गर्भादि के पर्यटन के प्रपंच से विमुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—प्रस्तुत तीनों सूत्रों द्वारा संसार को महासमुद्र की उपमा देकर कर्मास्रवरूप विशाल जलप्रवाह को रोक कर संसार का अन्त करने या कर्मों से विमुक्त होने का उपाय बताया गया है। वह क्रमशः इस प्रकार है—(१) संसार-समुद्र को ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से त्याग करे, (२) कर्मबन्ध कैसे हुआ है, इससे विमोक्ष कैसे हो सकता है, इस प्रकार बन्ध और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप जाने, (३) इहलौकिक-पारलौकिक रागादि बन्धन एवं स्पृहा से रहित, प्रतिबद्धता रहित हो।[3]

संसार महासमुद्र—सूत्रकृतांग प्र० श्रु० में भी 'जमाहु ओहं सलिलं अपारगं' पाठ है। इससे मालूम होता है—संसार को महासमुद्र की उपमा बहुत यथार्थ है। चूर्णिकार ने सू० ८०२ की

---

१ माणवेहिं या के बदले पाठान्तर है—माणवेहि य, माणवेहिं जहा
२. जस्स के बदले पाठान्तर है—तस्स—उसका।
३ पत्रांक ४३१ के आधार पर।

पंक्ति का एक अर्थ और सूचित किया है—भुजाओं से महासमुद्र की तरह संसार समुद्र पार करना दुस्तर है। अथवा जो संसार को दो प्रकार की परिज्ञा से भलीभांति जानता है एवं त्यागता है, अर्थात् जिस उपाय से संसार पार किया जा सकता है, उसे जान कर जो उस उपाय के अनुसार अनुष्ठान करता है, वह पण्डित मुनि है। वह ओघान्तर—संसार समुद्र के ओघ—प्रवाह का अन्त करने वाला, या तैरने वाला कहलाता है।

'जहा य बद्ध ···' चूर्णिकार के अनुसार इसकी व्याख्या यों है—इस मनुष्य लोक में किससे बंधे हैं ? कर्म से, कौन बंधे हैं ? जीव।

जहा य ···विमोक्ख—जिस उपाय से कर्मबन्धनबद्ध जीवों का विमोक्ष हो, प्राणातिपात-विरमण आदि व्रतों से, तप-संयम से या अन्य सम्यग्दर्शनादि यथातथ्य उपाय से, फिर बन्ध-मोक्ष जान कर तदनुसार उपाय करके वह मुनि अन्तकृत् कहलाता है।[1]

"इमम्मि लोए ··· ण विज्जती बंधण" का भावार्थ—इस लोक, परलोक या उभयलोक में जिसका कर्मतः किंचित् भी बन्धन नहीं है, बाद में जब वह समस्त बन्धनों को काट देता है, तब वह बंधन-मुक्त एवं निरालम्बन हो जाता है। आलम्बन का अर्थ शरीर है, निरालम्बन अर्थात् 'अशरीर' हो, तथा कोई भी कर्म उसमें प्रतिष्ठित नहीं रहता। इसके पश्चात् वह 'कलंकली भाव प्रपंच' से सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

कलंकली कहते हैं—संकलित भवसंतति या आयुष्य कर्म की परम्परा को। प्रपंच तीन प्रकार का है—हीन, मध्य, उत्तम-भृत्य-स्त्री-पिता-पुत्रत्व आदि रूप। अथवा कलंकलीभाव ही प्रपंच है। वह साधक कलंकली भाव प्रपंच से—संसार में जन्म-मरण की परम्परा से—विमुक्त हो जाता है।[2]

॥ सोलहवाँ विमुक्ति अध्ययन समाप्त ॥

॥ आचारांग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध (आचार चूला) समाप्त ॥

---

१ (क) सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध अ० १२ गा० १२।
(ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २६७।
(ग) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३१।

२. आचारांग चूर्णि मू० पा० पृ० २६८—कलंकली संकलित भवसंतति आउगकम्मसंतती वा ···

परिशिष्ट

विशिष्ट शब्द-सूची

[यहाँ विशिष्ट शब्द-सूची में प्राय. वे संज्ञाएं तथा विशेष शब्द लिये गये हैं, जिनके आधार पर पाठक सरलतापूर्वक मूल विषय की आधारभूत अन्वेषणा कर सकें।

आचारांग द्वितीय श्रुतस्कंध (आचार चूला) के सूत्र प्रथम श्रुतस्कंध के साथ क्रमशः रखने के कारण यहाँ पर सूत्र संख्या ३२४ से प्रारम्भ होती है।

—सम्पादक]

परिशिष्ट : १ [विशिष्ट शब्द सूची]

शब्द	सूत्र
पुनय	७१५, ७१६, ७६०, ७६८
पुव्व	३४२, ३५७, ३६३ इत्यादि
पुव्वकम्म	४२७
पुव्वामेव	३३७, ३५०, ३५३ इत्यादि
पुव्वकीलिय } पुव्वरय }	७८७
पुव्वं	७६०
पूति	४१९
पूतियालुग	३८२
पूतिपिण्णाग	३८१
पूय	३५०, ३६३, ७००, ७१४
पूयण	७९९
पूरिम	६८९, ७५४
पेच्चा	३५०
पेलव	७५४
पेस } पेसलेस }	५५८
पेहाग	३२५, ३३५, ३३७ इत्यादि
पोक्खर	६७३
पोक्खरणी	५०५
पोक्खल	३८३
पोक्खलथिभग	३८३
पोग्गल	४०४, ७५३
पोत्तग	५५३, ५५९
पोत्थकम्म	६८९
पोरजाय	३८४
पोरबीय	३८४
पोरुसीए	७६६, ७७२
पोमय	४६१
पोसहिय	३३५
फरिस	७४२
फरुस	३६०, ५२०, ५२४, ७९५
फल	४१७, ५११, ५४५, ५४६, ७७०
फलग	३६५, ४१८, ४६५, ४६६, ६१०
फलिह	५४३, ६७३
फलोवय	६६६
फाणित	३५०
फालिय	५५७
फास	५५०, ७९०
फासमन	५२२
फासविगय	७९०
फासिन	७७६, ७८२, ७८८, ७९१
फासुय	३२५, ३२६, ३३२ इत्यादि
बध	८०३
बधण	८०४
बभ	७५१
बभघेरवास	७७०
बत्तीसगसद्द	७६०
बल	७४६, ७५३
बलव	५५३, ५८८
बलसा	४८६
बलाहग	५३१
बहुओस	३४८
बहुलज्जा	५४७
बहुणिवट्टिम	५४६
बहुदेसिय	५७२—५७४
बहुमज्ज	७५४
बहुरज (य)	३२६, ३६१
बहुल	७३५, ७४६, ७६६
बहुसंभूत	५४५—५४८
बायर	७७७
बाल	४६०, ४७१, ४७२, ४८६
बालभाव	४७२
बाहा	३६०, ४७६, ४८५, ४८६, ५०१, ५०४, ५०५
बाहि	६२२, ६५१
बाहिरग	३५०
बाहु	३६५, ४८१
बिराल	३५४
बिल	३६२, ४०५
बिल्लसरडुय	३७८
बीओवय	६६६
बीय(बीज)	३२४, ३४८ इत्यादि
बीय(द्वितीय)	५२२, ५८८

शब्द	सूत्र	शब्द	सूत्र
पुनय	७१५, ७१६, ७६०, ७६८	फालिय	
पुव्व	३४२, ३५७, ३६३ इत्यादि	फास	
पुव्वकम्म	४२७	फासमन	
पुव्वामेव	३३७, ३५०, ३५३ इत्यादि	फासविमय	
पुव्वकीलिय } पुव्वरय }	७८७	फासिन	७७६,
पुव्वं		फासुय	३२५,
पूति	७६०	बध	
पूतिआनुग	४१९	बधण	
पूतिपिण्णाग	३८२	बभ	
पूय	३८१	बभचेरवास	
पूयण	३५०, ३६३, ७००, ७१४	बम्भीसगसद्द	
पूरिम	७९९	बल	
पेच्चा	६८९, ७५४	बलव	
पेलव	३५०	बलसा	
पेहु } पेमुनेस }	७५४	बलाहग	
पेहाए	५५८	बहुओम	
पोक्खर		बहुसज्जा	
पोक्खरणी	३२५, ३३५, ३३७ इत्यादि	बहुणिवट्टिम	
पोक्खल	६७३	बहुदेसिय	
पोक्खलथिभग	५०५	बहुमज्ज	
पोग्गल	३८३	बहुरज (य)	
पोत्तग	३८३	बहुल	
पोत्थकम्म	४०४, ७५३	बहुसभूत	७३५,
पोरजाय	५५३, ५५९	बायर	५१
पोरबीय	६८९	बाल	
पोरुसीए	३८४	बालभाव	४६०, ४७१, ४
पोसय	३८४	बाहा	
पोसहिय	७६६, ७७२		३६०, ४३६, ४८५, ४८
फरिम	४६१	बाहि	५०
फरुस	३३५	बाहिरग	६२
फल	७४२	बाहु	
फलग	३६०, ५२०, ५२४, ७६५	बिराल	३६५,
फलिह	४१७, ५११, ५४५, ५४६, ७७०	बिल	
फलोवय	३६५, ४१८, ४६५, ४६६, ६१०	बिल्लसरडुय	३६२,
फाणित	५४३, ६७३	बीओवय	
	६६६	बीय(बीज)	

…न्तर्गत गाथाओं की अकारादि सूची

सूत्र	गाथा	सूत्र
७८३	निण्णेव य कोडिसता	७४६
७३७	दिव्वो मणुस्सघोसो	७६७
८०४	दिसोदिसिऽणंतजिणेण ताइणा	७६८
७३६	पडिवज्जित्तु चरित्तं	७६८
७४८	पुरतो सुरा वहंती	७६१
७३२	पुव्विं उक्खित्ता माणुसेहिं	७६०
७३८	वणम्मि य कप्पम्मि	७५१
८०२	वणसंड व कुसुमिय	७६२
८०३	वरपडहभेरिझल्लरी	७६४
७९०	विहू पते धम्मपयं अणुत्तरं	७६७
७९०	वेसमणकुंडलधरा	७५०
७९०	संवच्छरेण होहिति	७४७
७९०	सितेहिं भिक्खू असिते परिव्वए	७६६
७९०	सिद्धत्थवणं व जहा	७६३
७६५	सिबियाए मज्झयारे	७५६
७६५	सीया उवणीया जिणवरस्स	७५५
७६४	सीहासणे णिविट्ठो	७५८
८००	से हु परिण्णासमयम्मि वट्टती	८०१

'जाव' शब्द संकेतित सूत्र सूचना

प्राचीनकाल में आगम तथा श्रुतज्ञान प्रायः कण्ठस्थ रखने की परिपाटी थी। कालान्तर में स्मृति-दौर्बल्य के कारण आगम-ज्ञान लुप्त होता देखकर वीर निर्वाण संवत ९०० के लगभग श्री देवर्द्धिगण क्षमाश्रमण के निर्देशन में आगम लिखने की परम्परा प्रारम्भ हुई।[1]

स्मृति की दुर्बलता, लिपि की सुविधा, तथा कम लिखने की वृत्ति—इन तीन कारणों से सूत्रों में आये बहुत-से समानपद जो बार-बार आते थे, उन्हें संकेतों द्वारा संक्षिप्त कर देने की परम्परा चल पड़ी। इससे पाठ लिखने में बहुत-सी पुनरावृत्तियों से बचा गया।

इस प्रकार के संक्षिप्त संकेत आगमों में अधिकतर तीन प्रकार के मिलते हैं।

१. वण्णओ—(अमुक के अनुसार इसका वर्णन समझें) भगवती, ज्ञाता, उपासकदशा आदि अंग व उववाई आदि उपांग आगमों में इस संकेत का काफी प्रयोग हुआ है। उववाई सूत्र में बहुत-से वर्णन हैं जिनका संकेत अन्य सूत्रों में मिलता है।

२. जाव—(यावत्) एक पद से दूसरे पद के बीच के दो, तीन, चार आदि अनेक पद बार-बार न दुहराकर 'जाव' शब्द द्वारा सूचित करने की परिपाटी आचारांग, उववाई आदि सूत्रों में मिलती है। आचारांग में जैसे—सूत्र ३२४ में पूर्ण पाठ है—

'अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए, अप्पहरिए, अप्पोसे

अप्पुदए अप्पुत्तिंग-पणग-दग मट्टिय-मक्कडा-संताणए'

आगे जहाँ इसी भाव को स्पष्ट करना है, वहाँ सूत्र ४१२, ४५५, ५७० आदि में 'अप्पंडे जाव' के द्वारा संक्षिप्त कर संकेत मात्र कर दिया गया है। इसीप्रकार 'जाव' पद से अन्यत्र भी समझना चाहिए।

हमने प्रायः टिप्पण में 'जाव' पद से अभीष्ट सूत्र की संख्या सूचित करने का ध्यान रखा है।

कहीं विस्तृत पाठ का बोध भी 'जाव' शब्द से किया गया है। जैसे सूत्र २१७ में "अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा जाव" यहाँ सूत्र २१४ के 'अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा, णो रएज्जा, णो धोत-रत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए।' इस समग्र पाठ का 'जाव' शब्द द्वारा बोध करा दिया है।

इसी प्रकार उववाइ आदि सूत्रों में जो वर्णन एक बार आगया है, दुबारा आने पर वहां 'जाव' शब्द का उपयोग किया गया है। जैसे—तेणं कालेणं.....जाव परिसा णिग्गया।" यहां 'तेणं कालेणं तेणं समएणं' आदि बहुत लम्बे पाठ को 'जाव' में समाहित कर लिया है।

३. अंक संकेत—संक्षिप्तीकरण की यह भी एक शैली है। जहाँ दो, तीन, चार या अधिक समान पदों का बोध कराना हो, वहाँ अंक २, ३, ४, ६ आदि अंकों द्वारा संकेत किया गया है। जैसे—

(क) सूत्र ३२४ में—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा

परिशिष्ट : २

आचारांगसूत्रान्तर्गत गाथाओं की अकारादि सूची

'जाव' शब्द संकेतित सूत्र सूचना

प्राचीनकाल में आगम तथा श्रुतज्ञान प्रायः कण्ठस्थ रखने की परिपाटी थी। कालान्तर में स्मृति-दौर्बल्य के कारण आगम-ज्ञान लुप्त होता देखकर वीर निर्वाण सवत् ९०० के लगभग श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के निर्देशन में आगम लिखने की परम्परा प्रारम्भ हुई।[1]

स्मृति की दुर्बलता, लिपि की सुविधा, तथा कम लिखने की वृत्ति—इन तीन कारणों से सूत्रों में आये बहुत-से समानपद जो बार-बार आते थे, उन्हें संकेतों द्वारा संक्षिप्त कर देने की परम्परा चल पड़ी। इससे पाठ लिखने में बहुत सी पुनरावृत्तियों से बचा गया।

इस प्रकार के संक्षिप्त संकेत आगमों में अधिकतर तीन प्रकार के मिलते हैं।

१. वण्णओ—(अमुक के अनुसार इसका वर्णन समझो) भगवती, ज्ञाता, उपासकदशा आदि अंग व उववाई आदि उपांग आगमों में इस संकेत का काफी प्रयोग हुआ है। उववाई सूत्र में बहुत-से वर्णन हैं जिनका संकेत अन्य सूत्रों में मिलता है।

२. जाव—(यावत्) एक पद से दूसरे पद के बीच के दो, तीन, चार आदि अनेक पद बार-बार न दुहराकर 'जाव' शब्द द्वारा सूचित करने की परिपाटी आचारांग, उववाई आदि सूत्रों में मिलती है। आचारांग में जैसे—सूत्र ३२४ में पूर्ण पाठ है—

'अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए, अप्पहरिए, अप्पोसे
अप्पुदए अप्पुत्तिंग-पणग-दग-मट्टिय-मक्कडा-संताणए'

आगे जहाँ इसी भाव को स्पष्ट करना है, वहाँ सूत्र ४१२, ४५५, ५७० आदि में 'अप्पंडे जाव' के द्वारा संक्षिप्त कर संकेत मात्र कर दिया गया है। इसीप्रकार 'जाव' पद से अन्यत्र भी समझना चाहिए।

हमने प्रायः टिप्पण में 'जाव' पद से अभीष्ट सूत्र की संख्या सूचित करने का ध्यान रखा है।

कहीं विस्तृत पाठ का बोध भी 'जाव' शब्द से किया गया है। जैसे सूत्र २१७ में "अहेसणिज्जाइ वत्थाइं जाएज्जा जाव" यहाँ सूत्र २१४ के 'अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा, णो रएज्जा, णो धोत-रत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए।' इस समग्र पाठ का 'जाव' शब्द द्वारा बोध करा दिया है।

इसी प्रकार उववाइ आदि सूत्रों में जो वर्णन एक बार आगया है, दुबारा आने पर वहाँ 'जाव' शब्द का उपयोग किया गया है। जैसे—तेणं कालेणं..... जाव परिसा णिग्गया।" यहाँ 'तेणं कालेणं तेणं समएणं' आदि बहुत लम्बे पाठ को 'जाव' में समाहित कर लिया है।

३. अंक संकेत—संक्षिप्तीकरण की यह भी एक शैली है। जहाँ दो, तीन, चार या अधिक समान पदों का बोध कराना हो, वहाँ अंक २, ३, ४, ६ आदि अंकों द्वारा संकेत किया गया है। जैसे—

(क) सूत्र ३२४ में—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा

१

आचारांगसूत्रान्तर्गत गाथाओं की अकारादि सूची

☆

'जाव' शब्द संकेतित सूत्र सूचना

प्राचीनकाल में आगम तथा श्रुतज्ञान प्राय कण्ठस्थ रखने की परिपाटी थी। कालान्तर में स्मृति-दौर्बल्य के कारण आगम-ज्ञान लुप्त होता देखकर वीर निर्वाण सवत ९०० के लगभग श्री देवर्द्धिगण क्षमाश्रमण के निर्देशन में आगम लिखने की परम्परा प्रारम्भ हुई।[1]

स्मृति की दुर्बलता, लिपि की सुविधा, तथा कम लिखने की वृत्ति—इन तीन कारणों से सूत्रों में आये बहुत-से समानपद जो बार-बार आते थे, उन्हें संकेतों द्वारा संक्षिप्त कर देने की परम्परा चल पड़ी। इससे पाठ लिखने में बहुत सी पुनरावृत्तियों से बचा गया।

इस प्रकार के संक्षिप्त संकेत आगमों में अधिकतर तीन प्रकार के मिलते हैं।

१. वण्णओ—(अमुक के अनुसार इसका वर्णन समझें) भगवती, ज्ञाता, उपासकदशा आदि अंग व उववाई आदि उपांग आगमों में इस संकेत का काफी प्रयोग हुआ है। उववाई सूत्र में बहुत-से वर्णन हैं जिनका संकेत अन्य सूत्रों में मिलता है।

२. जाव—(यावत्) एक पद से दूसरे पद के बीच के दो, तीन, चार आदि अनेक पद बार-बार न दुहराकर 'जाव' शब्द द्वारा सूचित करने की परिपाटी आचारांग, उववाई आदि सूत्रों में मिलती है। आचारांग में जैसे—सूत्र ३२४ में पूर्ण पाठ है—

'अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए, अप्पहरिए, अप्पोसे

अप्पुदए अप्पुत्तिंग-पणग-दग-मट्टिय-मक्कडा-संताणए'

आगे जहाँ इसी भाव को स्पष्ट करना है, वहाँ सूत्र ४१२, ४५५, ५७० आदि में 'अप्पंडे जाव' के द्वारा संक्षिप्त कर संकेत मात्र कर दिया गया है। इसीप्रकार 'जाव' पद से अन्यत्र भी समझना चाहिए।

हमने प्रायः टिप्पण में 'जाव' पद से अभीष्ट सूत्र की संख्या सूचित करने का ध्यान रखा है।

कहीं विस्तृत पाठ का बोध भी 'जाव' शब्द से किया गया है। जैसे सूत्र २१७ में "अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा जाव" यहाँ सूत्र २१४ के 'अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा, णो रएज्जा, णो धोत-रत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए।' इस समग्र पाठ का 'जाव' शब्द द्वारा बोध करा दिया है।

इसी प्रकार उववाइ आदि सूत्रों में जो वर्णन एक बार आगया है, दुबारा आने पर वहां 'जाव' शब्द का उपयोग किया गया है। जैसे—तेण कालेणं...... जाव परिसा णिग्गया।" यहां 'तेणं कालेणं तेणं समएणं' आदि बहुत लम्बे पाठ को 'जाव' में समाहित कर लिया है।

३ अंक संकेत—संक्षिप्तीकरण की यह भी एक शैली है। जहाँ दो, तीन, चार या अधिक समान पदों का बोध कराना हो, वहाँ अंक २, ३, ४, ६ आदि अंकों द्वारा संकेत किया गया है। जैसे—

(क) सूत्र ३२४ में—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा ।

आचारांगसूत्रान्तर्गत गाथाओं की अकारादि सूची

'जाव' शब्द संकेतित सूत्र सूचना

प्राचीनकाल में आगम तथा श्रुतज्ञान प्रायः कण्ठस्थ रखने की परिपाटी थी। कालान्तर में स्मृति-दौर्बल्य के कारण आगम-ज्ञान लुप्त होता देखकर वीर निर्वाण संवत् ९०० के लगभग श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के निर्देशन में आगम लिखने की परम्परा प्रारम्भ हुई।[1]

स्मृति की दुर्बलता, लिपि की सुविधा, तथा कम लिखने की वृत्ति—इन तीन कारणों से सूत्रों में आये बहुत-से समानपद जो बार-बार आते थे, उन्हें संकेतों द्वारा संक्षिप्त कर देने की परम्परा चल पड़ी। इससे पाठ लिखने में बहुत सी पुनरावृत्तियों से बचा गया।

इस प्रकार के संक्षिप्त संकेत आगमों में अधिकतर तीन प्रकार के मिलते हैं।

१. वण्णओ—(अमुक के अनुसार इसका वर्णन समझें) भगवती, ज्ञाता, उपासकदशा आदि अंग व उववाई आदि उपांग आगमों में इस संकेत का काफी प्रयोग हुआ है। उववाई सूत्र में बहुत-से वर्णन हैं जिनका संकेत अन्य सूत्रों में मिलता है।

२. जाव—(यावत्) एक पद से दूसरे पद के बीच के दो, तीन, चार आदि अनेक पद बार-बार न दुहराकर 'जाव' शब्द द्वारा सूचित करने की परिपाटी आचारांग, उववाई आदि सूत्रों में मिलती है। आचारांग में जैसे—सूत्र ३२४ में पूर्ण पाठ है—

'अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए, अप्पहरिए, अप्पोसे

अप्पुदए अप्पुत्तिंग-पणग-दग-मट्टिय-मक्कडा-संताणए'

आगे जहाँ इसी भाव को स्पष्ट करना है, वहाँ सूत्र ४१२, ४५५, ५७० आदि में 'अप्पंडे जाव' के द्वारा संक्षिप्त कर संकेत मात्र कर दिया गया है। इसीप्रकार 'जाव' पद से अन्यत्र भी समझना चाहिए।

हमने प्रायः टिप्पण में 'जाव' पद से अभीष्ट सूत्र की संख्या सूचित करने का ध्यान रखा है।

कहीं विस्तृत पाठ का बोध भी 'जाव' शब्द से किया गया है। जैसे सूत्र २१७ में "अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा जाव" यहाँ सूत्र २१४ के 'अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा, णो रएज्जा, णो धोत-रत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए।' इस समग्र पाठ का 'जाव' शब्द द्वारा बोध करा दिया है।

इसी प्रकार उववाइ आदि सूत्रों में जो वर्णन एक बार आगया है, दुबारा आने पर वहाँ 'जाव' शब्द का उपयोग किया गया है। जैसे—तेणं कालेणं......जाव परिसा णिग्गया।" यहाँ 'तेण कालेण तेण समएणं' आदि बहुत लम्बे पाठ को 'जाव' में समाहित कर लिया है।

३. अंक संकेत—संक्षिप्तीकरण की यह भी एक शैली है। जहाँ दो, तीन, चार या अधिक समान पदों का बोध कराना हो, वहाँ अंक २, ३, ४, ६ आदि अंकों द्वारा संकेत किया गया है। जैसे—

(क) सूत्र ३२४ में—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा १

(ख) सूत्र १६६ में—असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा आदि।

'से भिक्खू वा २' संक्षिप्त कर दिया गया है।

इसी प्रकार 'असणं वा ४ जाव' या 'असणं वा ४' संक्षिप्त करके आगे के सूत्रों में संकेत किये गये हैं।

(ग) पुनरावृत्ति—कहीं-कहीं '२' का चिन्ह द्विरुक्ति का सूचक भी हुआ है—जैसे सूत्र ३६० में 'पगिज्झिय २' उद्दिसिय २' इसका संकेत है—पगिज्झिय पगिज्झिय 'उद्दिसिय उद्दिसिय'। अन्यत्र भी यथोचित ऐसा समझें।

क्रियापद के आगे '२' का चिन्ह वहीं क्रियाकाल के परिवर्तन का भी सूचन करता है, जैसे सूत्र ३५७ मे—'एगंतमवक्कमेज्जा २' यहाँ 'एगंतमवक्कमेज्जा, 'एगंतमवक्कमेत्ता' पूर्वकालिक क्रिया का सूचक है।

त्रियापद के आगे '३' का चिन्ह तीनों काल के क्रियापद के पाठ का सूचन करता है, जैसे सूत्र ३६२ मे 'रचिंसु वा ३' यह संकेत—रचिंसु वा रचंति वा रचिस्संति वा' इस त्रैकालिक त्रियापद का सूचक है। ऐसा अन्यत्र भी समझना चाहिए'

इसके अतिरिक्त 'तहेव'—(अक्कोमंति वा तहेव;—सूत्र ६१८)

(अतिरिच्छछिण्ण तहेव,—सूत्र ६२६)

एव—(एवं णेयव्वं जहा सद्दपडिमा,—सूत्र ६८६)

जहा—(पाणाइ जहा पिंडेसणाए—सूत्र ५५४)

तं चेव—(त चेव जाव अण्णोण्णसमाहीए— सूत्र ४५७)

आदि संकेत पद भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इन सबको यथास्थान शुद्ध अन्वेषण करके समझ लेना चाहिए।

—सम्पादक

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र-संख्या
५७७, ५७८	अतलिक्खजाते जाव	५७६
५२५	अंतरिय जाव	५२४
४४६, ५१८	अक्कोमंति वा जाव	४२२
४७१	अक्कोसेज्ज वा जाव	४२२
३७१, ५७५, ६१८	अणंतरहिताए पुढवीए···जाव	३६३
३३२, ३३५, ३६०	अणेगगिज्झं···जाव	"
३७७, ३७८, ३६०,		
४०४, ४०५		
५५६ ४१८–४१८	अणुविमनतरकाई जाव	"
३१५, ३३७	अणुविमनतरकाइ वा जाव	३१२ [२]
६४८,	अणुविमनतरगाइ वा जाव	३११
३८८, ४६८	अप्पंडा जाव	"
४०४	अप्पंडे जाव	"

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र-संख्या
४१२, ४५५, ५७० ५७१, ६२४, ६२५, ६२७, ६३१	अणट्ठं जाव	३२४
६१७	अप्पपाणंसि जाव	३२४
६४७	अप्पबीयं जाव	"
४६६	अपाइण्णा दिसी जाव	४६५
४८१, ५१५, ५१८, ५८४	अप्पुस्सुए जाव	४८२
५६२, ५६३	अफासुयाद जाव	३२५
३२६, ३३१, ३६०, ३६१, ३६२, ३६८, ३६६, ३७६, ३८०, ३६७, ४०२, ४४६, ५६३, ५६४, ५६७, ५६६, ५७०, ५६८, ६०३, ६२३, ६२४, ६२६, ६२७	अफासुयं··· जाव	३२५
७७८	अभिहूणेज्ज वा जाव	७७८
४१६, ४४८	अभिहूणेज्ज वा जाव	३६५
३५७	अमुच्छिए ४	३५७
५६३	अयवधणाणि वा जाव	५६२
३३० इत्यादि	असणं वा ४	१६६, ३२४
३६७	असणं वा ४ जाव	३२५
३८२, ३८४–३८८	असत्थपरिणयं जाव	३७५
५२५, ५२७, ५३६, ५३८, ५४०, ५४२, ५४४, ५४६, ५४८, ५५०	असावज्जं जाव	५२४
५११–५१४	आइक्खह जाव	५१०
४३५–४४१, ५०४	आएसणाणि वा जाव	४३५
४३३, ४३४	आमतारेसु वा ४	४३२
६१०, ६११, ६३३	आगतारेसु वा जाव	६०८–६०९, ६२१
३५३, ४६१, ४६७		३५३
६००, ६०४,	आमज्जेज्ज वा···जाव	३६६
४००	आयरिए वा जाव	४५६
४५६, ६३३	इक्कडे वा जाव	६०८, ६२१
६२६	ईसरे जाव	

(ख) सूत्र १६६ मे—असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा आदि।

'से भिक्खु वा २' संक्षिप्त कर दिया गया है।

इसी प्रकार 'असणं वा ४ जाव' या 'असणं वा ४' संक्षिप्त करके आगे के सूत्रो मे संकेत किये गये हैं।

(ग) पुनरावृत्ति—कही-कही '२' का चिन्ह द्विरुक्ति का सूचक भी हुआ है—जैसे सूत्र ३६० मे 'पगिज्झिय २' उद्दिसिय २' इसका संकेत है—पगिज्झिय पगिज्झिय 'उद्दिसिय उद्दिसिय'। अन्यत्र भी यथोचित ऐसा समझें।

क्रियापद के आगे '२' का चिन्ह कहीं क्रियाकाल के परिवर्तन का भी सूचन करता है, जैसे सूत्र ३५७ मे—'एगंतमवक्कमेज्जा २' यहाँ 'एगंतमवक्कमेज्जा, 'एगंतमवक्कमेत्ता' पूर्वकालिक क्रिया का सूचक है।

क्रियापद के आगे '३' का चिन्ह तीनो काल के क्रियापद के पाठ का सूचन करता है, जैसे सूत्र ३६२ मे 'रचिसु वा ३' यह संकेत—रचिसु वा रचति वा रचिस्संति वा' इस त्रैकालिक क्रियापद का सूचक है। ऐसा अन्यत्र भी समझना चाहिए'

इसके अतिरिक्त 'तहेव'—(अक्कोसंति वा तहेव,—सूत्र ६१८)

(अतिरिच्छछिण्ण तहेव,—सूत्र ६२६)

एव—(एवं णेयव्वं जहा सद्दपडिमा;—सूत्र ६८६)

जहा—(पाणाइ जहा पिंडेसणाए—सूत्र ५५४)

सं चेव—(त चेव जाव अण्णोण्णसमाहीए—सूत्र ४५७)

आदि संकेत पद भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इन सबको यथास्थान शुद्ध अन्वेषण करके समझ लेना चाहिए।

—सम्पादक

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र-संख्या
५७७, ५७८	अतलिक्खजाते जाव	५७६
५२५	अकिरिय जाव	५२४
४४६, ५१८	अक्कोसति वा जाव	४२२
४७१	अक्कोसेज्ज वा जाव	४२२
३७१, ५७५, ६१२	अणतरहिताए पुढवीए…जाव	३५३
३३२, ३३५, ३६०	अणेसणिज्जं…जाव	"
३७७, ३७८, ३६०,		
४०४, ४०५		
५५६ ४१४-४१८	अपुरिसतरकडे जाव	"
३३५, ३३७	अपुरिसतरकड वा जाव	३३२ [२]
६४८,	अपुरिसंतरगडं वा जाव	३३१
३४८, ४६८	अप्पंडा जाव	"
४०४	अप्पंडे जाव	"

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र-संख्या
४१२, ४५५, ५७०, ५७१, ६०४, ६२५, ६२७, ६३१	अप्पंडं जाव	३२४
६६७	अप्पपाणंसि जाव	३२४
६४२	अप्पबीयं जाव	"
४६६	अपाइण्णा विसी जाव	४६५
४८६, ५१२, ५१८, ५८८	अप्पुस्सुए जाव	४८२
५६२, ५६३	असामुयाइ जाव	३२५
३२६, ३३१, ३६०, ३६१, ३६२, ३६८, ३६९, ३७९, ३८०, ३९७, ४०२, ४४६, ५५३, ५५४, ५५७, ५५९, ५७०, ५६८, ६०३, ६२३, ६२४, ६२६, ६२७	असागुय' ''जाव	३२५
७७८	अभिहणेज्ज वा जाव	७७८
४१६, ४४८	अभिहणेज्ज वा जाव	३६५
३५७	अमुच्छिए ४	३५७
५६३	अयबंधणाणि वा जाव	५६२
३३० इत्यादि	असण वा ४	१९९, ३२४
३६७	असणं वा ४ जाव	३२५
३८२, ३८४–३८८	असत्थपरिणयं जाव	३७५
५२५, ५२७, ५३६, ५३८, ५४०, ५४२, ५४४, ५४६, ५४८, ५५०	असावज्जं जाव	५२४
५११–५१४	आइक्खइ जाव	५१०
४३५–४४१, ५०४	आएसणाणि वा जाव	४३५
४३३, ४३४	आमतारेसु वा ४	४३२
६१०, ६११, ६३३, ३५३, ४६१, ४६७	आगतारेसु वा जाव	६०८–६०९, ६२१
६००, ६०४,	आमज्जेज्ज वा'''जाव	३५३
४००	आयरिए वा जाव	३९९
४२६, ६३३	इक्कडे वा जाव	४४६
६२६	ईसरे जाव	६०८, ६२१

(ख) सूत्र १६६ में—असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा आदि।

'से भिक्खु वा २' संक्षिप्त कर दिया गया है।

इसी प्रकार 'असणं वा ४ जाव' या 'असणं वा ४' संक्षिप्त करके आगे के सूत्रों में संकेत किये गये हैं।

(ग) पुनरावृत्ति—कहीं-कहीं '२' का चिन्ह द्विरुक्ति का सूचक भी हुआ है—जैसे सूत्र ३६० में 'पगिज्झिय २' उद्दिसिय २' इसका संकेत है—पगिज्झिय पगिज्झिय 'उद्दिसिय उद्दिसिय'। अन्यत्र भी यथोचित ऐसा समझें।

क्रियापद के आगे '२' का चिन्ह कहीं क्रियाकाल के परिवर्तन का भी सूचन करता है, जैसे सूत्र ३५७ में—'एगंतमवक्कमेज्जा २' यहाँ 'एगंतमवक्कमेज्जा, 'एगंतमवक्कमेत्ता' पूर्वकालिक क्रिया का सूचक है।

क्रियापद के आगे '३' का चिन्ह तीनों काल में क्रियापद के पाठ का सूचन करता है, जैसे सूत्र ३६२ में 'रुंचिसु वा ३' यह संकेत—रुंचिसु वा रुचंति वा रुंचिस्संति वा' इस त्रैकालिक क्रियापद का सूचक है। ऐसा अन्यत्र भी समझना चाहिए'

इसके अतिरिक्त 'तहेव'—(अक्कोसंति वा तहेव,—सूत्र ६१८)

(अतिरिच्छछिण्ण तहेव,—सूत्र ६२६)

एव—(एवं णेयव्व जहा सद्दपडिमा;—सूत्र ६८६)

जहा—(पाणाइ जहा पिंडेसणाए—सूत्र ५५४)

तं चेव—(त चेव जाव अण्णोण्णसमाहीए—सूत्र ४५७)

आदि संकेत पद भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इन सबको यथास्थान शुद्ध अन्वेषण करके समझ लेना चाहिए।

—सम्पादक

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र-संख्या
५७७, ५७८	अंतलिक्खजाते जाव	५७६
५२५	अकिरिय जाव	५२४
४४६, ५१८	अक्कोसंति वा जाव	४२२
४७१	अक्कोसेज्ज वा जाव	४२२
३७१, ५७५, ६१२	अणंतरहिताए पुढवीए'''जाव	३५३
३३२, ३३५, ३६० ३७७, ३७८, ३६०, ४०४, ४०५	अणेसणिज्जं'''जाव	" "
५५६ ४१४-४१८	अपुरिसतरकडे जाव	३३२ [२]
३३५, ३३७	अपुरिसतरकडं वा जाव	३३१
६४८,	अपुरिसतरगडं वा जाव	"
३४८, ४६८	अप्पडं जाव	"
४०४	अप्पडे जाव	

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव-पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र-संख्या
		३२४
४१२, ४५५, ५७०	अप्पइ जाव	
५७१, ६२४, ६२५,		
६२७, ६३१		३२४
५६७	अप्पपाणसि जाव	"
६४२	अप्पवीय जाव	४६५
४६६	अपाइण्णा वित्ती जाव	४८२
४८६, ५१५, ५१८,	अप्पुस्सुए जाव	
५८९		३२५
५६२, ५६३	अफासुयाइ जाव	३२५
३२६, ३३१, ३६०,	अफासुय'' जाव	
३६१, ३६२, ३६८,		
३६६, ३७६, ३८०,		
३६७, ४०२, ४४६,		
५६३, ५६४, ५६७,		
५६६, ५७०, ५६८,		
६०३, ६२३. ६२४,		
६२६, ६२७		७७८
७७८	अभिहणेज्ज वा जाव	३६५
४१६, ४४४	अभिहणेज्ज वा जाव	३५७
३५७	अमुच्छिए ४	५६२
५६३	अयबधणाणि वा जाव	१६६, ३२४
३३० इत्यादि	असण वा ४	३२५
३६७	असण वा ४ जाव	३७५
३८२, ३८४–३८८	असत्यपरिणय जाव	५२४
५२५, ५२७, ५३६,	असावज्जं जाव	
५३८, ५४०, ५४२,		
५४४, ५४६, ५४८,		
५५०		५१०
५११–५१४	आइक्खइ जाव	४३५
४३५–४४१, ५०४	आएसणाणि वा जाव	४३२
४३३, ४३४	आगतारेसु वा ४	६०८–६०९, ६२१
६१०, ६११, ६३३	आगतारेसु वा जाव	
३५३, ४६१, ४६७		
६००, ६०४,	आमज्जेज्ज वा'''जाव	
४००	आयरिए वा जाव	
४५६, ६३३	इक्कडे वा जाव	
६२१	ईसरे जाव	

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव-पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र संख्या
६०	उवज्झाएण वा जाव	३६६
७३	उग्गिणोदगवियडेण वा जाव	४८१
२१	एगवयण वदेज्जा जाव	५२१
३२५, ३२६, ४०६, ४५६	एसणिज्ज '''जाव	३२५
६१२–६१७	ओगिण्हेज्जा वा २	६०७
७७४	ओवयतेहिं य जाव	७३७
५५०	कक्खसद्दाणि वा ८	१७६
६६६, ६५१, ६५४,	कदाणि वा ''जाव	४१७
७७४	कसिणे जाव	७७२
६२३	काम खलु जाव	६०८, ६२१
७८८	काएण जाव	७७६
५५०	किण्हे ति वा ५	१७६
५३३	कुट्ठी ति वा जाव	१७६
६१४	कुलियंसि वा ४ जाव	५७७
६१५	खंधंसि वा ६	३६५
७१७–७२०	गई वा जाव	७१५–७१६
५८४, ५८५	गच्छेज्जा जाव	५१५
५०२, ५१३	गामे वा जाव	२२४, ३३८
३४२, ३६१, ४१२, ४६५, ६३७	गाम वा ''जाव	,, ,,
३४२, ३६१, ४६५	गामंसि वा जाव	,, ,,
५१४	गामस्स वा'''जाव	,, ,,
३६०, ३६१, ४२२, ४३५, ४४६, ५५६, ५६४, ६१८	गाहावती वा जाव	३५०
३६०	गाहावति वा जाव	३३७ ,,
३२७	गाहावतिकुलं जाव पविसित्तु(तु)कामे	३२४
३२५, ३४६	गाहावति जाव ,,	,,
४८४, ६२२	छत्तए(ग) जाव	४४४
५१३	जवसाणि जाव	५००
४५७	जाव अण्णोण्णसमाहीए	४१०
६३७, ६४१	जाव उदयपसूयाइं	४१७
४७२, ४७३	जाव गमणाए	४७१
५०६	जाव दूइज्जेज्जा	५०५
३२६, ४०६, ५५६, ५६४	जाव पडिगाहेज्जा	३३५, ४०६
६३७, ६४१, ६४२, ६४६, ६४७, ६५३, ६६७	जाव मक्कडासंताण	३२४
६५३	जाव मक्कडासंताण	३६१

संकेतित सूत्र	जाव-पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र संख्या
।३, ६३३	जाव विहरिस्सामो	६०८, ६२१
।०, ७८३, ७८६, ।६	जाव वोसिरामि	७३३
।६	जाव संथारगं	३३८
।२	जाव समाहीए	४८६
।३, ४०४, ५७१	सामपडिससि वा जाव	३२४
।२–४२५, ४२७–३६, ४४७–४५१, ५३, ४५४	ठाणं वा ३	४१२
८३	तहप्पगार···जाव	३८२
११	तहप्पगारे जाव	५७६
५०	तित्ताणि वा ५	१७६
३२	तिरिच्छछिण्णे जाव	६२८
११	थूणसि वा ४ जाव	५७६
७१	दसुगायतणाणि जाव	४७१
११	दुब्बद्धे जाव	५७६
३७	दोहिं जाव	३३५
०५	पगिज्झिय २ जाव	५०४
४७–४४४, ४६५	पण्णस्स···जाव	३४८
७०	परक्कमे जाव	४६६
४०६, ४३५–४४१	पाईण वा ४	२६०
५०४	पागाराणि वा जाव	४६६
५१३	पाडिपहिया जाव	५१०–५१२
४१३	पाणाइ ४	२०४
४१४	पाणाइ ४ जाव	४१३
४५६	पाणाणि वा ४ जाव	३६५
४४४, ४५६	पाय वा जाव	"
५४४	पारादिया ति वा ४	५३६
३२६, ४०६	पिहुयं वा जाव	३२६
७३६	पुढविकाए जाव	४४०
३३५, ५५६, ६५०	पुरिसतरकडे जाव	३३२
४१४–४१८	पुरिसतरकडे जाव	"
४१६, ४३१–४३५, ४३८–४३०, ४४४, ४५६, ४७१, ५०५, ५६६, ६०२	पुव्वोवदिट्ठा ४	३५७
४३०	पुव्वोवदिट्ठा ४ जाव	४२७
३६८	पुव्वोवदिट्ठा जाव	३६७
५१५	पेहाए जाव	३५४
५०४, ६७३	फलिहाणि वा···जाव	४६६
७८२	फासिते जाव	७७६

परिशिष्ट : ३ 'जाव' शब्द संकेतित सूत्र-सूचना

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव-पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र संख्या
३२३, ६३३	जाव विहरिस्सामो	६०८, ६२१
७८०, ७८३, ७८६, ७८९	जाव वोसिरामि	७७७
४१६	जाव सयारग	३३८
५०१	जाव समाहीए	४८६
३१३, ४०४, ५७६	झामथंडिलसि वा जाव	३२४
४१२-४२५, ४२७-४२९, ४४७-४५१, ४५३, ४५४	ठाणं वा ३	४१२
३८३	तहप्पगारं…जाव	३८२
६१५	तहप्पगारे जाव	५७६
५५०	तित्ताणि वा ५	१७६
६३२	निरिच्छछिण्णे जाव	६२८
६१३	णूमंसि वा ४ जाव	५७६
४७१	दसुगायतणाणि जाव	४७१
६१३	दुब्बद्धे जाव	५७६
३३७	दोहिं जाव	३३५
५०५	पगिज्झिय २ जाव	५०४
४४७-४५४, ४६५	पण्णस्स…जाव	३४८
४७०	परक्कमे जाव	४६६
४०६, ४३५-४४१	पाईण वा ४	३६०
५०४	पागाराणि वा जाव	४६६
५१३	पाडिपहिया जाव	५१०-५१२
४१३	पाणाइ ४	२०४
४१४	पाणाइ ४ जाव	४१३
४५६	पाणाणि वा ४ जाव	३६५
४४४, ४५६	पाय वा जाव	"
५४४	पासादिया ति वा ४	५३६
३२६, ४०६	पिहुय वा जाव	३२६
७३६	पुढविकाए जाव	४४०
३३५, ५५६, ६५०	पुरिसंतरकडं जाव	३३२
४१४-४१८	पुरिसंतरकडे जाव	"
४१६, ४२१-४२५, ४२८-४३०, ४४४, ४५६, ४७१, ५०५, ५९९, ६०२	पुव्वोवदिट्ठा ४	३५७
४३०	पुव्वोवदिट्ठा ४ जाव	४२७
३६८	पुव्वोवदिट्ठा जाव	३६७
५१५	पेहाए जाव	३५४
५०४, ६७३	फलिहाणि वा… जाव	४६६
७८२	फासिते जाव	७७६

परिशिष्ट : ३ 'जाव' शब्द संकेतित सूत्र-सूचना

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव-पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र संख्या
३२३, ६३३	जाव विहरिस्सामो	६०८, ६२१
७८०, ७८३, ७८६, ७८१	जाव वोसिरामि	७७७
४१६	जाव संथारग	३३८
५०१	जाव समाहीए	४८६
३५३, ४०४, ५७६	झामथंडिलंसि वा जाव	३२४
४१२–४२५, ४२७–४२६, ४४७–४५१, ४५३, ४५४	ठाणं वा ३	४१२
३८३	तहप्पगार…जाव	३८२
६१५	तहप्पगारे जाव	५७६
५५०	तित्ताणि वा ५	१७६
६३२	तिरिच्छछिण्णे जाव	६२८
६१३	थूणंसि वा ४ जाव	५७६
४७१	दसुगायतणाणि जाव	४७१
६१३	दुब्बद्धे जाव	५७६
३३७	दोहिं जाव	३३५
५०५	पगिज्झिय २ जाव	५०४
४४७–४५४, ४६५	पण्णस्स…जाव	३४८
४७०	परक्कमे जाव	४६९
४०९, ४३५–४४१	पाईण वा ४	३६०
५०४	पागाराणि वा जाव	४९९
५१३	पाडिपहिया जाव	५१०–५१२
४१३	पाणाइ ४	७०४
४१४	पाणाइ ४ जाव	४१३
४५९	पाणाणि वा ४ जाव	३६५
४६४, ४५९	पाय वा जाव	,,
५४४	पासादिया ति वा ४	५३६
३२६, ४०९	पिट्ठुय वा जाव	३२६
७७६	पुढविकाए जाव	४४०
३३५, ५५६, ६५०	पुरिसतरकडं जाव	३३२
४१४–४१८	पुरिसतरकडे जाव	,,
४१९, ४२१–४२५, ४२८–४३०, ४४४, ४५९, ४७१, ५०५, ५९९, ६०२	पुव्वोवदिट्ठा ४	३५७
४३०	पुव्वोवदिट्ठा ४ जाव	४२७
३६८	पुव्वोवदिट्ठा जाव	३६७
५१५	पेहाए जाव	३५४
५०४, ६७३	फलिहाणि वा…जाव	४९९
७८२	फासिते जाव	७७९

परिशिष्ट : ३ 'जाव' शब्द संकेतित सूत्र-सूचना

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव-पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र संख्या
३२३, ६३३	जाव विहरिस्सामो	६०८, ६२१
७८०, ७८३, ७८६, ७८९	जाव वोसिरामि	७७७
४१६	जाव सयारग	३३८
५०१	जाव समाहीए	४८६
३५३, ४०४, ५७६	झामथंडिलंसि वा जाव	३२४
४१२–४२५, ४२७–४२६, ४४७–४५१, ४५३, ४५४	ठाणं वा ३	४१२
३८३	तहप्पगार…जाव	३८२
६१५	तहप्पगारे जाव	५७६
५५०	तित्ताणि वा ५	१७६
६३२	तिरिच्छछिण्णे जाव	६२८
६१३	थूणंसि वा ४ जाव	५७६
४७१	दसुगायतणाणि जाव	४७१
६१३	दुब्बद्धे जाव	५७६
३३७	दोहिं जाव	३३५
५०५	परिगिज्झिय २ जाव	५०४
४४७–४५४, ४६५	पण्णस्स…जाव	३४८
४७०	परक्कमे जाव	४६६
४०६, ४३५–४४१	पाईण वा ४	३६०
५०४	पागाराणि वा जाव	४६६
५१३	पाडिपहिया जाव	५१०–५१२
४१३	पाणाइ ४	२०४
४१४	पाणाइ ४ जाव	४१३
४५६	पाणाणि वा ४ जाव	३६५
४४४, ४५६	पाय वा जाव	"
५४४	पासादिया ति वा ४	५३६
३२६, ४०६	पिहुय वा जाव	३२६
७७६	पुढविकाए जाव	४४०
३३५, ५५६, ६५०	पुरिसंतरकडं जाव	३३२
४१४–४१८	पुरिसंतरकडे जाव	"
४१६, ४२१–४२५, ४२८–४३०, ४४४, ४५६, ४७१, ५०५, ५६६, ६०२	पुव्वोवदिट्ठा ४	३५७
४३०	पुव्वोवदिट्ठा ४ जाव	४२७
३६८	पुव्वोवदिट्ठा जाव	३६७
५१५	पेहाए जाव	३५४
५०४, ६७३	फलिहाणि वा …जाव	४६६
७८२	फासिते जाव	७७६

क्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव-पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र संख्या
३५, ३३७, ३६०, ३६६, ६७, ४०६, ५५६, ५७१, २५, ६२८	फासुयं…जाव	३२५
०१, ३०४	बहुपाणा …जाव	३४८
६१	बहुरय वा जाव	३२६
२५, ४३७	भगवंतो जाव	३६०
८०, ६६८, ६८८	भिक्खुणीए…जाव	३३४
२५–३२७, ३३०–३३२, ३६, ३३७, ३४३, ३४८, ५२–३५५, ३५७, ३५६–३६३, ३६५–३७१, २७३–३८८, ३६१, ३६३–३६५, ४०४, ४०५, ४०६	भिक्खू या…जाव	३२४
६८२–६८४	भिक्खू वा २ जाव	६७०
५६८	मणी वा जाव	४२४
६०७	मत्तय वा जाव	४४४
६५१	मूलाणि वा जाव	४१७
७६०	रज्जमाणे जाव	७६०
७६०	रज्जेज्जा जाव	७६०
४७३	लाढे जाव	४७१
५१७	वत्थं वा ४	१६६
५३५, ५३६	वप्पाणि वा जाव	५०४
४१२, ४५५, ५६६, ६२३, ६२६, ६३०, ६३२, ६३७, ६४१, ६४६	स अंड …जाव	३२४
३५३, ४३१	सअड्डे …जाव	"
७८७, ७६०	सनिभेदा … जाव	७८७
४५५	सपारग जाव लाभे	३२५
७६०	सज्जमाणे…जाव	७६०
४६६–४६८	समण जाव	४६५
३४८, ५६४	समणमाहण जाव	३४८
७८५	सम्म जाव आणाए	७७६
५३५	सावज्जं जाव	५२४
५६४, ५७२	सिणाणेण वा जाव	४२१
३६१, ३६२	सिसाए जाव	३५३
४३७	सीलमंता जाव	३६०
५५०	सुब्भिगंधे ति वा २	१७६
५०६, ५०८	हत्थं जाव	४६०–४८७
४१६, ४४४, ४५६	हत्थं वा…जाव	३५५
६७६	हत्थिकरणट्ठाणाणि वा	६५७
६८०	हत्थिजुद्धाणि वा जाव	६५७

आचारांग द्वि० श्रु० सम्पादन-विवेचन में प्रयुक्त ग्रन्थसूची

आगम एवं व्याख्या ग्रन्थ

आयारंग सुत्तं (प्रकाशन वर्ष ई० १९७७)
सम्पादक : मुनि श्री जम्बूविजयजी
प्रकाशक : महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, बम्बई ४०००३६

आचारांग सूत्र
टीकाकार : श्री शीलांकाचार्य
प्रकाशक : आगमोदय समिति

आचारांग निर्युक्ति (आचार्य भद्रबाहु)
प्रकाशक : आगमोदयसमिति

आवश्यक चूर्णि
प्रकाशक : ऋषभदेवजी केशरीमलजी, रतलाम

आयारो तह आयारचूला
सम्पादक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता (प्र० व० १९६७)

आचारांग सूत्रं सूत्रकृतांग सूत्रं च (निर्युक्ति टीका सहित) (श्री भद्रबाहु स्वामिविरचित निर्युक्ति —श्री शीलांकाचार्य विरचित टीका)
सम्पादक-संशोधक : मुनि जम्बूविजयजी
प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलोजिकल ट्रस्ट,
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

अंगसुत्ताणि (भाग १, २, ३)
सम्पादक : आचार्य श्री तुलसी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

अर्थागम (हिन्दी अनुवाद)
सम्पादक : जैन धर्मोपदेष्टा प० श्री फूलचन्द जी महाराज 'पुप्फभिक्खू'
प्रकाशक : श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, 'अनेकान्त विहार' सूत्रागम स्ट्रीट,
एस० एस० जैन बाजार, गुड़गांव कैंट (हरियाणा)

आयारदसा
सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन; सांडेराव (राजस्थान)

त्प्त संकेतित सूत्र	जाव-पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र-संख्या
५, ३३७, ३६०, ३६६, ७, ४०६, ५५६, ५७१, ५, ६२८	फासुय···जाव	३२५
१, ३०४	बहुपाणा ···जाव	३४८
१	बहुरय वा जाव	३२६
५, ४३७	भगवतो ·जाव	३६०
०, ६६८, ६८८	भिक्खुणीए ···जाव	३३४
५–३२७, ३३०–३३२, ६, ३३७, ३४३, ३४८, ७–३५५, ३५७, ३५६–३, ३६५–३७१, २७३–८, ३६१, ३६३–३६५, ४, ४०५, ४०६	भिक्खू वा···जाव	३२४
२–६८४	भिक्खू वा २ जाव	६७०
८	मणी वा जाव	४२४
७	मत्तय वा जाव	४४४
१	मूलाणि वा जाव	४१७
६०	रज्जमाणे जाव	७६०
६०	रज्जेज्जा जाव	७६०
३	लाढे जाव	४७१
१७	वत्थ वा ४	१६६
३५, ५३६	वप्पाणि वा जाव	५०४
१२, ४५५, ५६६, २३, ६२६, ६३०, ३२, ६३७, ६४१, ६४६	स अंड ···जाव	३२४
५३, ४३१	सअड्ढे · जाव	"
८७, ७६०	सनिभेदा ···जाव	७८७
५५	सथारग जाव लाभे	३२५
६०	सज्जमाणे···जाव	७६०
६६–४६८	समण जाव	४६५
४८, ५६४	समणमाहण जाव	३४८
८५	सम्म जाव आणाए	७७६
३५	सावज्ज जाव	५२४
६४, ५७२	सिणाणेण वा जाव	४२१
६१, ३६२	सिमाए जाव	३५३
३७	सीलमता जाव	३६०
५०	सुब्भिगंधे ति वा २	१७६
०६, ५०८	हत्थ जाव	४६०–४८७
१६, ४४४, ४५६	हत्थ वा···जाव	३६५
७६	हत्थिवरणट्ठाणाणि वा	६५७
८०	हत्थिजुद्धाणि वा जाव	६५७

आचारांग द्वि० श्रु० सम्पादन-विवेचन में प्रयुक्त ग्रन्थसूची

आगम एवं व्याख्या ग्रन्थ

आयारंग सुत्तं (प्रकाशन वर्ष ई० १९७७)

सम्पादक · मुनि श्री जम्बूविजयजी

प्रकाशक महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, बम्बई ४०००३६

आचारांग सूत्र

टीकाकार श्री शीलांकाचार्य

प्रकाशक : आगमोदय समिति

आचारांग निर्युक्ति (आचार्य भद्रबाहु)

प्रकाशक : आगमोदयसमिति

आवश्यक चूर्णि प्रकाशक · ऋषभदेवजी केसरीमलजी, रतलाम

आयारो तह आयारचूला

सम्पादक · मुनि नथमल जी

प्रकाशक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता (प्र० व० १९६७)

आचारांग सूत्रं सूत्रकृतांग सूत्रं च (निर्युक्ति टीका सहित) (श्री भद्रबाहु स्वामिविरचित निर्युक्ति —श्री शीलांकाचार्य विरचित टीका)

सम्पादक-संशोधक . मुनि जम्बूविजयजी

प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलोजिकल ट्रस्ट,
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

अंगसुत्ताणि (भाग १, २, ३)

सम्पादक आचार्य श्री तुलसी

प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

अर्थागम (हिन्दी अनुवाद)

सम्पादक : जैन धर्मोपदेष्टा प० श्री फूलचन्द जी महाराज 'पुष्फभिक्खू'

प्रकाशक : श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, 'अनेकान्त विहार' सूत्रागम स्ट्रीट,
एस० एस० जैन बाजार, गुड़गाव कैंट (हरियाणा)

आयारदसा

सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'

प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

आचारांग द्वि० श्रु० सम्पादन-विवेचन में प्रयुक्त ग्रन्थसूची

आगम एवं व्याख्या ग्रन्थ

आयारंग सुत्तं (प्रकाशन वर्ष ई० १९७७)

सम्पादक : मुनि श्री जम्बूविजयजी
प्रकाशक : महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, बम्बई ४०००३६

आचारांग सूत्र

टीकाकार : श्री शीलांकाचार्य
प्रकाशक : आगमोदय समिति

आचारांग निर्युक्ति (आचार्य भद्रबाहु)

प्रकाशक : आगमोदयसमिति

आवश्यक चूर्णि   प्रकाशक : ऋषभदेवजी केशरीमलजी, रतलाम

आयारो तह आयारचूला

सम्पादक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता (प्र० व० १९६७)

आचारांग सूत्रं सूत्रकृतांग सूत्रं च (निर्युक्ति टीका सहित) (श्री भद्रबाहु स्वामिविरचित निर्युक्ति —श्री शीलांकाचार्य विरचित टीका)

सम्पादक-संशोधक : मुनि जम्बूविजयजी
प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलोजिकल ट्रस्ट,
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

अंगसुत्ताणि (भाग १, २, ३)

सम्पादक : आचार्य श्री तुलसी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

अर्थागम (हिन्दी अनुवाद)

सम्पादक : जैन धर्मोपदेष्टा पं० श्री फूलचन्द जी महाराज 'पुप्फभिक्खू'
प्रकाशक : श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, 'अनेकान्त विहार' सूत्रागम स्ट्रीट,
एस० एस० जैन बाजार, गुड़गांव कैंट (हरियाणा)

आयारदसा

सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन; साण्डेराव (राजस्थान)

आचारांग द्वि० श्रु० सम्पादन-विवेचन में प्रयुक्त ग्रन्थसूची

आगम एवं व्याख्या ग्रन्थ

आचारांग सूत्रं (प्रकाशन वर्ष ई० १९७७)

सम्पादक : मुनि श्री जम्बूविजयजी
प्रकाशक : महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, बम्बई ४०००३६

आचारांग सूत्र

टीकाकार : श्री शीलांकाचार्य
प्रकाशक : आगमोदय समिति

आचारांग निर्युक्ति (आचार्य भद्रबाहु)

प्रकाशक : आगमोदयसमिति

आवश्यक चूर्णि — प्रकाशक : ऋषभदेवजी केशरीमलजी, रतलाम

आयारो तह आयारचूला

सम्पादक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता (प्र० सं० १९६७)

आचारांग सूत्रं सूत्रकृतांग सूत्रं च (नियुक्ति टीका सहित) (श्री भद्रबाहु स्वामिविरचित निर्युक्ति —श्री शीलांकाचार्य विरचित टीका)

सम्पादक-संशोधक : मुनि जम्बूविजयजी
प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलोजिकल ट्रस्ट,
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ११०००७

अंगसुत्ताणि (भाग १, २, ३)

सम्पादक : आचार्य श्री तुलसी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

अर्थागम (हिन्दी अनुवाद)

सम्पादक : जैन धर्मोपदेष्टा पं० श्री फूलचन्द जी महाराज 'पुप्फभिक्खू'
प्रकाशक : श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, 'अनेकान्त विहार' सूत्रागम स्ट्रीट,
एस० एस० जैन बाजार, गुड़गांव कैंट (हरियाणा)

आयारदसा

सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र
सम्पादक : दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक . वीरायतन प्रकाशन, आगरा

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)
सम्पादक : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढ़सिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्तं
सम्पादक . प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र (वृत्ति—आचार्य अभयदेवसूरिकृत)
प्रकाशक : आगमोदय समिति

ज्ञातासूत्र
सम्पादक : पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक : स्थानक० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक . मुनि नथमल जी
प्रकाशक · जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

निशीथ सूत्र (निशीथ चूर्णि एवं भाष्य) प्रकाशक : सन्मतिज्ञान पीठ, आगरा

दसवेआलियं (विवेचन युक्त)
सम्पादक विवेचक . मुनि नथमल जी
प्रकाशक . जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

दसवैकालिक—आगस्त्यसिंह चूर्णि – जिनदास चूर्णि—हारिभद्रीय टीका युक्त (उपर्युक्त)
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राज०)

प्रज्ञापना सूत्र संपादक : (पूज्य अमोलक ऋषिजी)

भगवती सूत्र सम्पादक : (प० बेचरदास जी दोशी)

सुत्त सुत्ताणि सम्पादक प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक शान्तिलाल वी० सेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृतांग सूत्र
व्याख्याकार पं० मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज
सम्पादक अमर मुनि, मुनि नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक आत्म ज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पंजाब)

समवायांग सूत्र
सम्पादक प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

स्थानांग सूत्र
सम्पादक . पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

(श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी विरचित)
अनुवादक : पू० गणिवर्य श्री हंससागर जी महाराज
प्रकाशक : शासन कण्टकोद्धारक ज्ञान-मन्दिर
मु० ठलीया (जि० भावनगर) (सौराष्ट्र)

सर्वार्थसिद्धि (आ० पूज्यपाद—व्याख्याकार)
हिन्दी अनुवादक : प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

(आचार्य श्री उमास्वाति विरचित)
विवेचक : प० सुखलाल जी सिंघवी
प्रकाशक : भारत जैन महामण्डल, बम्बई

त्र एवं बृहत्कल्पभाष्यम् (मलयगिरि वृत्ति)
प्रकाशक : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

शब्दकोष व अन्य ग्रन्थ

राजेन्द्र कोश (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, श्री अभिधानराजेन्द्र कार्यालय
रतलाम (म० प्र०)

द्धान्त-कोश (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५-४७ कनॉट प्लेस, नई दिल्ली—१

विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवल जी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८, यू० ए० जवाहर नगर
बंगलो रोड दिल्ली—७

द्द-महण्णवो (द्वि० स०)
सम्पादक . प० हरगोविंददास टी० सेठ, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,
और पं० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक : प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी—५

सिक काल के तीन तीर्थंकर
लेखक : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
प्रकाशक : जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लालभवन चौड़ा रास्ता, जयपुर—३ (राजस्थान)

महावीर
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राजस्थान)

वीर की साधना का रहस्य
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र
सम्पादक : दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक : वीरायतन प्रकाशन, आगरा
कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)
सम्पादक : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक : अमर जैन आगम शोध संस्थान, गढ़सिवाना (राजस्थान)
कप्पसुत्तं
सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)
ज्ञातासूत्र (वृत्ति—आचार्य अभयदेवसूरिकृत)
प्रकाशक : आगमोदय समिति
ज्ञातासूत्र
सम्पादक : पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक : स्थानक० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)
ठाणं (विवेचन युक्त)
सम्पादक विवेचक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)
निशीथ सूत्र (निशीथ चूर्णि एवं भाष्य) प्रकाशक : सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा
दसवेआलियं (विवेचन युक्त)
सम्पादक विवेचक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)
दसवैकालिक—आगस्त्यसिंह चूर्णि – जिनदास चूर्णि—हारिभद्रीय टीका युक्त (उपर्युक्त)
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राज०)
प्रज्ञापना सूत्र संपादक : (पूज्य अमोलक ऋषिजी)
भगवती सूत्र सम्पादक : (प० बेचरदास जी दोशी)
मूल सुत्ताणि सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : शान्तिलाल वी० सेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)
सूत्रकृतांग सूत्र
व्याख्याकार : पं० मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज
सम्पादक : अमर मुनि, मुनि नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक : आत्म ज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पंजाब)
समवायांग सूत्र
सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (रास्थान)
स्थानांग सूत्र
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

पिण्डनिर्युक्ति (श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी विरचित)
अनुवादक : पू० गणिवर्य श्री हंससागर जी महाराज
प्रकाशक : शासन कण्टकोद्धारक ज्ञान-मन्दिर
मु० ठलीया (जि० भावनगर) (सौराष्ट्र)

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि (आ० पूज्यपाद—व्याख्याकार)
हिन्दी अनुवादक : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य श्री उमास्वाति विरचित)
विवेचक : पं० सुखलाल जी सिंघवी
प्रकाशक : भारत जैन महामंडल, बम्बई

बृहत्कल्प सूत्र एवं बृहत्कल्पभाष्यम् (मलयगिरि वृत्ति)
प्रकाशक : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

शब्दकोष व अन्य ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, श्री अभिधानराजेन्द्र कार्यालय
रतलाम (म० प्र०)

जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५-४७ कनॉट प्लेस, नई दिल्ली—१

नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवल जी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८, यू० ए० जवाहर नगर
बंगलो रोड दिल्ली—७

पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० सं०)
सम्पादक : पं० हरगोविन्ददास टी० सेठ, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,
और पं० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक : प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी—५

ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर
लेखक : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
प्रकाशक : जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लाल भवन चौड़ा रास्ता, जयपुर—३ (राजस्थान)

श्रमण महावीर
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राजस्थान)

महावीर की साधना का रहस्य
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र
सम्पादक : दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक : वीरायतन प्रकाशन आगरा

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)
सम्पादक : देवेन्द्र मुनि शास्त्री साहित्यरत्न
प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढ़सिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्तं
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, साण्डेराव (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र (वृत्ति—आचार्य अभयदेवसूरिकृत)
प्रकाशक : आगमोदय समिति

ज्ञातासूत्र
सम्पादक : पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक : स्था० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

निशीथ सूत्र (निशीथ चूर्णि एवं भाष्य) प्रकाशक : सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

दसवेआलियं (विवेचन युक्त)
सम्पादक विवेचक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

दसवैकालिक—आगस्त्यसिंह चूर्णि — जिनदास चूर्णि—हारिभद्रीय टीका युक्त (उपर्युक्त)
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राज०)

प्रज्ञापना सूत्र संपादक : (पूज्य अमोलक ऋषिजी)

भगवती सूत्र सम्पादक : (प० बेचरदास जी दोशी)

मूल सुत्ताणि सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : शान्तिलाल वी० सेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृतांग सूत्र
व्याख्याकार : पं० मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज
सम्पादक : अमर मुनि, मुनि नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक : आत्म ज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पंजाब)

समवायांग सूत्र
सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, साण्डेराव (रास्थान)

स्थानांग सूत्र
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, साण्डेराव (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र
सम्पादक : दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक : वीरायतन प्रकाशन, आगरा

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)
सम्पादक : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढ़सिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्तं
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र (वृत्ति—आचार्य अभयदेवसूरिकृत)
प्रकाशक : आगमोदय समिति

ज्ञातासूत्र
सम्पादक : पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक : स्थानक० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

निशीथ सूत्र (निशीथ चूर्णि एवं भाष्य) प्रकाशक : सन्मतिज्ञान पीठ; आगरा

दसवेआलियं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

दसवैकालिक—अगस्त्यसिंह चूर्णि—जिनदास चूर्णि—हारिभद्रीय टीका युक्त (उपर्युक्त)
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राज०)

प्रज्ञापना सूत्र संपादक : (पूज्य अमोलक ऋषिजी)

भगवती सूत्र सम्पादक : (पं० बेचरदास जी दोशी)

मूल सुत्ताणि सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : शान्तिलाल वी० सेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृतांग सूत्र
व्याख्याकार : पं० मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज
सम्पादक : अमर मुनि, मुनि नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक : आत्म ज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पंजाब)

समवायांग सूत्र
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

स्थानांग सूत्र
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

पिण्डनिर्युक्ति (श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी विरचित)
अनुवादक : पू० गणिवर्य श्री हंससागर जी महाराज
प्रकाशक : शासन कण्टकोद्धारक ज्ञान-मन्दिर
मु० ठलीया (जि० भावनगर) (सौराष्ट्र)

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि (आ० पूज्यपाद—व्याख्याकार)
हिन्दी अनुवादक : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य श्री उमास्वाति विरचित)
विवेचक : पं० सुखलाल जी सिंघवी
प्रकाशक : भारत जैन महामण्डल, बम्बई

बृहत्कल्प सूत्र एवं बृहत्कल्पभाष्यम् (मलयगिरि वृत्ति)
प्रकाशक : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

शब्दकोष व अन्य ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, श्री अभिधानराजेन्द्र कार्यालय
रतलाम (म० प्र०)

जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५-४७ कनॉट प्लेस, नई दिल्ली—१

नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवल जी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८, यू० ए० जवाहर नगर
बगलो रोड दिल्ली—७

पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० सं०)
सम्पादक पं० हरगोविन्ददास टी० सेठ, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,
और पं० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक . प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी—५

ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर
लेखक : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
प्रकाशक : जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लालभवन चौड़ा रास्ता, जयपुर—३ (राजस्थान)

श्रमण महावीर
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राजस्थान)

महावीर की साधना का रहस्य
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र
सम्पादक : दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक . वीरायतन प्रकाशन, आगरा

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)
सम्पादक : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढ़सिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्तं
सम्पादक . प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र (वृत्ति—आचार्य अभयदेवसूरिकृत)
प्रकाशक : आगमोदय समिति

ज्ञातासूत्र
सम्पादक . पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक : स्थानक० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक . मुनि नथमल जी
प्रकाशक · जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

निशीथ सूत्र (निशीथ चूर्णि एव भाष्य) प्रकाशक : सन्मतिज्ञान पीठ; आगरा

दसवेआलियं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

दसवैकालिक—आगस्त्यसिंह चूर्णि —जिनदास चूर्णि—हारिभद्रीय टीका युक्त (उपर्युक्त)
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राज०)

प्रज्ञापना सूत्र संपादक : (पूज्य अमोलक ऋषिजी)

भगवती सूत्र सम्पादक : (प० बेचरदास जी दोशी)

मूल सुत्ताणि सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : शान्तिलाल वी० सेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृतांग सूत्र
व्याख्याकार : पं० मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज
सम्पादक . अमर मुनि, मुनि नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक ' आत्म ज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पंजाब)

समवायांग सूत्र
सम्पादक · प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (रास्थान)

स्थानांग सूत्र
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

पिण्डनिर्युक्ति (श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी विरचित)
अनुवादक : पू० गणिवर्य श्री हंससागर जी महाराज
प्रकाशक : शासन कण्टकोद्धारक ज्ञान-मन्दिर
मु० टलीया (जि० भावनगर) (सौराष्ट्र)

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि (आ० पूज्यपाद—व्याख्याकार)
हिन्दी अनुवादक प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य श्री उमास्वाति विरचित)
विवेचक : प० सुखलाल जी सिंघवी
प्रकाशक : भारत जैन महामण्डल, बम्बई

बृहत्कल्प सूत्र एवं बृहत्कल्पभाष्यम् (मलयगिरि वृत्ति)
प्रकाशक : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

शब्दकोष व अन्य ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, श्री अभिधानराजेन्द्र कार्यालय
रतलाम (म० प्र०)

जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५-४७ कनॉट प्लेस, नई दिल्ली—१

नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवल जी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८, यू० ए० जवाहर नगर
बंगलो रोड दिल्ली—७

पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० सं०)
सम्पादक . प० हरगोविन्ददास टी० शेठ, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,
और प० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक . प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी—५

ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर
लेखक : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
प्रकाशक : जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लालभवन चौड़ा रास्ता, जयपुर—३ (राजस्थान)

श्रमण महावीर
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राजस्थान)

महावीर की साधना का रहस्य
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र
सम्पादक : दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक . वीरायतन प्रकाशन, आगरा

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)
सम्पादक · देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढ़सिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्तं
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र (वृत्ति—आचार्य अभयदेवसूरिकृत)
प्रकाशक : आगमोदय समिति

ज्ञातासूत्र
सम्पादक . पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक : स्थानक० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक . मुनि नथमल जी
प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

निशीथ सूत्र (निशीथ चूर्णि एवं भाष्य) प्रकाशक : सन्मतिज्ञान पीठ, आगरा

दसवेआलियं (विवेचन युक्त)
सम्पादक विवेचक . मुनि नथमल जी
प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

दसवैकालिक—आगस्त्यसिंह चूर्णि — जिनदास चूर्णि—हारिभद्रीय टीका युक्त (उपर्युक्त)
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राज०)

प्रज्ञापना सूत्र संपादक : (पूज्य अमोलक ऋषिजी)

भगवती सूत्र सम्पादक : (प० बेचरदास जी दोशी)

सुत्तागमे सम्पादक . प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक शान्तिलाल वी० सेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृतांग सूत्र
व्याख्याकार : पं० मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज
सम्पादक . अमर मुनि, मुनि नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक आत्म ज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पंजाब)

समवायांग सूत्र
सम्पादक · प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक · आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

स्थानांग सूत्र
सम्पादक . पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

पिण्डनिर्युक्ति (श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी विरचित)
अनुवादक : पू० गणिवर्य श्री हंससागर जी महाराज
प्रकाशक : शासन कण्टकोद्धारक ज्ञान-मन्दिर
मु० ठलीया (जि० भावनगर) (सौराष्ट्र)

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि (आ० पूज्यपाद—व्याख्याकार)
हिन्दी अनुवादक प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य श्री उमास्वाति विरचित)
विवेचक : प० सुखलाल जी सिंघवी
प्रकाशक : भारत जैन महामण्डल, बम्बई

बृहत्कल्प सूत्र एवं बृहत्कल्पभाष्यम् (मलयगिरि वृत्ति)
प्रकाशक : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

शब्दकोष व अन्य ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, श्री अभिधानराजेन्द्र कार्यालय
रतलाम (म० प्र०)

जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५-४७ कनॉट प्लेस, नई दिल्ली—१

नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवल जी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८, यू० ए० जवाहर नगर
बगलो रोड दिल्ली—७

पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० स०)
सम्पादक . प० हरगोविंददास टी० शेठ, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,
और प० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक : प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी—५

ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर
लेखक : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
प्रकाशक . जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लालभवन चौड़ा रास्ता, जयपुर—३ (राजस्थान)

श्रमण महावीर
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राजस्थान)

महावीर की साधना का रहस्य
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र
सम्पादक दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक वीरायतन प्रकाशन, आगरा

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)
सम्पादक : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढ़सिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्तं
सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र (वृत्ति—आचार्य अभयदेवसूरिकृत)
प्रकाशक : आगमोदय समिति

ज्ञातासूत्र
सम्पादक . पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक : स्थानक० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक . मुनि नथमल जी
प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

निशीथ सूत्र (निशीथ चूर्णि एव भाष्य) प्रकाशक : सन्मतिज्ञान पीठ, आगरा

दसवेआलियं (विवेचन युक्त)
सम्पादक विवेचक . मुनि नथमल जी
प्रकाशक . जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

दसवैकालिक—अगस्त्यसिंह चूर्णि – जिनदास चूर्णि—हारिभद्रीय टीका युक्त (अप्रयुक्त)
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राज०)

प्रज्ञापना सूत्र संपादक : (पूज्य अमोलक ऋषिजी)

भगवती सूत्र सम्पादक : (प० बेचरदास जी दोशी)

सुत्त सुत्ताणि सम्पादक . प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक शान्तिलाल बी० सेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृतांग सूत्र
व्याख्याकार पं० मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज
सम्पादक अमर मुनि, मुनि नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक आत्म ज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पंजाब)

समवायांग सूत्र
सम्पादक प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

स्थानांग सूत्र
सम्पादक . पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक . आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

पिण्डनिर्युक्ति (श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी विरचित)
अनुवादक : पू० गणिवर्य श्री हंससागर जी महाराज
प्रकाशक : शासन कण्टकोद्धारक ज्ञान-मन्दिर
मु० ठलीया (जि० भावनगर) (सौराष्ट्र)

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि (आ० पूज्यपाद—व्याख्याकार)
हिन्दी अनुवादक : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य श्री उमास्वाति विरचित)
विवेचक : पं० सुखलाल जी सिंघवी
प्रकाशक : भारत जैन महामण्डल, बम्बई

बृहत्कल्प सूत्र एवं बृहत्कल्पभाष्यम् (मलयगिरि वृत्ति)
प्रकाशक : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

शब्दकोष व अन्य ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, श्री अभिधानराजेन्द्र कार्यालय
रतलाम (म० प्र०)

जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५-४७ कनॉट प्लेस, नई दिल्ली—१

नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवल जी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८, यू० ए० जवाहर नगर
बंगलो रोड दिल्ली—७

पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० सं०)
सम्पादक : पं० हरगोविन्ददास टी० सेठ, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,
और पं० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक : प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी—५

ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर
लेखक : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
प्रकाशक : जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लालभवन चौड़ा रास्ता, जयपुर—३ (राजस्थान)

श्रमण महावीर
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राजस्थान)

महावीर की साधना का रहस्य
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चुरू (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र
सम्पादक : दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक . वीरायतन प्रकाशन, आगरा

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)
सम्पादक · देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढ़सिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्तं
सम्पादक . प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र (वृत्ति—आचार्य अभयदेवसूरिकृत)
प्रकाशक : आगमोदय समिति

ज्ञातासूत्र
सम्पादक : पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक : स्थानक० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक . मुनि नथमल जी
प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

निशीथ सूत्र (निशीथ चूर्णि एवं भाष्य) प्रकाशक : सन्मतिज्ञान पीठ; आगरा

दसवेआलियं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक . जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

दसवैकालिक—आगस्त्यसिंह चूर्णि —जिनदास चूर्णि—हारिभद्रीय टीका युक्त (उपर्युक्त)
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राज०)

प्रज्ञापना सूत्र संपादक : (पूज्य अमोलक ऋषिजी)

भगवती सूत्र सम्पादक : (प० बेचरदास जी दोशी)

मूल सुत्ताणि सम्पादक प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक . शान्तिलाल वी० सेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृतांग सूत्र
व्याख्याकार : पं० मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज
सम्पादक अमर मुनि, मुनि नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक : आत्म ज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पंजाब)

समवायांग सूत्र
सम्पादक प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

स्थानांग सूत्र
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

पिण्डनिर्युक्ति (श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी विरचित)
अनुवादक : पू० गणिवर्य श्री हंससागर जी महाराज
प्रकाशक : शासन कण्टकोद्धारक ज्ञान-मन्दिर
मु० ठलीया (जि० भावनगर) (सौराष्ट्र)

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि (आ० पूज्यपाद—व्याख्याकार)
हिन्दी अनुवादक : प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य श्री उमास्वाति विरचित)
विवेचक : प० सुखलाल जी सिंघवी
प्रकाशक : भारत जैन महामण्डल, बम्बई

बृहत्कल्प सूत्र एवं बृहत्कल्पभाष्यम् (मलयगिरि वृत्ति)
प्रकाशक : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

शब्दकोष व अन्य ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, श्री अभिधानराजेन्द्र कार्यालय
रतलाम (म० प्र०)

जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५-४७ कनॉट प्लेस, नई दिल्ली—१

नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवल जी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८, यू० ए० जवाहर नगर
बगलो रोड दिल्ली—७

पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० स०)
सम्पादक : प० हरगोविंददास टी० शेठ, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,
और पं० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक . प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी—५

ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर
लेखक : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
प्रकाशक : जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लालभवन चौडा रास्ता, जयपुर—३ (राजस्थान)

श्रमण महावीर
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राजस्थान)

महावीर की साधना का रहस्य
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र
सम्पादक दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक . वीरायतन प्रकाशन, आगरा

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)
सम्पादक · देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढ़सिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्तं
सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र (वृत्ति—आचार्य अभयदेवसूरिकृत)
प्रकाशक : आगमोदय समिति

ज्ञातासूत्र
सम्पादक : पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक : स्थानक० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक . मुनि नथमल जी
प्रकाशक · जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

निशीथ सूत्र (निशीथ चूर्णि एव भाष्य) प्रकाशक : सन्मतिज्ञान पीठ; आगरा

दसवेआलियं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक . मुनि नथमल जी
प्रकाशक . जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

दसवैकालिक—आगस्त्यसिंह चूर्णि —जिनदास चूर्णि—हारिभद्रीय टीका युक्त (उपर्युक्त)
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनू (राज०)

प्रज्ञापना सूत्र संपादक : (पूज्य अमोलक ऋषिजी)

भगवती सूत्र सम्पादक : (प० बेचरदास जी दोशी)

मूल सुत्ताणि सम्पादक · प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक . शान्तिलाल वी० सेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृतांग सूत्र
व्याख्याकार : पं० मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज
सम्पादक . अमर मुनि, मुनि नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक : आत्म ज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पंजाब)

समवायांग सूत्र
सम्पादक · प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

स्थानांग सूत्र
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

पिण्डनिर्युक्ति (श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी विरचित)
अनुवादक : पू० गणिवर्य श्री हंससागर जी महाराज
प्रकाशक : शासन कण्टकोद्धारक ज्ञान-मन्दिर
मु० ठलीया (जि० भावनगर) (सौराष्ट्र)
तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि (आ० पूज्यपाद—व्याख्याकार)
हिन्दी अनुवादक · पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी
तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य श्री उमास्वाति विरचित)
विवेचक : प० सुखलाल जी सिंघवी
प्रकाशक : भारत जैन महामण्डल, बम्बई
बृहत्कल्प सूत्र एवं बृहत्कल्पभाष्यम् (मलयगिरि वृत्ति)
प्रकाशक : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

शब्दकोष व अन्य ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, श्री अभिधानराजेन्द्र कार्यालय
रतलाम (म० प्र०)
जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५-४७ कनॉट प्लेस, नई दिल्ली—१
नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवल जी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८, यू० ए० जवाहर नगर
बंगलो रोड दिल्ली—७
पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० सं०)
सम्पादक . पं० हरगोविन्ददास टी० शेठ, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,
और प० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक . प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी—५
ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर
लेखक : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
प्रकाशक : जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लालभवन चौड़ा रास्ता, जयपुर—३ (राजस्थान)
श्रमण महावीर
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राजस्थान)
महावीर की साधना का रहस्य
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र

सम्पादक : दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी

प्रकाशक : वीरायतन प्रकाशन, आगरा

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)

सम्पादक : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढ़सिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्तं

सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'

प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र (वृत्ति—आचार्य अभयदेवसूरिकृत)

प्रकाशक : आगमोदय समिति

ज्ञातासूत्र

सम्पादक : पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल

प्रकाशक : स्थानक० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (विवेचन युक्त)

सम्पादक-विवेचक : मुनि नथमल जी

प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

निशीथ सूत्र (निशीथ चूर्णि एवं भाष्य) प्रकाशक : सन्मतिज्ञान पीठ, आगरा

दसवेआलियं (विवेचन युक्त)

सम्पादक विवेचक : मुनि नथमल जी

प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

दशवैकालिक—अगस्त्यसिंह चूर्णि - जिनदास चूर्णि—हारिभद्रीय टीका युक्त (उपर्युक्त)

प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राज०)

प्रज्ञापना सूत्र — सम्पादक : (पूज्य अमोलक ऋषिजी)

भगवती सूत्र — सम्पादक : (पं० बेचरदास जी दोशी)

मूल सुत्ताणि — सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'

प्रकाशक : शान्तिलाल वी० सेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृतांग सूत्र

व्याख्याकार : पं० मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज

सम्पादक : अमर मुनि, मुनि नेमिचन्द्र जी

प्रकाशक : आत्म ज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पंजाब)

समवायांग सूत्र

सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'

प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

स्थानांग सूत्र

सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'

प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन सांडेराव (राजस्थान)

पिण्डनिर्युक्ति (श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी विरचित)
अनुवादक : पू० गणिवर्य श्री हंससागर जी महाराज
प्रकाशक : शासन कण्टकोद्धारक ज्ञान-मन्दिर
मु० ठलीया (जि० भावनगर) (सौराष्ट्र)

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि (आ० पूज्यपाद—व्याख्याकार)
हिन्दी अनुवादक : प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य श्री उमास्वाति विरचित)
विवेचक : प० सुखलाल जी सिंघवी
प्रकाशक : भारत जैन महामण्डल, बम्बई

बृहत्कल्प सूत्र एवं बृहत्कल्पभाष्यम् (मलयगिरि वृत्ति)
प्रकाशक : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

शब्दकोष व अन्य ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, श्री अभिधानराजेन्द्र कार्यालय
रतलाम (म० प्र०)

जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५-४७ कनॉट प्लेस, नई दिल्ली—१

नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवल जी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८, यू० ए० जवाहर नगर
बंगलो रोड दिल्ली—७

पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० स०)
सम्पादक : प० हरगोविन्ददास टी० शेठ, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,
और प० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक . प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी—५

ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर
लेखक : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
प्रकाशक : जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लालभवन चौड़ा रास्ता, जयपुर—३ (राजस्थान)

श्रमण महावीर
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राजस्थान)

महावीर की साधना का रहस्य
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र
सम्पादक : दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक . वीरायतन प्रकाशन, आगरा

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)
सम्पादक · देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढ़सिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्तं
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

ज्ञाता सूत्र (वृत्ति—आचार्य अभयदेवसूरिकृत)
प्रकाशक : आगमोदय समिति

ज्ञातासूत्र
सम्पादक . पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक : स्थानक० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक मुनि नथमल जी
प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

निशीथ सूत्र (निशीथ चूर्णि एवं भाष्य) प्रकाशक : सन्मतिज्ञान पीठ, आगरा

दसवेआलियं (विवेचन युक्त)
सम्पादक विवेचक मुनि नथमल जी
प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

दशवैकालिक—आगस्त्यसिंह चूर्णि – जिनदास चूर्णि—हारिभद्रीय टीका युक्त (उपर्युक्त)
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राज०)

प्रज्ञापना सूत्र संपादक : (पूज्य अमोलक ऋषिजी)

भगवती सूत्र सम्पादक : (पं० बेचरदास जी दोशी)

सुत्त गुत्ताणि सम्पादक . पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक शान्तिलाल वी० सेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृतांग सूत्र
व्याख्याकार पं० मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज
सम्पादक अमर मुनि, मुनि नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक आत्म ज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पंजाब)

समवायांग सूत्र
सम्पादक पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक · आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

स्थानांग सूत्र
सम्पादक . पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक . आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

पिण्डनिर्युक्ति (श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी विरचित)
अनुवादक : पू० गणिवर्य श्री हंससागर जी महाराज
प्रकाशक : शासन कण्टकोद्धारक ज्ञान-मन्दिर
मु० ठलीया (जि० भावनगर) (सौराष्ट्र)

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि (आ० पूज्यपाद—व्याख्याकार)
हिन्दी अनुवादक : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य श्री उमास्वाति विरचित)
विवेचक : पं० सुखलाल जी संघवी
प्रकाशक : भारत जैन महामण्डल, बम्बई

बृहत्कल्प सूत्र एवं बृहत्कल्पभाष्यम् (मलयगिरि वृत्ति)
प्रकाशक : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

शब्दकोष व अन्य ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, श्री अभिधानराजेन्द्र कार्यालय
रतलाम (म० प्र०)

जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५-४७ कनॉट प्लेस, नई दिल्ली—१

नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवल जी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८, यू० ए० जवाहर नगर
बंगलो रोड दिल्ली—७

पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० सं०)
सम्पादक पं० हरगोविन्ददास टी० शेठ, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,
और पं० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक . प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी—५

ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर
लेखक : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
प्रकाशक : जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लालभवन चौड़ा रास्ता, जयपुर—३ (राजस्थान)

श्रमण महावीर
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राजस्थान)

महावीर की साधना का रहस्य
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र
सम्पादक : दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक . वीरायतन प्रकाशन, आगरा
कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)
सम्पादक : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढ़सिवाना (राजस्थान)
कप्पसुत्तं
सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक . आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)
ज्ञातासूत्र (वृत्ति—आचार्य अभयदेवसूरिकृत)
प्रकाशक : आगमोदय समिति
ज्ञातासूत्र
सम्पादक : पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक : स्थानक० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)
ठाणं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)
निशीथ सूत्र (निशीथ चूर्णि एव भाष्य) प्रकाशक : सन्मतिज्ञान पीठ, आगरा
दसवेआलियं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक . जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)
दसवैकालिक—आगस्त्यसिंह चूर्णि —जिनदास चूर्णि—हारिभद्रीय टीका युक्त (उपर्युक्त)
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राज०)
प्रज्ञापना सूत्र संपादक : (पूज्य अमोलक ऋषिजी)
भगवती सूत्र सम्पादक : (प० बेचरदास जी दोशी)
मूल सुत्ताणि सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : शान्तिलाल वी० सेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)
सूत्रकृतांग सूत्र
व्याख्याकार : पं० मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज
सम्पादक . अमर मुनि, मुनि नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक . आत्म ज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पंजाब)
समवायांग सूत्र
सम्पादक : प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (रास्थान)
स्थानांग सूत्र
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

पिण्डनिर्युक्ति (श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी विरचित)
अनुवादक : पू० गणिवर्य श्री हंससागर जी महाराज
प्रकाशक : शासन कण्टकोद्धारक ज्ञान-मन्दिर
मु० ठलीया (जि० भावनगर) (सौराष्ट्र)

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि (आ० पूज्यपाद—व्याख्याकार)
हिन्दी अनुवादक : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य श्री उमास्वाति विरचित)
विवेचक : प० सुखलाल जी सिंघवी
प्रकाशक : भारत जैन महामंडल, बम्बई

बृहत्कल्प सूत्र एवं बृहत्कल्पभाष्यम् (मलयगिरि वृत्ति)
प्रकाशक : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

शब्दकोष व अन्य ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, श्री अभिधानराजेन्द्र कार्यालय
रतलाम (म० प्र०)

जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५-४७ कनॉट प्लेस, नई दिल्ली—१

नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवल जी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८, यू० ए० जवाहर नगर
बंगलो रोड दिल्ली—७

पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० स०)
सम्पादक : पं० हरगोविंददास टी० शेठ, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,
और पं० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक : प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी—५

ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर
लेखक : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
प्रकाशक : जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लालभवन चौड़ा रास्ता, जयपुर—३ (राजस्थान)

श्रमण महावीर
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राजस्थान)

महावीर की साधना का रहस्य
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान)

तीर्थंकर महावीर
लेखकगण : श्री मधुकर मुनि, श्री रतन मुनि, श्रीचन्द सुराना 'सरस'
प्रकाशक : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, आदि

जैन साहित्य का बृहद इतिहास (भाग १)
लेखक : प० बेचरदास दोशी, न्यायतीर्थ
प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी—५

जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज
लेखक : डा० जगदीशचन्द्र जैन
प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी

चार तीर्थंकर
लेखक : पं० सुखलालजी
प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी—५

विनयपिटक (राहुल सांकृत्यायन)
प्रकाशक : महाबोधि सभा सारनाथ (वाराणसी) (प्रकाशन वर्ष ई. १६३५

भगवद्‌गीता
प्रकाशक : गीता प्रेस, गोरखपुर (उ० प्र०)

ईशावास्योपनिषद्
कौशीतकी उपनिषद्
छान्दोग्य उपनिषद्
प्रकाशक : गीताप्रेस, गोरखपुर (उ० प्र०)

विसुद्धिमग्गो
प्रकाशक : भारतीय विद्याभवन, मुम्बई

समयसार
नियमसार
प्रवचनसार
रचयिता : आचार्य श्री कुन्दकुन्द

☆☆